प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक चौखम्बा प्रेस वाराणसी
संस्करण [illegible] वि० सं० २०[illegible]४
मूल्य Rs 35.00

K. 37/99 Gopal Mandir Lane
Post Box 1008 Varanasi-221001 (India)
Phone 63145

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
कृष्णदास अकादमी
पो० बा० नं० १११८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग) वाराणसी-२२१००१
(भारत)

कथासार

कथामुख (पृ० ५)

गंगाजीके तटपर पटना नगर है । वहाँ एक गुणवान् राजा रहते थे, जिनका नाम सुदर्शन था। उन्होंने पढ़ते हुए विद्यार्थीसे दो श्लोक सुने, जिनका यह आशय था—'अनेक संदेहोंको मिटानेवाला और परोक्ष पदार्थको दिखानेवाला शास्त्र सबका नेत्र है, वह जिसे नहीं है, वह मनुष्य अन्धा ही है । जवानी, धन, प्रभुता और अविचार—इनमेंसे एक एक भी अनर्थ करनेवाले हैं और जिसके पास चारों हैं, उसका क्या कहना ।' यह सुनकर अपने पुत्रोंके मूर्ख और कुमार्गगामी होनेसे राजा सोचने लगे—'जिनका पुत्र विद्वान्, गुणी, धर्मात्मा और वशमें रहनेवाला नहीं है, उसका होना व्यर्थ है । सो इन पुत्रोंको किस तरह गुणी बनाऊँ।' यह सोच पण्डितोंकी सभा बुलाकर उन्होंने अपने पुत्रोंको पढ़ानेके लिये कहा। उन पण्डितोंमेंसे विष्णुशर्मा बोले, कि मैं इन पुत्रोंको छ मासमें पढ़ाकर विद्वान् बना दूँगा । यह सुनकर प्रसन्नचित्त राजाने उन पुत्रोंको पढ़ानेके लिये विष्णुशर्माको सौंप दिया ।

चित्रग्रीव (कबूतर) यथा हिरण्यक (चूहे) की कथा (पृ २७)

एक दिन किसी व्याधने वनमें चावलके दानोंको छींटकर जाल फैला दिया था। आकाशमें उड़ते हुए कबूतरोंने जब उसे देख उन चावलोंको खाना चाहा, तब कबूतरोंके राजा चित्रग्रीवने कबूतरोंको बहुत समझाया कि इस जंगलमें इतने चावल कहाँसे आये, इन्हें खानेका लोभ मत करो, क्योंकि—'लोभात् क्रोध. प्रभवति ' इत्यादि नीतिकार कहते हैं । किन्तु कबूतरोंने उसकी बात नहीं मानी और वे चावल खानेके लिये वहाँ उतरते ही जालमें फँस गये । तब चित्रग्रीवने कहा—'इसमें किसीका दोष नहीं है, अभाग्यवश आपत्ति आती है, आपत्ति में धैर्य रखकर उससे छूटनेका उपाय सोचना चाहिए । जैसे 'विपदि धैर्यम् ' । इस कारण तुम लोग एक राय करके जालके साथ उड़ चलो ।' यह सुन सब कबूतर जालको लेकर उड़ गये और गण्डकी नदीके किनारे सैकड़ों मुँहवाले बिलमें रहनेवाले 'हिरण्यक' नामक चूहेके पास पहुँचे । वह चूहा चित्रग्रीवका परम मित्र था। चित्रग्रीवके बुलानेपर बाहर आकर उस चूहेने चित्रग्रीवको जालमें फँसा देख आश्चर्यसे पूछा—'मित्र ! यह क्या !' उसने उत्तर दिया—

'मेरे पूर्व जन्मका यह फल है' जैसे कहा भी है—'रोगशोकपरीताप ।' यह सुन हिरण्यक चित्रग्रीवके बन्धनको काटनेके लिए उसके पास पहुँचा तो चित्रग्रीव ने कहा—'पहले तुम मेरे आश्रितोंका बन्धन काटो क्योंकि वे आश्रित किया और तुममें मेरे बराबर होनेपर भी बिना वेतनके मेरा आश्रय नहीं छोड़ते अतः मेरे क्षणभङ्गुर शरीरकी चिन्ता छोड़कर स्वामी धर्मके लिए इनका बन्धन पहले काटो।' यह सुन प्रसन्न होकर हिरण्यकने पहले अन्य कबूतरोंके बन्धनको काटकर पश्चात् चित्रग्रीवका बन्धन काटा।

बूढ़े बाघ और कामी पथिककी कथा (पृ [illegible])

एक बूढ़ा बाघ तालाबके किनारे स्नानकर कुश हाथ और सोनेका कंकण लिये जोरसे कह रहा था— 'इस सुवर्णके कंकणका कोई दान ले'। यह सुन एक कामी पथिकने बाघसे पूछा—'कहाँ है तेरा कंकण? तुम जैसे हिंसकपर किस प्रकार विश्वास किया जाय', हाथ फैलाकर सुवर्णकंकणको दिखाते हुए बाघने कहा—'पहले मैं बहुत क्रूर था अनेक गौ-ब्राह्मणादिके मारनेसे मेरे पुत्र-स्त्री सब मर गये और मेरे दाँत-नाखून सब गिर पड़े। एक महात्माके उपदेशसे मैं स्नान कर इस सुवर्ण कंकणको किसीको देना चाहता हूँ किन्तु 'बाघ मनुष्यको खाता है' यह मिथ्या किस प्रकार दूर की जाय?—क्योंकि 'गतानुगतिको लोकः' ऐसा नीतिज्ञ लोग कहते हैं। दरिद्र तथा अपना कोई उपकारी नहीं होनेसे यह सात्त्विक दान मैं तुम्हें देना चाहता हूँ अतः इस तालाबमें स्नानकर इस कंकणको लो'। यह सुन वह पथिक उसकी बातोंपर विश्वासकर तालाबमें स्नानार्थ प्रवेश करते ही कीचड़में फँसकर चिन्ता करने लगा—'हाय! नदीनां शस्त्रपाणीनां···' इत्यादि नीतिकारोंके वचनोंके विपरीत मैंने विश्वासकर अच्छा नहीं किया विद्वान् होनेपर भी किसीका स्वभाव नहीं बदलता। जैसे कहा भी है—'न धर्मशास्त्रं पठतीति' ऐसा विचार कर ही रहा था कि वह बाघ उसे मारकर खा गया।

चित्राङ्ग (मृग) सुबुद्धि (कौआ) तथा स्यारकी कथा (पृ ११)

मगध देशमें चम्पकवती नामक बड़ा वन था उसमें मृग और कौआ बड़ी दोस्तीसे रहते थे। एक दिन मृग-मांसलोभी एक स्यार मित्रता करनेके बहाने मृगके निवासस्थानपर गया। स्यार और मृगको एक साथ देखकर 'सुबुद्धि' नामक कौआ बोला—'यह कौन है तथा यहाँ क्यों आया है? अज्ञात कुलाचार वाले व्यक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहिए। कौएकी इस बातको सुनकर स्यार बोला—'भाई! यह मेरा है यह दूसरा है यह विचार तो क्षुद्र बुद्धिवाले ही

करते हैं, उदार हृदयवालोंका तो प्राणिमात्र परिवार ही होता है।' इस प्रकार विश्वास दिलाकर वह स्यार भी वहाँ रहने लगा और उस धूर्त स्यारके दिखानेपर मृग प्रतिदिन एक खेतमें जाकर चरने लगा। यह देख किसानने जब खेतमें जाल फैला दिया तब एक दिन उसमें बेचारा मृग फँस गया। यह देख स्यार मन ही मन खुश होकर कहने लगा कि जब इस मृगको किसान मारेगा तब मुझे खून लिपटी हुई उसकी हड्डियाँ खानेको मिलेंगी। स्यारको देख प्रसन्न होकर मृगने कहा—'मित्र! शीघ्र मेरे बन्धनको काटो'। यह सुन कर कपटी मित्र स्यारने कहा—'मित्र! आज रविवारका दिन है, चर्बीसे बने इस फन्देको दाँतोंसे कैसे स्पर्श करूँ, मैं इसे कल काट दूँगा।' ऐसा कहकर थोड़ी दूरपर छिपकर बैठ गया। इधर प्रतिदिनके समान संध्या होनेपर मृगके निवासस्थानपर नहीं लौटनेसे सुबुद्धि कौवा घबड़ाकर मृगको ढूँढ़ता हुआ वहाँ पहुँचा और उसने मृगको फँसा हुआ देखकर पूछा—'मित्र! यह क्या?' उसे देख रोते हुए चित्राङ्ग मृगने कहा—'मित्रकी बात नहीं माननेका फल मैं भोग रहा हूँ।' इसके बाद प्रातःकाल लाठी लिये किसानको आते देख कौवेने मृगसे कहा—'तुम हाथ पैर फैलाकर श्वास रोक लो और मैं तुम्हारी आँखोंको धीरे धीरे खोदूँगा, जिससे किसान तुम्हें मरा हुआ जान लेगा फिर मैं जब बोलूँ तब बहुत शीघ्र उठकर भाग जाना।' इतनेमें किसान वहाँ आकर मृगके ऊपर बैठे हुए कौवेको देख उसे मरा हुआ समझकर फन्देको समेटने लगा। इतनेमें कौवेके शब्दको सुनकर जब मृग उठकर भाग चला तब किसानने अपनी लाठी उसपर फेंकी जिससे पासमें बैठकर झाँकता हुआ मृगमांस लोभी वह धूर्त स्यार मर गया।

जरद्गव (गीध) तथा दीर्घकर्ण (बिलाव) की कथा (पृ ६४)

गङ्गाके किनारे 'गृध्रकूट' नामक पहाड़पर पाकरका पेड़ था। उसके खोंढरेमें जरद्गव नामका एक वृद्ध गीध रहता था। उस पेड़पर रहनेवाले पक्षीगण कृपाकर अपने अपने भोजनसे थोड़ा उस गीधको देते थे और वह उसे खाकर उन पक्षियोंके बच्चोंकी रखवाली करता था। एक दिन बिलावको आते देखकर पक्षियोंके बच्चे चिल्लाने लगे। उसे सुनकर गीधने कहा—'अरे कौन आता है?' उसका विशाल शरीर देखकर कपटी बिलाव डर गया और कहने लगा—'मैं दीर्घकर्ण नामक बिलाव सर्वदा गंगामें स्नान करता हुआ चान्द्रायण व्रत करता हूँ। प्रतिदिन सब पक्षी मेरे पास आकर आपके धर्मज्ञानी होनेकी प्रशंसा करते हैं इसीसे मैं आपसे धर्म सुननेके लिए आया हूँ। सो आप तो ऐसे धर्मात्मा निकले कि मुझ अतिथिको देखते ही तमक उठे। धर्मशास्त्रोंका मत है कि घर आनेपर शत्रुका भी आदर सत्कार करना चाहिए'। इस प्रकार गीधको

विश्वास दिलाकर पेड़के एक खोंड़रेमें वह बिलाव रहने लगा और पक्षियोंके बाहर चले जानेपर चुपकेसे उनके बच्चोंको अपने खोंड़रेमें लाकर खाने लगा। जिन जिनके बच्चोंको बिलावने खा लिया वे इधर उधर अपने बच्चोंको ढूँढने लगे। यह बात जानकर वो धीरेसे भाग गया और उसके खोंड़रेमें पड़ी हड्डियोंको देख 'गीधने मेरे बच्चोंको खाया है' ऐसा निश्चयकर पक्षियोंने उस बूढ़े गीधको मार डाला। इसीलिए कहा है—'अज्ञातकुलशीलस्य' इत्यादि।

चूडाकर्ण तथा वीणाकर्ण संन्यासियोंकी कथा (पृ. ९९)

चम्पक नगरीमें संन्यासियोंके एक आश्रममें 'वीणाकर्ण' नामका संन्यासी रहता था। वह खानेसे बचे हुए भिक्षान्नको खूँटीमें टाँगकर जब सो जाता था तब 'हिरण्यक' नामक चूहोंका राजा उसे प्रतिदिन खा जाता था। एक दिन उसने मित्र 'चूडाकर्ण' नामक संन्यासीके आनेपर बातचीत करते हुए एक फटे हुए बाँसके टुकड़ेको लेकर चूहेको डरानेके लिए भूमिपर पटका। यह देख चूडाकर्णने कहा—'मित्र मेरे साथ बात करनेमें तुम्हारा मन क्यों नहीं लग रहा है?' चूडाकर्णने उत्तर दिया—'मेरा मन बात करनेमें तो लग रहा है, किन्तु यह दुष्ट चूहा मेरे भिक्षान्नको खाकर प्रतिदिन भाग जाता है उसीको भगानेके लिए मैंने बाँस पटका है।' खूँटीकी ऊँचाई देखकर वीणाकर्णने कहा—'छोटा-सा चूहा इतना ऊँचा कूदता है इससे यह मालूम होता है, कि इसने बहुत-सा धन आदि इकट्ठा कर लिया है इसी इकट्ठे धनके अभिमानसे यह इतना कूद रहा है।' यह कहकर उसने चूहेके बिलको खोदा और बहुत दिनका इकट्ठा किया हुआ सब धन ले लिया। एक दिन शक्तिहीन चूहेको धीरे धीरे चलते हुए देखकर वीणाकर्णने कहा—'मित्र चूडाकर्ण! धनहीन इस चूहेको देखो कि कितना धीरे धीरे चल रहा है।' नीति भी कहती है—'धनेन बलवाँल्लोके' इत्यादि।

भैरव (व्याध) तथा लोभी स्यारकी कथा (पृ० ११९)

'कल्याणकटक' नामक देशमें 'भैरव' नामक व्याध रहता था। उसने एक दिन बाणसे एक मृगको मारकर घर लौटते समय एक बड़े सूअरको देखा। फिर उसने मारे हुए मृगको भूमिपर रखकर वैसे ही बाणसे उसे भी मार दिया। बाण लगनेसे क्रुद्ध हुए सूअरने भैरव व्याधके अण्डकोषमें दाँतसे प्रहार कर दिया जिससे वह उसी समय गिर पड़ा और उसके नीचे दबकर एक सर्प भी मर गया। इधर बाणकी पीड़ासे व्याकुल होकर सूअर भी मर गया। इतनेमें ही कहींसे घूमता हुआ एक लोभी स्यार आया और मरे हुए मृग व्याध सूअर सर्प तथा व्याधके धनुषको देखकर विचारने

लगा—'भगवान्‌ने आज मुझे बहुत दिनोंके लिए भोजन दे दिया। इनमें १-१ महीने मृग सूकर, व्याध तथा १ दिन सर्पको खाऊँगा और आज तेज भूखमें स्वादहीन धनुषकी डोरीको ही खा लेता हूँ।' ऐसा निश्चयकर उसने धनुषकी डोरीको खानेके लिए जो काटा तो चढ़ा हुआ धनुष उछलकर उसके पेटमें लगा और वह भी वहीं मर गया'। इसीलिए नीतिकारोंने कहा है—'सञ्चय तो करना चाहिए, किन्तु अधिक सञ्चय नहीं करना चाहिए।'

कर्पूरतिलक हाथी तथा स्यारकी कथा (पृ० १३६)

'ब्रह्मारण्य'में 'कर्पूरतिलक' नामका एक हाथी रहता था। उसे देखकर स्यारोंने विचारा—'यदि यह किसी उपायसे मर जाय तो हम लोगोंका इच्छानुसार चार मासका भोजन होगा'। यह सुन एक स्यारने कहा—'मैं अपनी बुद्धिसे इसे मारूँगा' ऐसा कहकर वह कर्पूरतिलक हाथीके पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोला—'सरकार! जङ्गलके रहनेवाले सब पशुओंने मिलकर मुझे आपके पास भेजा है—बिना राजाके रहना अच्छा नहीं और इस समय राजा होने लायक आप ही हैं, सो जब तक राज्याभिषेकके शुभ मुहूर्तका समय नहीं बीत रहा है तब तक ही कृपाकर आप जल्दी चलिए'। राज्यके लोभमें पड़ा हुआ वह कर्पूरतिलक हाथी स्यारके कहनेमें आकर उसके पीछे-पीछे चल दिया। कुछ ही दूर आगे जानेपर महा दलदलमें फँसकर वह बोला—'मित्र स्यार! मैं तो दलदलमें फँस गया, अब क्या करूँ'? यह सुनकर स्यारने कहा—'मेरे-जैसे नीचका विश्वास करनेका फल भोगो'। इसीसे नीतिकारोंने कहा है—'जो काम उपायसे होता है, वह पराक्रमसे नहीं।'

लघुपतनक (कौवा), हिरण्यक (चूहा), मन्थरक (कछुआ) और चित्रांगद (मृग) की कथा (पृ० १४०)

चित्रग्रीव और हिरण्यककी मित्रताको देखकर लघुपतनक नामक कौवेने कहा—'हिरण्यक! मैं तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ।' यह सुन हिरण्यकने कहा—'तुम मेरे भक्षक हो और मैं तुम्हारा भक्ष्य हूँ, अतः हम दोनोंसे मित्रता कैसे हो सकती है? शत्रुके साथ एकभाव होनेपर भी मेल नहीं करना चाहिए, क्योंकि बहुत गर्म भी पानी आगको बुझा देता है।' इस प्रकार अस्वीकार करने पर लघुपतनकने कहा—'यदि तुम मेरे साथ मित्रता नहीं करोगे तो मैं भोजन त्यागकर यहीं प्राण दे दूँगा, क्योंकि तुम सज्जन हो और सज्जनोंकी मित्रता बड़े भाग्यसे होती है।' उसके ऐसे दृढ निश्चयको सुनकर हिरण्यकने लघुपतनकसे मित्रता कर ली। एक दिन लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा—'मित्र! यहाँ लोग पशु पक्षियोंको मारकर खा जाते हैं, इस कारण दण्डकवनके कर्पूरगौर नामक तालाबमें रहनेवाले

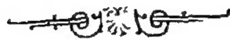
अपने पुराने मित्र मन्थरक नामक कछुएके पासमें जाना चाहता हूँ। वहाँ मुझे यथेच्छ भोजन मिलेगा। यह सुन हिरण्यकने कहा—"मित्र मैं तुम्हारे जैसे मित्रके बिना कैसे रहूँगा, इसलिये मुझे भी वहीं ले चलो। यह सुन लघुपतनक उसे अपनी चोंचपर बैठाकर उड़ता हुआ अपने मित्र मन्थरकके पास पहुँचा। वहाँ मन्थरक लघुपतनकसे हिरण्यकका परिचय पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने हिरण्यकका भी अच्छी तरह आतिथ्य किया। भोजन आदिसे निश्चिन्त होकर तीनों एक साथ बैठे तो मन्थरकने हिरण्यकसे पूछा— मित्र हिरण्यक! अपने देशको छोड़कर इस निर्जन वनमें आप क्यों आये?" यह सुन हिरण्यकने कहा—'धनहीन होकर यदि स्वजन रहनेसे बड़ा अपमान सहना पड़ता है निर्धन मनुष्य वनवास करता चाहे देह छोड़ दे परन्तु परिवारमें रहकर अपमान न सहे। कहा भी है— 'वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितम्' ~ । यही विचारकर मैं यहाँ आया हूँ। यह सुन मन्थरकने कहा—'मित्र! धनीको तृष्णा छोड़ देनी चाहिए क्योंकि जितनी तृष्णा की जायगी, वह उतनी ही बढ़ती जायगी। सन्तोष धारण करनेके समान संसारमें दूसरा कोई सुख नहीं है। इतनेहीमें भटकता हुआ एक मृग आकर कहने लगा— 'कलिंग देशका राजा 'रुक्मांगद' दिग्विजयके लिए निकला है। उसकी सेना चन्द्रभागा नदीके किनारे पड़ाव डालकर पड़ी है, उसके साथ रहनेवाले शिकारियोंसे डरकर मैं यहाँ आपकी शरणमें आया हूँ। दो-तीन दिनमें यहाँ भी वे आनेवाले हैं ऐसा मैंने सुना है। यह सुन मन्थरक डरके मारे वहाँसे चल पड़ा और दूसरे तालाबको रास्तेमें जाते हुए उसे एक व्याधने पकड़ लिया। यह देख हिरण्यकने कहा—'हे चित्रांग! तुम इस व्याधके मार्गमें आगे एक पानी वाले गड्ढेके पास पेट झुकाकर तथा पैरोंको फैलाकर लेट जाओ और लघुपतनक तुम्हारे मुँहपर बैठकर आँखोंमें धीरे-धीरे चोंचसे खोदता रहे जिससे वह व्याध तुम्हें मरा हुआ जानकर मन्थरकको गड्ढेके किनारे रखकर तुम्हें लानेके लिए जायगा इतनेमें मैं मन्थरकके बन्धनको काट दूँगा और वह शीघ्र पानीमें घुस जायगा तथा तुम भी व्याधको पासमें आते देख झट उठकर भाग जाना। यह उपाय सब दोनोंको बहुत अच्छा लगा और उन्होंने ऐसा ही किया फिर देख व्याध मृगको मरा हुआ समझकर कुशकी रस्सीसे बाँधे हुए मन्थरकको गड्ढेके किनारे रखकर मृगको लानेके लिए गया। उधर व्याधका पासमें आना देख कौआ उड़ गया और मृग भाग गया फिर वापस लौटकर बन्धनसे भागे हुए मन्थरकको देखकर वह व्याध सोच करने लगा—'जो निश्चितको छोड़कर अनिश्चितके लिए दौड़ता है, उसकी दशा मेरी-जैसी ही होती है। इस प्रकार सोच करता हुआ वह घर चला गया। इधर सब मित्र (मन्थरक, हिरण्यक, चित्रांग तथा लघुपतनक) फिर मिलकर सुखपूर्वक रहने लगे।

—१—

॥ श्री ॥

हितोपदेश-मित्रलाभः

किरणावली-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः



मङ्गलाचरणम्

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ।

तर्कश्रुतिमिरावेधमपरात परतः परम् ।
परं ब्रह्म नमस्कृत्य 'स्वामिनारायण' प्रभुम् ॥
'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' करोति 'किरणावलीम्' ।
व्याख्यां शिशुहितां रम्यां 'मित्रलाभ'नयानुगाम् ॥

अन्वय —यन्मूर्ध्नि शशिन कला जाह्नवीफेनलेखा इव (अस्ति), तस्य धूर्जटेः प्रसादात् सतां साध्ये सिद्धि अस्तु ॥ व्याख्या—यस्य मूर्धा यन्मूर्धा, तस्मिन् । यस्य=शङ्करस्य मूर्ध्नि=ललाटे। शशिन —शश अङ्करूपोऽस्ति अस्येति शशी, तस्य—शशिनः=चन्द्रस्येत्यर्थः । कला=षोडशो भाग, 'कला तु षोडशो भाग' इत्यमर । जाह्नवीफेनलेखेव=जह्नोः अपत्य कन्या जाह्नवी=गङ्गेत्यर्थः । जाह्नव्या फेन =डिण्डीरः, 'डिण्डीरोऽब्धिकफ फेनः' इत्यमर, जाह्नवीफेनस्य लेखा=चिह्न-मिव, विराजते-इति शेष । तस्य धूर्जटे -धूः=भारभूता जटिः=जटा यस्य स तस्य= शङ्करस्य, प्रसादात्=अनुग्रहात् । सतां=सज्जनानां विद्यार्थिनाम्, साध्ये = साधितु योग्ये स्वाभिलषिते एतद्ग्रन्थाऽध्ययनात्मके कार्ये, सिद्धिरस्तु=पारगामित्व भवतु ।

भाषान्तरम्—जिन शङ्करजी के ललाटमें चन्द्रकी एक कला गङ्गाजी के फेन (गाज) की रेखा के समान सुशोभित है, उन शङ्करजीकी प्रसन्नतासे सब सत्पुरुषों के कार्यों की निर्विघ्न सिद्धि हो ॥ १ ॥

ग्रन्थस्योपादेयता दर्शयति—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

अ०—श्रुतः अयं हितोपदेशः संस्कृतोक्तिषु पाटवम् सर्वत्र वाचां वैचित्र्यम् नीतिविद्यां च ददाति ॥ व्या०—श्रुतः = अधीतः,—गुरुमुखात् आकर्णनपूर्वकमधीतो भूत्वा इति भावः अयम्—एष इति यावत्, हितोपदेशः—हितः = हितकरः उपदेशो यस्मात् तादृशः 'हितोपदेश'नामा ग्रन्थः (इदं कर्तृपदम्), संस्कृतोक्तिषु—संस्कृतस्य = संस्कृतभाषायाः उक्तयः = भाषणानि तासु—इत्यर्थः । पाटवम् = पटोर्भावः पाटवम् = चतुरताम् (ददाति), सर्वत्र = सर्वस्मिन् सम्भाषणोपयोगिनि व्यवहारे वाचाम् = गिराम् 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इत्यमरः । वैचित्र्यम् = चमत्कारपूर्णताविशेषम् (ददाति), नीतिविद्यां च = नीयते अनया स्वेप्सितम् अथवा इति नीतिः—शास्त्रज्ञानमेतद्व्यवहारोपायचतुरत्वसंयोगः, विद्यते—अनेन इति विद्या = ज्ञानम् नीतेः विद्या नीतिविद्या—नीतिविज्ञानस्वरूपं ताम्, सामदानादिप्रयोगरूपाम् ददातीत्यर्थः ॥

भा०—इस हितोपदेशका अध्ययन करनेसे संस्कृत भाषामें चतुराई, सभी प्रकारके व्यवहारोपयोगी व्यवहारों में निपुणता तथा नीति का ज्ञान प्राप्त होता है ॥ २ ॥

विद्याप्रशंसा

अजराऽमरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

अ०—प्राज्ञः अजरामरवत् विद्याम् अर्थं च चिन्तयेत् । मृत्युना केशेषु गृहीत इव धर्ममाचरेत् ॥ व्या०—प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव इति प्राज्ञः, स्वार्थे अण् धीमान् मनुष्य इत्यर्थः । न विद्यते जरा यस्य सः, अजरः न म्रियते इत्यमरः, न म्रियते इत्यमरः, अजरश्चासौ अमरश्चेति अजराऽमरः, स इवेत्यर्थे तुल्यार्थे वत् अजराऽमरवत् = जरामरणरहित इवेत्यर्थः । विद्याम् = शास्त्रज्ञानकलाकौशलादिकम् अर्थं च = द्रव्यं च चिन्तयेत्—उपार्जयेत् । मृत्युना = यमराजेन केशेषु = शिरोरुहेषु गृहीत इव = धृत इव धर्मं = पुण्यम् । आचरेत् = अनुतिष्ठेत् ॥

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या तथा द्रव्य (धन) का उपार्जन करे और मृत्यु इसको ले जाने के लिये इसके सिर के केश (चोटी) पकड़े हुए है ऐसा समझ कर सदा धर्माचरण करे ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

अ०—(तत्त्वज्ञाः) सर्वदा अहार्यत्वात् अनर्घ्यत्वात् अक्षयत्वाच्च सर्वद्रव्येषु विद्यैव अनुत्तमं द्रव्यम् अस्तीति आहुः ॥ व्या०—(तत्त्ववेत्तारः सत्याऽसत्यविवेचकाः) सर्वदा = सर्वकालम् अहार्यत्वात् = हर्तुं चोरैः हार्या हार्या न भवतीति अहार्या = अहार्यत्वम्, तस्मात् अहार्यत्वात् = चौरादिभिरपहर्तुम् अयोग्यतया

वित्यर्थः । अनर्घत्वात्=नास्ति अर्घो मूल्यं यस्याः सा अनर्घा=अमूल्या, तस्या भावः अनर्घत्वम्, तस्मात्, अनर्घत्वात्, द्रव्यादिमूल्येनाऽपि प्राप्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। अक्षयत्वात्=नास्ति क्षयः=नाशः स्थूलपदार्थवत् क्लेदनदहनपरिणामाद्यात्मकः शीघ्र विनाशो यस्याः सा इति अक्षया, तस्या भावस्तस्मात्। व्यये कृते वृद्धिशीलत्वादिति यावत्। सर्वद्रव्येषु=सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि=सुवर्णरजताद्यात्मकानि रत्नाद्यात्मकानि अन्यानि च यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि, तेषु मध्ये विद्या एव, अनुत्तमम्=उत्कृष्टं पराकाष्ठां गतम्, द्रव्यम् (अस्तीति) आहुः=वदन्तीति। अत्र श्लोके-अनुमानत्रयम्=हेतुत्रयेण बोध्यम्।

भा०—विद्वान् लोग सब धनों में से विद्या को ही उत्तम धन कहते हैं, क्योंकि चोर लोग उसकी चोरी नहीं कर सकते हैं, और मूल्य देने पर भी वह खरीदी नहीं जा सकती है, और दूसरे को देने (पढ़ाने) से कमती नहीं होती है, किन्तु बढ़ती ही रहती है, इसलिये श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव, नीचगाऽपि नरं सरित्।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

अ०—नीचगा अपि सरित् दुर्धर्षं समुद्रमिव (नीचगाऽपि) विद्या एव नरं नृपं संयोजयति, अतः (विद्या) परम् भाग्यं (उद्घाटयति)। व्या०—नीचगाऽपि=निम्नप्रदेशगामिन्यपि, सरित्=नदी, (तृणकाष्ठादिकम्) दुर्धर्षम्=दुःखेन धृष्यते आक्रम्यते इति दुर्धर्षं तम्, दुरतिक्रमम् दुष्प्रापमिति यावत्, समुद्रम्-मुद्राभिः=रत्नैः सहितः समुद्रः, तम्=अर्णवम्, इव=यथा (संयोजयति) तथा (नीचगा ऽपि) नीचं कुलस्वभावादिनाऽपकृष्टमपि पुरुषं गच्छतीति नीचगा, नीचैर्गीता सत्यपीत्यर्थः नरं=जातिकुलाद्यपकृष्टं जनम्, विद्या एव दुर्धर्षं=दुष्प्रापम्, नृपम्=नॄन् पातीति नृपः, लोकरक्षको राजा, तम्, संयोजयति=सङ्गमयतीत्यर्थः, प्रापयतीति यावत् अतः परम्=इत ऊर्ध्वं, भाग्यम्=दैवाधीनम् फलम्।

भा०—जैसे नीचे प्रदेश में बहने वाली नदी तुच्छ तृणकाष्ठादिकको दुष्प्राप्य अथाह समुद्र में जा मिलाती है वैसे ही नीच पुरुषको प्राप्त होकर विद्या ही उस पुरुष को बड़े भारी राजा से मिलाती है। उसके बाद वह भाग्यानुसार फल पाता है ॥ ५ ॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

अ०—विद्या विनयं ददाति, विनयात् पात्रतां याति, पात्रत्वात् धनम् आप्नोति, धनात् धर्मं (करोति), ततः सुखम् (आप्नोति)। व्या०—विद्या विनयं=नम्रताम्, ददाति (जनयतीति शेषः), विद्यायुक्तः नम्रो भवतीति भावः। विनयात्= [illegible] पात्रतां=सत्पात्रत्वम्, याति=प्राप्नोति,

(विद्यावान् भव इति शेषः) पात्रत्वात्=सत्पात्रत्वात्, धनार्जनसमर्थयोग्यत्वात् विश्वासपात्रत्वाद्वा धनम्=सुवर्णरजतादिकम् आप्नोति विश्वासपात्रे हि पुरुषः स्वकार्यपरिसमाप्त्या प्रसादितात् स्वामिनः विपुलं धनं लभते इति भावः। धनात्=न्यायोपार्जितात् धनात् धर्मम्=यागदानादिरूपं पुण्यम्, धर्मं प्राप्नोति—इति शेषः। ततः=तस्मात् पुण्यात् सुखम्=स्त्री-पुत्र-समृद्धि-नीरोगता-आरोग्यादिभिः सर्वदा आनन्दम् अनुभवतीति शेषः।

भा० —मनुष्य विद्या को पढ़ने से विद्वान् बनता है, विद्वान् होने से ही वह सुपात्र बनता है, सुपात्र होने से वह धन को प्राप्त करता है, धन से धर्मकर्म—यज्ञदानादि करके पुण्यशाली बनता है, पुण्यशाली होने से सांसारिक स्त्री पुत्र समृद्धि, नीरोगिता आदि से सदा सुखी रहता है ॥ ६ ॥

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाऽऽद्रियते सदा ॥ ७ ॥

अ० —शस्त्रस्य शास्त्रस्य विद्या (भवति), द्वे विद्ये प्रतिपत्तये (भवतः) आद्या वृद्धत्वे हास्याय (भवति), (अपरा) द्वितीया सदा आद्रियते। व्या० —शस्त्रम्=खड्गादिकं तस्य शस्त्रस्य सारतत्त्वज्ञानम्; शास्त्रम्=विधिनिषेधादिना लोकशासनात् शास्त्रम् विधिनिषेधबोधकम् इयं विद्या भवति, अस्य कार्योपयोगात् विद्यापदव्यपदेशः इति ध्येयम्। एते द्वे विद्ये प्रतिपत्तये=लोककार्यसिद्धये भवतः। तयोर्मध्ये या आद्या=शस्त्रात्मिका विद्या सा तु वृद्धत्वे=वार्धक्ये सति दुर्बलस्य तस्या सामर्थ्याभावे हास्याय भवतीति भावः, हास्याय=उपहासाय भवति अत एव द्वितीया (या)=शास्त्रविद्या सा तु सदा=सर्वदा बाल्ये यौवने वार्धक्येऽपि येनकेन। आद्रियते=लोकैः प्रशस्यते—आदृता भवतीति भावः। (अत्र श्लोके—'विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्येति' पाठान्तरम्)।

भा० —संसार में दो विद्यायें प्रसिद्ध हैं एक शस्त्रविद्या और दूसरी शास्त्रविद्या, इन दोनों को पढ़ने से मनुष्यकी प्रतिष्ठा होती है, किन्तु निर्बल (वृद्धावस्था) अवस्था में शस्त्रविद्या से अपना रक्षण तथा विजयादि नहीं कर सकते हैं इसलिये शस्त्रविद्या हँसी कराती है शास्त्रविद्या तो सबल-निर्बल सभी अवस्थाओं में सुख देनेवाली है इसलिये द्वितीय विद्या—शास्त्र विद्या ही प्रशंसित है ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

अ०—यत् नवे भाजने लग्नः संस्कारः अन्यथा न भवेत्, तत् इह कथाच्छलेन बालानां नीतिः कथ्यते। व्या० —यद्यस्मात्कारणात्, (यथा) नवे=नूतने=अपक्वे भाजने=मृत्पात्रादौ लग्नः=अङ्कितः, संस्कारः=रेखादिचिह्नम् अन्यथा=अन्य-

प्रकारो विलीनो वा न भवेत् (तथा) यत् = यस्माद्धेतो, नवे = नूतने विद्या-सकाररहिते, भाजने = विद्यापात्ररूपे बालान्तःकरणे, लग्नः = सङ्क्रान्तः, संस्कारः = विद्यासंस्कारः, अन्यथा = विपरीतो न भवेत्। तत् = तस्माद्धेतो, इह = अस्मिन् ग्रन्थे, कथाच्छलेन—कथा = काककूर्मादीनां कल्पितोपाख्यानम्, तदेव छलं तेन, बालानाम् = प्रथमं संस्कृतभाषायां प्रवेशाऽभिलाषुकाणाम् (बोधार्थमिति शेषः) कथ्यते = उपदिश्यते । मया विष्णुशर्म्मणेति शेषः ।

भा०—बालकों का हृदय मृत्तिका के नये घट के समान निर्मल होता है, इसलिये नये घटादि में खींचे हुए रेखा आदि के चिह्न—बरतन फूटने तक नहीं जाते, वैसे ही बालकों के निर्मल अन्तःकरणों में उपदेश द्वारा किये गये शुभ संस्कार भी जीवन पर्यन्त दूर नहीं होते, इसलिये मैं (विष्णुशर्मा) बालकों को मनोरञ्जक नीतियुक्त कथाएँ कहकर उपदेश देने का प्रयत्न करता हूँ ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

अ०—(मया) पञ्चतन्त्रात् तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात् आकृष्य मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह, सन्धि, एव च लिख्यते । व्या०—मया (विष्णुशर्मणा) पञ्चतन्त्रात् = 'पञ्चतन्त्र'नामकग्रन्थात्, तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात् = महाभारत-कामन्दकीयादेः नीतिशास्त्रान्तरात्, आकृष्य = समाहृत्य सङ्गृह्य च, मित्रलाभः = मित्रस्य लाभः प्राप्तिः, सुहृद्भेदः = सुहृदो भेदः = वैमत्यम्, विग्रहः = युद्धम्, सन्धिः = मेलनं चेति लिख्यते एवेति ।

भा०—मैं नीति के प्रतिपादक पञ्चतन्त्र तथा महाभारतादि ग्रन्थों से बालकों का हित करने वाली कथायें एकत्रित करके मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह, सन्धि, इन चार प्रकरणों में पर्यवसित ऐसा यह 'हितोपदेश' नाम का ग्रन्थ लिखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ कथामुखम्

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केनाऽपि पाठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव ।

व्या०—भागीरथीतीरे = 'भगीरथ'नाम्ना राजकुमारेण आनीता या गङ्गा सा भागीरथी, तस्याः तीरे तटे, पाटलिपुत्रनामधेयम् = नाम एव इति नामधेयम्, 'पाटलिपुत्र' इति (पटना) नामधेयं यस्य तत् 'पाटलिपुत्र'नामकं, नगरं = पुरम् अस्ति = वर्तते । तत्र = तस्मिन्निति तत्र = पाटलिपुत्रनगरे, सर्वस्वामिगुणोपेतः = स्वम् ऐश्वर्यं प्रजेशनशीलत्वरूपम् अस्ति अस्य इति स्वामी = राजा, स्वामिनो गुणाः =

शीलोदयाः, सर्वे च ते स्वामिगुणाः सर्वस्वामिगुणास्तैः उपेतः=युक्तः, सुदर्शने नाम=सुष्ठु सुन्दरं दर्शनं यस्य सः सुदर्शनः 'सुदर्शन'नामा, नरपतिः=पाति रक्षतीति पतिः, नराणां पतिः नरपतिः=राजा आसीत्=अभूत्। स नृपतिः=असौ 'सुदर्शन'नामा नृपतिः, नृपान् पाति नृपतिरिति विग्रहः। एकदा=एकस्मिन् काले केनापि=व्यक्तिविशेषेण पठ्यमानम्=पठ्यते यत् पठ्यमानं श्लोकयोः द्वयम्—श्लोकद्वयम् 'अग्रे'—स्वास्थितस्ये पठ्यमानं श्लोकद्वयम्, शुश्राव=आकर्णितवान्।

व्या०—भागीरथी गङ्गाके तीर पर 'पाटलिपुत्र' (पटना) नाम का एक नगर है। वहाँ नगर का राजा 'सुदर्शन' नाम का था, वह राजाओं के सब गुणों से युक्त था। उस राजाने एक समय किसी द्वारा पढ़े जाते हुए इन दो श्लोकों को सुना (जो आगे कहे जा रहे हैं।)

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ १० ॥

व्या०—सर्वस्य=निखिलजनस्य अनेकसंशयोच्छेदि, न एके=अनेके, अनेके च ते संशयाः अनेकसंशयाः। अनेकसंशयानाम् उच्छेदि, इत्यनेकसंशयोच्छेदि=बहुविधधार्मिक-राजनीतिक-सामाजिकैतिहासिक-संशयनिराकरणसमर्थम्। परोक्षार्थस्य=अक्ष्णः परम्—इन्द्रियाणां परः इति परोक्षः परोक्षश्चासौ अर्थश्चेति परोक्षार्थः तस्य परोक्षार्थस्य=भूतभविष्यत्सूक्ष्मपदार्थस्येत्यर्थः। दर्शकम्=प्रत्यक्षमिव यथार्थज्ञानजनकम्, शास्त्रम् (एव) द्वितीयं दिव्यं लोचनं=नेत्रं भवतीति शेषः। यस्य जनस्य तत् दिव्यलोचनात्मकं शास्त्रं नास्ति सः अन्धः एव।

भा०—सब मनुष्यों की दूसरी दोनों आँखों से अलग दिव्य नेत्र शास्त्र ही होता है क्योंकि शास्त्र से ही धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक संशय दूर होते हैं भविष्य में होने वाली घटना भी शास्त्र से ही विदित होते हैं इसलिये ऐसा शास्त्र जिसने नहीं पढ़ा वह अन्धे के समान है ॥ १० ॥

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ ११ ॥

अ०—यौवनं, धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वम्, अविवेकिता—(एतच्चतुष्टये) एकैकमप्यनर्थाय (भवति) (तर्हि) यत्र चतुष्टयं तत्र किमु ॥

व्या०—यूनो भावो यौवनम्=यौवनावस्था धनसम्पत्तिः=धनस्य सम्पत्तिः=धन-विभव इत्यर्थः। प्रभुत्वम्=प्रभवति नियन्तुं समर्थो भवति स प्रभुः, तस्य भावः प्रभुत्वम्, स्वामित्वम् अधिकारत्वं नियामकत्वमिति यावत्, अविवेकिता विवेकस्य अभावः अविवेकिता न विवेकितेति अविवेकिता—विवेकशून्यता अज्ञानतेति यावत्। एतेषां चतुर्णां मध्ये एकैकम्=प्रत्येकमपि अनर्थाय=दुःखाय च भवतीति अर्थः

शास्त्रनिषिद्धम् आपत्तिप्रद् कर्म इत्यर्थं', तस्मै भवति=एकैकमप्यनर्थं जनयतीति भाव । तर्हि यत्र=यस्मिन् पुरुषे, चतुष्टयम्-यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता चेति चतुष्टयमपि एकत्रितं भवति, तत्र=पुरुषे, किमु=किं वक्तव्यम्, यतः स तु अन र्थानां खनि(कोश)रूप एव भवतीति भावः ।

भा०—जवानी, धनदौलत, आधिपत्य (अधिकार) और अज्ञानता (विवेकशून्यता) इन चारों में से एक एक भी बड़ा-बड़ा अनर्थ (अत्याचार) कराता है; तो चारों जहां एकत्रित हों वहां कौन अनर्थ नहीं होगा । अर्थात् सभी अनर्थ होंगे (महाराज सुदर्शन के पुत्रों में ये चारों उपस्थित थे) ॥ ११ ॥

इत्याकर्ण्याऽऽत्मन पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राऽननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास ।

व्या०-इति = एतत् श्लोकद्वयम् आकर्ण्य=श्रुत्वा, आत्मनः=स्वस्य, अनधिगतशास्त्राणाम् = अधिगत शास्त्र यैस्ते अधिगतशास्त्रा , अधिगतशास्त्रा न भवन्ति ते अनधिगतशास्त्रा , तेषाम्=शास्त्रज्ञानशून्यानामित्यर्थं । अत एव नित्यम् = सर्वदा उन्मार्गगामिनाम्=कुत्सितो मार्गः उन्मार्ग उन्मार्गेण गच्छन्तीति उन्मार्गगामिन तेषाम्=कुपथप्रवृत्ताना द्यूतक्रीडादिव्यसनाऽऽसक्तानामित्यर्थं । पुत्राणां=स्वतनयानाम, शास्त्राऽनुष्ठानेन=अनुष्ठीयते तत् अनुष्ठानम् अभ्यास , अनुष्ठान न भवतीत्यननुष्ठानम्, शास्त्राऽनभ्यासः, (अर्थात्) शास्त्रविरुद्धाचरणम् इति यावत्, तेन हेतुना उद्विग्नमनाः=उद्विग्नं व्याकुलित मन =मानस यस्य स , चिन्ताऽऽकुलितः सन्नित्यर्थं , तादृश· स राजा 'सुदर्शन'नृपति , चिन्तयामास = शुशोच ।

भा०—इन दोनों श्लोकों को सुनकर विद्याध्ययन नहीं करनेवाले तथा सर्वदा शास्त्र निषिद्ध व्यसनों में चलने वाले अपने राजकुमारोंके शास्त्र-विरुद्धाऽऽचरण से दु खित 'सुदर्शन' महाराज चिन्ता करने लगे ।

चिन्तां निरूपयति='कोऽर्थ' इत्यादिना 'पुस्तकेषु चे'ति (३९) पर्यन्तेन—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षु' पीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

अ०—य न विद्वान् (भवति), न धार्मिक (भवति), (तेन) जातेन पुत्रेण क अर्थ (भवति) ? (यथा) काणेन चक्षुषा किंवा (भवति), चक्षु केवल पीडा एव (भवति) । व्या०—य' पुत्र न विद्वान्=वेत्तीति विद्वान् , पण्डित , विविधशास्त्रकलाविज्ञानी न भवति इति यावत् । न धार्मिकः=न धर्मानुशीलनरत'(भवति), (तेन) अविदुषा अधार्मिकेण पुत्रेण='पु'नामकनरकात् त्रायते इति पुत्र , तेन । जातेन=स्वस्मादुत्पन्नेनापि, क अर्थः=धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु क' पुरुषार्थ· (भवति) सिद्ध्यति ? न ... सम्बन्धिजनपुत्रै· वर्तमानैरपि तद

स्वतन्त्रैर्मार्जितं धनाज्ञयादिकं पितरस्तावदाप्नुवन्ति अथवा अपि पितरः स्वप्रसूतमहापापकारिणा पुत्रेण (घोरं) नरकं गच्छन्ति धर्मार्थिकेन पुत्रेण तु धर्मादिकं कोऽपि पुरुषार्थो न सिध्यति । अत एवोक्तं 'धार्मिको लोकसिद्धमित्र स्वार्गं द्वारं सम्भवति' इति भावः । यथा (उपमा) काणेन = नेत्रविहीनेन चक्षुषाऽयोग्येनैकेन चक्षुषा = नेत्रगोलकेन किं वा ? = किं दर्शनादिकं कार्यं भवति ? न किमपि कार्यं भवतीत्यर्थः, यथा तादृशं चक्षुः केवलं पीडैव = पीडाकरमेवेत्यर्थः ।

भा०—जिस पुत्र में विद्या और धर्म नहीं है वैसा पुत्र दीर्घायु होने पर भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में से किसी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता इसलिये उसका जन्म निष्फल है। जैसे कि—नेत्रविहीन और पीडायुक्त कानी आंख से देखना आदि कोई भी काम नहीं होता। इसलिए वह निरर्थक है और दुःखदायी है ॥ १२ ॥

एतदुक्तमपि मूर्खतनयस्य शोच्यत्वमाह—

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चाऽन्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

अ० — अजातमृतमूर्खाणाम् आद्यौ वरम्, अन्तिमः च न वरम्, आद्यौ सकृद् दुःखकरौ, अन्तिमस्तु पदे पदे (दुःखदो भवतीति शेषः)। व्या० — न जातः अजातः अजातश्च मृतश्च मूर्खश्च अजातमृतमूर्खाः तेषाम्, अजातश्चासौ मृतश्च अजातमृतौ, मूर्खश्च अजातमृतमूर्खाः, मूर्खः=विद्याशून्यः तेषां मध्ये आद्यौ=प्रथमोक्तौ द्वौ अजातमृतौ पुत्रौ, वरम्=श्रेष्ठौ—मनागिष्टौ (इत्यर्थः) किन्तु भवतः। अन्तिमः= मूर्खस्तु न वरमिति, यतः=यस्मात् आद्यौ=अजातमृतौ, द्वौ सकृत्=एकवारं दुःखकरौ=शोककरौ भवतः, अन्तिमः=मूर्खस्तु पदे पदे=प्रतिपदम्, पले पले, निरन्तरमिति यावत्, दुःखदो भवतीति।

भा० —पुत्र का उत्पन्न नहीं होना, अथवा उत्पन्न होकर मर जाना या जीवन पर्यन्त मूर्ख रहना —इन तीनों प्रकार के पुत्रों में से—'उत्पन्न नहीं होना' या 'उत्पन्न होकर मर जाना' ये दोनों अच्छे हैं, किन्तु तीसरा—'जीवनपर्यन्त मूर्ख पुत्र' अच्छा नहीं है। क्योंकि अनुत्पन्न पुत्र का होना और उत्पन्न होकर मरने पर तो एकबार दुःख होता है। इन पुत्र के मरने समय में दुःख होता है परन्तु तीसरे मूर्ख पुत्र से तो पल-पल में दुःख होता है ॥ १३ ॥

किञ्च—वरं गर्भस्रावो वरमपि च नैवाऽभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ।
वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसतिः
न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥ १४ ॥

अ० — गर्भस्रावः वरम्, च एव अभिगमनम् अपि न वरम्। जातः प्रेतः वरम्, कन्यैव जनिता अपि च वरम्, वन्ध्या भार्या वरम्, गर्भेषु वसतिः अपि च वरम्, (किन्तु) रूपद्रविणगुणयुक्तः अपि अविद्वान् तनयः न च वरम्।

व्या०-(प्रक्षिप्तोऽयं श्लोकः) गर्भस्रावः=गर्भस्य स्रावः, गर्भस्रावः=गर्भपात इत्यर्थः। वरम्=ईषत् प्रियम्। न एव अभिगमनम्=ऋतुमत्या पत्न्या सह सम्भोगाकरणम् अपि च वरम्=श्रेष्ठम्। जातः=उत्पन्नोऽपि प्रेतः=मृतः पुत्रश्च वरम्; अवजनिता=उत्पादिता कन्या अपि च वरम्, वन्ध्या=अप्रसूतसन्ताना भार्या अपि वरम्, गर्भेषु=कुक्षिषु वसतिः=स्थितिः अपि च वरम्, पुत्रस्य अप्रसव एव वरमिति भावः। किन्तु रूपद्रविणगणयुक्तः=रूपं च द्रविणञ्च रूपद्रविणे, रूपद्रविणयोः गणः तेन युक्तः=सौन्दर्ययुक्तः धनराशिसम्पन्नश्चेत्यर्थः। अपि=निश्चयेन। अविद्वान्—विद्याशून्यः, मूर्ख इति यावत्। तनयः पुत्रः न वरम्। शिखरिणीवृत्तम्॥

भा०—जो पुत्र रूपयौवनधनादि से युक्त होने पर भी अगर विद्याशून्य हो-वह अच्छा नहीं, उससे तो गर्भ ही गिर जाना अच्छा है, अथवा ऋतुकाल में स्त्री का भोग न करना ही अच्छा है, अथवा मूर्ख पुत्र का पैदा होते ही मर जाना अच्छा है, अथवा कन्या उत्पन्न होना अच्छा है (पर मूर्ख पुत्र रहना अच्छा नहीं है)॥ १४॥

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते॥ १५॥

अ०—येन जातेन वंशः समुन्नतिं याति स जातः, परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते। व्या०—येन=पुरुषेण (पुत्रेण) जातेन=उत्पन्नेन (सता) वंशः=स्वकुलम्, समुन्नतिम्=सम्यग् उन्नतिः समुन्नतिस्ताम्=अभ्युदयं गौरवं च याति=प्राप्नोति, यो हि कुलदीपक इत्यर्थः, सः पुरुषः जातः=सफलजन्मा भवति। परिवर्तिनि=परिवर्तते परिणमते प्रतिक्षणमिति परिवर्ती तस्मिन् परिणामस्वभावे; उत्पादविनाशशालिनीति यावत्, संसारे=भवे, मृतः=निधनं गतः, मृत्वा इति यावत्, को वा व्यक्तिः न जायते=न उत्पद्यते। अर्थात् प्राणिनां मरणोत्तरं कर्मफलभोगार्थम् अवश्यं जन्म ग्रहीतव्यम्, तत्र यः कुलोज्ज्वलकारी, स एव पुरुषः (पुत्रः) इत्यर्थः॥

भा०—जो पुरुष पैदा होकर अपने कुल की अच्छी उन्नति करता है, उसी का जन्म सफल है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील संसार में कुटुम्ब के भाररूप तो बहुत ही मरते रहते और पैदा होते रहते हैं॥ १५॥

अन्यच्च—**गुणिगणगणनाऽऽरम्भे, न पतति कठिनी ससम्भ्रमाद् यस्य।**
तेनाऽऽम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी भवति?॥१६॥

अ०—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे ससम्भ्रमात् यस्य कठिनी न पतति, तेन अम्बा यदि सुतिनी (भवति) (तदा) वन्ध्या कीदृशी भवति-वद। व्या०—गुणाः सन्ति येषां ते गुणिनः गुणवन्त इत्यर्थः। गुणिनां गणः=समूहः, तस्य गणना=श्रेष्ठवर्गेऽप्यग्रगण्यबोधिनी संख्या एकत्वादिरूपा तस्या आरम्भः=उपक्रमः तस्मिन् सतीत्यर्थः। गुणवतां संख्यासमये इति भावः। ससम्भ्रमात्—सम्भ्रमेण गौरवेण सहितं ससम्भ्रमं

तस्मात् सर्वोत्कर्षेत्यर्थः, यस्य (पुंसः) पुत्रस्य कठिनी=[illegible] [illegible] (—भाषायां 'खड़ी' 'चाक' इति प्रसिद्धा) न पतति=[illegible] न सत्पुत्रः भवतीत्यर्थः। तेन=सुपुत्रगणनासहितेन पुत्रेण यदि अम्बा=माता, 'अम्बा माताऽथ बाला स्यात्' इत्यमरः। सुतिनी=पुत्रवती भवति तदा=तर्हि वन्ध्या=[illegible] कीदृशी=किंविधा भवति ? [illegible]। मूर्खपुत्रवत्यपि जननी वन्ध्यैवेति भावः। आर्यावृत्तम्।

भा०—जिस पुत्र का नाम गुणवान् और पुत्रों की गणना करते समय प्रथम नहीं लिया जाता, उसकी माँ भी यदि पुत्रवती कही तो बताओ वन्ध्या कैसी होती है ? ॥ १६ ॥

अपि च—दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः।

विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १७ ॥

अ०—दाने तपसि शौर्ये च विद्यायाम् अर्थलाभे च यस्य मनः (यशः इति पाठान्तरम्) न प्रथितं सः मातुः उच्चारः एव। व्या—(यस्य पुत्रस्य यशः इत्येव सम्बन्धः) दाने=सत्पात्रेषु धनवितरणे। तपसि=तपश्चर्यायां [illegible]। शौर्ये=शूरस्य भावः शौर्यं तस्मिन्=वीरतायामित्यर्थः। विद्यायाम्=[illegible], अर्थलाभे=अर्थस्य=धनस्य लाभेऽर्जनेऽपि यस्य पुत्रस्य मनः=[illegible], न प्रथितं=न लोकोत्कृष्टतया ख्यातम्। सः पुत्रः (पुत्रः) मातुः=[illegible], उच्चारः=पुरीषसमान इत्यर्थः, 'उच्चारावस्करौ शमलं शकृत्' इत्यमरः।

भा०—जिस पुत्र (पुत्र) का [illegible] दान देने में तप करने में विद्या पढ़ने में तथा धन कमाने में [illegible] नहीं रहता है वह पुत्र (पुत्र) माता के त्याग किये हुए मल के समान निरर्थक है ॥ १७ ॥

अपरञ्च—वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतैरपि।

एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि ॥ १८ ॥

अ०—एकः गुणी पुत्रः वरम् (भवति), मूर्खशतैः अपि न (कोऽपि भूयते)। एकः चन्द्रः तमो हन्ति तारागणैः न च (तमो हन्यते)। व्या०—एकः=एकमेव [illegible], गुणी=[illegible]गुणयुक्तः पुत्रः=तनयः, वरम्=[illegible] [illegible]। मूर्खशतैः अपि=मूर्खाणां शतानि तैः, मूर्खशतसंख्याकैरपीत्यर्थः, न च वरेण भूयते [illegible] भवन्तीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तो यथा—एकः [illegible] अपि चन्द्रः=शशी तमः=[illegible] हन्ति=विनाशयति। तारागणैः [illegible] बहुभिरपि (तमः) न च (हन्यते)। अत्र श्लोके 'मूर्खशतान्यपि' इति पाठान्तरम्। 'न च मूर्खशतं वरम्' इत्यपि पाठान्तरम्। 'न च तारागणोऽपि तथा' इत्यपि पाठान्तरम्।

भा०—ऐसे एक ही [illegible] [illegible] [illegible] जैसे ही समग्र अन्धकार को दूर करता है

किन्तु बहुत से भी तेजरहित ताराओं का समूह अंधेरे का नाश नहीं कर सकता, वैसे ही एक भी तेजस्वी पुत्र अपने सामर्थ्य से धन कमा कर अपने कुटुम्ब का दारिद्र्यरूपी अन्धेरा दूर करता है वही श्रेष्ठ है, परन्तु सैकड़ों मूर्ख पुत्र किसी काम के नहीं ॥ १८ ॥

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद् वश्य समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १९ ॥

अ०—येन क्वापि पुण्यतीर्थे अतिदुष्करं तपः कृतम्, तस्य पुत्रः, वश्यः समृद्धः धार्मिकः सुधी (च) भवेत्। व्या०—येन = पुरुषेण क्वापि = कस्मिंश्चिदपि, पुण्यतीर्थे= पुनाति इति पुण्यं = महापातकिनामपि पातकनाशनम्, तरति अनेनेति तीर्थम् = काशीप्रभृति, पुण्यं च तत् तीर्थञ्च पुण्यतीर्थं तस्मिन्, पापप्रध्वंसके त्रिविधतापोद्धारके क्षेत्रे इति भावः। अतिदुष्करम्=अतिदुःखेन क्रियते यत् तत् अतिदुष्करम्= अतिकठिनं, बहुकष्टसाध्यमिति यावत्। तपः = भगवन्नामजपन मौन व्रतोपवास- यज्ञाद्यनुष्ठानात्मकं कर्म, कृतम् = अनुष्ठितम्, श्रद्धाऽऽदरनैरन्तर्याऽऽसेवितमिति यावत्। तस्य = तपस्विनः पुण्यशालिनः पुरुषस्य, पुत्रः = तनयः, वश्यः—वशम् अर्हतीति वश्यः = सदा पितुराज्ञासेवाऽऽदिपरः, समृद्धः = धनपुत्रकलत्राऽधिकार- वैभवादिपरिपूर्णः, धार्मिकः = यज्ञदानादिधर्मानुष्ठानपरः सुधी = शोभना शास्त्राध्ययनाऽऽसादितविचित्रप्रतिभावती धीः = बुद्धिर्यस्य इति सुधी = शास्त्र-लोक- हृदयेतित्रयाऽनुकूलबुद्धिमानित्यर्थः। भवेत् = स्यात्।

भा०—जिस पुरुष ने पवित्र तीर्थस्थान में बहुत कठिन तप किया हो, उसी पुरुष के घर में पूर्व के पुण्य से अपने पिता की आज्ञा में रहने वाला तथा सेवा करने वाला, धन दौलत से सुखी, धर्म कार्य में प्रेमी और बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

तथा चोक्तम्—

अर्थाऽऽगमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकेषु सुखानि राजन् ॥२०॥

अ०—हे राजन्! जीवलोकेषु नित्यम् अर्थागमः, अरोगिता च, प्रिया च प्रियवादिनी च भार्या, वश्यः पुत्रश्च, अर्थकरी विद्या च (एतानि) षट् सुखानि (भवन्ति)।

व्या०—हे राजन्! जीवलोकेषु=जीवानां प्राणिनां लोकाः=निवासस्थानानि इति जीवलोकास्तेषु, संसारे इत्यर्थः। नित्यम् = प्रत्यहं सदा, यावज्जीवनमिति यावत्। अर्थागमः—अर्थस्य = धनस्य आगमः = आयः। अरोगिता = निरोगिता, सदा शरीर- स्वास्थ्यमिति यावत्। प्रिया-प्रीणाति इति प्रिया = प्रीतिकरी, प्रियवादिनी-प्रियं वदतीति प्रियवादिनी=मधुरभाषिणी चेत्यर्थं, भार्या-भ्रियते असौ सा भार्या=स्वस्त्री च। वश्यः = आज्ञावहः, पुत्रः = सुतश्च। अर्थकरी-अर्थं पुरुषार्थं करोतीति अर्थकरी = धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थप्रदेत्यर्थं। विद्या चेति, एतानि षट्प्रकारेण, सुखानि

भवन्तीति। जीवलोकस्य इति पाठान्तरम्। उपजातिः वृत्तम्।

भा०—इस संसार में छः सुख हैं जैसे कि—प्रतिदिन पूर्ण धन प्राप्त होना। २—शरीर सदैव निरोग रहना। ३—अतिशय प्रेम करने वाली तथा ४—मीठा बोलने वाली धर्मपत्नी (स्त्री) मिलना ५—आज्ञापालक पुत्र पैदा होना और ६—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देने वाली विद्या पढ़ना। ये छः न होवें तो मनुष्य दुःखी रहता है ॥ २० ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी यत्र विश्रूयते पिता ॥ २१ ॥

अ०—कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः बहुभिः पुत्रैः कः धन्यः? (भवति किन्तु) यत्र पिता विश्रूयते (तादृशः) कुलाऽऽलम्बी एकः पुत्रः वरम्। व्या०—कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः—कुशूलम् धान्यादिस्थापनाधारम् तस्य आपूरणम् पूरणम् तस्मिन् आढकाः इव ... इति कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकाः, तैः ... इत्यस्मिन्—इति आढकाः = ... विशेषाः, (एवं च ... इति ... । ...) ... यावत् ... । ... ये ... इत्यर्थः ...) कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः = (...) ... । बहुभिः अनेकैः पुत्रैः कः धन्यः = ... भवति ... । न कोऽपीति भावः। किन्तु—... पुत्रः यत्र पिता = जनकः, विश्रूयते = लोके कीर्त्यते लोकैः प्रशंसितो भवेदिति भावः। तादृशः कुलाऽऽलम्बी—कुलं ... आलम्बते ... कुलाऽऽलम्बी = वंशस्य ... एकः अपि पुत्रः वरम् (बहुमूर्खपुत्रेभ्यः एकः ... श्रीमान् श्रेयानिति भाव)।

भा०—भूसी से परिपूर्ण धान के समान कोठी भरने वाले अनेक मूर्ख पुत्रों से कोई भी सुखी धन्य नहीं होता किन्तु कुल का पोषण तथा उन्नति करने वाला बुद्धिमान् एक ही पुत्र—जिससे पिता लोकमान्य होता है—श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २२ ॥

अ०—ऋणकर्ता पिता शत्रुः (भवति) व्यभिचारिणी माता च (शत्रुः भवति) रूपवती भार्या च (शत्रुः भवति) अपण्डितः पुत्रः च (शत्रुः भवति)। व्या०—ऋणस्य कर्ता ऋणकर्ता = ऋणग्रहीता, पिता = जनकः, शत्रुः = शत्रुसमानो भवति तथा व्यभिचारिणी = परपुरुषेण सह (अन्यायं) व्यभिचारं कुर्वती माता = जननी च ... भवति एवं रूपवती—रूपम् अस्ति अस्याः इति रूपवती = अतिशीलसौन्दर्यशालिनी, भार्या = पत्नी च शत्रुवत् भवति। पुत्रः—अपण्डितः = अविद्वान् मूर्खः

एतादृश पुत्र अपि शत्रुवद् दुःखदो भवतीति ।

भा०—'जो कष्ट देने वाला हो'—वही 'शत्रु'-कहलाता है । इसलिये ऋण करने वाला पिता ऋण करके कष्ट दे तो वह भी शत्रु ही है और व्यभिचार करनेवाली माता, कुरूप पति को नहीं चाहने वाली रूपवती स्त्री तथा मूर्ख रहकर सदा के लिए दुःख देनेवाला पुत्र भी शत्रुसमान हैं ॥ २२ ॥

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः ।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ॥ २३ ॥

अ०—गुणवान् नरः यस्य कस्य प्रसूतः अपि (लोकैः) पूज्यते, वंशविशुद्धः अपि धनुः (यदि) निर्गुणः (तदा) किं करिष्यति ॥ व्या०—गुणवान्-गुणाः सन्ति अस्येति गुणवान्=गुणशाली, नरः=मनुष्यः, यस्य कस्य=श्रेष्ठस्य अधमस्य वा वंशस्य (सम्बन्धे षष्ठी) प्रसूतः=जातः अपि (लोकैः) पूज्यते=सम्मान्यते । तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तो यथा-वंशविशुद्धः-वंशो=वेणुः विशुद्धः=सशक्तो यस्य सः=सुदृढवेणुनिष्पन्नोऽपीत्यर्थः, धनुः=चापः, यदि निर्गुणः-निर्गतो गुणो=ज्या यस्य सः निर्गुणः=ज्याहीनः, तदा किं कार्यं=शत्रुहननादिरूपं करिष्यति ? अर्थात् न करिष्यतीति । तथा निर्गुणेन पुत्रेण किं स्यादिति भावः ।

भा०—उत्तम बाँस का बनाया हुआ भी धनुष जब तक रस्सी में नहीं ताना जाता, तब तक किसी भी (शत्रु-मारणादि) कार्य में समर्थ नहीं होता, वैसे ही श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ भी मनुष्य जब तक किसी गुण(कला) को नहीं सीखता तब तक किसी भी काम को सन्तोषपूर्वक सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ २३ ॥

हा हा पुत्रक ! नाऽधीतं गतास्वेतासु रात्रिषु ।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि ॥ २४ ॥

अ०—हा हा पुत्रक ! गतासु एतासु रात्रिषु (त्वया) न अधीतम्, तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौः इव, सीदसि । व्या०—हा हेति खेदे । हे पुत्रक ! पुत्र एवेति पुत्रकः, तत्सम्बुद्धौ हे पुत्रक ! एतासु गतासु=अतीतासु रात्रिषु=निशासु, गतेष्वहर्निशेष्वित्यर्थः । त्वया न अधीतम्=शास्त्रादिकं नाऽभ्यस्तम्, तेन हेतुना त्वं विदुषां=धीमतां मध्ये उपस्थितः सन्, पङ्के=कर्दमे, गौरिव=गोवत् सीदसि, गोवद् अवसन्नो भवसीत्यर्थः ।

भा०—जैसे कि कीचड़ में गई (धँसी) हुई गौ बाहर निकलने की बुद्धि नहीं होने से बाहर नहीं आ सकती, वैसे ही तुम भी विद्वानों की सभा में जाकर विद्या रहित होने से उस सभा को जीतकर श्रेष्ठता को नहीं पा सकोगे, इसलिये विद्या पढ़ना चाहिए ॥ २४ ॥

तत् कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ? यतः—

व्या०—तत्=तस्माद्धेतोः, इदानीम्=एतर्हि काले, एते मम पुत्राः, कथं=केन

प्रकारेण गुणवन्तः—गुणाः सन्ति एषामिति गुणवन्तः, विद्याविनयादिगुणयुक्ता इत्यर्थः। विपश्चिताम् = विदुषाम् ? यतः = यस्माद्धेतोः—

भा०—विद्याविहीन पुरुष भी क्या कभी विद्वान नहीं होते इसलिये—वे मेरे पुत्र किस प्रकार से गुणी बनाये जायें ? क्योंकि—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥२५॥

अ०—नराणाम् आहारनिद्राभयमैथुनम्—एतत् पशुभिः समानम् (भवति) तेषां धर्मो हि अधिकः विशेषः (भवति), धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः (भवन्ति)

व्या०—नराणाम्=मनुष्याणाम्, आहारश्च निद्रा च भयञ्च मैथुनञ्च तेषां समाहार इत्थम् एतत्=आहारादिकं चतुष्टयं पशुभिः समानम्=पशुतुल्यमित्यर्थः। किन्तु तेषां मनुष्याणां धर्मः हि=धर्म एव अधिकः विशेषः=पशुभ्यो व्यावर्तको गुणो भवति। अतो यदि मनुष्याः धर्महीनास्तदा व्याघ्रादिपशुभिः पशुभिः समानाः इत्यर्थः।

भा०—मनुष्यों में और पशुओं में—खाना सोना डरना मैथुन करना ये चारों क्रियायें तो समान ही हैं इसलिए मनुष्य और पशु दोनों में भेद नहीं है। किन्तु मनुष्यों में एक अधिक गुण धर्म है उस धर्म से मनुष्यों का पशुओं से भेद समझना है यह धर्म अगर मनुष्य में न हो तो वह मनुष्य पशु ही है ॥ २५ ॥

यतः—धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

अ०—यस्य धर्मार्थकाममोक्षाणाम् एकोऽपि न विद्यते, अजागलस्तनस्य इव तस्य जन्म निरर्थकं (भवति)। व्या०—यस्य=मनुष्यस्य धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्च तेषाम्, चतुर्विधपुरुषार्थानामित्यर्थः। एकः अपि न विद्यते=नास्ति अजा=छागी तस्याः गलस्य स्तनस्य इव=यथा निरर्थकस्य तथा तस्य=धर्मादिपुरुषार्थरहितस्य पुरुषस्य जन्म=जननम् मनुष्यशरीरयोगः, निरर्थकम्=निष्फलम् इत्यर्थः।

भा०—जैसे बकरी के गले में वर्तमान स्तन दुग्धरहित होने से निरर्थक कहा जाता है वैसे ही जिस पुरुष में धर्म अर्थ, काम और मोक्ष, इनमें से एक भी न हो, उस पुरुष का मनुष्यजन्म निष्फल है ॥ २६ ॥

यतश्चोक्तम्—आयुः कर्म च वित्तञ्च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ २७ ॥

अ०—(अथ) आयुः, कर्म च वित्तम्, विद्या, निधनमेव च एतानि पञ्च अपि गर्भस्थस्य एव देहिनः सृज्यन्ते। व्या० — (अथ विचार्यन्ते इत्याशयः) आयुः=जीवनसमयः, कर्म=कामाचरणादि स्वकृतधर्माधर्मसम्पादनकर्मसमुदायः, वित्तम्=धन-विपत्तिः, विद्या=विविधकलाशास्त्रादिज्ञानम् निधनं=मरणम् एतानि

आयुरादीनि पञ्चापि, गर्भस्थस्यैव = जननीगर्भस्थितस्यैव प्रसवात्पूर्वमेव, देहिन — देह शरीर भोगस्थानत्वेन अस्ति अस्य = आत्मन इति देही, तस्य = प्राणिन. इत्यर्थ, तत्सम्बन्धे सृज्यन्ते = निर्धार्यन्ते ।

भा०—सब प्राणियों के लिये गर्भ ही में भगवान पाच वस्तुएँ निर्धारित की हैं १–आयुष्य, २–प्रारब्धानुसार सुख दु ख देने वाले कर्म, ३–धनवैभवादि, ४–विद्या = व्यावहारिक ज्ञान, अथवा कला–विज्ञानादि, (पशु आदि में भी बहुत से विज्ञानी मिलते हैं) ५–निश्चित मरण होना ही ॥ २७ ॥

किञ्च—अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाऽहिशयनं हरेः ॥ २८ ॥

अ०—महताम् अपि अवश्यभाविनो भावा भवन्ति, (यथा) नीलकण्ठस्य नग्नत्वम् (भवति), हरे महाऽहिशयनञ्च (भवति)। व्या०—महताम्=दिव्यैश्वर्यशालिनामपि नृपाणां देवानामपि चेति भाव, अवश्य भविष्यन्तीति अवश्यभाविन'= अवश्यमेव भवितव्या, भावा सुखदु खादयो धर्माः, भवन्ति=आपतन्ति, अत एवोदाहरति–नीलकण्ठस्येति । नील', विषपानेन कृष्णरूप कण्ठे यस्य स, तस्य=दिव्यैश्वर्यशालिनोऽपि महादेवस्य, नग्नत्वम् = दिगम्बरत्व, वर्तते । अथ च हरेः=विष्णो, महांश्चासौ अहि महाऽहि =शेष, तस्मिन् शयनम् इति महाऽहिशयनम्, 'महाहि-शयनम्' इति पाठान्तरम् । शेतेऽस्मिन्निति शयन शय्या ।

भा०—प्रतापी और ऐश्वर्यवा० महान् पुरुषों का भी ससार में दैवाधीन होने वाले सुख दु ख, वैभव, दारिद्र्य आदि अवश्य ही होते हैं, जैसे कि स्वयं महादेवजी को भी वस्त्राभाव से नग्न रहना पड़ता है और विष्णु को शय्या के अभाव से शेषनाग पर सोना पड़ता है ॥ २८ ॥

अन्यच्च—यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगद. किं न पीयते ॥ २९ ॥

अ०—यद् अभावि (भवति), तद् न भावि (भवति), (यत्) भावि चेत् (भवति), तत् अन्यथा न (भवति) इति अय चिन्ताविषघ्न अगद किं न पीयते (जनै)। व्या०—'यत्=यद् वस्तु, अभावि=भविष्यतीति भावि, न भावि अभावि= भविष्यत्काले असम्भवीत्यर्थ । तद् वस्तु, न भावि = न भविष्यत्येवेति । यच्च वस्तु भावि=भवश्यसम्भव चेत् ! तद् अन्यथा = अन्यप्रकारेण, न भावि' इति=एव प्रकारेण, अय = ज्ञानरूप, चिन्ता एव विष गरल तद् हन्तीति चिन्ताविषघ्नः=चिन्तारूपविषनाशक, अगद –नास्ति गद =रोगो यस्मात् स अगद =औषधम्, किं= कथम्, न पीयते = न सेव्यत ।

भा०—'शरीरधारियों' को जो नहीं होने वाला कार्य है वह किसी प्रयत्न से भी नहीं

इच्छा और भी होवे भाग्य है वह मिलता नहीं—ऐसा भाव रखना चाहिए, क्योंकि इससे चिन्ता दूर होती है ॥ १९ ॥

एतत्कार्याऽक्षमाणां केषांचिदालस्यवचनम् ।

व्या०—एतदिदं यद्भावि न तद्भावि—इत्यादिरूपम् कार्याऽक्षमाणामसमर्थानाम् इति क्षमाः, न क्षमाः अक्षमाः कार्येऽक्षमाः कार्याऽक्षमाः, तेषाम्=कार्यसिद्धिसमर्थानाम् [illegible] मित्यर्थः । केषांचित् आलस्यवचनम्=अलसानां भाव आलस्यम् आलस्येन प्रयुक्तं वचनम् आलस्यवचनम् बोध्यमिति शेषः । आलस्ययुक्ता अकारण पुरुषाः वदन्ति—'दैवात् सर्वं भवति अस्माभिर्न प्रयतितव्यमिति' ।

भा०—यह कार्य करने में असमर्थ किसी किसी आलसी का आलस्ययुक्त वचन है।

पुरुषकारस्यावश्यकता—यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।

तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ २० ॥

अ०—यथा हि एकेन चक्रेण रथस्य गतिः न भवेत् तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति । व्या०—यथा एकेन=अद्वितीयेन चक्रेण=यानाङ्गेन रथस्य गतिः=गमनं न भवेत्=न जायते तथा=तद्वत् पुरुषकारेण विना=पुरुषस्य यत्नमन्तरेण, दैवम्=भाग्यम् अदृष्टमिति यावत् न सिद्ध्यति=न सफलं भवति ।

भा०—जैसे कि रथ का चलना एक पहिये से नहीं हो सकता, दो से हो सकता है वैसे ही दैव अकेला कुछ भी फल नहीं दे सकता, यत्न से सफल करने से दैव सफल होता है ॥ २० ॥

यथा च—पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते ।

तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ २१ ॥

अ०—(यत्) पूर्वजन्मकृतं कर्म (भवति) तत् दैवम् (भवति) इति (विद्भिः) कथ्यते तस्मात् (जनः) अतन्द्रितः (सन्) पुरुषकारेण यत्नं कुर्यात् । व्या०—यत् कर्म=धर्माधर्मात्मकम् [illegible] पूर्वं च तत् जन्म पूर्वजन्म तस्मिन् पूर्वजन्मनि=प्राग्भवे कृतम्=अनुष्ठितम् तत्=पूर्वजन्मकृतं कर्म, दैवम्=भाग्यम् इति विद्भिः कथ्यते=व्यवह्रियते । पूर्वजन्मकृतस्य [illegible] धर्माऽधर्मात्मकमेव दैवमिति भावः । तस्मात् हेतोः लोकः जनः, अतन्द्रितः—तन्द्रा आलस्यं जाता अस्य इति तन्द्रितः, न तन्द्रितः अतन्द्रितः=आलस्यं विहायेत्यर्थः पुरुषकारेण=पुरुषव्यापारेण पुरुषव्यापारमवलम्ब्येत्यर्थः । यत्नं=सर्वदा कार्ये प्रयत्नं कुर्यादिति ।

भा०—दैव अर्थात् पूर्व जन्म में किये हुए धर्म-अधर्म का फल ही कहाता है इससे अतिरिक्त और दैव नहीं है इसीलिये पुरुषार्थ का अवलम्बन करके सावधानपूर्वक सब कार्यों में यत्न करना चाहिए ॥ २१ ॥

न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽप्तुमर्हति॥ ३२॥

अ०—दैवमपि सञ्चिन्त्य (जन) आत्मनः उद्योग न त्यजेत्, (यत) अनुद्योगेन तिलेभ्य. तैलानि (जनः) आप्तुम् अर्हति। व्या०—दैवमपि सञ्चिन्त्य = 'अहं किं करवाणि यथा मम दैवं वर्तते तथा भविष्यति' इति मत्वा, जनः=अभ्युदयाभिलाषी, आत्मनः=स्वस्य, उद्योगं = व्यापार चेष्टां, प्रवृत्तिमिति यावत्, न त्यजेत्= न परिहरेत्, यतः अनुद्योगेन=व्यापारानुकूलप्रवृत्त्यकरणेन तु तिलेभ्यः=तैलपूर्णेभ्यः अपि तिलेभ्यः, तैलानि अपि (जनः) निरुद्योगी पुरुषः आप्तु=प्राप्तु नार्हति।

भा०—'भाग्य से ही सब होता है, मेहनत से कुछ नहीं' ऐसा सोचकर पुरुष को उद्योगहीन नहीं होना चाहिए क्योंकि मिलने योग्य तैलप्राप्तिरूप फल भी तिलों में से बिना प्रयत्न नहीं मिलता, इसलिये उद्योग करना चाहिए॥ ३२॥

अन्यच्च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

अ०—लक्ष्मी उद्योगिन पुरुषसिंहम् उपैति, कापुरुषा –'दैवेन देयम्' इति वदन्ति दैव निहत्य आत्मशक्त्या पौरुष कुरु, यत्ने कृते यदि न सिध्यति, अत्र कः दोषः।

व्या०—लक्ष्मीः=सम्पत्तिः, उद्योगिनम्–उद्योगः=यत्नः अस्ति अस्य इति उद्योगी तम् उद्योगिनम् = प्रयतमानमित्यर्थः, पुरुष सिंहम्–पुरुष. सिंह इवेति=(उपमित. समासः) पुरुषसिंहस्तम्=पुरुषश्रेष्ठम्, उपैति = आश्रयति। दैवेन=भाग्येन, देयम्–दातुं योग्य देयम् , सम्पादनीयमित्यर्थ. इति= एव तु कापुरुषाः–कुत्सिताः पुरुषाः कापुरुषा. = सामर्थ्य (पौरुष) हीनाः एव पुरुषा , वदन्ति = कथयन्ति, अत दैव= भाग्याऽऽधारमात्रम् , निहत्य = दूरीकृत्य, आत्मनः शक्त्या=स्वस्य सामर्थ्येन, यथा सामर्थ्यमित्यर्थं, पौरुषम् =पुरुषप्रयत्नम् , उद्योगमिति यावत्, कुरु=त्व विधेहि। तादृशे यत्ने कृते सत्यपि यदि कार्यं न सिध्यति = न सम्पद्यते, तदा अत्र = यत्ने प्रयतमानस्य पुरुषस्य को दोष = का त्रुटि , इति मार्गणीयमिति शेष।

भा०—भाग्य में लिखी हुई भी लक्ष्मी (धन दौलत) पुरुष को प्रयत्न किये बिना नहीं मिलती, इसलिये 'भाग्यमें जो होगा वह मिलेगा व्यर्थ प्रयास नहीं करना' ऐसा जो निर्बल पुरुषोंका वचन है उसका ख्याल न करके अपनी शक्ति के अनुसार पुरुष को प्रयत्न करते रहना चाहिए, प्रयास करने पर भी अगर लक्ष्मी न मिले तो प्रयास करने में क्या त्रुटि रह गई है? यह खोज करनी चाहिए॥ ३३॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति।
एवमात्मकृत कर्म मानव प्रतिपद्यते॥ ३४॥

अ०—यथा कर्ता मृत्पिण्डत. यद् यद् इच्छति, तत् तत् कुरुते, एवं मानवः

आत्मकृतं कर्म प्रतिपद्यते । व्या०—यथा = यद्वत्, कर्ता = कुम्भकारः, मृत्पिण्डतः = मृत्पिण्डात्, मृत्तिकासमूहादित्यर्थः, यद् यद् = घटशरावादिकं निर्मातुम् इच्छति = अभिलषति तद् तदेव कुरुते = निर्माति एवम् = एवमेव मानवः = मनुष्यः, आत्मकृतम् = आत्मना कृतम् आत्मकृतम् = स्वानुष्ठितं कर्म = शुभाशुभकर्मफलमित्यर्थः, प्रतिपद्यते = लभते ।

भा०—जैसे मिट्टी के पिण्डसे भी यथाभिलषित पदार्थ बनानेवाला कर्ता चाहे फल को प्राप्त करता है ऐसे ही सभी कार्यों में प्रयत्न करनेवाला पुरुष भी पूर्व जन्म के अपना फल को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

अपरञ्च—काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वापि निधिमग्रतः ।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥

अ०—काकतालीयवत् प्राप्तं निधिम् अग्रतः दृष्ट्वा अपि दैवं स्वयं न आदत्ते (किन्तु) पुरुषार्थमपेक्षते । व्या०—काकतालीयवत् = काकतालीयन्यायेनेत्यर्थः (अकस्मादेव यथा काकस्य पतनं तालस्य पतनञ्च) अकस्माद्दैवयोगात् समुपस्थितम्, निधिम् = धनराशिम्, अग्रतः = पुरतः, दृष्ट्वा = विलोक्यापि, दैवं तत् न स्वयमेव न ददाति अपि तु पुरुषार्थम् = स्वकीयोद्योगमपेक्षते अतः पुरुषार्थः कर्तव्यः ।

भा०—काकतालीय न्याय से (जैसे कि काक बैठा और ताड़ का फल गिर पड़ा), वैसे दैवयोग से उपस्थित धन सामने पड़ा हो तो भी उसे प्रयत्न करके लेना पड़ता है। वह बिना प्रयत्न किये स्वयं नहीं होता है इसलिये प्रयत्न करना चाहिये ॥

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

अ०—हि उद्यमेन कार्याणि सिध्यन्ति न (तु) मनोरथैः, सुप्तस्य सिंहस्य मुखे मृगाः न हि प्रविशन्ति । व्या०—हि = यस्मात्, उद्यमेन = उद्योगेन कार्याणि = बहुविधकार्याणि सिध्यन्ति = सफलानि भवन्ति । न तु केवलं मनोरथैः = अभिलाषमात्रैः, सिध्यन्तीति शेषः । तथाहि दृष्टान्तमाह—सुप्तस्य = निद्रितस्य अत एव निश्चेष्टस्य सिंहस्य = केसरिणः मुखे = आननमध्ये मृगाः = हरिणादयः, न हि प्रविशन्ति = न हि यान्तीति ।

भा०—जैसे उद्यम नहीं करने वाले सिंह के मुख में मृग स्वयं आ कर नहीं गिरते उद्यम करने से ही मिलता है ऐसे ही उद्यम करनेवाले पुरुष को ही सब कार्य प्राप्त होता है केवल मनोरथ मात्र से कुछ भी नहीं होता ॥ ३६ ॥

तथा चोक्तम्—माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३७ ॥

अ०—येन, बालः न पाठितः, (तद्बालकस्य) माता शत्रुः पिता वैरी (भवति) यथा हंसमध्ये बको न शोभते (तथा स बालः) सभामध्ये (न शोभते)। व्या०—येन = मातापित्रोरन्यतरेण, बालः = पुत्रः न पाठितः = न शिक्षितः, (तद्बालकस्य) सा माता शत्रुः = अहितकारिणी, सः पिता च वैरी = अहितकारी भवति, सः अनधीतो बालः यथा—हंसानां मध्यं हंसमध्यं तस्मिन्, बको न शोभते तथा विबुधानां सभामध्ये—सभायाः = परिषदः मध्यं सभामध्यं तस्मिन्, सभामध्ये = विबुधजनसमवायेऽपि, न शोभते = न सम्यग् आदृतो भवतीति ।

भा०—माँ बाप को चाहिए कि अपनी प्रजा (सन्तति) को अवश्य विद्याध्ययन में नियुक्त करें । विद्या नहीं पढ़ाने से माँ बाप शत्रु कहाते हैं और जैसे हंसों के मध्य में बगुला शोभा तथा आदर नहीं पाता है, वैसे विद्याहीन सन्तति भी विद्वानों के मध्य में शोभा और आदर नहीं पाती ॥ ३७ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३८ ॥

अ०—रूपयौवनसम्पन्नाः विशालकुलसम्भवाः (अपि) विद्याहीनाः (पुरुषाः) निर्गन्धाः किंशुकाः इव न शोभन्ते । व्या०—रूपं=शरीरसौन्दर्यम्, यौवनं=तरुणत्वम्, ताभ्यां सम्पन्नाः, सौन्दर्यशालिनो यौवनशालिनश्चेत्यर्थः । विशालं = महत् मान्यं, श्रेष्ठमिति यावत् । तादृशं यत् कुलं = वंशः, तस्मिन् सम्भवः = जनिर्येषान्ते तादृशाः, श्रेष्ठवंशसम्भूता अपीत्यर्थः, विद्यया हीनाः विद्याहीनाः=गुणहीनाः, सन्त इत्यर्थः, तादृशाः पुरुषाः (कर्तृपदम्), निर्गन्धाः—निर्नास्ति गन्धः =आमोदो येषान्ते निर्गन्धाः=सुगन्धात्मकगुणरहिताः, किंशुकाः=पलाशपुष्पाणीव, सौन्दर्ययुक्ता अपि न शोभन्ते = शोभादरौ न लभेते इति भावः ।

भा०—जैसे सुन्दर लाल रूप युक्त और कोमल होने पर भी पलाशका पुष्प गन्धरहित होनेसे आदरणीय नहीं होता, वैसे ही सौन्दर्य, यौवन, श्रेष्ठकुल में जन्म आदि होनेपर भी गुण (विद्यादिकला) शून्य पुरुष का आदर नहीं होता है ॥ ३८ ॥

अपरञ्च—पुस्तकेषु च नाऽधीतं नाऽधीतं गुरुसन्निधौ ।
न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः ॥ ३९ ॥

अ०—(येन) पुस्तकेषु च न अधीतम्, गुरुसन्निधौ च न अधीतम्, (सः) स्त्रियाः जारगर्भः इव सभामध्ये न शोभते । व्या० – येन बालेन, पुस्तकेषु=नीत्यादिशास्त्रेषु, न अधीतम् = यथाशक्ति स्वयं न पठितम्, न वा गुरुसन्निधौ च = गुरोः सन्निधौ = शिक्षागुरोः सकाशेऽपीत्यर्थः, न अधीतम्, शास्त्रमिति शेषः । (सः) तादृशो बालः स्त्रियाः =रमण्याः, जारगर्भ इव-जारस्य गर्भः जारगर्भः =व्यभिचारेण उत्पन्नो बालः, इव = यथा, न शोभते, तथा सभामध्ये—सभायाः मध्ये = लोकसमाजे इत्यर्थः, न शोभते = न उत्कर्षतया शोभां वहतीत्यर्थः ।

भा०—जैसे व्यभिचारसे उत्पन्न हुआ पुत्र वर्णसंकर होनेसे कारण कुलगौरव में मेल नहीं खाता, वैसे पुरुषों में जो गुरु के सामने जिसने विद्या का अभ्यास नहीं किया, वह सभासमाज में बैठकर भी सम्मानित नहीं होता है ॥ ४९ ॥

एतच्चिन्तयित्वा राजा पण्डितसभां कारितवान्। राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः! श्रूयतां मम वचनम्—'अस्ति कश्चिद् एवम्भूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यम् उन्मार्गगामिनाम् अनधिगतशास्त्राणाम् इदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः?'

व्या०—सः राजा = सुदर्शननृपतिः, एतत् = उक्तं सर्वं चिन्तयित्वा = विचार्य पण्डितसभाम्-पण्डितानां = शास्त्रविदां विद्वत्सभाम् मतिः यासां येषां तेषां व्यवहारादि निपुणविद्वज्जनानां सभां = सम्मेलनं कारितवान् = कारयामास। ततः सः सुदर्शनराजा उवाच = उक्तवान्, भो भोः = सम्बोधनार्थकमव्ययम् आदरे द्विरुक्तिः। पण्डिताः = हे विद्वांसः, भवद्भिः मम वचनं = मे कथनम् श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्। वक्तव्यमाह—अस्तीति कश्चित् कोऽपि, एवम्भूतः-एवंप्रकारः अभिलषितगुणोपेतः, विद्वान् —वेत्ति इति विद्वान् = विद्वज्जनः, पण्डितः, अस्ति = वर्तते समायां वर्तते। यः = यः पण्डितः, नित्यं = सर्वदा, उन्मार्गगामिनाम्—उत् = उद्गतः कुत्सितो मार्गः = पन्थाः कुमार्गः, तस्मिन् गच्छन्ति ते उन्मार्गगामिनः, तेषाम् उन्मार्गगामिनाम् तथा अनधिगतशास्त्राणाम्—अधिगतं पठितं ज्ञातं येस्ते अधिगतशास्त्राः, ते न भवन्तीति अनधिगतशास्त्रास्तेषाम् पुत्राणामपि शास्त्राभ्यासविमुखानामित्यर्थः, मम = मे पुत्राणां = तनयानाम् इदानीम् = अस्मिन् काले, अध्ययनसमये व्यतीतेऽपि यौवनकाले इत्यर्थः, नीतिशास्त्रोपदेशेन—नीतेः प्रतिपादकं शास्त्रं नीतिशास्त्रं तस्य उपदेशः = शिक्षा तेन पुनर्जन्म—पुनः = द्वितीयम् जन्म = जनिरत्वाऽऽज्ञानेन मनुष्यजन्मनाऽप्यविद्यत्वात्कर्षं जन्म कारयितुं समर्थः = शक्तो भवतीति।

भा०—इस प्रकार बहुत विचार करके उस राजा ने पण्डितों की एक बड़ी सभा बुलाई। उसमें राजा सुदर्शन ने कहा कि हे माननीय पण्डितगण! मेरी प्रार्थना सुनिए—ऐसे कौन विद्वान् हैं जो कि शास्त्र तथा धर्म से विमुख मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र का उपदेश देकर विद्यासम्बन्धी नया जन्म दे सकें?

यत—काचः काञ्चनसंसर्गाद् धत्ते मारकतीर्द्युतीः।

तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ५० ॥

अ०—(यथा) काचः काञ्चनसंसर्गात् मारकतीः द्युतीः धत्ते, तथा मूर्खः सत्सन्निधानेन प्रवीणतां याति। व्या०—यथा काचः, किञ्चिन्मात्रहरितवर्णः काचः-अश्मविकारविशेषोऽपि काञ्चनस्य = सुवर्णस्य संसर्गः = सम्पर्कः तस्मात्, (हेत्वर्थे पञ्चमी)। मरकतस्य मरकतमणेः इमाः मारकत्यः ताः मारकतीः (विकारभिन्नत्वात् नाति-

पिशङ्गहरिद्रूपा किन्तु मध्याऽभाः), द्युतीः, कान्तीरिति यावत् धत्ते = धारयति। तथा = तद्वत्, मूर्खः = मूढः, अकुशल इति यावत्, एतादृशः ... , सतां = पण्डितानां, सन्निधानेन = सहवासेन, प्रवीणतां = निपुणतां चतुरताम् (कुशलताधर्म श्रद्धादिकं याति = विन्दति ।

भा०—जैसे काच हल्का रग का होने पर भी सुवर्ण के साथ रखने से मरकतमणि की कान्ति के समान तेजस्वी कान्तिवाला हो जाता है वैसे ही सद्गुणवाले पुरुषों के सहवास से दुर्बुद्धि वाला पुरुष भी सद्गुणवान् हो जाता है ॥ ४० ॥

उक्तं च—हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४१ ॥

अ०—हे तात ! हीनैः सह समागमात् मतिः हीयते हि, समैः च समताम् एति, विशिष्टैः च विशिष्टताम् (एति) । व्या०—हे तात ! हे प्रिय ! 'स्निग्धे पितरि पूज्ये च तातशब्दः प्रयुज्यते' इति । हीनैः=स्वाऽपेक्षया न्यूनस्वभावबुद्धिगुणादिभिः पुरुषैः सह समागमात्=सदा सहयोगात्, मतिः=स्वकीयबुद्धिः गुणाः स्वभावश्चेति, हीयते=नीचतां याति, हि=निश्चयार्थं । अथ च समैः=स्वसमानगुणशालिभिः समागमात् स्वबुद्ध्यादिकं समतां=समानस्थितिम्, यादृशं भवेत् तथैवेत्यर्थः, एति= प्राप्नोति । अथ च विशिष्टैः=स्वाऽपेक्षया गुणादिभिरुत्कृष्टैः सह समागमात्तु विशिष्टताम् ,,महतीं स्थितिमिति यावत्, एति प्राप्नोति ।

भा०—नीच पुरुषों के सग से श्रेष्ठपुरुष भी नीच काम करने वाला हो जाता है, समानगुणी जन के सग से अपनी यथास्थिति में ही रहता है और श्रेष्ठपुरुष के सग से नीच भी श्रेष्ठ हो जाता है इसलिए महापुरुषों का सग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाऽब्रवीत्—'देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्राः, तत् मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते ।'

व्या०—अत्र = अस्मिन्, अन्तरे = अवसरे, विष्णुशर्मनामा = 'विष्णुशर्मा' इति नाम यस्य स (बहुव्रीहि) तादृशः, सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञः—सकलानि च तानि नीतिशास्त्राणि चेति सकलनीतिशास्त्राणि, तेषां तत्त्व = गूढाऽभिप्रायः, तत् जानाति इति, सकलशास्त्रेषु विद्वान् इत्यर्थः, महापण्डितः =विबुधाऽग्रगण्यः । बृहस्पतिरिव= सुरगुरुरिवेत्युपमा, अब्रवीत्=अकथयत् । हे देव ! हे राजन् ! एते राजपुत्राः=राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः, महाकुलसम्भूताः =महाकुले सम्भूताः महाकुलसम्भूताः = श्रेष्ठ राजकुले लब्धजन्मानः सन्ति, तत्=तस्माद्धेतोः, एते, मया = विष्णुशर्मणा, नीतिं= नीतिशास्त्रम्, ग्राहयितुं = सम्यग् बोधयितुं, शक्यन्ते ।

भा०—राजा के निवेदन के बाद उसी समय 'विष्णुशर्मा' नाम का पण्डित जो कि सकल नीतिशास्त्र को जानता था और बृहस्पति के समान था उसने कहा—हे राजन् ! उत्तम

कुल में उत्पन्न हुए इन राजपुत्रों को मैं नीतिशास्त्र का ज्ञान करा सकता हूँ ।

यतः—नाऽद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत् ।
न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत् पाठ्यते बकः ॥ ४२ ॥

अ०—अद्रव्ये निहिता काचित् (अपि) क्रिया फलवती न भवेत् (यथा) बकः व्यापारशतेनाऽपि शुकवत् (क्रियाऽपि) न पाठ्यते । व्या०—अद्रव्ये—न द्रव्यम् अद्रव्यं तस्मिन् अयोग्ये पात्रे इत्यर्थः । निहिता=प्रयुक्ता काचिदपि क्रिया=शिक्षणव्यापारात्मिका फलवती=सफला फलशालिनी न भवेत् । तत्र दृष्टान्तम्—यथा बकः बकनामा पक्षी अपात्रत्वात् व्यापारशतेनाऽपि—व्यापाराणां शतं तेन=बहुधा प्रयत्नेनाऽपि शुकवत्=यथा स्वस्वभावेनैव शुकः पाठ्यमानात् पाठ्यते तथैवार्थः । केनाऽपि न पाठ्यते=परिशिक्षितुमपि पाठयितुं न शक्यते इति ।

भा०—जो कुपात्र है उसमें यत्नपूर्वक किया हुआ भी कर्म सफल नहीं होता जैसे कि बगुला सैकड़ों बोलने का काम नहीं होने से यत्नपूर्वक किया हुआ शिक्षण भी उसमें सफल नहीं होता है और तोता का (काम होने से) शिक्षण सफल होता है । वैसे इन सुपात्र राजपुत्रों में मेरा प्रयत्न सफल होगा ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते ।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ॥ ४३ ॥

अ०—अस्मिन् तु गोत्रे निर्गुणं अपत्यं न उपजायते (यथा) पद्मरागाणाम् आकरे काचमणेः जन्म कुतः । व्या०—अस्मिन् गुणवतिस्मिन् श्रेष्ठतमे भवदीये गोत्रे=वंशे निर्गुणम्—न विद्यन्ते गुणा यस्य तत् निर्गुणं=गुणशून्यम् अपत्यमिति यावत् मूर्खादिकम् । अपत्यम्—न पतन्ति पितरः अनेनेति अपत्यं=सन्ततिः, न उपजायते—न प्रादुर्भवति । यथा (दृष्टान्तम्)—पद्मरागाणाम्—पद्मस्य राग इव रागो येषां ते इति पद्मरागाः=कमलसमानवर्णविशिष्टमणयस्तेषां मणिविशेषाणाम् आकरे—उत्पत्तिस्थाने खनिविशेषे काचमणेः=काचस्य तुच्छमणिविशेषस्य जन्म=उद्भवः, कुतः=कस्मात् सम्भवति अर्थात् न सम्भवत्येव ।

भा०—गुणियों तथा सद्गुणी राजा के कुल में बुद्धिमान् और गुणवान् ही सन्तति उत्पन्न होती है मूर्ख और गुणहीन नहीं होती है । जैसे कि मणि के उत्पत्तिस्थान में से मणि ही पैदा होता है काँच नहीं होता । इसलिए बुद्धिमान् तथा गुणी इन राजपुत्रों को मैं अवश्य छः मास में नीति का शिक्षण दे सकता हूँ ॥ ४३ ॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे भवत्पुत्रान् नीतिशास्त्राभिज्ञान् करिष्यामि । राजा सविनयं पुनरुवाच ।

व्या०—अतः=अस्मात् हेतोः, महाकुलप्रसूतत्वेन उपदेशग्रहणयोग्यत्वादित्यर्थः । अहं=विष्णुशर्मा षण्मासाभ्यन्तरे—षट्संख्याका मासाः षण्मासाः तेषाम्

अभ्यन्तरं = मध्यं तस्मिन्, षण्णां मासानामपरिसमाप्तौ यावदित्यर्थः । भवत = राज्ञ, पुत्रान् = कुमारान्, नीतिशास्त्रम् अभिजानन्तीति नीतिशास्त्राभिज्ञास्तान् = नीतिनिपुणान्, करिष्यामि = विधास्यामीति । तत राजा = सुदर्शन, सविनयम्-विनयेन सह वर्तमानं यथा स्यात्तथा = सप्रश्रय, पुन. = भूय' उवाच = उक्तवान् ।

भा०—इस हेतुसे (बुद्धिमान् होने के कारण) छ मास के अन्दर आपके पुत्रों को नीतिशास्त्रमें निपुण कर दूंगा । उसके बाद सुदर्शन राजाने फिर नम्रतापूर्वक कहा—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्माऽपि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठित. ॥ ४४ ॥

अ०—कीट अपि सुमन सङ्गात् सतां शिर -आरोहति, अश्मा अपि महद्भि सुप्रतिष्ठित (सन्) देवत्व याति । व्या०—कीट' = क्षुद्रजन्तु, अपि=स्पर्शानाऽनर्होऽपि सुमन सङ्गात्—सुमनसां = कुसुमानां सङ्ग = योग तस्मात्, पुष्पेऽवस्थानादित्यर्थ', सतां = महापुरुषाणां राजादीनाम्, शिर = मस्तकम्, आरोहति = आश्रयति, शिरसि स्थानं लभते इत्यर्थ । एवम् अश्मा = प्रस्तर, अपि = निकृष्टपार्थिवपदार्थोऽपि, महद्भि = श्रोत्रियपुरुषै' (जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय सस्काराद् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्व त्रिभि श्रोत्रिय उच्यते) । सुप्रतिष्ठित- = वेदमन्त्रादिना प्रतिष्ठां नीत', सन्, देवत्व = लक्ष्मीनारायणादिदेवभावम्, याति = प्राप्नोति ।

भा०—जैसे क्षुद्रजन्तु कीडा भी पुष्प के योग से बडे २ पुरुषों के शिर पर जा बैठता है और पत्थर भी बडे पुरुषोंसे मूर्तिरूपसे स्थापित करने पर देवभाव को प्राप्त हो जाता है वैसे ही मेरे पुत्र मूर्ख होनेपर भी आप जैसे विद्वान् के आश्रय में रहने से गुणवान् हो जायेंगे ॥४४॥

अन्यच्च—यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४५ ॥

अ०—यथा द्रव्यम् उदयगिरे सन्निकर्षेण दीप्यते, तथा हीनवर्ण अपि सत्सन्निधानेन दीप्यते । व्या०—यथा=यद्वत्, द्रव्यम्=उदयाचलसमीपस्थं चाकचिक्यादियुक्तपाषाणादिकम्, उदयगिरे = उदयाचलपर्वतस्य सन्निकर्षेण (हेत्वर्थे पञ्चमी) सामीप्यादित्यर्थ, दीप्यते = प्रकाशते, दीप्तिमद् भवति । तथा = तद्वत्, हीनवर्ण अपि-हीन निकृष्ट वर्ण जातिर्यस्य, अथवा हीना वर्णा अक्षराणि यस्य स'=जात्याऽपकृष्ट अक्षरज्ञानशून्यो वेत्यर्थ, एतादृश पुरुषोऽपि । सतां=महताम्, विबुधानामिति यावत्, सन्निधानं=सहवास, आश्रयणमिति यावत्, तेन (हेत्वर्थे तृतीया), महतामाश्रयणादित्यर्थ । दीप्यते = शोभते, उत्कर्षं लभते इत्यर्थं ।

भा०—जैसे तेजहीन श्वेत पत्थर आदि वस्तु उदयाचल के समीप में रहने से तेजस्वी बन कर चमकती है, वैसे छोटी जाति में उत्पन्न हुआ अथवा कुछ भी नहीं पढा हुआ ऐसा पुरुष भी बडे पुरुष के आश्रय से बडा बन जाता है ॥ ४५ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥४७॥

अ०—गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य दोषाः भवन्ति यथा आस्वाद्यतोयाः, प्रवहन्ति समुद्रम् आसाद्य अपेयाः भवन्ति । व्या० – गुणाः=विद्याविनयादयो धर्माः, गुणज्ञेषु=गुणान् जानन्ति इति गुणज्ञास्तेषु=गुणग्राहकजनेषु स्थिताः सन्तः, गुणाः=गुणत्वेन व्यवहृताः, सद्गुणा इति यावत्, भवन्ति=सम्पद्यन्ते । ते एव=विद्यादयो गुणाः, निर्गुणं=गुणरहितं कुपात्रम् प्राप्य=आसाद्य, दोषाः=दोषत्वेन व्यवहृताः दुर्गुणाः, भवन्ति=सम्पद्यन्ते । तत्र दृष्टान्तमाह—नद्यः=सरितः, आस्वाद्यतोयाः=आस्वाद्यं=मधुरं तोयं=जलं यासु ताः नद्यः ता वा इति आस्वाद्यतोयाः=मधुरजलयुक्ताः सत्यः, प्रवहन्ति=प्रवाहेण वहन्ति । किन्तु ताः समुद्रं=लवणोदधिम् आसाद्य=प्राप्यैव अपेयाः=पातुं योग्याः पेयाः, न पेयाः अपेयाः इति अपेयाः=पानानर्हाः क्षाराः भवन्ति इति ।

भा०—जैसे जब तक नदियों में रहता है तब तक मधुर पीने लायक होता है और समुद्र में जाने से खारा हो जाने से पीने लायक नहीं रहता है, वैसे ही अच्छे २ गुण भी लायक (गुणज्ञ) पुरुषों को मिलने से गुण रहते हैं और कुपात्र को मिलने से गुण भी दुर्गुण दोषरूप हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम्' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो (करे) बहुमानपुरःसरं पुत्रान् समर्पितवान्।

व्या०—तत्=तस्मात्कारणात्, यतः सद्गुणयोगात् निर्गुणोऽपि उत्कर्षं याति अतस्तदेतेषामित्यर्थः । एतेषाम्=पुरः स्थितानाम् अस्मत्पुत्राणाम् (अस्माकं सम्बन्धिनां पुत्राणाम्) नीतिशास्त्रोपदेशाय—नीतिरेव शास्त्रं तस्य उपदेशः=शिक्षा, तस्मै इत्यर्थः, भवन्तः प्रमाणम् ('प्रमाणं नित्यमर्यादा शास्त्रेषु' इत्यमरः। इत्यत्र न दोषो न ह्यनेकस्य प्रयोगः प्रमाणं हि । इति वैदिकीयवचनात् 'प्रमाणम्' इति एकवचने प्रयुक्तम् 'वेदाः प्रमाणम्' इतिवत्) प्रमाणम्=आदरणीयाः इत्यर्थः । इति=इत्थम् उक्त्वा=कथयित्वा स नृपः सुदर्शनः तस्य—विष्णुशर्मणः पण्डितस्य, (करे=हस्ते) बहुमानपुरःसरं—पुरः सरति इति पुरःसरः, बहुमानः पुरःसरो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तत् अतिसम्मानपूर्वकमित्यर्थः, पुत्रान्=स्वसुतान् समर्पितवान्=दत्तवान् इत्यर्थः ।

भा०—महाराज सुदर्शन बोले कि हे महात्मा विष्णुशर्मा! इसलिये अब मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र का शिक्षण देने के लिये आप (विष्णुशर्मा) ही प्रमाणभूत हैं ऐसा कहकर राजा ने विष्णुशर्मा पण्डित के हाथ में अति आदरपूर्वक अपने राजकुमारों को सौंप दिया ।

अथ मित्रलाभ-प्रस्तावः

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—भो राजपुत्राः शृणुत—

व्या०—अथ=समर्पणानन्तरम्, प्रासादपृष्ठे-प्रासादस्य=सौधस्य राजभवनस्य, पृष्ठम्=उपरिभाग चन्द्रशाला तस्मिन्, सुखोपविष्टानाम्—सुखम् उपविष्टाः तेषां शान्तिपूर्वक स्थितानामित्यर्थः। राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः तेषां=नृपस्य तनयानामित्यर्थः। पुरस्तात्=समक्षम्। प्रस्तावस्य=अवसरसङ्गते., क्रमः=रीतिः तेन, अवसरं प्राप्येत्यर्थः, सः विष्णुशर्मा पण्डित अब्रवीत्=कथयामास (वक्ष्यमाणमिति शेषः)। भो राजपुत्राः=भो -इति सम्बोधने, हे राजतनयाः यूयम् आकर्णयत।

भा०—राजपुत्रों के सुपुर्द करने के बाद राजभवन के ऊपर छतपर सुखपूर्वक बैठे हुए राजपुत्रों के सामने अवसर देखकर विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—हे राजपुत्रो! सुनो—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥ १॥

अ०—धीमतां कालः काव्यशास्त्रविनोदेन गच्छति, मूर्खाणां (तु कालः) व्यसनेन निद्रया कलहेन वा (गच्छति)। व्या०—धियः सन्ति एषामिति धीमन्तः तेषां=विदुषामित्यर्थः, कालः=आयुःसमयः, काव्यम्—कवेः कर्म काव्यं=रसान्वितं व्याख्यानं वचनमिति यावत्, तदेव शास्त्रम् इति काव्यशास्त्रम्, तेन यो विनोदः=आनन्दः तेन काव्यशास्त्रविनोदेन=आलोचने श्रवणे वा सति रसजनकवाक्यसमूहात्मकशास्त्रजनिताऽऽनन्देनेत्यर्थः, गच्छति=व्यतीतो भवति, न तु व्यर्थो गच्छति। मूर्खाणां=शास्त्रविमुखानां (तु कालः=आयुःसमयः) व्यसनेन—व्यस्यते चित्तम् अनेनेति व्यसनं तेन=सुरापानद्यूतक्रीडामृगयादिव्यसनेनेत्यर्थः। निद्रया=दिवानिद्रया, स्वप्नतुल्यया तामसावस्थया मद्यपानादिजन्योन्मत्तावस्थयेति यावत्। कलहेन=विवादेन वा, गच्छति=अतिवर्तते। इति।

भा०—बुद्धिमान् लोग अपने जीवन-समय को नीतिशास्त्रादि में बिता कर सार्थक करते हैं और मूर्खलोग तो जुवा खेलना आदि व्यसनों में या तो क्लेश टंटा में अपने जीवन समय को बरबाद करते हैं, इसलिये अपने को नीतिशास्त्र के चिन्तन में विनोद करना चाहिए॥ १॥

तद् भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयिष्यामि। राजपुत्रैरुक्तम्—आर्य! कथ्यताम्। विष्णुशर्मोवाच—शृणुत यूयम्, सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते, यस्यायमाद्यः श्लोकः।

व्या०—तत्=तस्मात्, 'यत धीमतां काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति' इत्य-

स्मायोतोरित्यर्थः, भवतां = युष्माकम् (राजपुत्राणाम्), विनोदाय = कौतुकाय, मया (विष्णुशर्मा) काककूर्मादीनाम्—काकस्य कूर्मस्य काककूर्मौ, तौ आदिर्येषां तेषां = काककूर्ममृगमूषकादीनामित्यर्थः विचित्रां = विविधां रमणीयां, मनोहारिणीमित्यर्थः, कथाम् = उपाख्यानम् कथयामीति भावः, कथयिष्यामि = कथयामि (श्रुत्वा) राजपुत्रैः—राज्ञः पुत्राः राजपुत्रास्तैः = राजकुमारैः, उक्तम् = अभिहितम्। आर्य ! = पूज्य ! कथ्यताम् (कथा कथ्यतामिति शेषः)। तदनन्तरम् विष्णुशर्मा पण्डितः, उवाच = उक्तवान्, शृणुत = सावधानाः राजपुत्राः, अद्य = सम्प्रति आकर्णयत सम्प्रति = इदानीम् प्रथमं मित्रलाभः—मित्रस्य = सुहृदो लाभः = प्राप्तिः मित्रलाभस्तद्विषयः प्रस्तूयते = कथाप्रस्तावं प्रारभ्यते 'मित्रं कीदृग्भवति, कीदृग् मित्रं कर्तव्यम्, केन प्रकारेण वा मित्रं लभ्यते इत्येतत् सर्व कथ्यते'। यस्य = मित्रलाभप्रकरणस्य उपाख्यानस्य आद्यं = प्रथमम्, श्लोकः—आद्यो अयं प्रकरणस्य श्लोकः = पद्यरूपं वाक्यमनुमितम्, अस्तीति शेषः।

भा०—श्रीमान् पुत्रों का उत्तम शास्त्रविनोद ही व्यतीत होना चाहिये इसलिये आपके विनोद के लिये मैं काक, कूर्म आदि की विचित्र मनोरंजक कथायें कहूँगा। तब राजपुत्रों ने कहा—आर्य ! कहिये। (इसके बाद) विष्णुशर्माजीने कहा—सावधान सुनिए, इस समय मित्रलाभ नाम की कथा प्रारम्भ करता हूँ जिसका यह पहिला श्लोक है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाऽऽखुवत् ॥ २ ॥

अ०—असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः काककूर्ममृगाऽऽखुवत् कार्याणि आशु साधयन्ति। व्या०—न विद्यन्ते साधनानि = कार्यसाधनोपायभूतानि अर्थसाधनानि येषां ते असाधनाः विद्यमाना इत्यर्थः। वित्तेन = सुवर्णरूप्यादिद्रव्येण धनेन हीनाः = रहिताः, दरिद्रा इत्यर्थः। बुद्धिः विद्यते येषां ते बुद्धिमन्तः = बुद्धिमन्तः अतिशयितबुद्धय इति भावः ('बुद्धिरस्त्यस्मिन्नित्यर्थे मतुप्') सुष्ठु हृदयं येषां ते सुहृदः, अतिशयेन सुहृदः इति सुहृत्तमाः = परस्परम् अतिशयेन सौहार्दयुक्ताः सर्वकार्यैकमनस्काः सन्तः, काकश्च (वायसः) कूर्मश्च (कच्छपः) मृगश्च (हरिणः) आखुश्च (मूषकः) इति काककूर्ममृगाऽऽखवः, ते इवेति काककूर्ममृगाऽऽखुवत्। आशु = शीघ्रम् कार्याणि—भाग्यकार्याणि साधयन्ति = सम्पादयन्ति।

भा०—जैसे काक-कूर्म-हरिण-मूषक इन चारों के पास कोई साधन तथा धन नहीं था, तो भी अपनी बुद्धिमत्ता के साथ साथ मित्रता से सबका शीघ्र अभीष्ट कार्य सी भी सिद्ध किया वैसे धन-बलादिक साधन तथा धनहीन भी बुद्धिमान् मित्रगण मिलकर अभीष्ट कार्य को भी सिद्ध कर सकते हैं ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत् ? सोऽब्रवीत्—

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र नानादिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिद् अवसन्नायां रात्रौ अस्ताचलचूडाऽवलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं पाशहस्तं व्याधम् अपश्यत् । तम् आलोक्याऽचिन्तयत्—अद्य प्रातरेवाऽनिष्टदर्शनं जातम्, न जाने किम् अनभिमतं दर्शयिष्यति, इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः ।

व्या०-राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः=राजकुमाराः, ऊचुः=कथयामासुः, एतत्='असाधना' इत्यादिश्लोकोक्तं यत् काकादीनां निदर्शनं (दृष्टान्तम्) तत् कथम्=केन प्रकारेणाऽस्ति ? इत्येव प्रश्नानन्तरम्, सः=विष्णुशर्मा पण्डितः, अब्रवीत्=अकथयत्-गोदावरीतीरे-गोदावर्याः=गोदावरीनामनद्याः, तीरं=कूलं तस्मिन्, विशालः=विस्तृतशाखादिपरिकरः, शाल्मलीतरुः='शाल्मली'नामा तरुः=वृक्षः, अस्ति=विद्यते । तत्र=तस्मिन् वृक्षे, नानादिग्देशात्-दिक् च देशश्च तयोः समाहारः दिग्देशम्, नाना च तत् दिग्देशं चेति तस्मात्=विभिन्नदिशः विभिन्नदेशाच्चेत्यर्थः, आगत्य=एत्य, रात्रौ=निशायाम्, पक्षिणः-पक्षाः विद्यन्ते एषाम् इति पक्षिणः=खगाः पतत्रिणः, निवसन्ति=रात्रिकालं यापयन्ति । अथ गच्छति समये, कदाचित्=एकस्मिन् समये, रात्रौ=निशायाम्, अवसन्नायां=क्षीणायाम्, प्रभातायां सत्यामिति यावत्, भगवति—भगाः=ऐश्वर्याणि सन्ति अस्य भगवान् तस्मिन्=ऐश्वर्यशालिनि, कुमुदिनीनायके—कुमुदिन्याः नायकः तस्मिन्=कुमुद्वतीपतौ, चन्द्रमसि=शशाङ्के, अस्ताचलस्य चूडा=शिखरम्, तदवलम्बते इति अस्ताचलचूडावलम्बी तस्मिन्, अस्तं गते सतीत्यर्थः । लघु=द्रुतं पतनम् उड्डयनं यस्य सः 'लघुपतनकः', लघुपतनक इति नाम=अभिधानं यस्य सः=लघुपतनकनामा, वायसः=काकः, प्रबुद्धः=प्रकर्षेण जागरितः, सन्, द्वितीयम्-द्वयोः पूरणः द्वितीयस्तं द्वितीयम्=अन्यम्, कृतान्तमिव—कृतं सृष्टम् अन्तयति मारयति यः कृतान्तस्तं यममिव, अटन्तम्—अटतीति अटन्तः=भ्रमन्तम्, पाशहस्तम्-पाशः=जालं हस्ते यस्य सः पाशहस्तस्तं=करगृहीतजालम्, व्याधं कञ्चित् मृगयुम्, अपश्यत्=ददर्श । तं=मृगयुम्, अवलोक्य=साक्षात्कृत्य, सः वायसः अचिन्तयत्=चिन्तां कृतवान्, अद्य=अस्मिन् दिवसे, प्रातरेव=प्रभातसमये निद्रात्यागाऽवसरे एव, अनिष्टदर्शनम्—न इष्टः अनिष्टस्तस्य=अनभिलषितस्य अमङ्गलरूपस्य व्याधस्य दर्शनम्=अवलोकनम्, दैवात् जातं सम्भूतम्, न जाने=अहं (काकः) न वेद्मि, किम् अनभिमतं=किंविधम् अशुभम्, दर्शयिष्यति=घटयिष्यति, इत्युक्त्वा—इति वाक्यमुक्त्वा, तदनुसरणक्रमेण—तस्य व्याधस्य अनुसरणं=पश्चात् गमनं, तस्य क्रमः =

धावरत्नम् तेन व्याकुलम् = विशेषेण आकुलम् सत्, चलिता = चञ्चलम्।

भा०—तब राजपुत्रों ने कहा—भगवान् आप को भी सिद्ध करने में कथा-कथाओं का दृष्टान्त बताना ही किस प्रकार है? विष्णुशर्मा ने कहा (कथा शुरू की)—गोदावरी नाम की नदी के किनारे पर एक विशाल सेमल का वृक्ष है, उस वृक्ष पर चारों तरफ से बहुत से पक्षिगण देश-देशान्तरों से आकर रात्रि बिताते थे, एक बार अस्ताचल पर कुमुदिनी-पति चन्द्रमा अस्त हो गये, तब एक 'लघुपतनक' नामक काक ने जागते ही यम के समान और हाथ में जाल ले के घूमते हुए एक व्याध को देखा, व्याध को देख कर काक सोचने लगा। आज प्रातःकाल में ही अनिष्टकारक (अशुभसूचक) दर्शन हुआ, न मालूम यह किस प्रकार का अनिष्ट (आपत्ति) करेगा। इतना सोचकर उस व्याध के पीछे वह काक व्याकुल होकर चल दिया।

यतः—शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥ ३॥

अ०—शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च दिवसे दिवसे मूढम् आविशन्ति न तु पण्डितम्। व्या०—यतः कारणात्—शोकेति। शोकस्य स्थानानि = निमित्तानि तेषां सहस्राणि, सहस्रशः शोकस्य निमित्तकारणानीत्यर्थः। भयस्य स्थानानि = निमित्तकारणानि तेषां शतानि शतशः भयकारणानि, दिवसे दिवसे = प्रतिदिनमित्यर्थः। मूढं = मूर्खं पुरुषम् आविशन्ति = अभिभवन्तीत्यर्थः। न तु पण्डितं = बुद्धिमन्तं पुरुषम्, तानि शोकभयस्थानानि पराभवन्तीति।

भा०—मूर्ख मन चाहे लाखों ही निमित्त शोक और भय के कारणों को प्राप्त करता है न कि विद्वान्, क्योंकि विद्वान् जन अपनी विद्वत्ता से ही शोक के कारणों को भी सुगमता से हटा देते हैं। इसलिये काक भी अपनी बुद्धि के अनुसार व्याधपरता हुआ न जाने ऐसा प्रयास करने में प्रवृत्त हुआ॥ ३॥

अन्यच्च—विपच्चिन्त्यमिदमवश्यं कर्तव्यम्।
उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम्।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति॥ ४॥

अ०—उत्थाय उत्थाय अद्य मरणव्याधिशोकानां किं निपतिष्यति (इति यत्) महद् भयम् उपस्थितम् (तद्) बोद्धव्यम्। व्या०—किम् विपच्चिन्त्यम् = शुभाशुभविचार(शयनविशेष)निद्रात्यागं कृत्वा इदं = वक्ष्यमाणमर्थं तु, अवश्यं = निश्चयेन एव कर्तव्यम् = अनुष्ठेयम्; तदेवाह—उत्थायेति। प्रतिदिनं प्रभाते उत्थाय पर्यालोच्य। अद्य = अस्मिन् दिवसे मरणं = मृत्युः, व्याधिः = रोगाक्रान्तता, शोकः = इष्टवियोगजन्यदुःखम्, तेषां मध्ये किम् = कतमत्—मरणं व्याधिः शोको वा, निपतिष्यति = प्राप्स्यति। इति = इत्येवं प्रकारेण यत् महत् = अतिशयम् भयं = भयस्थानम् उपस्थितं = प्राप्तं स्यात्, तदपि सर्वं बोद्धव्यम्।

भा०—इस संसार में अपना संरक्षण चाहने वाले जनों का यह कर्तव्य है कि-रोजाना प्रात काल उठकर मरण या दुःख अथवा शोक इन तीनों में से जो आज आने वाला हो-उसका विचार करके तब उस महान् भय को दूर करने के प्रयत्न में सावधान बने ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान् विकीर्य जालं विस्तीर्णम्। स च तत्र प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। अस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणान् अवलोकयामास। ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान् कपोतान् प्राह—'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां सम्भवः, तन्निरूप्यतां तावत्, भद्रमिदं न पश्यामि प्रायेणाऽनेन तण्डुलकणलोभेनाऽस्माभिरपि तथा भवितव्यम्।

व्या०—अथ व्याधाऽनुगमनाऽनन्तरम्, (कुत्रचित्स्थले) तेन पूर्वोक्तेन व्याधेन, तण्डुलानां कणास्तान्=तण्डुलखण्डानित्यर्थः, विकीर्य=भूमौ विक्षिप्य, जालं=पतत्रिपक्ष्यादिबन्धनरूपं जालम्, विस्तीर्णं—भूमौ तण्डुलकणोपरि प्रसारितम्, (कचित्पुस्तके-'विस्तीर्य' इति पाठः तस्य प्रसार्य इत्यर्थो बोध्यः) स च=पूर्वोक्तः व्याधः, तत्र=समीपप्रदेशे, प्रच्छन्नः=लतागुल्मादौ तिरोहितो भूत्वा, स्थितः=वर्तते स्म, अस्मिन्नेव काले=समये, चित्रग्रीवनामा-गिलति अनया सा ग्रीवा, चित्रा=नानारूपवती ग्रीवा यस्य सः=चित्रग्रीवनामक इत्यर्थः। कपोतानां राजा इति कपोतराजः=वृद्धपारावतः, सपरिवारः परिव्रियन्ते एभिः इति परिवारास्तैः सहितः सपरिवारः=परिजनसहितः, वियति=गगने,=गच्छन् उड्डयन् सन्, तान् विकीर्णान् तण्डुलकणान्, अवलोकयामास=ददर्श। ततः=दर्शनाऽनन्तरम्,कपोतराजः स पारावताधिपतिः, तण्डुलकणलुब्धान्—तण्डुलानां कणास्तण्डुलकणाः, तण्डुलकणानां लुब्धास्तान्, तण्डुलखण्डलोलुपान् कपोतान् प्रति आह=उवाच, अत्र=एतस्मिन्, निर्जने=न विद्यन्ते जना यत्रेति निर्जनं तस्मिन् मनुष्यसञ्चरणशून्ये, वने=कानने तण्डुलकणानां कुतः=कस्माद् हेतोः, सम्भवः=उत्पत्तिः, निर्जनवने तण्डुलसम्भवो भवेन्न वा इति, प्रथमम् निरूप्यतां=निपुणतया विचार्यताम्, यतः विना विचारं कणभक्षणे प्रवृत्तौ कृतायां सत्याम् अहम्, इदं=साहसम्, भद्रं=सुखदं न पश्यामि अनेन साहसोत्पादकेन, तण्डुलकणानां लोभेन, अस्माभिः सर्वैः कपोतैरपि, प्रायेण=बाहुल्येन, तथा=व्याघ्रेण कङ्कणं प्रदर्श्य स्नानार्थं प्रेरितः पङ्के निमग्नः पान्थः पश्चान्मारितः तादृशाऽवस्थैः, भवितव्यमिति।

भा०—इसके बाद उस व्याध ने चावल के कणों को पृथ्वीपर छींटकर ऊपर से जाल को फैला दिया और वह व्याध पास के छोटे पेड़ों के निकट छिपकर बैठ गया, उसी समय 'चित्रग्रीव' नाम के कबूतरों के राजा ने अपने परिवार-सहित आकाश में उड़ते २ उन चावल के कणों को देख लिया, उसके बाद उन चावल के कणों को खाने के लिये लोभी कबूतरों से

कपोतराज ने कहा—वन मनुष्यरहित स्थानमें व्याघ्र के कंगन का संभव कैसे हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता है) इसलिये प्रथम इस बात का विचार करिये। (शायद करने से मैं कपोतराज अपना) कल्याण नहीं देख रहा हूँ इन धान्यों के कणों के लोभसे अपने को भी ऐसा हो (जैसा कि सिंहके कड़ने से एक पानी भी सोने के कड़न के लोभ से तालाब के कीचड़ में फँस कर मरना पड़ा) होना होगा।

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।

वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः सम्मृतो यथा' ॥ ५ ॥

अ०—कङ्कणस्य तु लोभेन सुदुस्तरे पङ्के मग्नः पथिकः वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः सम्मृतो यथा। व्या०—कङ्कणस्य=सुवर्णमयकराभूषणस्य लोभेन तु लोभेनास्व-स्थिरमनसा तु, सुदुस्तरे=अतिदुस्तोपायापि तरितुम् अशक्ये सुदुस्तरं तस्मिन् अतिगाढे दुस्तर्ये, पङ्के=कर्दमे मग्नः=निपतितः पथिकः=पान्थः पथि गच्छतीति पथिकः=अभिला-षेण यात्री वृद्धव्याघ्रेण तेनाजीर्णेनापि सम्प्राप्तः=आक्रान्तः सन् यथा=येन प्रकारेण सम्मृतः=मृत्युं गतः, अस्माभिरपि तथैव तथा भवितव्यम्, इत्यन्वयः।

भा०—जैसे सोने के कड़े के लोभ से एक पानी पाथ के कहने से तालाब में स्नान के लिये गया और वहाँ के गाढ़े कीचड़ में फँस गया, तब व्याघ्र ने उसे मार डाला (ऐसे अपने को भी मरना होगा) ॥ ५ ॥

कपोताः कथयन्ति—'कथमेतत्' सोऽब्रवीत्—

कथा १

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्—एको वृद्धो व्याघ्रः स्नातः कुश-हस्तः सरस्तीरे ब्रूते—'भो भोः पान्थाः! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्' ततो लोभाऽऽकृष्टेन केनचित्पान्थेन आलोचितम्—भाग्येन एतत् सम्भवति किन्तु अस्मिन् आत्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया।

भा०—कपोता ऊचुः पप्रच्छुः, कथम्=कथमिव एतत् कथ्यतेन पथिकस्य मारणं इत तत् कथं=केन प्रकारेण जातम्? इत्येवं पृष्टे सति सः—कपोतराजः, अब्रवीत्=प्रत्युवाच—अहं कपोतराजः एकदा=एकस्मिन् समये दक्षिणारण्ये चरन्=अटन् तत्पतिरपि तस्मिन् वने अपश्यम्=अपश्यम्, दक्षिणं=दक्षिणदिग्-स्थं च तत् अरण्यं चेति दक्षिणं 'दक्षिणारण्यं वने' इति पारस्य, चरन्—चरति इति चरन्=भ्रमन् सन् (तत्परमात्मनः) अपश्यम्=अवलोकितवान्। तथा हि—एकः अवलः वृद्धः कश्चित् व्याघ्रः=विशेषेण आसमन्तात् जिघ्रति=घ्राणः आजिघ्रति=व्याघ्रः इति व्याघ्रः, स्नातः=कृतस्नानः कुशाः सन्ति हस्ते यस्य सः कुशहस्तः, कुशायुक्तः सन् सरसि=तडागे स्थितः=सन् अस्मिन् इति सरः=तडागः, तस्य तीरे तस्मिन्=तटे

तटे इत्यर्थः ब्रूते = कथयति—भोः भोः पान्था ! = (आदरे द्विरुक्तिः) हे हे पथिका !, इदं=मम करस्थितम्, सुवर्णस्य कङ्कण सुवर्णकङ्कणं=स्वर्णमय कराऽऽभूषण वलयम्, युष्माभिः गृह्यताम्। तत लोभेन आकृष्टः तेन लोभाकृष्टेन=लुब्धेन केनचित् पान्थेन=मार्गगेण, आलोचित=चिन्तितम्, भाग्येन=पूर्वजन्मकृतपुण्येन दैवेन वा, एतत्-बहुमूल्य सुवर्णकङ्कणम्, सम्भवति=सम्यक् प्राप्तं भवति, किन्तु अस्मिन् आत्मसन्देहे आत्मनः=स्वस्य सन्देह =मरणशङ्का यस्मिन् कार्ये वर्तते आत्मसन्देहस्तस्मिन्, मरणसन्देहास्पदकार्ये इत्यर्थ, प्रवृत्ति.=साहसप्रयत्न, न विधेया=न कर्तव्या।

भा०—कबूतरों ने पूछा—व्याघ्र ने पथिक को मार डाला यह कथा किस प्रकार है ? तब 'चित्रग्रीव' नाम का कबूतर कहने लगा—मैंने दक्षिणदिशा के 'दण्डक' बन में घूमते २ देखा कि-एक वृद्ध व्याघ्र स्नान करके हाथ में कुश लेके तालाब के किनारे बैठकर बोलता था कि हे यात्री लोग ! यह सोने का कड़ा ले लो, ऐसा सुनकर लोभ के अधीन हो के एक यात्री ने सोचा कि भाग्य से सुवर्ण का कड़ा मिला है, लेकिन जान के खतरे वाले कार्य में साहस की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

यत—अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा।
यत्राऽऽस्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

अ०—अनिष्टाद् इष्टलाभे अपि शुभा गतिः न जायते, यत्र विषसंसर्गः आस्ते तद् अमृतम् अपि मृत्यवे (भवति)। व्या०—न इष्टम् अनिष्ट तस्माद् अप्रियाद् अहितकरात् व्याघ्रादे इष्टस्य लाभ इष्टलाभस्तस्मिन्=स्वेप्सितकङ्कणलाभेऽपि, शुभा=कल्याणदा, गतिः=गम्यते इति गति फलं दशापरिणाम इति यावत्, न जायते=न सम्पद्यते। तत्र दृष्टान्तम्-यत्र=यस्मिन्, अमृते, विषस्य=गरलस्य, संसर्गः=किञ्चिन्मात्रसम्बन्ध, मिश्रणभावात्मक, आस्ते=वर्तते, तत्=तादृशम्, अमृतमपि=मृत्युनिवारकमपि, मृत्यवे=मरणाय भवति।

भा०—जैसे अमृत यद्यपि बहुत इष्ट वस्तु है, तो भी विष का संसर्ग होने से उसको त्याग देना चाहिये, वैसे ही अनिष्ट करने वाले प्राणीसे अपनी इच्छित वस्तु को ग्रहण करने से भी आखिर में दुःख होता है, इसलिये सोने का कड़ा भी त्याग देना चाहिए ॥६॥

किन्तु सर्वत्राऽर्थार्जनप्रवृत्तौ सन्देह एव। तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७ ॥

अ०—नर संशयम् अनारुह्य भद्राणि न पश्यति, पुनः संशयम् आरुह्य यदि जीवति, (तदा) पश्यति। व्या०—किन्तु=परन्तु, सर्वत्र=सर्वस्मिन् स्थले, अर्थानाम् अर्जन अर्थार्जनम्, तस्य प्रवृत्ति तस्या=धनैकत्रीकरणप्रयत्ने इत्यर्थं, सन्देह एव-

[illegible] भवति। तथा च [illegible] न तेन प्राप्नोति। नरः = मनुष्यः, संशयम् अनारुह्य = अविज्ञातकार्ये अहमेतद् जीविष्यामि मरिष्यामि वा इत्येवम् आत्मनः जीवनमरणसन्देहम् अकृत्वा भद्राणि = शुभफलानि [illegible] न पश्यति = न लभते। पुनः किन्तु, संशयं = जीवनमरणादि-सन्देहम् आरुह्य = प्राप्य [illegible] यदि जीवति = प्राणिति, तदा भद्राणि पश्यति = लभते, इति।

भा०—मन के सन्देहरूपी पर्वत पर [illegible] हो जाता है लेकिन यह सन्देह को दूर करके 'या तो सिद्धि हो, या तो मरण हो'-ऐसा निश्चय करके ही कार्य करना चाहिये ऐसा करने से ही सब की सिद्धि होती है ॥ ९ ॥

तदिदं पश्यामि तावत्। प्रकाशं ब्रूते—'कुत्र तव कङ्कणम्?'। व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्—'कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः?'

व्या०—तदिदम् अस्य [illegible] कङ्कणं वर्तते न वा इति [illegible] तावदिति [illegible] विचारं करोमि [illegible] प्रकाशं [illegible] यथा स्यात्तथा, ब्रूते = कथयति, स पान्थः इति शेषः। कुत्र = कस्मिन् स्थाने तव (व्याघ्रस्य) कङ्कणं वर्तते इति शेषः। व्याघ्रः [illegible] हस्तं [illegible] कङ्कणं [illegible] वर्तते तं हस्तम् प्रसार्य = विस्तीर्य दर्शयति पान्थायेति शेषः। तद् दृष्ट्वा पान्थः [illegible] मारात्मकेऽप्यरण्ये [illegible] इति [illegible] मारात्मके = हिंस्रे, त्वयि = व्याघ्रे विश्वासः कर्तव्यो भवेत्। हिंस्रे न विश्वासभूमिः [illegible] भवतीति भावः।

भा०—पुनः वह कहा है कि [illegible] प्रथम विचार कर लूँ (ऐसा सोचकर) वह [illegible]—'तुम्हारा कङ्कण कहाँ है?' (तब [illegible]) व्याघ्र ने [illegible] फैला करके कङ्कण दिखाया। इसके बाद [illegible] 'तू हिंसा करने वाला क्रूर प्राणी है, इसलिये मैं कैसे विश्वास करूँ?'

व्याघ्र उवाच—शृणु रे पान्थ! प्रागेव यौवनदशायामहम् अतीव दुर्वृत्त आसम्। अनेकगोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता दाराश्च वंशहीनश्चाहम्। ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमुपदिष्टः—'दानधर्मादिकं चरतु भवान्' इति। तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो न कथं विश्वासभूमिः?।

व्या०—व्याघ्रः [illegible] उवाच, [illegible]। हे पान्थ! अरे पथिक! [illegible] यौवनदशायाम् [illegible] जीवने, यौवनं [illegible] अहम् (व्याघ्रः) अतीव = अत्यन्तं दुर्वृत्तः [illegible]

वृत्तम्-आचरण यस्य स अतिदुर्वृत्त=हिंसादिदुराचरणः, आसम्=अभूवम् । अनेक गोमानुषाणां=गावश्च मानुषाश्च गोमानुषाः, अनेके च ते गोमानुषाश्च अनेकगोमानुषा स्तेषाम्, बहूनां गवां मानुषाणाञ्चेत्यर्थ । वधात्=हननात्, हननजन्यपापपुञ्जादिति यावत् । मे=मम, पुत्राः=तनुजाः, दाराश्च=गृहिणी च, मृताः=निधन गताः, अहं च (व्याघ्र) वंशेन हीन, वंशहीन = निर्वंशो जातोऽस्मि । ततः=वंशनाशानन्तरम्, केनचिद् धार्मिकेण=धर्मम् उपदिशति य स धार्मिकस्तेन धर्मोपदेष्ट्रा पुरुषेणेत्यर्थ, अह (व्याघ्र) उपदिष्ट = उपदेशेन नियन्त्रितोऽस्मि, आज्ञाऽङ्कितोऽस्मीति यावत् । भवान्=त्वम्, दानधर्मादिकम्-दानमेव धर्म दानधर्म, दानधर्मः आदिर्यस्य तत् दानधर्मादिक दानप्रभृतिपुण्यकर्म, चरतु इति=करोत्वित्यर्थ । तदुपदेशात्=तस्य धार्मिकस्य पुरुषस्य उपदेश=आज्ञात्मक शिक्षण तस्मात्, इदानीं=वर्तमानाऽवस्थायाम्, अह=(व्याघ्र) स्नानशीलः=स्नान शील यस्य स, त्रिसन्ध्य स्नानकर्ता, वृद्ध=जीर्णशरीर, अत एव गलितनखदन्त =नखाश्च दन्ताश्च नखदन्तम्, गलित=पतित नखदन्तं यस्य स गलितनखदन्त -हस्ते नखरहित मुखे दन्तरहितश्चेत्यर्थ । तादृश सन्, दाता = दानकर्ता, कथ=केन हेतुना, न विश्वासभूमि = विश्वासस्य भूमि - स्थान, पात्रम् ? न भवामि किन्तु भवाम्येवेत्यर्थ ।

भा०—व्याघ्र ने कहा-अरे यात्रिन्! सुनो, प्रथम ही युवावस्था में मैं बहुत हिंसामय कर्म करता था, बहुत से गौ और मनुष्योंको मारता था, उस पाप से मेरे पुत्र तथा स्त्री सब मर गये, मैं निर्वंश हो गया । उसके बाद कोई एक धार्मिक पुरुष ने मुझको उपदेश दिया कि 'तुम दान आदिक धर्म करो' । उसके उपदेश से इस वृद्धावस्था में नित्य त्रिकाल-स्नान सन्ध्या करनेवाला और वृद्ध होने से मुख में दाँत हीन, हाथ में नख हीन ऐसा मैं (व्याघ्र) विश्वास का पात्र क्यों नहीं हूँ ? (अर्थात् विश्वासपात्र ही हूँ)।

उक्तञ्च—इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः ॥ ८ ॥

अ०—इज्याऽध्ययनदानानि तप सत्य धृति क्षमा अलोभ इति अय धर्मस्य अष्टविध मार्ग स्मृत । व्या०—इज्या = यज्ञ, अध्ययन = स्ववेदशास्त्रादिपठनम्, दान सत्पात्रे वितरण, तानि, तपः=चान्द्रायणादितपश्चर्या, सत्यम्=ऋतम्, धृति - धैर्यम्, दुःखसहिष्णुतेति यावत्, क्षमा=क्षान्ति, अलोभः=अस्पृहा, तृष्णाराहित्यमिति यावत् । अय धर्मस्य अष्टविध =अष्टौ विधा प्रकारा यस्य स = अष्टधा, मार्ग = उपाय, स्मृत = कथित, शास्त्रेषु विद्वद्भिरिति शेषः ।

भा०—शास्त्रों में धर्म आठ प्रकारका कहा है, जैसे-यज्ञ, वेदाध्ययन, दान, तप, सत्य, धीरज, क्षमा और अलोभ । (इनमें से मैं दान करता हूँ, सत्य बोलता हूँ, लोभ नहीं करता, इसलिए मेरा विश्वास करो) ॥ ८ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ९ ॥

अ०—तत्र पूर्वः चतुर्वर्गः दम्भार्थमपि सेव्यते उत्तरः चतुर्वर्गः तु महात्मनि एव तिष्ठति । व्या०—तत्र = तेषु अष्टस्वर्थेषु मध्ये, पूर्वः = प्रथमोक्तः, चतुर्वर्गः = चतुर्णां यागाध्ययनदानतपसां वर्गः दम्भार्थम् अपि दम्भाय इदम् इति दम्भार्थम् = ख्यातिप्रतिष्ठार्थम्, एवमेवात्रापि [illegible] । सेव्यते = अनुष्ठीयते, कर्मेति शेषः । उत्तरः चतुर्वर्गः तु = सत्यधृतिक्षमालोभाभावरूपो वर्गस्तु, महात्मनि = महान् = प्रकृष्टः आत्मा = चित्तं चरित्रं वा यस्य स इति महात्मा तस्मिन् महात्मनि = धार्मिके सच्चरित्रे एव तिष्ठति = वर्तते इति ।

भा०—उनमें से पहले चार यज्ञ, अध्ययन और दान के लिए तप, अभिमान वश भी, कर सकते हैं । लेकिन सत्य धीरज क्षमा और अलोभ ये चार तो महात्माओं के ही गुण हैं और उनमें घमण्ड के लिये ही जगह नहीं है । (अलोभ तथा सत्य गुण है मैं महात्मा हूँ इसलिए मेरा विश्वास करो) ॥ ९ ॥

मम चैतावान् लोभविरहः, येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद् दातुमिच्छामि तथाऽपि 'व्याघ्रो मानुषं खादति' इति लोकाऽपवादो दुर्निवारः ।

व्या०—मम = व्याघ्रस्य एतावान् = इयान्, लोभविरहः = लोभस्य विरहः त्यागः, लोभाभावो वास्ति इत्यर्थः । येन = लोभाभावेन स्वहस्तस्थमपि = स्वस्य हस्तः स्वहस्तः, स्वहस्ते तिष्ठतीति तं स्वहस्तस्थं = स्वकराऽवस्थितमपि सुवर्णस्य कङ्कणं यस्मै कस्मैचित् अज्ञातायापि दातुम् = अर्पयितुम् इच्छामि = वाञ्छामि तथाऽपि = एवं सत्यपि व्याघ्रो मानुषं खादतीति लोकापवादः । व्याघ्रः = शार्दूलः, मानुषं = मनुष्यादिकम्, खादति = भक्षयति इत्येवं लोकापवादः जनापवादः, दुर्निवारः = दुःखेनापि निवारयितुम् अशक्यो भवतीति ।

भा०—मैंने यहाँ तक लोभका त्याग कर दिया है कि—अपने हाथ का सोने का कङ्कण भी जिस किसी को देना चाहता हूँ । तो भी 'व्याघ्र मनुष्यों को खा जाता है' ऐसा लोकापवाद मिटाये से नहीं मिटता ।

यतः—गताऽनुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ १० ॥

अ०—गतानुगतिकः लोकः धर्मे गोघ्नं द्विजमपि यथा (तथा) उपदेशिनीं कुट्टनीं नो प्रमाणयति । व्या०—गतस्य = अतीतस्य पूर्वैर्मनुष्यैराचरितस्य मार्गस्य अनुगतिः = अनुसरणं यस्य सः गताऽनुगतिकः, पूर्वैराऽऽचरितमार्गानुसारी जनः,

छोक'=छोकानां समुदाय, धर्मे=धर्मनिर्धारणे, यथा गोघ्नं गां हन्ति इति गोघ्नस्तं= गोहत्याकारिणम्, द्विजम्=अपि यथा द्वाभ्यां सस्काराभ्यां जन्मयज्ञोपवीताभ्यां जायते शुद्धयति स द्विज', तं=विप्रम्, अपि-इव, धर्मे नो प्रमाणयति इत्यत्राऽन्वय.। तथा उपदेशिनीम्=उपदेशप्रदाम्, कुट्टनीं=शम्भलीं परपुरुषपरनार्यो व्यभिचार कारयित्रीं स्त्रीम, नो प्रमाणयति=प्रमाण न करोति।

भा०—जैसे गोहत्या करने वाला ब्राह्मण तथा व्यभिचार कराने वाली स्त्री (शुभाऽऽचरण करते हुए भी) धार्मिक उपदेश करने से प्राचीनधर्मानुयायी मनुष्यों में आदरणीय नहीं हैं। (वैसे ही मैंने प्रथम बहुत हिंसा की है पर इस समय हिंसादोष रहित होने-पर भी मेरे वचन में विश्वास नहीं हो सकता परन्तु सचमुच मैं विश्वासपात्र हूँ)॥ १०॥

मया च धर्मशास्त्राणि अधीतानि। शृणु—

भा०—मैंने धर्मशास्त्र भी पढ़ा है। सुनो—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्त्ते भोजनं तथा।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन!॥ ११॥

अ०—हे पाण्डुनन्दन! यथा मरुस्थल्यां वृष्टिः, (सफला भवति यथा च) क्षुधाऽऽर्त्ते भोजनम्, (सफलं भवति) तथा दरिद्रे (यत्) दान दीयते, (तत्) सफलं भवति। व्या०—हे पाण्डुनन्दन! पाण्डो ='पाण्डुनाम्नो राज्ञः, तनयः=सुत' युधिष्ठिर, तत्सम्बुद्धौ हे युधिष्ठिर! यथा मरुस्थल्यां=जलशून्ये शुष्कप्रदेशे वृष्टि= वर्षणम्, सफल=सार्थक भवति, यथा च क्षुधया आर्तः क्षुधार्तः तस्मिन्=क्षुधा-पीडिते जने, भोजन=भोजनवस्तुदानम्, सफल भवति, तथा दरिद्रे=धनहीने, यद् दान दीयत तत् सफल=बहुफल भवति इति।

भा०—हे युधिष्ठिर! जैसे कि सूखी भूमि में वृष्टि सार्थक होती है और भूखे को भोजन देना सार्थक होता है वैसे ही निर्धन को धनदान देना बहुत सार्थक है, (ऐसा मान कर मैं दान देता हूँ, तुम ले लो)॥ ११॥

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः॥ १२॥

अ०—यथा आत्मन. प्राणा अभीष्टा (भवन्ति) तथा भूतानामपि ते (भवन्ति) साधव आत्मौपम्येन भूतानामपि दयां कुर्वन्ति। व्या०—यथा आत्मन =स्वस्य, प्राणा =असव, अभीष्टाः=प्रिया, भवन्ति तथा भूतानामपि=स्वभिन्नानां सर्वेषां शरीरिणामपि, ते=प्राणा अभीष्टा भवन्ति। अत एव, साधवः=सज्जना आत्मौपम्येन=उपमाया भाव औपम्य आत्मन औपम्य तेन स्वतुलनयेत्यर्थः। भूतानामपि=सर्वशरीरिणाम् अपि, उपरि, दयां=प्राणाऽनुकूलां कृपाम् कुर्वन्ति।

भा०—अपने प्राण जैसे अपने को प्यारे हैं, वैसे ही सब जीवों को उनके प्राण

[illegible] ॥ १२ ॥

अन्यच्च—प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।

आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १३ ॥

[illegible]

हि०—[illegible] ॥ १३ ॥

अन्यच्च—मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ १४ ॥

[illegible] महापुरुष इति भावः ।

हि०—[illegible] ॥ १४ ॥

त्वञ्च भवानीव दुर्वृत्तः, तस्मात् त्वां हन्तुं सचेष्टोऽहम् । तथा चोक्तम्—

[illegible]

भा०—तुम बहुत गरीब हो इसलिये सुवर्ण का दान तुम जैसे को देनेके लिये मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। शास्त्र में वैसे ही बताया गया है—

दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ १५ ॥

अ०—हे कौन्तेय ! दरिद्रान् भर, ईश्वरे धनं मा प्रयच्छ, (यतः) व्याधितस्य औषधं पथ्यं भवति, नीरुजस्य औषधं किम् ? व्या०—हे कौन्तेय ! कुन्त्याः अपत्यं पुमान् कौन्तेयः, तत्सम्बुद्धौ हे कौन्तेय ! हे युधिष्ठिर ! दरिद्रान्=निर्धनान्, भर=अन्न-वस्त्रादिना प्रतिपालय, ईश्वरे=धनवति पुरुषे, धनं मा प्रयच्छ=न देहि, यतः व्याधितस्य=व्याधिः सञ्जातोऽस्य इति व्याधितस्तस्य रोगिण इत्यर्थः । औषधं=भेषजम्, पथ्यं=पथः अनपेतं पथ्यं हितकरं भवति । नीरुजस्य=नास्ति रुजा यस्य स नीरुज-स्तस्य रोगहीनस्य औषधैः किं प्रयोजनमस्ति? (अर्थात् न किमपि प्रयोजनमस्तीति)।

भा०—हे युधिष्ठिर राजन् ! निर्धनों का पालन करो, धनी को धन देना निष्प्रयोजन होता है, कारण कि—रोगी को औषध देना सफल होता है, निरोगी को देने से कोई लाभ नहीं। (इसलिये हे यात्रिन्, मैं तुझे देता हूँ) ॥ १५ ॥

अन्यच्च—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणि ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

अ०—दातव्यमिति यद् दानं देशे काले च अनुपकारिणि पात्रे दीयते, तद्दानं सात्त्विकं विदुः । व्या०—दानं दातव्यमिति निःस्वार्थभावनया यत् धनादिदानं देशे=तीर्थस्थले, काले=पुण्यपर्वणि, अनुपकारिणि=उपकारः प्रतिलाभोऽस्ति अस्य इति उपकारी स न भवतीति अनुपकारी तस्मिन् प्रत्युपकाररहिते, पात्रे=सत्पात्रे ब्राह्मणादौ, (अनुपकारिणे इति चतुर्थ्यन्तपाठे तु—'पात्रे' इत्यपि, पाति धर्मं इति पाता तस्मै इति व्युत्पत्त्या धार्मिकायेत्यर्थकं चतुर्थ्यन्तं बोध्यम्) दीयते तद्दानं सात्त्विकं=सात्त्विकभावान्वितं पुण्यप्रदम्, विदुः=विद्वांसो जानन्ति ।

भा०—जिसका बदला लेने की आशा न हो, और 'देना ही' ऐसा समझ कर जो दान पवित्र देश काल में सत्पात्र को दिया जाता है—वही सात्त्विक दान शास्त्र में कहा गया है। (इसलिये मैं तुमको बदले की आशा बिना देता हूँ, ले लो) ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणमिदं गृहाण । ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात् सरः स्नातुं प्रविष्टः, तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः । तं पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह ! महापङ्के पतितोऽसि ! अतस्त्वामहमुत्थापयामि' इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः स पान्थोऽचिन्तयत्—

व्या॰—तत्=तस्मात् निर्धनाय तुभ्यमेव दातुमिच्छामीति देहि, अत्र=अस्मिन् पुरोवर्तिनि सरसि=सरोवरे स्नात्वा=स्नानं कृत्वा, स्नानेन शुद्धो भूत्वेति भावः। इदं सुवर्णस्य कङ्कणम् गृहाण=स्वीकुरु, ततः=व्याघ्रवचनानन्तरम्, यावत्=यावत् अस्मिन् सरसि, लोभात्=लोभवशात् तद्वचः=व्याघ्रवचनम् प्रतीत्य=विश्वस्य प्रतीतो विश्वस्तः सन् "जातविश्वासः" इति पाठान्तरम्। असौ पान्थो, सरः स्नातुं प्रविशति, प्रविशति इति पाठान्तरम्। सरोवरे स्नानाय प्रविशति तावत् तस्मिन्नेव सरसि, महापङ्के पङ्के तस्मिन्=कर्दमे निमग्नः=नितराम् अतीव मग्नः सन् पलायितुं अपारयन्=अशक्नुवन् पलायितुम्=पलायनं कर्तुं, अवशात् अशक्नुवन् इति यावत् बभूव। तदनन्तरं पङ्के पतितं पान्थं पश्यति, तं=पान्थं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्, व्याघ्रः अवदत्=अकथयत् अहह! अहो कष्टं, हा हा महापङ्के=महाकर्दमे पतितः=मग्नः, स्थः, अतः अहं=अस्मादेव (व्याघ्रः) त्वाम् (पान्थम्) उत्थापयामि=निष्कासये बहिः करोमि। इत्युक्त्वा=इति कथयित्वा शनैः शनैः—धीरं धीरं, तेन व्याघ्रेण उपगम्य=समीपे गत्वा, धृतः=सम्यग् धारितः, सः पान्थः=स पान्थो (पथिकः) अचिन्तयत्=व्याघ्रमालक्ष्य विचारं चकार।

भाषा—तुमको ही देता हूँ इसलिये तालाब में स्नान करके पवित्र होके सुवर्ण का कङ्कण ग्रहण करो। ऐसा सुन कर लोभ से ज्यों ही व्याघ्र के वचन में विश्वास कर कर तालाब में स्नान करने को बैठ गया कि एकदम भारी कीचड़ में फँस गया और भागने को असमर्थ हो गया। उस पान्थ को कीचड़ में पड़ा हुआ देख कर व्याघ्र बोला—अहह! तुम भारी कीचड़ में फँस गये हो, मैं तुमको बाहर निकालता हूँ। व्याघ्र ने ऐसा कह कर धीरे धीरे पान्थ के पास आकर पान्थ को पकड़ लिया, तब पान्थ विचार करने लगा कि—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चाऽपि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवाऽत्र तथाऽतिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥१८॥

अ॰—दुरात्मनः (धर्माध्ययने इति शेषः) धर्मशास्त्रं पठति इत्यपि कारणं न, (भवति) वेदाध्ययनमपि (कारणं) न च (भवति), किन्तु अत्र (धर्माचरणे) तथा स्वभाव एव अतिरिच्यते, यथा गवां पयः प्रकृत्या मधुरं भवति। व्या॰—दुरात्मनः दुः=दुष्टः आत्मा=भावना आशयो वा यस्य सः दुरात्मा, तस्य दुरात्मनः दुष्टस्येत्यर्थः, (धर्माध्ययने=धर्माभ्यासविषये) धर्मशास्त्रम्=धर्मस्य प्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम् तत् पठति=अधीते दुरात्मा इति शेषः। इत्यपि कारणं न भवति=दुरात्मनः धर्मशास्त्रम् अधीते चेत् वेदानपि किं पठन्? न किमपि, धर्मशास्त्राध्ययने कृतेऽपि दुरात्मभावस्य अपरित्यागात् इत्यर्थः। एवं वेदाध्ययनं=वेदस्य=अध्यात्मज्ञानप्रतिपादकग्रन्थस्य अध्ययनं=पठनमपि दुरात्मनः धर्माचरणे

(कारणं) न च भवति। किन्तु अत्र = धार्मिकप्रवृत्तौ, [illegible] स्वभाव एव=जन्मना तादृशः सात्त्विकभाव एव, अतिरिच्यते = मुख्यकारणत्वेन परिगणनां वहति। यथा तत्र दृष्टान्तम् = गवां पयः दुग्धम् , प्रकृत्या = स्वभावेनैव, मधुरम् = अमृतसम-स्वादु, भवति। वशस्थवृत्तम्।

भा०—जैसे गौ का दूध स्वभाव से ही मधुर होता है, वैसे ही जो व्यक्ति स्वभावसे ही सत्त्वगुणी सत्पुरुष हो उसकी ही धर्म में प्रवृत्ति होती है और जो स्वभाव से ही दुष्ट हो, उसने चाहे कई धर्मशास्त्र और वेद का अध्ययन भले ही कर डाला हो तो भी उसकी दुष्टता तथा अधर्माचरण दूर नहीं होते। (इसलिये दुष्टात्मा व्याघ्र-जैसे का शास्त्राध्ययन दूसरों को फँसाने के लिये ही है, धर्माचरणार्थ नहीं) ॥ १७ ॥

किञ्च—अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ १८ ॥

अ०—अवशेन्द्रियचित्तानां क्रिया हस्तिस्नानमिव (निष्फला भवति) क्रियां विना ज्ञानं दुर्भगाऽऽभरणप्रायः भारः (भवति)। व्या०— इन्द्रियाणि=श्रोत्रादीनि, चित्तानि=मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मकाऽन्तःकरणानि, अवशानि इन्द्रियाणि चित्तानि च येषान्ते तेषाम्=इन्द्रियाऽन्तःकरणवशीभूतानामित्यर्थः। क्रिया=सन्ध्यावन्दनात्मिका नित्या, व्रतयज्ञात्मिका नैमित्तिका, यावत्यः क्रिया इत्यर्थः। हस्तिस्नानमिव = हस्तः = शुण्डादण्डः अस्ति अस्य स हस्ती, हस्तिनः स्नानं तदिव, यथा हस्ती स्नात्वा पुनः स्वदेहं धूलीविकिरणेन मलिनीकरोति, अतस्तस्य स्नानं निष्फलम्, तद्वदित्यर्थः। निष्फला = फलरहिता भवति, पुनः पापाचरणादिति भावः। तथा क्रियां विना=इन्द्रियविजयरूप शास्त्रोक्त वा यज्ञाद्यनुष्ठानमन्तरेण, ज्ञानं= केवलधर्मशास्त्रादिजन्यबुद्धिरपि दुर्भगाऽऽभरणप्रायः—भगं = पतिसौभाग्यम् , दुः = नास्ति पतिसौभाग्यरूप भगं यस्याः सा दुर्भगा, विधवेति यावत् , तस्याः आभरणम् = अलङ्कारः, तत्प्रायः = तत्तुल्यः, भार एव = विधवाधृतताऽऽभूषणानि न शोभावहानि, किन्तु भाररूपाण्येव, अथवा दुर्भगाया वन्ध्यायाः भरणम् आजीवनं पोषणं यथा भाररूपं तथा निष्क्रियं ज्ञानं निरर्थकं भारभूतमित्यर्थः।

भा०—जैसे हाथी स्नान करके फिर अपने शरीर को धूलि से मलिन कर लेता है, इस लिये उसका स्नान करना व्यर्थ है, वैसे ही इन्द्रियाधीन पुरुष सन्ध्या-यज्ञादि करके फिर पाप करता है इसलिए उसका सन्ध्यादि करना निष्फल है और इस हेतु से ही जैसे विधवा स्त्री को आभूषण धारण करना भाररूप है, वैसे इन्द्रियाधीन पुरुष का धर्मादि कार्य सब भार (क्लेश) रूप हो जाता है ॥ १८ ॥

'तन्मया भद्रं न कृतम् , यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः'। तथा चोक्तम्—

व्या०—तत्=तस्मात्, मया (यात्रिणा) भद्रं=सुखद कर्म, न कृतम्=न आचरितम्, यत्=यस्मात्, अत्र=अस्मिन्, मारात्मके=हिंस्रस्वभावे व्याघ्रे, विश्वासः कृत इति।

भा०—इसलिये मैंने यह अच्छा काम नहीं किया, जो कि—इस हिंसक व्याघ्र में विश्वास किया। कहा भी है :—

> नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा ।
> विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ १९ ॥

अ०—नखिनां शस्त्रपाणीनां नदीनां तथा शृङ्गिणां स्त्रीषु राजकुलेषु च विश्वासो नैव कर्तव्यः। व्या०—नदीनां = स्रोतस्वतीनां सरिताम्। सर्वे पानी वैसा ही बना नहीं रहता... नखिनां = नखायुधानां व्याघ्रादीनामित्यर्थः। शस्त्राणि पाणौ येषाम् इति शस्त्रपाणयस्तेषां = खड्गादिधारिणामित्यर्थः। (सर्वत्र सम्बन्धे षष्ठी) स्त्रीषु = नारीषु। राज्ञां कुलानि तेषु = राजवंशोत्पन्नेषु च विश्वासः न कर्तव्यः, कदाचित् हानिकरत्वात्।

भा०—जिनका विश्वास स्वभाव न हो ऐसे कि—नदियों, शस्त्रवाले, सींगवाले, नख वाले, स्त्रियाँ और राजकुल, इनका विश्वास नहीं करना (क्योंकि इनके स्वभाव की कोई एक स्थिति न होने से कभी ये महापुरुष को भी कष्ट में गिराते हैं)॥ १९॥

> अपरञ्च—सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।
> अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥ २० ॥

अ०—(लोके) सर्वस्य स्वभावा हि परीक्ष्यन्ते इतरे गुणाः न (परीक्ष्यन्ते) हि सर्वान् गुणान् अतीत्य स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते। व्या०—सर्वस्य = प्राणिमात्रस्य स्वभावाः = प्रकृतयः हि = निश्चयं यथा तथा, परीक्ष्यन्ते = सम्यक् आलोच्य विचार्यन्ते इतरे = दानधर्मविद्यादयो गुणाः न परीक्ष्यन्ते, ...। हि = यस्मात् हेतोः, सर्वान् = यावतः गुणान् = विद्यादीन् श्रेष्ठतमान् अपि गुणान् अतीत्य = अतिक्रम्य स्वभावः ... मूर्ध्नि = उपरि शिरसि ..., वर्तते।

भा०—प्रकृतिस्वभाव ही सब सद्गुण और गुणों को लांघ कर प्रथम रहता है। इसलिये सभी के स्वभाव की ही परीक्षा की जाती है न कि अन्य गुणों की ॥ २० ॥

> अन्यच्च—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी
> दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी ।
> विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ
> लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ॥ २१ ॥

अ०—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी असौ विधुरपि विधियोगाद् राहुणा ग्रस्यते। इह ललाटे लिखितं प्रोज्झितुं कः समर्थः (भवति)। व्या०—स हि = प्रसिद्धः सः, गगने विहर्तुं शीलमस्य इति गगनविहारी = आकाशे विहरणशीलः, कल्मषस्य = पापस्य अन्धकारस्येति यावत् ध्वंसं नाशं करो-

तीति कल्मषध्वंसकारी=सर्वपापघ्नः, सर्वाऽन्धकारघ्नो वा। दशाऽवृत्त शतं दशशतं= सहस्र करान् रश्मीन् धरतीति दशशतकरधारी=सहस्रांशु. सूर्य., अथ च ज्योतिषां= ग्रहनक्षत्राणाम्, मध्यचारी=मध्यविहारी, असौ=प्रसिद्ध, विधु.=चन्द्रमा, अपि, विधि =दैवम्, तस्य योगात्=नियमात्, राहुणा=विधुन्तुदेन सैंहिकेयेन, ग्रस्यते= कवलीक्रियते (आच्छाद्यते)। इह=जगति, ब्रह्मणा यत् शुभाऽशुभम्, ललाटे=भाले, लिखित=निश्चित्य निहितम्, तत् प्रोज्झितुम्=अन्यथाकर्तुं हातुम्, क जन समर्थ =शक्त ? न कोऽपीत्यर्थ.।

भा०—आकाश में चलने वाला, पापों का नाश करने वाला सूर्य और तारागणों के मध्य में रहने वाला चन्द्रमा वे दोनों दैवाधीन होकर राहु से ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिये विधाता से ललाट में लिखा हुआ भाग्य कभी बदलता नहीं है, ('मार्ग में चलते कङ्कण के लोभ मे व्याघ्र द्वारा मरना, या तो कङ्कण पाना' जो लिखा होगा, सो हो जायगा) ॥२१॥

इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण धृत्वा व्यापादितः खादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'कङ्कणस्य तु लोभेन' इत्यादि। अत एव सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्तव्यमिति।

व्या०—इति=उक्तप्रकारेण, चिन्तयन्=चिन्तां कुर्वन्नेव, असौ=अयं यात्री, व्याघ्रेण=शार्दूलेन, धृत्वा=गृहीत्वा, आक्रम्य, व्यापादित =नखैर्विदारित, खादितश्च। अत =अविचार्य कर्मकर्ता मरणमाप्नोतीति हेतो परिणामे शुभाऽशुभविचारम-कृत्वा, कर्म=किमपि कार्यं, न कर्तव्यम्। अहम् (वृद्धकपोतराज) ब्रवीमि= कथयामि, 'कङ्कणस्येत्यादि'। अत एव सर्वथा=येन केनाऽपि प्रकारेण, अविचा-रित=प्राक् सम्यग् अनालोचित कर्म=किमपि कार्यं न कर्तव्यमिति।

भा०—ऐसा विचार करते हुए उस यात्री को व्याघ्र ने मारकर खा डाला। इसलिये मैंने कङ्कण के लोभ का दृष्टान्त दिया। उसका सारांश यह है कि अपने को भी अविचारित काम नहीं करना चाहिए।

यत'—सुजीर्णमन्नं सुविचक्षण सुतः
सुशासिता स्त्री नृपति. सुसेवितः।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत् कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २२ ॥

अ०—सुजीर्णम् अन्नम्, सुविचक्षण सुत, सुशासिता स्त्री, सुसेवित नृपति, सुचि-न्त्य च उक्तम्, सुविचार्य यत् कृतम्, (तत्) सुदीर्घकालेऽपि विक्रियां न याति।

व्या०—सुष्ठु जीर्णं परिपाकमापन्नम्, अन्नं=भुक्तान्नम्, सुष्ठु विचक्षण = शिक्षित, सुत=तनय, सुष्ठु शासिता=वशं नीता, स्त्री=भार्या, सुष्ठु सेवित = आराधित, नृपति =राजा, सुचिन्त्य = सम्यक् पूर्वाऽपर विचिन्त्य = विविच्य, च

सुतं = कथितम्, सुविचार्य = सम्यक् परीक्ष्य यत्, कृतम् = अनुष्ठितम् । तत् सर्वं सुदीर्घकालेऽपि = सुदीर्घकालेऽपि चिरकाले व्यतीतेऽपि विक्रियां = विकारम्, अन्यथाभावम्, न याति = न प्राप्नोति । वंशस्थवृत्तम् ।

भा०—जैसे पचे हुए भोजन से कभी भी विकार नहीं होता है, सुशिक्षित पुत्र से दुःख नहीं होता है, पतिव्रता स्त्री अधर्म नहीं करती है, सेवित राजा हानिकारक नहीं होता है, विचारकर बोलने से क्लेश नहीं होता है, वैसे ही विचार करके काम करने से भविष्य में कभी भी दुःख नहीं होता है । (इसलिये विचार करके भोजन करने के लिये जाना चाहिये)॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित् कपोतः सदर्पमाह—आः ! किमेवमुच्यते ?—

व्या०—एतद्वचनम् = कपोतराजाभिहितं वचनम्, श्रुत्वा = आकर्ण्य कश्चित् कपोतः = अन्यतमः कपोतः, सदर्पम् = दर्पेण सहितं यथा स्यात्तथा, आह = अवोचत्—आः = अयमाश्चर्ये, एवं = विचारपूर्वकं भोजनम्, किमुच्यते = कथं कथ्यते ।

भा०—इस कपोत का वचन सुनकर कोई दूसरा कबूतर अहंकार के साथ बोल उठा—और ऐसा क्या कहते हो (इतनी सोचने का काम मत करो क्योंकि)—

वृद्धस्य वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।

सर्वत्रैवं विचारे च भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ॥ २३ ॥

अ०—आपत्काले उपस्थिते हि वृद्धस्य वचनं ग्राह्यम्, सर्वत्र एवं विचारे (सति) भोजनेऽपि प्रवर्तनं न स्यात् । व्या०—हि = यस्मात् आपत्काले = आपद्भयोपस्थितिसमये, उपस्थिते = प्राप्ते सति, वृद्धस्य = वयोवृद्धस्य ज्ञानवृद्धस्य च, वचनम् = उपदेशवाक्यम्, ग्राह्यम् = स्वीकार्यम्, न तु सर्वत्र, यतः सर्वत्र = सर्वस्मिन् कार्ये एवं विचारे = एवंविधविचारे कृते सति भोजनेऽपि = आहारेऽपि प्रवर्तनम् = प्रवृत्तिः न स्यात् ।

भा०—बड़ी-बड़ी आपत्तियों आने पर बूढ़ों के वचनों को मान कर कार्य करना चाहिये । सब कार्य में भी बूढ़ों के वचनों को मानने लगे, तो भोजन-जैसा साधारण कार्य की स्वतन्त्रता है न ही रहेगा । (इसलिये भोजन करने को जाना चाहिये) ॥ २३ ॥

यतः—शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले ।

प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ? ॥ २४ ॥

अ०—भूतले शङ्काभिः अन्नं पानं च सर्वम् आक्रान्तम्, कुत्र प्रवृत्तिः कर्तव्या, कथं नु वा जीवितव्यम् । व्या०—भूतले = पृथ्वीतले भूलोके अस्मिन् संसारे, शङ्काभिः = अनिष्टमस्ति न वा इति संशयैः, अन्नं = भोज्यम्, पानं = पेयं क्षीरनीरादिकम्, चेति सर्वम्, आक्रान्तं = व्याप्तम् । एवं सति कुत्र = कस्मिन् विषये प्रवृत्तिः =

प्रयत्नः, कर्तव्या, नु=(प्रश्ने) तर्हि पृच्छामि, (हे चित्रग्रीव !) कथं वा=केन प्रकारेण, जीवितव्यं=प्राणितव्यम् ? अतः सन्देहमात्रेण तण्डुलेच्छा न त्यक्तव्या ।

भा०—संसार में खान-पानादि सब पदार्थों में अनुकूल होने का सन्देह रहता ही है, शङ्कामात्र से प्रवृत्ति का निरोध करने से जीवन चलना भी दुर्गम होगा ॥ २४ ॥

तथा चोक्तम्—ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः ॥ २५ ॥

अ०—ईर्ष्यी घृणी तु असन्तुष्टः क्रोधनः नित्यशङ्कितः परभाग्योपजीवी च एते षट् दुःखभागिनः (भवन्ति)। व्या०—ईर्ष्या=पराऽभ्युदयाऽसहिष्णुता विद्यते अस्य इति ईर्ष्यी=परोत्कर्षाऽसहिष्णुः, घृणा विद्यते अस्य इति घृणी, सन्तोषरहितः, सतृष्ण इति यावत्। क्रोधनः=कोपनस्वभावः, कुपनशील इति यावत्। नित्यशङ्कितः=सर्वदा शङ्कायुक्तः, परस्य भाग्यं परभाग्यम्, परभाग्येन उपजीवतीति परभाग्योपजीवी=पराधीनजीवन इत्यर्थः। एते षट्=षट्संख्यकाः जनाः, दुःखं भजन्ते इति दुःखभागिनः=क्लेशभाजः भवन्ति।

भा०—ईर्ष्यादिक सब दुःख के कारण हैं, इस हेतु से ईर्ष्यावाला, घृणा (नफरत) करनेवाला, तृष्णावाला, क्रोधवाला, शङ्कावाला, पराधीन जीवनवाला मनुष्य दुःख को ही पाता है। (इससे निःशङ्क होकर चावल खाने को जाना चाहिये) ॥ २५ ॥

एतच्छ्रुत्वा तण्डुलकणलोभेन नभोमण्डलादवतीर्य सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

व्या०—एतद्=अव्यवहितपूर्वमुक्तं वचनम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, तण्डुलानां कणाः तण्डुलकणाः, तेषां लोभस्तेन, नभसः=गगनस्य मण्डलम् तस्मात्, अवतीर्य=अवरुह्य, सर्वे कपोताः=पारावताः, तत्र=जालाच्छादिते तण्डुलयुक्ते भूतले, उपविष्टाः=निषण्णाः।

भा०—पूर्वोक्त वचन सुन कर चावलकणों के लोभ से आकाश में से नीचे उतर कर सब कबूतर जाल पर बैठ गये।

यतः—सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।
छेत्तारः संशयानाञ्च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ २६ ॥

अ०—सुमहान्ति शास्त्राणि धारयन्तः बहुश्रुताः संशयानां च छेत्तारः अपि लोभमोहिताः क्लिश्यन्ते। व्या०—सुमहान्ति=महार्थप्रतिपादकानि अनेकानि, शास्त्राणि=वेदवेदाङ्गादीनि, धारयन्तः=पठन्तः, बहुश्रुताः=बहूनि श्रुतानि येषां ते, विपुलज्ञानसम्पन्नाः, अत एव च संशयानां=बहुविधसन्देहानाम्, छेत्तारः=निराकर्त्तारः पण्डिता अपि, लोभेन मोहिताः लोभमोहिताः=लोभपरवशाः सन्तः, क्लिश्यन्ते=क्लेशमापद्यन्ते।

भा०—वेद-शास्त्रों को पढ़े हुए और हर तरह के सन्देहों को दूर करने वाले पण्डित लोग भी लोभ से दुःख पाते हैं (तो शास्त्रों से कोरे इन पक्षियों को आपत्ति आने में क्या आश्चर्य ?) २६ ॥

अन्वय—लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

अ०—(यथावत् बोध्यः) । व्या०—लोभात् = धनाद्यर्जनस्पृहातः, क्रोधः = कोपः, प्रभवति = जायते एवमेव लोभात् कामः = विषयभोगवासना, प्रजायते एवमेव लोभात् मोहः = विचारवैमुख्यम् अविवेकित्वमिति यावत् नाशः = मृत्युः, च जायते अत एव लोभः पापस्य = सर्वविधपापस्य कारणं = मूलं भवतीति ।

भा०—लोभ से लोभनीय वस्तु का प्रतिरोध करने वाले पर क्रोध होता है और लोभ से ही स्त्रियों के वशे में रत रहने से कामवासना पैदा होती है और लोभ से ही तत्परता करने वाले को सत्य-असत्य का विचार भी नहीं सूझता इससे कभी प्राणहानि भी हो जाती है अतः लोभ ही सब पापों का कारण है ॥ २७ ॥

अन्वय—असम्भवं हेममृगस्य जन्म तथाऽपि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥२८॥

अ०—हेममृगस्य जन्म असम्भवं (भवति) तथाऽपि रामः मृगाय लुलुभे । समापन्नविपत्तिकाले पुंसां धियः अपि प्रायः मलिनाः भवन्ति । व्या०—हेम्नः = सुवर्णस्य मृगस्य = हरिणस्य जन्म = उद्भवः, असम्भवं = सम्भवरहितमेव तथाऽपि सुवर्णमृगो न भवतीति जानन्नपि, रामः = रामचन्द्रः शोभितोऽस्मिन् एव रामः दाशरथिः भगवान् मृगाय = सुवर्णमृगाय लुलुभे = लोभवशीभूतो बभूव । यतः समापन्ना प्राप्ता विपत्तिः समापन्नविपत्तिः = विपत्प्राप्तिकालः, तस्मिन् काले पुंसां = विदुषामपि मनुष्याणां धियः बुद्धयः अपि, प्रायः = बाहुल्येन मलिनाः = मोहितत्वात् कर्तव्याकर्तव्यविचारशून्याः भवन्ति ।

भा०—सुवर्ण का हरिण हो ही नहीं सकता है तो भी श्री रामचन्द्र भगवान् सुवर्णमृग में लुब्ध हो गये इस दृष्टान्त से निश्चय होता है कि विपत्ति आने के समय में बड़े पुरुषों की बुद्धि भी मलिन (विचारशून्य) हो जाती है (तो साधारणों की बुद्धि के लिये क्या कहना) ॥ २८ ॥

अनन्तरं ते सर्वे जालनिबद्धा बभूवुः, ततो यस्य वचनात् तत्रावलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

व्या०—अनन्तरम् अविलम्बमानत्वात् ते सर्वे = कपोताः जालेन निबद्धाः = संयताः बभूवुः । ततः = तदनन्तरम् यस्य = वृद्धकपोतस्य वचनात् = वाक्यश्रवणात् तत्र = तण्डुलकणादिस्थले अवलम्बिताः = अवतरणम्, तं = कपोतम् ते सर्वे कपोताः, तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

भा०—बैठने के बाद वे सब कबूतर जाल में बंध गये, तब जिस (कबूतर) के कहने से वे सब कबूतर, जालयुक्त भूतल में उतरे थे, उस (कबूतर) का तिरस्कार करने लगे।

यतः—न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम्।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥२९॥

अ०—(कश्चित्) गणस्य अग्रतः न गच्छेत्, कार्ये सिद्धे फलं समम् (भवति) यदि कार्यविपत्तिः स्यात्, तत्र (सर्वैः) मुखरः हन्यते। व्या०—गणस्य=समूहस्य, मण्डलस्येति यावत्। अग्रतः=अग्रे अग्रयायी भूत्वेत्यर्थः, न गच्छेत्=न प्रवर्त्तेत, यतः कार्ये=चिकीर्षिते कर्मणि, सिद्धे=निष्पन्ने सति तु, फलम्=इष्टलाभः, समम्=तुल्यम्, समांशं भवतीति। यदि चेत् कार्यविपत्तिः=कार्यस्य चिकीर्षितस्य विपत्तिः=अनिष्पत्तिः, स्यात्, तदा तत्र=तस्मिन् विषये, तेषु मध्ये वा, सर्वैः, मुखरः=मुखं-वाक् अस्ति आज्ञाप्रदत्वेन अस्य इति मुखरः=आज्ञाकारी प्रवर्त्तकः इत्यर्थः। हन्यते=तिरस्क्रियते इति।

भा०—किसी भी कार्य में समुदाय का नेता नहीं होना, क्योंकि कार्यसिद्धि होने पर सब समानफलभागी बनते हैं और कार्यसिद्धि नहीं होने से नेता को ही अपयश तथा तिरस्कार का पात्र (सब) बनाते हैं ॥ २९ ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच—नाऽयमस्य दोषः। यतः—

भा०—प्रवर्तक कबूतर के तिरस्कार को सुनकर चित्रग्रीव ने कहा—इस (प्रवर्तक कबूतर) का यह दोष नहीं। क्योंकि—

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम्।
मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥ ३० ॥

अ०—हितः अपि आपतन्तीनाम् आपदां हेतुताम् आयाति, हि मातृजङ्घा वत्सस्य बन्धने स्तम्भीभवति। व्या०—हितः अपि=यो हितकरः सोऽपि, आपतन्तीनाम्=आगच्छन्तीनाम्, अवश्यम्भाविनीनाम्, आपदां=विपदाम्, हेतुतां=निमित्तकारणताम्, आयाति=प्राप्नोति। हि यतः मातुः जङ्घा मातृजङ्घा=परमहितकारी अपि स्वजनन्या ऊरुप्रदेशः, वत्सस्य बन्धने=संयमने, स्तम्भीभवति=न स्तम्भः अस्तम्भः, अस्तम्भः स्तम्भो यथा सम्पद्यमानस्तथा भवति इति स्तम्भीभवति, बन्धनस्तम्भो भवतीति।

भा०—सदा हित करनेवाले जन भी अवश्य आनेवाली आपत्तियों में निमित्तभूत हो जाते हैं, क्योंकि गौ की जाँघ कभी (दोहन के समय) बछड़े का बन्धनस्तम्भरूप भी होती है। इसलिये यह कबूतर निर्दोष है ॥ ३० ॥

अन्यच्च—स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः।
न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः ॥ ३१ ॥

[illegible]

[illegible]

विपत्स्वपि विस्मय एव साधुपुरुषलक्षणम् तत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारोपायमन्वेषणम् । यथा—

[illegible]

[illegible]

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ६२ ॥

[illegible]

भा०—आपत्काल में धीरता रखना, समर्थ होने पर भी क्षमा रखना, स में चतुर होना, युद्ध में शूर वीर होना, कीर्त्ति में रुचि होना, शास्त्रों में महापुरुषों के ये सब स्वभाव जन्मसिद्ध होते हैं ॥ ३२ ॥

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

अ०—सम्पदि यस्य हर्षो न (भवति), विपदि विषादो न (भवति), रणे च भीरुत्व (न भवति), तं भुवनत्रयतिलक सुत (काचित्) जननी विरल जनयति । व्या०—सम्पदि = सम्पत्तौ सत्याम् , यस्य = यज्जनस्य, हर्षः = आनन्दातिशयः, न भवति, विपदि=विपत्तौ सत्याम्, विषादः=खेदः अनुत्साहः, न भवति, अथ च रणे= संग्रामे सति, भीरुत्व=भयशीलत्वम्, न भवति, तं=तादृशगुणयुक्तम्, अत एव भुवन-त्रयतिलकम्–भुवनानां=स्वर्गमर्त्यपातालानां त्रयं, तस्य तिलकः विशेषकः, तम्–त्रि-लोकश्रेष्ठमित्यर्थः। सुतं=पुत्रम्, काचित् जननी=माता, विरलं=स्तोकं यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तत् कदाचित् क्वचिदिति यावत् , जनयति=प्रसूते । आर्यावृत्तम् ।

भा०—सम्पत्ति का लाभ होने पर जिसको हर्ष नहीं है, विपत्ति आने पर जिसको शोक नहीं है और युद्ध के मौके पर जिसको कुछ भी भय नहीं है, ऐसे गुणोंसे युक्त त्रिलोकपूज्य पुत्र को कभी कोई माता जन्म देती है ॥ ३३ ॥

अन्यच्च—षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

अ०—इह भूतिमिच्छता पुरुषेण निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधः आलस्यं दीर्घसूत्रता (इति) षड् दोषा हातव्या । व्या०—इह=अस्मिन् संसारे, भूतिं=सम्पदम्–अभ्युदयम् इच्छता = वाञ्छता, पुरुषेण=जनेन, निद्रा=स्वापः, तन्द्रा=आलस्यम्, कार्याऽनुत्साहः, भयं=भीरुस्वभाव , क्रोधः = कोपनम् , आलस्यं=परिश्रमविधुरता, दीर्घं=चिरकालेन सूत्रम्=ईप्सितकार्यव्यवस्था यस्य स , तस्य भाव , चिरक्रियतेति अर्थः । इति षट्-संख्याका दोषा , हातव्या = सर्वथा त्यक्तव्या इति ।

भा०—इस संसार में अभ्युदयकी इच्छावाले लोग–'निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य, दीर्घसूत्रता'—इन छह दोषों का त्याग करें ॥ ३४ ॥

इदानीमपि एवं क्रियताम्—सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादाय उड्डीयताम् ।

भा०—अब भी ऐसा करो कि हम सब एकचित्त होकर जाल को लेकर उड़ चलें ।

यत —अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

अ ०—अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका (भवति यथा) गुणत्वमापन्नैः तृणैः मत्तदन्तिनो बध्यन्ते। व्या०—अल्पानामपि=निर्बलानां वस्तूनां बहूना मपि संहतिः=समुदायः मेलनम् अपरस्य साधिका कार्यसाधिका=महत्तरकार्यस्य सम्पादयित्री भवति। तत्र दृष्टान्तमाह—तृणैरिति। यथा गुणत्वं=रज्जुभावम् आपन्नैः=प्राप्तैः तृणैः=निर्बलैः तृणजातैः मत्ताः ते दन्तिनश्च मत्तदन्तिनः=मदयुक्ताः करिणः, बध्यन्ते=नियम्यन्ते।

भा०—जैसे बहुत तृणों को बनाई हुई रस्सी मदोन्मत्त हाथी को बाँधती है। वैसे ही निर्बल तथा छुद्र चीजें भी मिलकर बड़े कार्य को सिद्ध करती हैं॥ ३५॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः॥ ३६॥

अ०—पुंसाम् अल्पकैः अपि स्वकुलैः सह संहतिः श्रेयसी तुषेणापि परित्यक्ताः तण्डुलाः न प्ररोहन्ति। व्या०—पुंसां=मनुष्याणाम् अल्पकैः अपि=निर्बलैः स्वस्य कुलैः अपि स्वकुलैः=स्वस्य कुलोत्पन्नैः=जातिजनैः, सह संहतिः=मेलनम् एकता श्रेयसी=कल्याणकारी भवति। तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तमाह—तुषेणेति यथा तुषेण=छिलकेनापि तुषेण परित्यक्ताः=वियुक्ताः, तण्डुलाः, न प्ररोहन्ति=न अङ्कुरम् उत्पादयितुं समर्थाः भवन्ति इति।

भा०—मनुष्यों को अपने छोटे और निर्बल भी कुटुम्बियों से मेल रखना ही अच्छा है, क्योंकि चावल भी अपने छिलके से अलग होने पर अङ्कुर को पैदा नहीं कर सकता॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादाय उत्पतिताः। अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तान् अवलोक्य पश्चाद्धावितोऽचिन्तयत्—

श०—सर्वे=समस्ताः, पक्षिणः=कपोताः, इति=उक्तप्रकारेण विचिन्त्य=मनसि कृत्वा जालं=पाशम् आदाय=गृहीत्वा, उत्पतिताः। अनन्तरम्=तदनन्तरम् सः=पूर्वोक्तः, व्याधः, सुदूरात्=अतिदूरात् जालस्य अपहारकान् तान्=कपोतान् अवलोक्य पश्चात्=पृष्ठतः, धावितः सन् अचिन्तयत्।

भा०—ऐसी सलाह करके सब कबूतर जाल को लेकर उड़ गये, तब वह व्याध भी जाल लेकर जाते हुए कबूतरों को देखकर दूर तक पीछे-पीछे दौड़ता हुआ विचारने लगा—

संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा॥ ३७॥

अ०— एते विहङ्गमास्तु संहताः मम जालं हरन्ति तु यदा निपतिष्यन्ति तदा मे वशम् एष्यन्ति। व्या०—एते विहायसा आकाशेन गच्छन्तीति विहङ्गमाः=कपोतास्तु, संहताः=मिलिताः सन्तः, मम (व्याधस्य) जालं=पाशम् हरन्ति=नीत्वा

पलायन्ते, तु=किन्तु, यदा भूतले निपतिष्यन्ति=अवतरिष्यन्ति, तदा मे (व्याधस्य), वशाम्, एष्यन्ति=प्राप्स्यन्तीति।

भा०—ये सब कबूतर मिलकर मेरे जाल को ले जा रहे हैं, लेकिन जब पृथिवी पर उतरेंगे तब अवश्य मेरे हाथ आ जायेंगे ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः। अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—'स्वामिन्! किमिदानीं कर्तुमुचितम्?' चित्रग्रीव उवाच—

व्या०—ततः=अनन्तरम्, किन्तु इति यावत्, तेषु पक्षिषु=कपोतेषु, चक्षुषोर्विषयस्तम्=चक्षुर्ग्राह्यताम्, अतिक्रान्तेषु=अतीत्य गतेषु सत्सु, सः=धावन्, व्याधः निवृत्तः=जालाशामपि विहाय स्वस्थानं प्रति गतः। अथ=अनन्तरम्, ते कपोताः, लुब्धकं=व्याधम्, निवृत्तं दृष्ट्वा=प्रतिसृतमवलोक्य, ऊचुः=कपोतराजं पप्रच्छुः, स्वामिन्! (वृद्धसम्बोधने), इदानीम्=अस्मिन् समये, किं=कीदृशं व्यापारं, कर्तुम्=अनुष्ठातुम्, उचितं=योग्यं, तदा चित्रग्रीवः, उवाच=उक्तवान्।

भा०—लेकिन जब वे कबूतर अदृश्य हो गये, तब व्याध घर लौट गया। उसके बाद व्याध को लौटे हुए देखकर सब कबूतरों ने वृद्ध कबूतर से पूछा—स्वामिन्! अब क्या करना चाहिये? चित्रग्रीव ने जवाब दिया—

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम्।
कार्यकारणतश्चाऽन्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ ३८ ॥

अ०—माता मित्रं पिता च इति त्रितयं स्वभावाद् हितम् (भवति)। अन्ये च कार्यकारणतः हितबुद्धयः भवन्ति। व्या०—माता=स्वजननी, मित्रं=स्वाभाविकः सुहृद्, पिता=स्वजनकश्च, इति=एतत्, त्रितयं=त्र्यवयवम्, हितं=सर्वदा स्वभावत एव हितकरं भवति। अन्ये=एभ्यस्त्रिभ्य इतरे तु, कार्यं च कारणं च ताभ्याम्, केचित् कार्यवशात्, केचिच्च कारणवशात्, हितबुद्धयः=हिता बुद्धिर्येषां ते हितकरा भवन्ति इति।

भा०—माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभाव से ही हित करने वाले होते हैं और दूसरे तो कार्य कारण रूपी स्वार्थ के लिए हितकारी बन जाते हैं ॥ ३८ ॥

तन्मे मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः, हिरण्यकश्च सर्वदा अपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति।

व्या०—तत्=तस्मात्, मित्रस्य सदा हितकरत्वात्, मे मित्रं=मम गाढसुहृत्

'हिरण्यक' इति नाम्ना प्रसिद्धः, मूषिकाणां राजा इति मूषिकराजः 'गण्डकी' नाम नद्यास्तीरे वसितः, विवरे च तद् वने च अविरमम्, निवसतिनिर्माणं करोति। स हिरण्यकः अस्माकं = सर्वेषां कपोतानाम् पाशच्छेदनम् केऽस्यति(?) निकृन्तो विदारयिष्यति इति = इत्येवम् आलोच्य = विचार्य सर्वे कपोताः, हिरण्यकस्य विवरं = बिलम् तस्य समीपं = निकटम्, गताः। हिरण्यकः, सर्वदा = अनवरतम् अपायस्य = नाशस्य विनाशस्य भयमस्त्वीति भावय शङ्कया तथा शतद्वारे = शतं द्वाराणि निर्गमप्रवेशमार्गा यस्य तत् तादृशम्, विवरं = बिलं मूषिकाण्वर्गेण(?), कृत्वा निवसति = निर्भयः सन् वसति।

भा०—इसलिए मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहों का राजा गण्डकी नदी के किनारे चित्रवन में रहता है, वह हम लोगों के बन्धनों को काटेगा। ऐसा विचार करके सब कबूतर हिरण्यक के निवासस्थान (बिल) पर गये। हिरण्यक भी सदा विपत्ति की शङ्का से सैकड़ों द्वार का बिल बनाकर रहता है।

ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः। चित्रग्रीव उवाच—'सखे हिरण्यक! कथमस्मान्न सम्भाषसे'। ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्—आः! पुण्यवानस्मि प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः—

व्या०—तदा विवरं प्रति गमनानन्तरम् हिरण्यकनामा मूषिकराजः कपोतानाम् अवपातः = वेगात् पतनम् अवरोहणं, तस्मात् यद् भयं तस्मात् चकितः सम्भ्रान्तः सम्त्रस्तः सन् तूष्णीं = मौनम्, स्थितः = तस्थौ। ततः चित्रग्रीवाख्यः कपोतराजः, उवाच = उक्तवान्, सखे = मित्र! हिरण्यक! कथं = केन हेतुना अस्मान् कपोतान् न सम्भाषसे = न सम्भाषयसि। ततः = चित्रग्रीवोक्तिश्रवणानन्तरम् हिरण्यकनामा मूषिकराजः, तस्य चित्रग्रीवस्य वचनं शब्दं, प्रत्यभिज्ञाय = ज्ञात्वा परिचित्य ससम्भ्रमं—सम्भ्रमेण = आवेगेन साहसेन सहितं यथा स्यात् तथा, विवरात् बहिर्निःसृत्य निःसृत्य अब्रवीत् = अवदत् आः (आश्चर्येऽव्ययम्) पुण्यवान् = पुण्यसहितः अहम् पुण्यात्मा अस्मि = भवामि, यत् मे मम प्रियसुहृत् चित्रग्रीवनामा कपोतराजः इति प्रियः सुहृत् प्रियसुहृत्, प्रियसुहृत् अतिप्रियः सुहृत् इति प्रियसुहृत्पदमपर्यायः, तथा चित्रग्रीवः समायातः = आगतः।

भा०—जब कबूतरों के आने के बाद कबूतरों के आने की आवाज से घबड़ाकर वह हिरण्यक चुपचाप ही रहा, तब चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक! हमसे क्यों नहीं बोलते हो? हिरण्यक अपने मित्र के उस वचन को पहचान कर बड़े आनन्द उत्साह के साथ बाहर आया और बोला—ओहो! मेरा पुण्योदय हुआ क्योंकि आज मेरे प्रिय मित्र चित्रग्रीव आये हैं।

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥ ३९ ॥

अ०—यस्य मित्रेण सम्भाष, यस्य मित्रेण संस्थिति', यस्य मित्रेण सलाप, (भवति) इह तत. पुण्यवान् नास्ति। व्या०—यस्य = जनस्य, मित्रेण = सुहृदा सह, सम्भाषः=सम्यग् वार्तालाप भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह, सस्थिति.= एकत्र वास भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह संलापः=परस्पररहस्यविचारादिक च भवति, इह = अस्मिन् ससारे, तत = तस्माज्जनात्, पुण्यवान् = पुण्यशाली, अन्य कश्चिदपि नास्तीति।

भा०—जिसका मित्र के साथ सम्भाषण होता हैं, जिसका मित्र के साथ रहना होता है, तथा जिसका मित्र के साथ रहस्य विचार होता है, उस पुरुष के समान पुण्यशाली दूसरा कोई नहीं है॥ ३९॥

अथ पाशबद्धांश्चैतान् दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वा उवाच—सखे! किमेतत्? चित्रग्रीव उवाच—'सखे! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत्'।

व्या०—अथ = बहिर्निःसरणानन्तरम्, एतान् = कपोतान्, पाशबद्धान् = पाशेन बद्धास्तान्, दृष्ट्वा, सविस्मय = विस्मयेन आश्चर्येण सहित सन्, क्षण=क्षणमात्रम्, स्थित्वा=स्तब्धत्वेनाऽवस्थाय, (स हिरण्यक) उवाच=उक्तवान्, सखे! = मित्र! चित्रग्रीव! एतत् पाशबन्धनम्, किं = किं किमित्त जातम्? चित्रग्रीव उवाच = प्रत्युक्तवान्—सखे! = मित्र हिरण्यक! एतत् अस्माक = सर्वेषां कपोतानाम्, प्राग्भवं प्राक्तनम्, प्राक्तन च तज्जन्म, प्राक्तनजन्म, तस्मिन् कृत कर्म तस्य, पूर्वभवकृताऽनिष्टस्येत्यर्थ. फल = परिणाम अस्तीति।

भा०—बाहर आने के बाद जाल से बँधे हुए सब कबूतरों को देखकर आश्चर्य के साथ क्षणमात्र स्तब्ध हो के हिरण्यक बोला—मित्र चित्रग्रीव! यह बन्धन कैसे हुआ? चित्रग्रीव ने कहा—मित्र हिरण्यक! यह बन्धन हमारे पूर्वजन्मकृत पापों के फलस्वरूप उपस्थित हुआ है।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४० ॥

अ०—यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाऽशुभम् आत्मकर्म (भवति) विधातृवशात् तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तावच्च तत्र च तच्च उपैति। व्या०—यस्मात् = यत्कारणाच्च, येन = करणेन च, यथा = येन

प्रकारेण च, यदा = यस्मिन् काले च वयः = वार्द्धक्ये च यावत् = यत्परिमाणं च यत्र च = यस्मिन् स्थले च शुभम् अशुभं च शुभाशुभं = पुण्यं पापं च आत्मकर्म = आत्मना स्वस्य कर्म कर्तव्यं भवति। विधातृवशात् = विधाता यथा तस्मात् विधातृवशात्, तस्मादेव कारणात् तेन च प्रकारेण तथा च = तेन च प्रकारेण, तदा च = तस्मिन् काले, तावत् परिमाणं च, तत्र च स्थले तत् = तादृशं शुभाशुभं कर्म, उपैति = उपस्थितं भवति।

भा०—जिस कारण से जिस करण से जिस प्रकार से जिस काल में जैसा, जितना थोड़ा-बड़ा जहाँ जहाँ जो-जो शुभ या अशुभ कर्म जब भोगना किया होता है भाग्यवश से उस कारण से उस करण से, उसी प्रकार से उसी समय में वैसा ही थोड़ा या बड़ा उसी स्थल में वह शुभाशुभ कर्म उपस्थित हो ही के उपस्थित हो जाता है॥५०॥

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम्॥ ५१॥

अ०—रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि एतानि च देहिनाम् आत्मापराधवृक्षाणां फलानि (भवन्ति)। व्या०—रोगा = शारीरव्याधिः शोकः = मानसिकचिन्ता च परीतापः = आपत्तिजा वेदना च बन्धनं = कारादिनिबन्धनं च व्यसनं = कामक्रोधोदिभोगादयो वा, इति रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि (इत्येतद्द्वन्द्व—'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति एकवद्भावः) एतानि = एतान्युपरोक्तानि देहिनां = शरीरिणाम् आत्मापराधवृक्षाणाम् = आत्मनां स्वेषाम् अपराधाः दुष्कर्माणि ते एव वृक्षास्तरवस्तेषाम् फलानि = परिणामाः सन्तीति।

भा०—रोग, शोक, वेदना, बन्धन, व्यसन आदि आपत्तियाँ जो शरीरधारियों को होती हैं वे उन अपने किये हुए कर्म रूप वृक्ष के फल हैं॥५१॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकः (स मूषिकः) चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति तच्च चित्रग्रीव उवाच— मित्र! मा मैवं कुरु (किन्तु) प्रथममस्मदाश्रितानामेतेषां तावत् पाशांश्छिन्धि मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि। हिरण्यकोऽप्याह— अहमल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः, तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थो भवामि? तद् यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत् तव पाशं छिनद्मि। तदनन्तरमप्येतेषां बन्धनं यावत् शक्यं छेत्स्यामि। चित्रग्रीव उवाच—'अस्त्वेवं तथाऽपि यथाशक्ति बन्धनमेतेषां खण्डय। हिरण्यकेन उक्तम्— आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिवेदिनां सम्मतम्।

भा०—इसके उपरान्त सुनकर उस हिरण्यक नामक चूहे, चित्र-

ग्रीवस्य = कपोतराजस्य, बन्धनं = पाशनियन्त्रणम्, छेत्तु = विदारयितुम्, सत्वरं = द्रुतम्, उपसर्पति = चित्रग्रीवस्य समीपे गच्छति, तत्र = तस्मिन् समये, चित्रग्रीवः = कपोतराज, उवाच = उक्तवान्, मित्र ! = सुहृद् ! हिरण्यक ! मा मा = न हि न हि, एव = प्रथम मम बन्धनच्छेदनप्रयासम्, कुरु = विधेहि, किन्तु प्रथम = पूर्वम्, अस्मान् आश्रिता अस्मदाश्रितास्तेषाम् = अस्मदूरक्षयाणाम् एतेषां कपोतानाम्, तावत् = साकल्येन, पाशान् = बन्धनानि, छिन्धि त्वं विदारय, पश्चात् = अनन्तरम्, मम (चित्रग्रीवस्य) बन्धन = पाशम्, छेत्स्यसि = विदारयिष्यसि, हिरण्यकनामा मूषिकराजा, अपि, आह — ब्रवीति, अहम् अल्पशक्तिः = अल्पा लघ्वी शक्तिः सामर्थ्यं यस्य यस्य स, स्वल्पबलवान् भवामीति । किञ्च मे (हिरण्यकस्य) दन्ताः = दशना, कोमला, जर्जरिताश्च भवन्तीति तत् = तस्माद्धेतो, एतेषां = सर्वेषां कपोतानाम्, पाशान् = बन्धनानि, छेत्तु = विदारयितुम् कथ = केन प्रकारेण, समर्थः = क्षमः भवामि, तत् = तस्माद् असमर्थत्वाद्धेतोः, मे = मम, दन्ताः = दशना, यावत् = यावत्समय, न त्रुटयन्ति = भग्ना न भवन्ति, तावत् = तदवधिकालम्, तव (ते चित्रग्रीवस्य) पाशं = बन्धनम्, छिनद्मि = अहं खण्डयामि, तदनन्तरं = ते बन्धनच्छेदनात् परम्, एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धनमपि यावत् शक्यम् = यावता यत्नेन छेत्तु शक्यते तावत्, छेत्स्यामि = खण्डयिष्यामि, (एतच्छ्रुत्वा) चित्रग्रीव = कपोतराज, उवाच — एवम् अस्तु = यत् तवाऽभिमत तदेव भवतु, तथाऽपि पूर्वम् एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धन यथाशक्ति — शक्तिम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथाशक्ति = यावच्छक्य तावत्, खण्डय = त्वं विदारय, ततो हिरण्यकेन मूषिकराजेन उक्तम् — आत्मन = स्वस्य परित्यागः = हतिः तेन = स्वविनिमयेनेत्यर्थः । आश्रितानाम् = अनुजीविनाम्, यत् परिरक्षण = परित्राणम्, तत् नीतिवेदिनाम् — नीतिं विदन्ति इति नीतिवेदिनस्तेषां = नीतिज्ञानाम्, न सम्मतम् ।

भा० — यह सुनकर हिरण्यक नाम का चूहा चित्रग्रीव नामक कपोतराज के बन्धन को काटने के लिये शीघ्रता से जाता है । इतने में चित्रग्रीव ने कहा — मित्र ! ऐसा मत करो । प्रथम हमारे आश्रित इन सब कबूतरों के बन्धन काटो, पीछे मेरा बन्धन काटना, तब हिरण्यक ने कहा — मैं अल्पशक्ति वाला हूँ — और मेरे दांत निर्बल हैं, इसलिये इन सब के बन्धनों को कैसे काट सकूँगा, तो भी जब तब मेरे दांत नहीं टूटेंगे तब तक तुम्हारे (चित्रग्रीव के) बन्धन को काट डालू, उसके बाद सबके बन्धनों को जहाँ तक बन सकेगा काटूँगा । तब चित्रग्रीव ने कहा — अच्छा वैसा ही सही, तो भी जहाँ तक बन सके, इन सबके बन्धनों को पहले काटो । तब हिरण्यक ने कहा — अपने को छोड़कर आश्रितों का रक्षण करना यह नीतिज्ञों का सम्मत नहीं है ।

यतः — आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ ४२ ॥

अ०—आपदर्थं धनं रक्षेत् धनैरपि दारान् रक्षेत्। दारैरपि धनैरपि आत्मानं सततं रक्षेत्।

व्या०—आपदां=दुर्भिक्षादिविपदाम् अर्थः=निवारणं तस्मिन् आपत्तिपरिहारार्थमित्यर्थः। धनं=रूप्यसुवर्णादिकम् रक्षेत्=संगृह्य कोषे स्थापयेत् धनैरपि=रूप्यसुवर्णादिभिरपि सर्वस्वविनिमयेनाप्यपीति यावत्। दारान्=निजां स्त्रियम् रक्षेत्=पालयेत् दारैरपि धनैरपि च=दारधनादिविनिमयेन च आत्मानं=स्वम् सततं=निरन्तरम् रक्षेत्=पालयेदिति।

भा०—दुर्भिक्ष आदि आपत्तियों दूर करने के लिये धन का संग्रह करना और धनको भी छोड़ कर विपत्ति में स्त्री हुई को की रक्षा करना और धन तथा स्त्री दोनों को छोड़ कर भी आपत्तिग्रस्त अपनी (आत्मा की) रक्षा करनी चाहिये ॥ ५० ॥

अन्वय—धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तान् निघ्नता किम् न हतं ? रक्षता किं न रक्षितम् ॥ ५१ ॥

अ०—प्राणाः धर्मार्थकाममोक्षाणां संस्थितिहेतवः (भवन्ति) तान् निघ्नता किं न हतम् (भवति) रक्षता (च) किं न रक्षितं (भवति)। व्या०—प्राणाः=असवः, स्वजीवनमिति यावत्। धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्च तेषां चतुर्णां पुरुषार्थानामित्यर्थः। संस्थितिहेतवः—संस्थितेः=संरक्षणस्य हेतवः=कारणानि भवन्ति। तान्=प्राणान् निघ्नता=विनाशयता जनेन किमपि वस्तु न हतं=न विनाशितं भवति ? तान् प्राणान् रक्षता=गोपायता च जनेन किं वस्तु न रक्षितम् ? अर्थात् सर्वमेव रक्षितमिति।

भा०—प्राण ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के कारण हैं इसलिये प्राण के नाश करने वालों ने क्या नाश नहीं किया ? अर्थात् सब कुछ नाश किया और प्राण (जीवन) का रक्षण करने वालों ने किस चीज का रक्षण नहीं किया ? अर्थात् सबका रक्षण किया है ॥ ५१ ॥

चित्रग्रीव उवाच—सखे ! नीतिस्तावत् ईदृश्येव किन्त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थस्तेनेदं ब्रवीमि।

व्या०—चित्रग्रीवनामा कपोतराजः, उवाच=अकथयत् सखे=मित्र ! हिरण्यक ! (तावत् वाक्यालङ्कारे) नीतिः, ईदृशी=एवमिव दृश्यते इति ईदृशी, भवता यादृशी कथ्यते तथाविधिरूपेण आश्रितरक्षणम् अन्याय्यमित्येतादृशी, एवमस्तु विजयार्थकम्, किन्तु परन्तु, अहम्, अस्माकम् आश्रितास्तेषामस्मदीयानां कपोतानाम् दुःखं सोढुम् सर्वथा=सर्वप्रकारेण असमर्थः=अक्षमो ऽस्मि, तेन हेतुना, इदम्= 'मत्प्राणाश्रितानां बन्धनं तावत् छिन्धि' इति वचनम्, ब्रवीमि=कथयामि।

भा०—चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक ! नीति तो तुमने कही वैसी ही है, लेकिन क्या करूँ, अपने अनुजीवियों के कष्ट को सहन करने के लिये मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, इस लिये ऐसा बोल रहा हूँ ।

यतः—धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ४४ ॥

अ०—प्राज्ञः परार्थे एव धनानि जीवितञ्च उत्सृजेत्, विनाशे नियते सति सन्निमित्ते त्यागः वरम् । व्या०—प्राज्ञः =प्रज्ञ एव प्राज्ञः बुद्धिमान् जनः, परार्थे=परेषाम् अर्थः प्रयोजनं तस्मिन्, परकार्यसिद्धयर्थम्, धनानि=रूप्यकादीनि, जीवितञ्च= आत्मप्राणांश्च, उत्सृजेत्=त्यजेत् । कुतः ? इत्याह-विनाशे=धनस्य विनाशे, जीवितस्य च मरणे, नियते सति=निश्चिते सति, सन्निमित्ते-सत्=शोभनम्, उत्तमं निमित्तं-कारणं परोपकाररूपं तस्मिन्, सत्कार्यसिद्धावित्यर्थः । त्यागः=धनजीवितयोर्विसर्जनम्, वरम्=ईषत्प्रियं भवतीति ।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य परोपकारमें ही अपने धन तथा जीवन का उपयोग करें, क्योंकि धन तथा जीवनका नाश कभी न कभी जरूर होगा, इससे सत्कार्यमें लगाना अच्छा है ॥४४॥

अयमपरश्चाऽसाधारणो हेतुः—

व्या०—अयः=वक्ष्यमाणप्रकारः, अपरः=द्वितीयोऽपि, असाधारणः=न साधारणः असाधारणः-मुख्यः, हेतुः=कारणं भवतीति—

भा०—यह भी एक दूसरा मुख्य कारण है—

जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यमेषां मया सह ।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद् भविष्यति ॥ ४५ ॥

अ०—मया सह एषां जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यम्, (भवति) तद् ब्रूहि, मत्प्रभुत्वफलं किं कदा भविष्यति ? व्या०—मया=चित्रग्रीवेण, सह, एषाम्=एतेषां सर्वेषां कपोतानाम्, जातिः=कपोतत्वम्, द्रव्यं=पक्षचञ्च्वादिसम्पत्, बलं=शक्तिः सामर्थ्यं, तेषाम्, चकारेण सहवासादीनां सङ्ग्रहः । साम्यम्=एकरूपता अस्ति । तत्= तर्हि एवं सति, ब्रूहि=कथय, मम प्रभुत्वं मत्प्रभुत्वं तस्य फलं=मम आधिपत्यस्य कर्तव्यफलम्, किं=किंरूपम्, कदा=कस्मिन् समये, भविष्यति, नैव भविष्यतीति ।

भा०—मेरे साथ इन सब के जाति, सम्पत्, बल ये सब बराबर हैं, मेरे में इन सबका आधिपत्य ही अधिक है । अब कहिये अगर मैं इनका इस वक्त रक्षण न करूँ, तो दूसरा आधिपत्य का कौन सा फल होगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—विना वर्त्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम् ।
तन्मे प्राणव्ययेनाऽपि जीवयैतान् ममाश्रितान् ॥ ४६ ॥

अ०—एते कपोताः विना ममाऽऽश्रितो नैव त्यजन्ति तत् मे प्राणव्ययेनापि एतान् ममाश्रितान् जीवय। व्या०—एते=इमे सर्वे कपोताः, वर्तन्ते=सन्ति, विना=अन्ते मम अश्रितत्वं=आश्रितिम, नैव त्यजन्ति=मुञ्चन्ति, तत्=तस्मात् हेतोः मे=मम प्राणानां व्ययेन=विनिमयत्वेन अपि एतान् मम आश्रितान्=मदनुजीविनः सेवारतान् कपोतान् जीवय=रक्ष प्रथमं रक्ष।

भा०—ये सब कबूतर केवल नहीं मेरे, तो भी मेरा साथ नहीं छोड़ते हैं इसलिये मेरे जीवन के बदले में जो मेरे आश्रित इन सब की रक्षा करो ॥ ५६ ॥

मित्र—मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिपूरितेऽत्र कलेवरे।
विनश्वरे विहायाऽऽस्थां यशः पालय मित्र मे ॥ ५७ ॥

अ०—मित्र! मांसमूत्रपुरीषास्थिपूरिते विनश्वरे अत्र कलेवरे आस्थां विहाय मे यशः पालय। व्या०—हे मित्र!=हे सखे!, मांसं च=पिशितम्-मूत्रं च पुरीषं च अस्थि च तैः पूरिते पूर्णे भरिते विनश्वरे=नाशशीले, अत्र=अस्मिन् कलेवरे=देहे आस्थां=ममताम् आदरम्, विहाय=परित्यज्य मे=मम यशः=[illegible] कीर्तिम्, पालय=रक्ष। मांसमूत्रपुरीषास्थिभिः पूरिते इति-वाक्यम्।

भा०—हे मित्र! मांस मूत्र मल हड्डियों इन सबसे भरे हुए इस नाशवान् शरीर में ममता न। त्याग कर मेरे [illegible] यश की रक्षा करो ॥ ५७ ॥

अपरञ्च पश्य—यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना।
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम् ॥ ५८ ॥

अ०—यदि अनित्येन मलवाहिना कायेन नित्यं निर्मलं यशः लभ्येत नु तत् किं लब्धं न भवेत्? व्या०—यदि=चेत्, न नित्यम् अनित्यं तेन=विनाशिना मलमपि वहतीति मलवाही, तेन=मूत्रपुरीषादिपूर्णेन मलवता, कायेन=शरीरेण नित्यम्=अविनाशि ध्रुवम् निर्मलं=विशदम् यशः=कीर्तिः, लभ्येत=प्राप्येत नु पृच्छायां वितर्के वा इत्यमरः। नु=भोः मित्र! तत्=तर्हि किं वस्तु न लब्धं भवेत्—कः पदार्थो न प्राप्तः, अर्थात् सर्वोऽपि प्राप्त इति।

भा०—अगर अनित्य तथा मलवाही अशुद्ध शरीर से नित्य और विशुद्ध यश मिले, तो क्या नहीं मिला अर्थात् सब कुछ मिला ॥ ५८ ॥

अन्यच्च—शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ॥ ५९ ॥

—शरीरस्य गुणानाञ्च अत्यन्तम् अन्तरं दूरं (भवति), शरीरं क्षणविध्वंसि (भवति), गुणाः कल्पान्तस्थायिनः (भवन्ति)। व्या०—शरीरस्य=देहस्य गुणानां च [illegible] अन्तरं=भेदः विभिन्नता, अत्यन्तम्=अति-शयेन दूरम्=अधिकम् महत्त्वपूर्णमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—शरीरमिति। शरीरं=काय-

क्षणविध्वंसि=क्षणेन अकस्माद् विध्वसते नश्यति, क्षणभङ्गुरमित्यर्थः। धर्मादयो गुणास्तु कल्पान्तस्थायिन =कल्पस्य महाप्रलयस्य अन्त' शेषस्तं यावत् तिष्ठन्ति इति कल्पान्तस्थायिन , महाप्रलयपर्यन्तं स्थितिमन्त इत्यर्थः।

भा०—शरीर और गुणों में महान् विभेद है, क्योंकि शरीर तो अकस्मात् क्षणमात्र में नष्ट होने योग्य है और धर्मादि गुण तो महाकल्पपर्यन्त स्थिर रहनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकित सन् अब्रवीत्—'साधु मित्र ! साधु, अनेनाऽऽश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्याऽपि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते'। एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां कपोतानां बन्धनानि छिन्नानि। ततो हिरण्यक सर्वान् सादरं सम्पूज्य आह—सखे चित्रग्रीव ! सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ सति दोषमाशङ्क्य आत्मनि अवज्ञा न कर्तव्या।

व्या०— हिरण्यक , इति=चित्रग्रीवस्य इत्येवं वचनम् , आकर्ण्य, प्रहृष्टमना = प्रहृष्टं सन्तुष्टं मनो यस्य स तादृश , अत एव च पुलकित=पुलका रोमाञ्चा सञ्जाता अस्येति पुलकितः रोमाञ्चगात्र सन् , अब्रवीत् , हे मित्र ! साधु साधु = त्वया शोभनमुच्यते, अनेन आश्रितवात्सल्येन = आश्रितेषु वात्सल्य स्नेहाऽतिशयस्तेन, त्रैलोक्यस्याऽपि = त्रयाणां लोकानां समाहार , त्रिलोकी, (समाहारद्विगु' ईप् च) त्रिलोकी एव त्रैलोक्य तस्य अपि, प्रभुत्व=स्वामित्वम् , त्वयि=भवति, युज्यते=युक्तं भवति, तेन=हिरण्यकेन, एवमुक्त्वा=इत्येवप्रशसावाक्यमभिधाय, सर्वेषां कपोतानां, बन्धनानि=पाशा , छिन्नानि=विदारितानि, ततो हिरण्यकः सर्वान्=अशेषान् कपोतान्, सादरम् = आदरेण सहित यथा स्यात् तथा, सम्पूज्य = सम्यक् पूजयित्वा, आह = उक्तवान् , सखे ! चित्रग्रीव ! अत्र = एतस्मिन् , जालबन्धनविधौ सति = जालेन बन्धनं तस्य विधि भवनम्, तस्मिन् सति, दोष=स्वस्य अविमृश्यकारितारूपमपराधम्, आशङ्क्य = विचिन्त्य, आत्मनि=स्वस्मिन् , अवज्ञा=स्वस्याऽनादरः, न कर्तव्या त्वया इति।

भा०—चित्रग्रीव का वचन सुनकर हिरण्यक आनन्दित और पुलकित होकर बोला—हे मित्र चित्रग्रीव ! तुमने ठीक कहा, आश्रितों पर इस प्रकार के वात्सल्य से तुम्हारे में त्रिलोकी के प्रभुत्व की योग्यता है, ऐसा कहकर उस हिरण्यक ने सब कबूतरों के बन्धनों को काट डाला। उसके बाद हिरण्यक आदरपूर्वक सब कबूतरों की पूजा करके बोला—मित्र चित्रग्रीव ! इस जाल के बन्धन में अपने अविचार्यकारितारूप अपराध को मानकर आत्मा के प्रति तिरस्कारबुद्धि नहीं करना।

यत'—योऽधिकाद् योजनशतात् पश्यतीहामिषं खग।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ५० ॥

अ०—इह य खग योजनशतात् अधिकाद् आमिषं पश्यति, स एव प्राप्तकालस्तु

पाशबन्धं न पश्यति। व्या०—दूरात्=अमिषम् (?) कोऽपि, वा बाधा—यो=बाचाली पक्षीति इति पक्षः=श्येनपक्षी योजनशतात्=योजनानां शतं तस्मात्, अतिदूरात्=अतिदूरात्, शताधिकयोजनमपि दूरे स्थितमपि इत्यर्थः। आमिषं=मांसं मांसादिकम्, पश्यति=अवलोकयति, किन्तु स एव श्येनः, प्राप्तकालस्तु=प्राप्तः प्रत्यासन्नः कालः (मृत्युः) यस्यासौ यस्य सः तादृशः सन् तु=पुनः, पाशबन्धं बन्धनरूपं=व्याधादिस्तीर्णपाशम् न पश्यति=नावलोकयतीति।

भा०—एक समय में श्येन (बाज) पक्षी सौ योजन दूर भी दूरी से भी माँस मांसादि को देखता है किन्तु जब उसकी मृत्यु निकट आती है तब वह सामने स्थित पाश को भी नहीं देख सकता॥ ५० ॥

अन्वय—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥

अ०—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनं च मतिमतां दरिद्रतां विलोक्य मे मतिः (भवति) अहो! विधिः बलवान् इति।

व्या०—शशी चन्द्रमा, दिवाकरः सूर्यः तयोः ग्रहपीडनम् ग्रहेण राहुणा पीडनम् च। गजभुजङ्गमयोः=गजः हस्ती भुजङ्गः=सर्पः तयोरपि=बलेन बहुमानितयोः समर्थयोरपि तयोः बन्धनं=शृङ्खलैः मन्त्रादिभिः च संयमनम्। मतिमतां—मतिः=प्रशस्तबुद्धिर्येषां तेषाम् पण्डितानामिति मतिमन्तस्तेषां=बुद्धिमतां। दरिद्रस्य भावः दरिद्रता ताम्=धनहीनताम् च विलोक्य=दृष्ट्वा निरीक्ष्य मे=मम, मतिः=बुद्धिः, अहो!=आश्चर्ये विधिः=दैवम् बलवान्=अत्यन्तं सर्वनियामकम् इति=इत्याकारिका भवति। द्रुतविलम्बितवृत्तम्।

भा०—चन्द्र तथा सूर्य की भी ग्रह (राहु) का पीड़ा देखकर हाथी तथा साँप के बन्धन तथा बन्धों से बन्धन देखकर और विद्वान् होने पर भी दरिद्रता देखकर—मुझे निश्चय होता है कि—सबका कारण (भाग्य) बलवान् है॥ ५१॥

अन्वय—व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि।
दुर्नीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि॥ ५२॥

अ०—व्योमैकान्तविहारिणः अपि विहगाः आपदं सम्प्राप्नुवन्ति निपुणैः अगाधसलिलात् समुद्रात् अपि मत्स्याः बध्यन्ते। इह किं दुर्नीतम् अस्ति? किं सुचरितम्? स्थानलाभे कः गुणः (अस्ति)? हि व्यसनप्रसारितकरः कालः दूरादपि गृह्णाति। व्या०—व्योम्नि=आकाशे एकान्तेन एकाकी विहरणशीलाः

विहरन्ति इति व्योमैकान्तविहारिणः=गगनगामिन इत्यर्थः। तादृशा अपि विहगाः=पक्षिण, आपदं=विपत्तिपाशबन्धनादिरूपाम्, सम्प्राप्नुवन्ति=अधिगच्छन्ति। निपुणैः=मत्स्यबन्धनिष्णातैः, अगाधसलिलात्—अगाधानि=अतलस्पर्शानि सलिलानि=जलानि यस्मिन् सः तस्मात्=तादृशादपि समुद्रात्=पारावारात्, मत्स्याः=मीना, बध्यन्ते=ध्रियन्ते। इह=अत्र संसारे, किं दुर्नीतं=किं दुश्चरितम् अस्ति, (किं प्रश्ने)। किं च सुचरितं=सुनीतिः अस्ति? स्थानलाभे=स्थानस्य निष्पापप्रदेशस्य लाभः प्राप्तिः तस्मिन् सति, वा क गुणः अस्ति? हि=यस्मात्, व्यसनप्रसारितकर—व्यसने विपदि प्रसारितौ विस्तारितौ करौ हस्तौ येन स तादृशः, कालः=मृत्युः, दूरादपि, गृह्णाति=स्वग्रासतां प्रापयति।

भा०—केवल आकाश में विहार करने वाले निरपराध पक्षी भी आपत्तियों को पाते हैं, धीवर लोग अगाध समुद्र से भी निरपराध मत्स्यों को पकड़ लेते हैं, तो फिर इस जगत् में क्या सुनीति और क्या दुर्नीति! दोनों में कुछ भेद मालूम नहीं पड़ता और उत्तमस्थान मिलने पर भी क्या लाभ है? क्योंकि काल (मृत्यु) विपत्ति रूप हाथों को फैलाकर दूर से ही सबको पकड़ लेता है॥ ५२॥

इति प्रबोध्य आतिथ्यं कृत्वा आलिङ्ग्य च तेन संप्रेषितश्चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ, हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः।

व्या०—इति=इत्थम्, तेन हिरण्यकेन, प्रबोध्य=आश्वासनं विधाय, आतिथ्य=न तिष्ठति भोजनादिकम् एकस्थले इति अतिथिः, तस्य सेवा आतिथ्यम्, कृत्वा=विधाय, आलिङ्ग्य=आश्लिष्य, सम्प्रेषितः=विसृष्टः, चित्रग्रीवनामा कपोताऽधिपः, परिवारेण सहितः सपरिवारः, यथेष्टदेशान्=स्वाभिमतप्रदेशान् प्रति, ययौ=जगाम, हिरण्यकनामा मूषिकराजोऽपि स्वस्य विवरं स्वविवरम्, प्रविष्टः।

भा०—हिरण्यक ने ऐसी सान्त्वना देकर और अतिथिसत्कार करके आलिङ्गन (परस्पर मिल) कर चित्रग्रीव को विदा किया, चित्रग्रीव अपने परिवार के साथ स्वेच्छित देशों के प्रति गया, हिरण्यक भी अपने बिल में घुस गया।

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च।
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धना॥ ५३॥

अ०—(जनेन) यानि कानि शतानि मित्राणि च कर्तव्यानि, कपोता मूषिकमित्रेण मुक्तबन्धना, (बभूवु) पश्य। व्या०—यानि कानि च=यादृशानि तादृशानि नीचानि महान्ति वा, शतानि=बहुशतसङ्ख्याकानि, मित्राणि=सखायः, कर्तव्यानि=जनैः विधेयानि। कपोताः=बहवः पारावताः, मूषिक एव मित्रं तेन=क्षुद्रेण उन्दुरुमित्रेण, मुक्तबन्धनाः=मुक्तं छिन्नं जालस्य बन्धनं येषान्ते, तादृशाः, बभूवु, पश्य=त्वदेसद् अवलोकय।

भा०—छोटे या बड़े बहुत से मित्र करने चाहिये, क्योंकि देखिये सब कबूतर चूहारूप मित्र से भी बन्धन से छुट हो गये ॥ ५३ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यम् इदमाह—'अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीं कर्तुमिच्छामि अतस्त्वं मां मैत्र्येणाऽनुग्रहीतुमर्हसि' एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराऽभ्यन्तरादाह—'कस्त्वम्' ? स ब्रूते—लघुपतनकनामा वायसोऽहम् । हिरण्यको विहस्याऽऽह—का त्वया सह मैत्री ?

व्या०—अथ=अनन्तरम्, सर्ववृत्तान्तदर्शी=सर्वं च तत् वृत्तान्तं च सर्ववृत्तान्तं तत् पश्यति इति सर्ववृत्तान्तदर्शी—हिरण्यकपोतराजयोः सर्ववृत्तान्तं पश्यन्, 'लघुपतनक'नामा काकः=वायसः साश्चर्यम्=आश्चर्येण सहितं यथा स्यात् तथा, इदम्=वक्ष्यमाणवचनम् आह=उक्तवान्, अहो ! (आश्चर्यबोधकमव्ययम्)। हे हिरण्यक ! त्वं श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः, असि=भवसि। अतः=अस्मात् हेतोः, अहम् (वायसः) अपि त्वया (हिरण्यकेन) सह, मैत्रीं=सौहार्दं कर्तुम् इच्छामि=वाञ्छामि। अतः=अस्मात् हेतोः, त्वं=भवान् माम् (वायसमपि), मैत्र्येण=मित्रभावेन अनुग्रहीतुम्=अनुग्रहं कर्तुम् अर्हसि=योग्योऽसि मां मित्रं कृत्वा कृतार्थं कुरु इति भावः। हिरण्यकः (मूषकः) अपि एतत्=काकोक्तं श्रुत्वा=समाकर्ण्य विवरस्य अभ्यन्तरात् तस्मात् विवरमध्यात् एव आह=उक्तवान् त्वम्=भवान् कः ? काकः कथयति च को व्यक्तिविशेषः असि ? सः=वायसः, ब्रूते=कथयति अहम् 'लघुपतनक'नामा वायसः=काकजातीयः अस्मि। तदा हिरण्यकः, विहस्य=हसित्वा आह=उवाच त्वया (काकेन) सह मैत्री=मित्रता, का ?=कीदृशी स्यात् ? दुष्टेन वायसेन सह मैत्री न युक्तेत्यर्थः।

भा०—इसके बाद सब वृत्तान्त को देखने वाला लघुपतनक नामक कौवा आश्चर्यपूर्वक इस प्रकार बोला—"हे मित्र हिरण्यक ! तुम प्रशंसा के योग्य (श्रेष्ठ व्यक्ति) हो इसलिये मैं भी तुमसे मैत्री करना चाहता हूँ, मित्रता से मुझको अनुगृहीत करो। हिरण्यक (चूहा) भी ऐसा सुनकर बिल के भीतर से ही बोला—"तू कौन है ?" काक बोला—"मैं लघुपतनक नाम का कौवा हूँ।" तब हिरण्यक हँस कर बोला—"तुम्हारे साथ मित्रता कैसी ?"

यतः—यद् येन युज्यते लोके बुधस्तत् तेन योजयेत् ।
अहमन्नं भवान् भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ॥ ५४ ॥

अ०—लोके येन यत् युज्यते बुधः तत् तेन सह योजयेत्, अहम् अन्नम् (अस्मि) भवान् भोक्ता (अस्ति) प्रीतिः कथं भविष्यति ? व्या०—लोके=संसारे, येन व्यक्तिविशेषेण सह यत्=अन्यो व्यक्तिविशेषः, युज्यते=योजयितुं युक्तो भवति बुधः=धीमान् जनः तत्=व्यक्तिविशेषम्, तेन=योग्यव्यक्तिविशेषेण सह योजयेत्=

अहं मूषिकः, अतः = काकस्य भक्ष्यम् अस्मि, भवान् = च काकः, मम मूषिकस्य भोक्ता = भक्षा अस्ति। तथा च आवयोः, भक्ष्यभक्षकयोः, प्रीतिः = सौहार्दं, कथं केन प्रकारेण, भविष्यति = सम्पत्स्यते ?-न कथमपीत्यर्थः।

भा०—संसार में जो जिसके साथ जोड़ने योग्य होता है, बुद्धिमान् जन उसी के साथ उसको जोड़ता है। मैं (चूहा) तेरा (काक का) खाद्य (भोजन) हूँ और तू (काक) मुझ को (चूहे को) खाने वाला है। तब कैसे प्रीति हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ॥५४॥

अपरञ्च—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेः कारणं मतम्।
शृगालात् पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः ॥५५॥

अ०—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः विपत्तेः कारणं मतम्, (भवति) शृगालात् पाशबद्धः असौ मृगः काकेन रक्षितः। व्या०—भक्षितुं योग्यः भक्ष्यः, भक्ष्यश्च भक्षकश्च तयोः = खाद्यखादकयोः, प्रीतिः सौहार्दं, कदाचित् अवश्यम्, आपत्तेः = आकस्मिकविनाशस्य, कारणं = निमित्तम् असाधारणहेतुः, मतं = विदुषां सम्मतमस्तीति। विपत्तेरेव (कारणमिति पाठान्तरम्) तथा हि—शृगालात् = भक्षककपटमित्रात् जम्बुकात् पाशेन जालेन बद्धः नियमितः, असौ = अयोग्यमित्रभावदृष्टान्ततया स्मरणविषयीभूतः, मृगः = भक्ष्यनिष्कपटहरिणः, काकेन = केनचित् वायसेन बन्धुरूपेण, रक्षितः = पाशादुन्मोचितः।

भा०—भक्ष्य और भक्षक इन दोनों की प्रीति विपत्ति में हेतु बन जाती है, जैसे मित्र शृगाल द्वारा जाल में फँसाये गये मृग को कौआ ने बचाया ॥ ५५ ॥

वायसोऽब्रवीत्—कथमेतत् ? हिरण्यकः कथयति—

भा०—लघुपतनक नाम का कौवा बोला—'शृगाल द्वारा फँसाये गये मृग को काक ने मुक्त किया' यह कथा किस प्रकार है। हिरण्यक कहता है—

कथा २

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नाम अरण्यानी। तस्यां चिरात् महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः। स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गः केनचित् शृगालेनाऽवलोकितः। तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—आः ! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि ? भवतु, विश्वासं तावदुत्पादयामि इत्यालोच्य उपसृत्याऽब्रवीत्—'मित्र ! कुशलं ते ?' मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम्' ? स ब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्। अत्राऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवत् एकाकी निवसामि, इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि, अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यमिति'। मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु'।

व्या०—मगधदेशे=मगधनाम्नि जनपदे, चम्पकवती=चम्पकवतीनाम्नी प्रसिद्धा, अरण्यानी=महारण्यम् (महदर्थे ङीप् आनुक् च), अस्ति=विद्यते। तस्याम्=अरण्यान्याम्, मृगश्च काकश्च तौ=हरिणवायसौ उभौ चिरात्=बहुसमयात् महता=परमेण, च स्नेहेन=प्रेम्णा प्रेमपूर्वकमित्यर्थः। निवसतः=वासं कुरुतः। हृष्टपुष्टाङ्गः=हृष्टानि पुष्टानि च अङ्गानि यस्य सः=पुष्टविपुलमांसयुक्तशरीरः इत्यर्थः। स्वेच्छया=स्वस्य (मृगस्य) इच्छा=अभिलाषा तया, भ्राम्यन्=भ्राम्यति इति भ्राम्यन्=भ्रमणं कुर्वन् स च मृगः=एणीपतिः स हरिणः, केनचित्=केनापि अपरिचितेन शृगालेन=जम्बुकेन अवलोकितः=दृष्टः। शृगालः=जम्बुकः, तं=मृगम्, दृष्ट्वा=अवलोक्य अचिन्तयत्=चिन्तनं कृतवान् आः=आश्चर्यम्! कथं=केन प्रकारेण सुललितम्=अतिरमणीयं मधुरस्वादु। एतन्मांसम्=एतस्य मृगस्य मांसं सिद्धितम् भक्षयामि=खादामि। भवतु=अस्तु—एतत्कथनमित्यर्थः। तावत्=प्रथमम्, विश्वासंभवः आत्मनि अस्य हरिणस्य विश्वासभावम्, उत्पादयामि=अहं जनयामि इत्यालोच्य आलोच्य=विचिन्त्य उपसृत्य=मृगसमीपे गत्वा, अब्रवीत्=उक्तवान् मित्र! सखे हरिण! तेऽत्र कुशलं=क्षेमं वर्तते? तेन मृगेण उक्तम्—त्वम् (भवान्) कः=को व्यक्तिविशेषोऽसि? जम्बुकः, ब्रूते=कथयति अहं 'क्षुद्रबुद्धि'नामा—क्षुद्रा=स्वल्पा हीनविचारयुक्तेत्यर्थः वा बुद्धिः, क्षुद्रबुद्धिरेव एव नाम यस्य सः इति क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकः=शृगालः, अत्र अरण्ये=एतस्मिन् वने, बन्धुहीनः—बन्धुभिः=मित्रैः हीनः=रहितः सन् एकाकी एव मृतवत्=मृत इव निवसामि=वासं करोमि। इदानीम्=अधुना, त्वाम्=भवन्तम् मित्रम्=सुहृदम् आसाद्य=प्राप्य सबन्धुः=बन्धुना सहितः पुनः जीवानां संसारिणां लोकः=स्थितिः तं जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मीत्यर्थः। प्रविष्टोऽस्मि=जातो भवामि अधुना=साम्प्रतम् तव (हरिणस्य) अनुचरेण=सेवकेन सहचरेण वा, मया (शृगालेन) सर्वथा भवितव्यमिति। मृगेण=हरिणेन उक्तम्=अभिहितम्, एवम्=यथा त्वं कथयसि तथा अस्तु=अनुचरो भूत्वा सहनिवासी भव।

भा०—'मगध' देशमें चम्पकवती नाम का बड़ा अरण्य है। उस अरण्यमें बहुत समयसे हरिन और कौवा ये दोनों गाढ़ प्रेम से रहते थे। स्वेच्छा से घूमते फिरते हृष्टपुष्ट उस मृग को किसी शृगाल ने देखा। मृग को देखकर शृगाल ने सोचा—'अरे! हाँ! यह सुन्दर मांस कैसे खाने को मिले? अच्छा, प्रथम इसको विश्वास दूँ' ऐसा विचारकर उसके पास जाकर बोला—मित्र हरिन! तुम कुशल से हो? मृग बोला—'तुम कौन हो?' शृगाल बोला—मैं क्षुद्रबुद्धि नाम का शृगाल हूँ और इस वन में बन्धु-बान्धव रहित मरेकी तरह अकेला होकर रहता हूँ लेकिन अब तुम जैसे मित्र को पाकर फिर मित्रसहित होकर इस जीवलोक की स्थिति में प्रविष्ट हुआ हूँ। अब तुम्हारा अनुचर बनकर मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगा। मृग बोला—अच्छा, ऐसा ही हो।

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति, तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—'सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः?' मृगो ब्रूते—'जम्बुकोऽयमस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः'। काको ब्रूते—'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता, तन्न भद्रमाचरितम्'।

व्या०—ततः पश्चात् = तदनन्तरम्, भगवति = ऐश्वर्यवति, मरीचिमालिनि = मरीचीनां किरणानां माला = मण्डलम् अस्ति अस्य इति मरीचिमाली तस्मिन्, सवितरि = सूर्ये, अस्तम् = अस्ताद्रिं गते याने सति = सायङ्काले, तौ=मृगशृगालौ, मृगस्य वासभूमिं=निवासस्थानम् गतौ=जग्मतुः, तत्र=तस्यां वासभूमौ, 'चम्पक'-वृक्षस्य शाखा तस्याम्, मृगस्य चिरमित्रम्=चिरकालीन सखा, 'सुबुद्धि'नामा = शोभना बुद्धिर्यस्य स, सुबुद्धि नाम यस्य स इति सुबुद्धिनामा, काकः = वायसः निवसति = वास करोति, तौ मृगशृगालौ, दृष्ट्वा = अवलोक्य, काकः अवदत् = उवाच, सखे! मित्र! चित्राङ्ग!, अयम्=एष उपस्थितः, द्वितीयः = अपरः, कः = नाम्ना जात्या च कोऽस्ति? मृगः = स हरिणः, ब्रूते = कथयति, अयं जम्बुकः = शृगालः, आवयोः, सख्य = मित्रताम्, इच्छन्=अभिलषन्, आगतः अस्ति, काकः= स वायसः, ब्रूते, मित्र चित्राङ्ग! अकस्मात् = विना परीक्षणं झटिति, आगन्तुना सह = नूतनाऽऽगतेन अज्ञातकुलस्वभावेन सह, मैत्री = सख्यम्, न युक्ता = न योग्या, तत् = तस्मात् हेतोः, त्वया भद्रं=क्षेमकरं, न आचरितम् = न अनुष्ठितम्।

भा०—उसके बाद भगवान् किरणमण्डलयुक्त सूर्य के अस्त हो जाने पर वे (शृगाल-मृग) दोनों मृग के निवासस्थल में गये उस निवासस्थल में चम्पा के वृक्ष की शाखा पर मृग का प्राचीन मित्र सुबुद्धिनाम का कौवा रहता था, उन दोनों (शृगाल-मृग) को देख कर बोला-मित्र चित्राङ्ग! यह दूसरा कौन है? मृग बोला-यह जम्बुक है और अपने दोनों से मित्रता करने को आया है। काक बोला-मित्र चित्राङ्ग! एकदम अनजान व्यक्तिसे मित्रता करना उचित नहीं है, इसलिये तुमने यह ठीक नहीं किया।

तथा चोक्तम्—अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः॥ ५६॥

अ०—अज्ञातकुलशीलस्य कस्यचित् वासो न देयः, हि मार्जारस्य दोषेण जरद्गवः गृध्रः हतः। व्या०—कुलं च शीलञ्च कुलशीले, न ज्ञाते अज्ञाते, अज्ञाते कुलशीले यस्य स तस्य=अपरिचितवंशस्वभावस्येत्यर्थः, कस्यचित् अपि व्यक्तेः, वासः= स्वगृहे आश्रयः, न देयः = न दातव्यः। हि = यतः, मार्जारस्य = कस्यचित् अपरि-

[illegible] विशालस्य होतेन = [illegible] [illegible] जरद्गवा = [illegible] [illegible] वाली इसी [illegible] [illegible] जरद्गवनामा [illegible] [illegible] [illegible] हुता = [illegible]।

भा० —जिसके कुल स्वभाव आदि अपरिचित हों ऐसे किसी भी व्यक्ति को [illegible] नहीं देना चाहिये क्योंकि [illegible] [illegible] में स्थित बिलाव के दोष से [illegible] [illegible] [illegible] गया था ॥ ५९ ॥

तौ ब्रूतः—'कथमेतत् ?' काकः—कथयति।

भा०—वे मृग और गीदड़ दोनों बोले—गीध और बिलाव की कथा किस प्रकार है ? तो काक कहता है—

कथा ३

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान् पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकात् गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति। अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाऽऽहारात् किञ्चित् किञ्चिदुद्धृत्य तस्मै ददति। तेनाऽसौ जीवति तेषां शावकरक्षां च करोति। अथ कदाचित् दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान् भक्षयितुं तत्राऽऽगतः। ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्तैः कोलाहलः कृतः। तच्छ्रुत्वा जरद्गवेन उक्तम्—कोऽयमायाति ? दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—'हा ! हतोऽस्मि' यतोऽयं मां व्यापादयिष्यति।

व्या०—भागीरथीतीरे—भगीरथस्य इयम् इति भागीरथी ([illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'भागीरथी' संज्ञा) तस्याः तीरे तस्मिन् = [illegible] गृध्रकूटनाम्नि गृध्राः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तस्मिन् पर्वते = [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तस्य = [illegible] कोटरे = [illegible] दैवदुर्विपाकात् = दैवस्य भाग्यस्य दुर्विपाकः [illegible] [illegible] गलितनखनयनः [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जरद्गव इति नाम यस्य सः जरद्गवनामा, गृध्रः [illegible] [illegible] प्रतिवसति = निवसति। ([illegible]) तद्वृक्षवासिनः = तस्मिन् पर्कटीवृक्षे वसन्ति इति तद्वृक्षवासिनः, पक्षिणः = [illegible] [illegible], कृपया = दयया तज्जीवनाय = तस्य जरद्गवस्य गृध्रस्य जीवनं रक्षणं तस्मै,

स्वाहारात् = स्वेषां पक्षिणाम् आहारः खाद्य तस्मात् किञ्चित = कियन्मात्र खाद्यम्, उद्धृत्य = अतिरिक्तमवस्थाप्य, ददति = प्रयच्छन्ति । असौ=अयं जरद्गव, तेन = पक्षिदत्तखाद्येन, जीवति=जीवनं निर्वाहयति, तेषां=तत्रस्थानां पक्षिणाम्, शावक-रक्षाम् = शावकानां बालानां रक्षा = त्राणम् ताम्, च करोति । अथ=अनन्तरं कदा-चित्=एकस्मिन् समये, दीर्घकर्णनामा = दीर्घौ लम्बमानौ कर्णौ श्रोत्रे यस्य स दीर्घ-कर्ण, स एव नाम यस्य स इति दीर्घकर्णनामा, मार्जारः=बिडाल, पक्षिशावकान्= पक्षिणां शावका बाला तान्, भक्षयितुम् = अत्तु खादितुम्, तत्र = पर्कटीवृक्षाऽधो-भागे, आगत । ततः = तदनन्तरम्, आयान्तम् = आयाति इति आयान् तं आया-न्तम् = आगच्छन्त, त = बिडालम्, दृष्ट्वा=अवलोक्य, भयेन आर्ता तै=भयविह्वलै, पक्षिणां शावका तै = पतत्रिबालैः, कोलाहलः=कलकलायमानः भयार्तनाद, कृतः= प्रारब्ध । जरद्गवेन = तेन जरद्गवनाम्ना वृद्धगृध्रेण, तत् = कोलाहल, श्रुत्वा = आकर्ण्य, उक्तम् = अभिहितम् । अयम्=एष दृष्टिविषय व्यक्ति, क ? किंजातीय किंनामा च ? आयाति = आगच्छति । दीर्घकर्ण = तन्नामा स मार्जारः, गृध्र = त गृध्र गृध्रपक्षिणम्, अवलोक्य, सभय = भयेन सहित यथा स्यात् तथा, आह = उवाच, हा ! हन्त ! हत = अह विनाशित, अस्मि=भवामि, यत = यस्मात् हेतो, अय = गृध्र माम् (बिडालम्) व्यापादयिष्यति = मारयिष्यति ।

भा०—भागीरथी गङ्गा के तट पर, 'गृध्रकूट' नाम के पर्वत पर पाकड़ का बड़ा वृक्ष है, उसकी कोटर (पोल) में दुर्भाग्यवाला तथा जीर्ण नख और नेत्र वाला ऐसा एक 'जरद्गव' नाम का गीध पक्षी रहता था। उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षिगण दया करके अपने अपने भोज्य वस्तुओं में से कुछ कुछ हिस्सा बचाकर उस गीध को देते थे, उससे गीध अपना जीवननिर्वाह करता था और पक्षियों के बच्चों की रक्षा करता था। एक समय 'दीर्घकर्ण' नाम का बिडाल उन पक्षियों के बच्चों को खाने के लिये उस स्थल पर आ पहुँचा, आते हुए बिडाल को देखकर पक्षियों के बच्चे भयभीत होकर कोलाहल करने लगे, यह सुन कर जरद्गव गीध ने कहा—कौन इधर आ रहा है। तब दीर्घकर्ण नाम का बिडाल उस गीध को देख भयभीत होकर बोला, हाय हाय ! मैं मारा जाता हूँ क्योंकि यह गीध मुझे मार (चीर) डालेगा ।

अथवा—तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद् यथोचितम् ॥ ५७ ॥

अ०—यावत् भयम् अनागत (भवति) तावत् भयस्य भेतव्यम्, तु भयम् आगत वीक्ष्य, नर यथोचित कुर्यात् । व्या०—यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, भय= भीतिकारणम् अनागत = उपस्थित न भवति, तावत्=तावत्कालपर्यन्तं, भयस्य = भयकारणात् (सम्बन्धे षष्ठी) भेतव्य = अत्रै त्रसितव्यम् । तु = किन्तु, भय =

भयम् आगतम् = उपस्थितम् वीक्ष्य = दृष्ट्वा, नरः यथोचितम् = यथायोग्यम् प्रतिकुर्यात् = प्रतीकारं विदध्यात् ।

भा०—जब तक भय न आया हो तब तक भय से डरना चाहिये। लेकिन जब भय सामने आ गया तब तो उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५७ ॥

अधुनाऽतिसन्निधाने पलायितुमक्षमा । तद्यथा भवितव्यं तथा भवतु, तावद् विश्वासमुत्पाद्याऽस्य समीपमुपगच्छामि इत्यालोच्य समुपसृत्याब्रवीत्—'आर्य ! त्वाम् अभिवन्दे'। गृध्रोऽवदत्—'कस्त्वम्?' सोऽवदत्—'मार्जारोऽहम्'। गृध्रो ब्रूते—'दूरम् अपसर नो चेद् हन्तव्योऽसि मया'। मार्जारोऽवदत्—श्रूयतां तावद् मद्वचनम्, ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः ।

व्या०—अधुना = इदानीम्, अतिसन्निधाने = जरद्गवस्य गृध्रस्यातिनिकटे आगतोऽस्मि अत एव पलायितुम् = पलायनं कर्तुम् अक्षमा = असमर्था अस्मि । तत् = तस्मात् असमर्थत्वात् हेतोः यथा = येन प्रकारेण भवितव्यम् तत्प्रकारेण मत्कुशलत्वं जीवनं वा मरणमपि भवतु, किन्तु इत्यर्थः । तावत् = आदौ, विश्वासं मां प्रति विश्वासभावम् उत्पाद्य = जनयित्वा, अस्य = जरद्गवस्य गृध्रस्य समीपे = निकटम् उपगच्छामि, इति = एवम्, आलोच्य विचार्य समुपसृत्य = जरद्गवस्य समीपं समागत्य अब्रवीत् = अभिहितवान् । आर्य = पूज्य ! त्वाम् = भवन्तम्, अभिवन्दे = प्रणमामि । गृध्रः = जरद्गवः, अवदत् = उवाच त्वं = भवान् कः ? किंनामधेयः असि ? सः = दीर्घकर्णः मार्जारः अवदत् = अकथयत् अहं मार्जारः = बिडालजातीयः, अस्मि । गृध्रः ब्रूते = कथयति दूरम् = दूरदेशम्, अपसर = त्वं व्रज । नो चेत् = यदि न गच्छसि । तदा त्वं मया गृध्रेण हन्तव्यः = विनाशनीयः, असि = भवसि । मार्जारः = बिडालः, अवदत् = उक्तवान् तावत् = आदौ मम वचनम् = मद्वचनं = मे वाक्यम् श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्, ततः = तदनन्तरम्, यदि अहं (मार्जारः) वध्यः = वधार्ह एव भवामि । तदा हन्तव्यः = त्वया गृध्रेण विनाश्यः ।

भा०—अब अति समीप होने से मैं भाग भी नहीं सकती। अच्छा, जो होना हो सो हो लेकिन प्रथम गीध को विश्वास उत्पन्न कराके समीप में जाऊँ। ऐसा सोचकर गीधके सामने जाकर बोला—आर्य गीध! आपको मैं प्रणाम करता हूँ। गीध बोला—तुम कौन हो? उसने कहा मैं बिलाव हूँ। गीध बोला—दूर जा यहाँ से नहीं तो मैं मार डालूँगा। बिलाव बोला—प्रथम मेरा वचन सुनिये, पीछे अगर मैं मारने योग्य हूँ तो मार डालिये

यतः—जातिमात्रेण किं कश्चिद् वध्यते पूज्यते क्वचित् ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५८ ॥

अ०—(जनैः) क्वचित् कश्चित् जातिमात्रेण वध्यते पूज्यते किम् ? अथवा व्यवहार परिज्ञाय वध्यः पूज्यः भवेत्। व्या०—क्वचित्—कुत्रचित् स्थाने, कश्चित् अपि व्यक्ति, जातिमात्रेण=जातिरेव जातिमात्र तेन=चाण्डालत्वेन हन्तव्यः, ब्राह्मणत्वेन पूज्य इत्येव जातिव्यवहारेण। किम् (प्रश्ने) पृच्छामि। वध्यते=हन्यते, पूज्यते=अर्च्यते ? वा। अथवा=किन्तु, व्यवहारम्=आचार श्रेष्ठ कनिष्ठ वा, परिज्ञाय=ज्ञात्वा, वध्यः=नाश्य, पूज्य =अर्च्यो वा भवेत् ? इति।

भा०—किसी भी स्थल में क्या जातिमात्र से ही कोई मारा जाता है या पूजा जाता है ? नहीं, किन्तु आचरण के अनुसार मारने योग्य और पूजने योग्य होता है॥ ५८॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?' सोऽवदत्—'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि। युष्मान् 'धर्मज्ञानरताः प्रेमविश्वासभूमयः' इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति, अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः। भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञाः, यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः ?' गृहस्थधर्मश्च एषः—

व्या०—गृध्रः=जरद्गव पक्षी, ब्रूते=कथयति, ब्रूहि=कथय, किमर्थं=कस्मै प्रयोजनाय, आगतोऽसि ? स दीर्घकर्णनामा बिडाल, अवदत्=उवाच, अहम्, नित्य=त्रिसन्ध्य स्नाति, इति नित्यस्नायी, निरामिषाशी=आमिष मासम् अश्नाति भक्षि इति आमिषाशी, स न भवतीति निरामिषाशी, ब्रह्मचारी=ब्रह्म=ऊर्ध्वस्रोतसां व्रत चरितु शीलमस्य इति ब्रह्मचारी, चन्द्रस्य अयनमिव अयनम् अस्मिन् इति चन्द्रायणम्, चन्द्रायणमेव चान्द्रायणम् (एकैक ग्रास ह्रासयेत् कृष्णे शुक्ले च परिवर्धयेत् इति) तद्व्रत कृच्छ्रम्, आचरन्=अनुतिष्ठन्, अत्र=अस्मिन्, गङ्गायाः तीर तस्मिन् तिष्ठामि=निवसामि। सर्वे=गङ्गातीरस्था प्रायश सकलाः, पक्षिण=पतत्त्रिण, सर्वदा सर्वस्मिन् काले, ममाग्रे=मम पुरत, युष्मान्=भवतः सर्वान्—धर्मश्च ज्ञान च धर्मज्ञाने धर्मज्ञानयो रता धर्मज्ञानरता, प्रेमा च विश्वासश्च प्रेमविश्वासौ तयो भूमयः स्थानानि तादृशा इति प्रस्तुवन्ति=प्रकर्षेण प्रशंसन्ति। अत =एतस्माद्धेतो, भवद्भ्य विद्यावयोवृद्धेभ्यः=विद्या च वयश्च विद्यावयसी, ताभ्यां वृद्धा महा अधिका तभ्यः=तादृशेभ्य श्रीमद्भ्य। धर्म=धर्मस्वरूपम्, श्रोतु=ज्ञातुम्, इह भवतां सन्निधौ, आगतोऽस्मि। भवन्तश्च यूयञ्च, एतादृशाः=ईदृशा, धर्मवेत्तार सन्ति। यत्=येन धर्मज्ञानेन हेतुना, अतिथिं माम्=जिज्ञासु माम्, हन्तुम्=नाशयितुम्, उद्यताः=प्रवृत्ता भवन्ति। (लज्जाजनक वचनमेतत्) एष=अग्रे वक्ष्यमाण, गृहस्थधर्म=गृहे दारै सह तिष्ठन्ति इति गृहस्थास्तेषां धर्म, कर्त्तव्यविषय अ

भा०—धीरे मे क्या-कोष, यहां क्यों आया है। विलाव बोला—मैं नित्य चिन्द्रायण व्रत करता हूँ, मांसादि नहीं खाता हूँ ब्रह्मचर्य से रहता हूँ और चान्द्रायण व्रत को करता हुआ इस गङ्गा के तट पर रहता हूँ। पक्षी ये सभी लोग—पक्षी मेरे पास आकर सदा धर्मशास्त्र में तेरी और मेरी विश्वास के पात्र हैं—ऐसी आपकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये विद्यावृद्ध तथा वयोवृद्ध आप को समझ कर आप से धर्म का रहस्य जानने आया हूँ। (किन्तु) आप तो ऐसे धर्मज्ञ हैं कि मुझ अतिथि को मारने को तैयार हो गये। गृहस्थधर्म ऐसा है—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५९ ॥

अ०—गृहम् आगते अरौ अपि उचितम् आतिथ्यं कार्यम्, द्रुमः पार्श्वगताम् छेत्तुः छायां न उपसंहरते। व्या०—गृहं = भवनम् आगते = समुपस्थिते अरौ अपि = शत्रौ अपि उचितम् = योग्यम्, आतिथ्यम् = अतिथेः सत्कारः, कार्यम् = कर्तव्यम्, उचितं यथा स्यात्तथा एवं करोति—द्रुम इति। द्रुमः = तरुवरः, पार्श्वगताम् = पार्श्वे समीपे गतां प्राप्तां छायाम्, छेत्तुः = काष्ठादिच्छेदकस्य अपि कुठारेण छायां न उपसंहरते = न आकर्षति।

भा०—अपने घर (मकान) में आये हुये शत्रु का भी अतिथि सत्कार करना चाहिए क्योंकि वृक्ष अपनी छाया को काटने वाले पुरुष से नहीं हटाता ॥ ५९ ॥

किञ्च—यदि अन्नं नास्ति तदा सुप्रीतेनापि वचसा तावदतिथिः पूज्य एव ।

अ०—किञ्च = अथवा, यदि = चेत्, अन्नम् = भक्ष्यम्, नास्ति = न वर्तते, तदा = तस्मिन् काले, सुप्रीतेनापि = सुमधुरेण प्रीतियुक्तेन अपि वचसा = वाक्येन, अतिथिः = गृहागतः अभ्यागतः, पूज्यः = सत्कार्यः इति।

भा०—और यदि घर में अन्न तैयार न हो तो उस समय केवल मधुर वाणी से ही अतिथि सत्कार करने योग्य है।

तथा चोक्तं—तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ६० ॥

अ०—तृणानि भूमिः उदकं चतुर्थी सूनृता वाक् च एतानि अपि सतां गेहे कदाचन न उच्छिद्यन्ते। व्या०—तृणानि = कुशकाशादीनि, भूमिः = उपवेशनार्थं स्थानम्, उदकं = पानप्रक्षालनार्थं जलम्, चतुर्थी = चतुर्थ्यी वाणी, सूनृता = प्रियसत्या, वाक् = वाणी च। एतानि अपि = इमानि अपि, सताम् = साधूनां गेहे, कदाचन = कदापि न उच्छिद्यन्ते = न अनुपलभ्यमानानि भवन्ति।

भा०—तृणोंका बनाया आसन, भूमि, जल और चौथी सुमधुर वाणी ये चार तो साधुजनों के घर में अवश्य होते हैं ॥ ६० ॥

अन्यच्च—बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ६१ ॥

अ०—बालो वा यदि वा वृद्धः युवा वा गृहम् आगत , तस्य पूजा विधातव्या, अभ्यागत सर्वस्य गुरु । व्या०—बालो वा = शिशुर्वा, यदि वा वृद्धः=अथवा वृद्धावस्थ , युवा वा = यौवनावस्थो वा, (य कोऽपि भवेत्, किन्तु स्वस्य) गृह=निवासम् , आगतः=प्राप्त भवेत् , तर्हि तस्य=अतिथे , पूजा = सत्कारादिकम् , विधातव्या=कर्तव्या । यत सर्वस्य = जनस्य, अभ्यागतः = अतिथि', गुरुः = पूज्य ।

भा०—बालक, वृद्ध या जवान, जो कोई घर में आया हुआ अतिथि है, उसका सत्कार करना चाहिये । क्योंकि अतिथि सबके लिये गुरुवत् पूज्य है ॥ ६१ ॥

अपरञ्च—निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ॥ ६२ ॥

अ०—साधव निर्गुणेषु अपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति, चन्द्र., चाण्डालवेश्मन. ज्योत्स्नां न हि संहरते । व्या०—साधव' = सत्पुरुषा , निर्गुणेषु अपि=गुणरहितेषु अपि, सत्त्वेषु = प्राणिषु, दयां = कृपाम् , कुर्वन्ति = विदधति । तत्र दृष्टान्त –चन्द्रः=शशी, चाण्डालवेश्मनः = चाण्डालस्य वेश्म तस्मात् , श्वपचादिगृहात् , ज्योत्स्नां=कौमुदीम् न हि संहरते = न आकर्षति । (चाण्डालवेश्मनि इति पा०)

भा०—साधुजन निर्गुण जीवों पर भी दया करते हैं, क्योंकि चन्द्रमा भी अपनी चांदनी को चाण्डाल के घर से हटा नहीं लेता है ॥ ६२ ॥

अन्यच्च—अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ ६३ ॥

अ०—यस्य गृहात् अतिथि भग्नाश प्रतिनिवर्तते, सः तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यम् आदाय गच्छति । व्या०—यस्य = गृहस्थस्य, गृहात् = भवनात् , अतिथि' = अभ्यागत', भग्ना = हता = अफला, आशा = अभिलाषा मिलेच्छा यस्य सः=अपूर्णमनोरथ सन्नित्यर्थ प्रतिनिवर्तते = प्रत्यावर्तते प्रत्यागच्छति । स' = अतिथि , तस्मै = गृहिणे, दुष्कृत=स्वीयपापम् , दत्त्वा=प्रदाय, पुण्यञ्च = गृहस्वामिनः धर्मञ्च, आदाय = गृहीत्वा = अपहृत्य । गच्छति = याति ।

भा०—जिसके घर से अतिथि हताश होकर लौट आता है, ।वह अतिथि उस गृहस्थ को अपना पाप देकर और गृहस्वामी का पुण्य ले कर चला जाता है ॥ ६३ ॥

अन्यच्च—उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागत. ।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ६४ ॥

अ०—उत्तमस्य सर्वस्य गृहम् आगतः नीचः अपि यथायोग्यं, पूजनीयः, (यतः) सर्वदेवमयः अतिथिः। व्या०—उत्तमस्य=सत्कुलजातस्यापि सर्वस्य=सकलस्य गृहं=भवनम् आगतः=प्राप्तः, नीचः अपि=हीनजातिरपि आतिथ्यापेक्षया अतिथिः, यथायोग्यं=यथोचितम् पूजनीयः=सम्माननीयः, (यतः) अतिथिः—सम्पादकः सर्वदेवमयः=सर्वेभ्यो देवेभ्यो अनुग्रहस्वरूपः, भवतीति।

भा०—उत्तम मनुष्यादि के घर पर आया हुआ अधिक नीच भी अतिथि यथोचित सत्कार करने योग्य है। क्योंकि अतिथि सर्वदेवमय होता है॥ ५४॥

मृगोऽवदत्—'मार्जारो हि मांसरुचिः, पक्षिशावकाश्चात्र निवसन्ति तेनाऽहमेवं ब्रवीमि'। तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति ब्रूते च—मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणम् अध्यवसितम्। यतः परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम्—'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यत्रैकमत्यम्।

व्या०—मृगः=कुरङ्गकः, अदृष्टपूर्वत्वात् जिज्ञासमाने मार्जारे=बिडाले मांसरुचिः=मांसादने रुचिः आतुरता यस्य सः=मांसाशी भवति। अत्र च अत्र वृक्षस्मिन् पर्णकोटरे पक्षिशावकाः=पक्षिणां बालकाः निवसन्ति, तेन हेतुना, अहम् (मृगः) एवम्='दूरमपसर' इति वचनं ब्रवीमि कथितवान् अस्मि। मार्जारः=बिडालः, तत्=मृगस्य वचनम् श्रुत्वा=आकर्ण्य (हस्ताभ्याम्) भूमिं=पृथिवीम् स्पृष्ट्वा=संस्पृश्य कर्णौ=श्रवणद्वयम् स्पृशति आच्छादयति। ('मांसरुचिः' इत्येतत् मृगवचनश्रवणेन (बिडालः) आत्मानं पापसंस्पर्शात् रक्षितुम् भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ च स्पृशतीति भावः) ब्रूते=कथयति च मया (बिडालेन) धर्मप्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम् श्रुत्वा=आकर्ण्य वीतरागेणैव (सता) येषां मांसादिविषयतृष्णा नष्टा सा तेनाप्यतिशयेन यता, इदम्=एतत्, दुष्करम्=दुःखेन क्रियते इति दुष्करम्=अतिकष्टसाध्यम् चान्द्रायणम्=चान्द्रमसम् नाम व्रतम् धर्मानुष्ठानम् वहन् अस्मि तत् कृत्वा, चान्द्रायणम् (एकैकं ग्रासमेव कृष्णे ह्रासयेत् शुक्ले च परिवर्धयेत्) व्रतं नियमम्, अध्यवसितम्=अनुष्ठितम्, यतः=यस्मात् कारणात्, परस्परम्=अन्योन्यम् विवदमानानाम्=विरुद्धमतप्रतिपादकानामपि धर्मशास्त्राणाम्=धर्मादिप्रतिपादकानाम् अहिंसा=सर्वथा सर्वदा कर्मणा वाचा च हिंसाराहित्यमेव, परमः=श्रेष्ठतमः धर्मः=अस्ति इति अत्र अस्मिन् विषये ऐकमत्यम्=एकम् अविरुद्धं मतम् अभिप्रायः तात्पर्यं वेदान्तादि तेषां भावः मतभेदः न सम्भवतीति भावः। सर्वेषु शास्त्रेषु प्राणिहिंसानुमतिर्न दृश्यते अतः ममापि हि स्वधर्मं चान्द्रायणं चरितमिति नाहं पक्षिशावकान् हनिष्यामीति।

भा०—गीध बोला-'बिडाल मांस का प्रेमी होता है और इस वृक्ष पर पक्षियों के बच्चे रहते हैं इसलिए मैं यहाँ से चले जाने को कहता हूँ' ऐसा सुनकर बिडाल ने (दोनों हाथोंसे) पृथ्वी (मिट्टी) को छूकर दोनों कान छूए और कहने लगा—मैंने धर्मशास्त्र सुनकर मांसादि की तृष्णा छोड़कर अतिकठिन चान्द्रायण व्रत किया है, क्योंकि परस्पर भिन्न भिन्न निर्णय बताने वाले धर्मशास्त्रों का 'अहिंसा परम धर्म है' इस बात में तो एक ही मत है।

यतः—सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये।
सर्वस्याऽऽश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ६५॥

अ०—ये नराः सर्वहिंसानिवृत्ता, ये च नराः सर्वसहा, सर्वस्य आश्रयभूताश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः। व्या०—ये नराः=जनाः, सर्वहिंसानिवृत्ताः=सर्वेषां भक्ष्याऽभक्ष्याणां प्राणिनां हिंसा=हननम्, तस्याः (पञ्चमी) निवृत्ताः=पराङ्मुखाः विरता भवन्ति, ये च नराः=जनाः सर्वसहाः=सर्वसुखदुःखमानाऽपमानादिकं सहन्ते इति सर्वसहाः=सर्वसहिष्णवः भवन्ति। अथ च सर्वस्य=सुखिनः दुःखिनो वा शरणागतस्य प्राणिनः, आश्रयभूताः=आधारभूताः, भवन्ति, ते नराः, स्वर्गं गच्छन्तीति स्वर्गगामिनः=स्वर्गवासिनः भवन्ति।

भा०—जो लोग सब प्रकार की हिंसा से निवृत्त हों तथा सर्वद्वन्द्वों के सहनशील हों और सबके आश्रयदाता हों, वे लोग अवश्य स्वर्गगामी होते हैं॥ ६५॥

अन्यच्च—एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥ ६६॥

अ०—एकः धर्मः एव सुहृत्, यः निधने अपि अनुयाति, अन्यत् सर्वं तु शरीरेण समं नाशं गच्छति। व्या०—एकः=केवलः, धर्मः एव=एवकारः इतरव्यावर्तकः, धर्म एव नान्य इत्यर्थः। सुहृत्=मित्रं भवतीति। कुतः? इत्याह—यः=धर्मः, निधनेऽपि=मरणे सत्यपि, अनुयाति=अभीष्टफलदानार्थम् अनुगच्छति, अन्यत् सर्वं तु=धर्माऽतिरिक्तं पुत्रकलत्रादिकं बाह्यं वस्तुजातं पुनः, शरीरेण समं=कायेन सह, नाशं=ध्वंसम्, गच्छति=प्राप्नोति।

भा०—एक धर्म ही मित्र है, क्योंकि वही मरने के समय साथ जाता है और सब पुत्र स्त्री आदि का सम्बन्ध शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है॥ ६६॥

किञ्च—योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यताऽन्तरम्।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते॥ ६७॥

अ०—यः यस्य मांसं यदा अत्ति, (तदा) उभयोः अन्तरं पश्यत। एकस्य क्षणिका प्रीतिः, अन्यः प्राणैः विमुच्यते। व्या०—यः=यः प्राणी, यस्य=प्राणिनः, मांसं=पिशितम्, यदा=यस्मिन् काले, अत्ति=भक्षयति, तदा उभयोः=भक्षकभ-

पक्षपोषणात् अन्तरं = प्रवेशम्, पश्यत = आलोकयत पूर्वमिति शेषः । एकस्य = भक्षकस्य प्राणिनः, क्षणिका—क्षणमात्रस्थायिनी, प्रीतिः—सुखम् भवतीति । अन्यः = भक्ष्यप्राणी तु प्राणैः = असुभिः, वियुज्यते = वियुज्यते इति ।

भा०—जो प्राणी जिस प्राणी का मांस खाता है उन दोनों में भेद तो देखिये । खाने वाले को क्षणमात्र तृप्ति होती है और दूसरे के प्राण ही जाते हैं ॥ ५७ ॥

अपि च—मर्तव्यमिति यद् दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
शक्यस्तेनाऽनुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ ५८ ॥

अ०—पुरुषस्य मर्तव्यम् इति यद् दुःखम् उपजायते तेन अनुमानेन परः अपि परिरक्षितुं शक्यः । व्या०—पुरुषस्य = पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः तस्य जीवस्येत्यर्थः । 'मर्तव्यम्' इत्यस्य मरणं स्यादिति चिन्तया यद् दुःखम् उपजायते—उत्पन्नं भवति तेनानुमानेन स्वस्य यथा मरणेन कष्टं भवति तथा अन्यस्यापि प्राणस्य वधजन्यं दुःखं भवत्येव इति अनुमित्या परोऽपि आत्मभिन्नोऽपि प्राणी परिरक्षितुं = हिंसातो रक्षितुं जीवयितुम् शक्यः = योग्योऽस्तीति । 'शक्यते चानुमानेन परेण परिरक्षितुम्' इति पाठान्तरम् ।

भा०—अपने को (मृत्यु के समय) 'अब मेरा अवश्य मरण होगा' ऐसी चिन्ता से जितना दुःख होता है उतना ही दुःख दूसरे को भी होता है ऐसा समझकर कभी भी किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ ५८ ॥

ननु, कुतः—स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्याऽर्थे कः कुर्यात् पातकं महत् ॥ ५९ ॥

अ०—(यद् उदरम्) स्वच्छन्दवनजातेन शाकेन अपि प्रपूर्यते । अस्य दग्धोदरस्य अर्थे कः महत् पातकं कुर्यात् ? व्या०—यद् उदरम् इति शेषः । स्वच्छन्दवन-जातेन = स्वच्छन्दः अभिप्रायो यस्मिन् तेन = स्वच्छन्देन स्वेच्छया स्वभावत इति यावत्, वनात् जातः उत्पन्नस्तेन = स्वच्छन्दवनजातेन । शाकेनापि = (कर्मणि तृतीया) शाकपत्रफलमूलादिभिरपि प्रपूर्यते भ्रियते यतो । अस्य = एतस्य दग्धोदरस्य = दुष्टं च तदुदरं च दग्धोदरं तस्य अर्थे = हेतोः निमित्तं कृतोदरं तस्येत्यर्थः । कः = को जनः, महत् पातकं जीवहिंसारूपम् अत्युत्कटं पापम् कुर्यात् = आचरेत् ? न कोऽपीत्यर्थः ।

भा०—और भी सुनो, जब वन में स्वाभाविक उत्पन्न शाक, पत्र आदि से भी पेट भर सकते हैं, तब इसके लिए हिंसात्मक बड़ा पाप क्यों किया जाय ? ॥ ५९ ॥

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः । ततो दिनेषु गच्छत्सु असौ पक्षिशावकानाक्रम्य स्वकोटरमानीय प्रत्यहं खादति । अथ येषाम्

पत्यानि खादितानि; तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा। तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः। पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकाः खादिता इति (सर्वैः पक्षिभिः) निश्चित्य स गृध्रो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अज्ञातकुलशीलस्ये'त्यादि।

व्या०—स मार्जारः=दीर्घकर्णः, एवम्=इत्युक्तरूपेण, विश्वास्य=जरद्गवस्य मानसे विश्वासं जनयित्वा, तरुकोटरे=तरोः पर्कटवृक्षस्य कोटरे कुत्रचिद् गह्वरप्रदेशे, स्थितः=वासं करोति। ततः दिनेषु गच्छत्सु=कियति काले व्यतीते सतीत्यर्थः। असौ=बिडालः, पक्षिशावकान्=पक्षिणां शावकास्तान्, आक्रम्य=मारयित्वा, स्वकोटरं=निजनिवासगह्वरम्, आनीय=प्रापय्य, प्रत्यहम्=अहनि-अहनीति प्रत्यहम् (वीप्सार्थेऽव्ययीभावो व्याप्त्यर्थे द्वितीया), प्रतिदिवसमित्यर्थः। खादति=भक्षति। अथ येषां=पक्षिणाम्, अपत्यानि=शावकाः, खादितानि=भक्षितानि, तैः=पक्षिभिः, शोकार्तैः=शोकेन आर्ताः तैः, विलपद्भिः—विलपन्ति इति विलपन्तः, तैः विलपद्भिः=शोकदुःखितैः विलापं कुर्वद्भिश्च सद्भिः, इतस्ततः=अस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे, जिज्ञासा—ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा=नष्टशावकाऽन्वेषणमित्यर्थः। समारब्धा। मार्जारः दीर्घकर्णः, तत्=पक्षिकृतं शावकाऽन्वेषणम्, परिज्ञाय=ज्ञात्वा, कोटरात्=वासभूतगह्वरात्, निःसृत्य=निर्गत्य, बहिः पलायितः। पश्चात्=मार्जारपलायनोत्तरकाले, पक्षिभिः इतस्ततः, शावकानिति शेषः। निरूपयद्भिः=अन्विष्यद्भिः सद्भिः, तत्र तरुकोटरे=वृक्षगह्वरे, शावकास्थीनि=शावकानाम् अस्थीनि, प्राप्तानि—अवलोकितानि। अनन्तरम्=अस्थिप्राप्त्यनन्तरम्, अनेनैव=जरद्गवेन गृध्रेण एव अस्माकं शावकाः खादिताः इत्येवं विनिश्चित्य=अध्यवस्य, स गृध्रः व्यापादितः=मारितः। अतः उक्तकथाऽऽत्मकदृष्टान्तस्य पूर्वं सम्भावितत्वाद् हेतोः, अहं=लघुपतनकनामा ब्रवीमि 'अज्ञातकुलशीलस्येत्यादि' (श्लोकः)।

भा०—वह बिड़ाल इस प्रकार जरद्गव नामक गीध को विश्वास दिलाकर उस वृक्षकी कोटर में रहने लगा और प्रत्येक दिन पक्षियों के बच्चों को पकड़ कर अपनी कोटर में लाकर खाने लगा। अब जिन जिन के बच्चों को वह खा गया था वे सब पक्षी शोकातुर हो विलाप करते हुए अपने बच्चों को खोजने लगे। वह बिड़ाल 'खोज होने लगी' इस बात को जानकर वृक्ष कोटर में से निकल कर अन्यत्र भाग गया। उसके बाद खोज करते हुए पक्षियों ने उस कोटर में अपने बच्चों की हड्डियाँ पायीं। तब सब पक्षियों ने 'इस जरद्गव नामक गीध ने ही हमारे बच्चों को खा लिया है' ऐसा निश्चय करके उस गीध को मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अज्ञातकुलशील' इत्यादि।

इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह—'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवा-

अपि अज्ञातकुलशील एव आसीत्। तत् कथं भवता सह एतस्य स्नेहाऽनुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्धते ?" ॥

व्या०—स शृगालः, इत्थमुपदेशं काकवचनम् आकर्ण्य=श्रुत्वा सकोपं=कोपेन सहितं यथा स्यात् तथा, आह=जगाद। मृगस्य प्रथमदर्शनदिने—प्रथमं च तद्दर्शनं च प्रथमदर्शनं प्रथमदर्शनस्य दिनं तस्मिन् भवान् अपि मृगस्य अज्ञातकुलशीलः—कुलं च शीलं च कुलशीले न ज्ञाते कुलशीले यस्य सः तादृशः, सर्वथा परिचयरहित एव आसीदित्यर्थः। तत्—तथापि भवता सह एतस्य मृगस्य स्नेहानुवृत्तिः=स्नेहस्य अनुवृत्तिः सम्बन्धः। उत्तरोत्तरम्=उत्तरस्मात् उत्तरमिति पश्चात्पश्चात्, कथम्=केन हेतुना प्रकारेण वा, वर्धते ?।

भा०—यह सुनकर सियार क्रोधपूर्वक बोला—'इस हरिण के मिलाप के प्रथम दिन तुम भी तो हरिण के कुलशील को नहीं जानते थे तो भी तुम्हारे साथ इस हरिण का स्नेहभाव उत्तरोत्तर क्यों बढ़ता जाता है ?'।

यतः—यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ ७० ॥

अ०—यत्र विद्वज्जनो नास्ति तत्र अल्पधीः अपि श्लाघ्यः, निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते। व्या०—यत्र यस्मिन् प्रदेशे, विद्वज्जनः=वेत्ति इति विद्वान्, विद्वांश्चासौ जनः विद्वज्जनः पण्डितो लोकः, नास्ति=न वर्तते तत्रप्रदेशे, अल्पधीः=अल्पा स्वल्पा धीः बुद्धिर्यस्य सः निकृष्टबोधोऽपीत्यर्थः। श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः, सम्मानपात्रं भवतीति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-निरस्तेति। पादैः मूलैः पिबतीति पादपः वृक्षः, निरस्ताः नष्टाः पादपा यस्मात् सः तस्मिन्वृक्षशून्ये देशे=प्रदेशे, एरण्डः एरण्डनामा द्रुमः क्षुद्रतरोऽपि सन् द्रुमायते=अद्रुमः द्रुमो भवतीति द्रुमायते इत्यनेन गणना क्रियते यथा तथैवाल्पबुद्धिरेव।

भा०—जहाँ कोई विद्वान् जन नहीं है वहाँ अल्प बुद्धि वाला भी प्रशंसनीय होता है जैसे कि—वृक्षशून्य स्थान में एरण्ड भी बड़ा वृक्ष गिना जाता है ॥ ७० ॥

अन्यच्च—अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७१ ॥

अ०—लघुचेतसाम् 'अयं निजः परो वा' इति गणना उदारचरितानां तु वसुधा एव कुटुम्बकम्। व्या०—लघुचेतसाम्—लघु तुच्छं चेतो मानसं येषां तेषां क्षुद्रबुद्धीनां जनानाम् अयम्=अस्मत्समक्षस्थितः, निजः=आत्मीयः परो वा=अथवा अनात्मीयः, इति गणना=विचारणा, भवतीति शेषः। उदारचरितानां तु—उदारम्=औदार्ययुक्तं चरितं=विचारव्यवहारादिकं येषां तेषां=महानुभावानाम्, वसुधैव—वसूनि धनानि दधातीति वसुधा पृथ्वी एव, कुटुम्बकम्=आत्मीयपरिवारः भवतीति शेषः।

भा०—हल्के चित्त वाले लोगों की–'यह अपना है–यह पराया है'–ऐसी बुद्धि होती है। उदार चित्तवाले तो समग्र पृथ्वी के जनों को ही कुटुम्बी मानते हैं॥ ७१॥

यथा चाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि। मृगोऽब्रवीत्—'किमनेन उत्तरोत्तरेण? सर्वैरेकत्र विश्रम्भाऽऽलापैः सुखमनुभवद्भिः स्थीयताम्।'

व्या०—अयं=मत्समीपवर्ती, मृगः=हरिणः, यथा यादृक् मम बन्धुः=मित्रं भवति, तथा तादृक् भवान् अपि मम बन्धु, (तत) मृग. अब्रवीत्=उक्तवान्, अनेन=एतादृशनिस्तत्त्वेन उत्तरोत्तरेण=उत्तरानुत्तरेण वाक्प्रपञ्चेन, किम्=अलमित्यर्थः। सर्वैः=अस्माभि समस्तै, विश्रम्भालापैः=विश्रम्भेण विश्वासेन आलापा', सम्भाषास्तैः सुखम्=आनन्दम्, अनुभवद्भिः, स्थीयताम्।

भा०—जैसे यह मृग मेरा मित्र है, वैसे तुम भी मेरे मित्र हो। मृग बोला–इन निरर्थक उत्तर प्रत्युत्तरों से क्या काम है? चलो, हम सब एक स्थान में सार्थक वार्तालाप का आनन्द लेते हुए बैठें।

यत'—न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा॥ ७२॥

अ०—कश्चित् कस्यचिद् न मित्रम्, कश्चित् कस्यचिद् न रिपुः, व्यवहारेण मित्राणि तथा रिपव' जायन्ते। व्या०—कश्चिदपि जनः कस्यचिदपि जनस्य व्यक्तिविशेषस्य, मित्र=बन्धु, न भवतीति। एव कश्चिदपि जन, कस्यचिदपि जनस्य, रिपुः=शत्रुरपि न भवतीति। किन्तु व्यवहारेण=अनुकूलेन प्रतिकूलेन वा आचरणेन कार्येण वा, (लोका परस्पर) मित्राणि=सुहृद' बन्धव तथा रिपवः=शत्रवश्च, जायन्ते इति।

भा०—स्वभाव से न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु है। किन्तु अच्छा बुरा व्यवहार होने से ही परस्पर मित्र और शत्रु हो जाते हैं॥ ७२॥

काकेन उक्तम्—'एवमस्तु'। अथ प्रातः सर्वे यथाऽभिमतदेशं गताः। एकदा निभृत शृगालो ब्रूते–'सखे मृग! एतस्मिन्नेव वनैकदेशे सस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति, तदहं त्वां तत्र नीत्वा दर्शयामि'। तथा कृते सति मृग प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति। ततो दिनकतिपयेन क्षेत्रपतिना तद् दृष्ट्वा पाशास्तत्र योजिता। अनन्तरं पुनरागतो मृगः तत्र चरन् पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्–'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात् त्रातुं मित्रादन्य. समर्थः?'। अत्रान्तरे जम्बुकस्तत्राऽऽगत्य उपस्थितोऽचिन्तयत्–'फलितस्तावदस्माकं कपटप्रबन्ध., मनोरथसिद्धिरपि बाहुल्या-

स्मे भविष्यति। यदा पतस्य [illegible] मांसासृगनुलिप्तानि अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्ति'। स च मृगस्तं दृष्ट्वा प्रहर्षितो ब्रूते—'सखे! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम्'।

व्या०—[illegible] प्रातःकाले [illegible] परितः [illegible] मृगे [illegible] सखे! [illegible] इति [illegible] तदा [illegible] [illegible] हितोपदेश [illegible] प्राप्स्यामि [illegible] बाहुल्येन = परिपूर्णरूपेण [illegible] सुपत्स्य [illegible] प्राप्स्यामि। तानि च अस्थीनि बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्ति। [illegible] सखे! [illegible] तावत् = [illegible] मम बन्धनम् [illegible] छिन्धि = [illegible] त्रायस्व = रक्ष।

भा०—[illegible] ने कहा—[illegible] हो। [illegible] मांस [illegible] हड्डियाँ [illegible] एक बार [illegible] मृग ने कहा— [illegible] मित्र के [illegible] [illegible] स्वामी के [illegible] [illegible]

मालिक ने धान्य को खाये हुए देखकर खेत में जाल लगा दिया। उसके बाद फिर आया हुआ मृग खेत में रखे हुए जाल में फँस गया और चिन्ता करने लगा कि—'यमपाश के समान इस व्याधपाश से मित्र बिना दूसरा कौन मेरी रक्षा कर सकता है?' उसी समय जम्बुक वहाँ आया और विचारने लगा कि—'मेरा कपट से किया हुआ प्रयोग सफल हुआ, मेरे मनोरथ की सिद्धि भी खूब पूर्ण होगी, क्योंकि इस मृग के टुकड़े करने पर मांस तथा रुधिर से भरपूर हड्डियाँ मुझे खूब मिलेंगी और मेरे बहुत से भोजन होंगे।' वह जाल में फँसा हुआ मृग इस शृगाल को देख खुश हो कर बोला—हे सखे जम्बुक! जब तक कोई न आ पहुँचे उतने में मेरा बन्धन काट दो और मेरी रक्षा करो।

यतः—आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम्।
माय्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्॥ ७३॥

अ०—आपत्सु मित्रम्, युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिम्, वित्तेषु भार्याम्, व्यसनेषु च बान्धवान्, जानीयात्। व्या०—आपत्सु = विपत्सु समुपस्थितासु मित्रं = सुहृदम्, जानीयात् = परीक्षेत। युद्धे = समरे उपस्थिते सति, शूरं = वीरम्, परीक्षेत। ऋणे = ऋणव्यवहारे उपस्थिते सति, शुचिम् = अकपटं जनं परीक्षेत। वित्तेषु = धनेषु, क्षीणेषु = नष्टेषु सत्सु, भार्यां = स्वपत्नीम्, परीक्षेत। व्यसनेषु = दुःखदिवसेषु सत्सु बान्धवान् परीक्षेत।

भा०—आपत्ति में मित्र की, युद्ध में शूरवीर की, ऋण में सत्यवादी की, गरीबी में स्त्री की और दुःख पड़ने पर बन्धुओं की परीक्षा होती है॥ ७३॥

अपरञ्च—उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥ ७४॥

अ०—य उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे च, राजद्वारे श्मशाने च तिष्ठति सः बान्धवः। व्या०—यः = जनः अपरिचितः सन्नपि, उत्सवे = विवाहाद्युत्सवसमये, व्यसने = विपत्तिकाले, दुर्भिक्षे = दुष्प्रापा भिक्षा यस्मिन् तस्मिन् अन्नाऽभावकाले, राष्ट्रस्य स्वदेशस्य विप्लवे नृपान्तरादिकृताक्रमणात्मकोपद्रवे, राजद्वारे = प्रतिपक्षकृताऽभियोगे सति विचारालये, श्मशाने = शवदाहस्थाने च, तिष्ठति = तनुमनोधनादिना उपकरोति, स एव यथार्थं बान्धवं भवतीति बोध्यम्।

भा०—जो मनुष्य उत्सव के समय, दुःख के समय अन्नाभाव के समय, देश पर आपत्ति आने के समय, राजविचार के समय तथा श्मशान में जाने पर यथाशक्ति तन, मन, धन से उपकार करते हैं, वे ही बन्धु कहाते हैं॥ ७४॥

जम्बुकः पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्याऽचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्धः' ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिताः पाशाः, तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्

क्षेत्रे भविष्यति। यतः एतस्य उत्कृत्यमानस्य मांसासृग्लिप्तान्यस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्ति'। स च मृगस्तं दृष्ट्वा उल्लसितो ब्रूते—'सखे! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम्'।

व्या०—जम्बुकेन उक्तम् = अभिहितम्, एवम् = तथा, भवतु इति। अथ = तदा, सायंसमये सर्वे आगच्छन्तः, यथाभिमतदेशे = स्वस्वाभिमतस्थाने गतेषु सत्सु, मृगः = हरिणः, शृगालः, विकृतस्य एकान्ते स्थितो ब्रूते तमिति शेषः। सखे! एतस्मिन् वनैकदेशे = अरण्यस्यैकभागे सस्यपूर्णं = सस्यैः परिपूर्णम्, क्षेत्रं = कृषिभूमिः, अस्ति = विद्यते। अहं तत्र = तद् स्थितम् तीक्ष्णा = प्रापय्य त्वां तत् क्षेत्रं दर्शयामि। तथा कृते सति = क्षेत्रे दर्शिते सति स मृगः प्रत्यहं = प्रतिदिवसम्, तत्र क्षेत्रे गत्वा सस्यं खादति = भक्षयति। ततः = तदनन्तरं दिवसेषु कतिपयेषु गच्छत्सु सत्सु, क्षेत्रस्य पतिस्तेन क्षेत्रस्वामिना तद् दृष्ट्वा = क्षेत्रे भक्षितसस्यानि ज्ञात्वा तत्र = क्षेत्रे, पाशाः = मृगबन्धनसाधनानि, योजिताः। अनन्तरं पुनः आगतो मृगः तत्र क्षेत्रे चरन् पाशैः = पाशेन, बद्धः सन् अचिन्तयत् = मनसि व्याचारयत्, पाशबद्धं मम इतः = अस्मात् कालपाशादिव = कालस्य यमस्य पाशवत्पाशात्, एव अस्मात्पाशादिवार्थे, व्याधस्य पाशात् त्रातुं = रक्षितुम्, मित्रादन्यः = मित्रातिरिक्तः, कः समर्थः भविष्यति? न कोऽपीत्यर्थः। अत्रान्तरे = तस्मिन्नेव समये सः जम्बुकः, तत्र क्षेत्रे आगत्य उपस्थितः सन् अचिन्तयत् = मनसि कृतवान्। तावत् = यावत्पर्यन्तम् अस्माकम् कपटप्रबन्धेन = कपटेन प्रबन्धः कृतः, सम्यक् अवसरो जातः। तेनास्य, मनोरथसिद्धिरपि = मनोऽभीष्टस्य सम्पत्तिः, बाहुल्यात् = परिपूर्णत्वात्, भविष्यति। यतः = यस्माद्धेतोः, उत्कृत्यमानस्य = कर्त्यमानस्य छिद्यमानस्य त्वाचस्यास्येति यावत्। एतस्य = मृगस्य, मांसासृग्लिप्तानि = मांसेन असृजा रुधिरेण लिप्तानि मांसासृग्लिप्तानि (अस्थीनि) तेन विसृजति = सम्प्राप्नोति, अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च अस्थीनि बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्तीति। [सः बन्धनस्थो मृगः तं जम्बुकं दृष्ट्वा, उल्लसितः = प्रहृष्टः सन् तं जम्बुकं ब्रूते—हे सखे! जम्बुक! तावत् = यावत् न कश्चिदागच्छति तावत्, मम बन्धनं—पाशम्, छिन्धि = कर्तय, मां सत्वरं = शीघ्रमेव त्रायस्व = रक्ष।

अनु०—स्यार ने कहा—'ऐसा ही हो'। उसके बाद सायंकाल सब आदि अपने अपने स्थानों को चले गये। एक बार एकान्त में गीदड़ ने मृग से कहा—'मित्र मृग! इस वन के एक भाग में धान्यादि से परिपूर्ण एक खेत है। मैं तुमको उसके निकट ले जाकर बताता हूँ।' [illegible]

मालिक ने धान्य को खाये हुए देखकर खेत में जाल लगा दिया। उसके बाद फिर आया हुआ मृग खेत में रखे हुए जाल में फँस गया और चिन्ता करने लगा कि—'यमपाश के समान इस व्याधपाश से मित्र बिना दूसरा कौन मेरी रक्षा कर सकता है?' उसी समय जम्बुक वहाँ आया और विचारने लगा कि—'मेरा कपट से किया हुआ प्रयोग सफल हुआ, मेरे मनोरथ की सिद्धि भी खूब पूर्ण होगी, क्योंकि इस मृग के टुकड़े करने पर मांस तथा रुधिर से भरपूर हड्डियाँ मुझे खूब मिलेंगी और मेरे बहुत से भोजन होंगे।' वह जाल में फँसा हुआ मृग इस शृगाल को देख खुश हो कर बोला—हे सखे जम्बुक! जब तक कोई न आ पहुँचे उतने में मेरा बन्धन काट दो और मेरी रक्षा करो।

यतः—आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम्।
भार्य्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्॥ ७३॥

अ०—आपत्सु मित्रम्, युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिम्, वित्तेषु भार्याम्, व्यसनेषु च बान्धवान्, जानीयात्। व्या०—आपत्सु = विपत्सु समुपस्थितासु मित्र = सुहृदम्, जानीयात् = परीक्षेत। युद्धे = समरे उपस्थिते सति, शूर = वीरम्, परीक्षेत। ऋणे = ऋणव्यवहारे उपस्थिते सति, शुचिम् = अकपट जनं परीक्षेत। वित्तेषु = धनेषु, क्षीणेषु = नष्टेषु सत्सु, भार्यां = स्वपत्नीम्, परीक्षेत। व्यसनेषु = दुःखदिवसेषु सत्सु बान्धवान् परीक्षेत।

भा०—आपत्ति में मित्र की, युद्ध में शूरवीर की, ऋण में सत्यवादी की, गरीबी में स्त्री की और दुःख पड़ने पर बन्धुओं की परीक्षा होती है॥ ७३॥

अपरञ्च—उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥ ७४॥

अ०—य उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे च, राजद्वारे श्मशाने च तिष्ठति सः बान्धव। व्या०—य = जन अपरिचित सन्नपि, उत्सवे = विवाहाद्युत्सवसमये, व्यसने = विपत्तिकाले, दुर्भिक्षे = दुष्प्रापा भिक्षा यस्मिन् तस्मिन् अन्नाऽभावकाले, राष्ट्रस्य स्वदेशस्य विप्लवे नृपान्तरादिकृताक्रमणात्मकोपद्रवे, राजद्वारे = प्रतिपक्षकृताऽभियोगे सति विचारालये, श्मशाने=शवदाहस्थाने च, तिष्ठति= सन्तुमनोधनादिना उपकरोति, स एव यथार्थं बान्धव भवतीति बोध्यम्।

भा०—जो मनुष्य उत्सव के समय, दुःख के समय अन्नाभाव के समय, देश पर आपत्ति आने के समय, राजविचार के समय तथा श्मशान में जाने पर यथाशक्ति तन, मन, धन से उपकार करते हैं, वे ही बन्धु कहाते हैं॥ ७४॥

जम्बुकः पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्याऽचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्ध' ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिताः पाशाः, तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्

कथमेतैः स्पृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत् त्वया वक्तव्यं तत् कर्तव्यम्' इति । अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्य इतस्ततोऽन्विष्यन् तथाविधं तं दृष्ट्वा उवाच—'सखे ! किमेतत् ?' मृगेणोक्तम् 'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत् । तथा चोक्तम्—

व्या०—अमुना=मयाकम्, पाशं, मुहुर्मुहुः=वारं वारम् निरीक्षमाणश्चिन्तयन्=मनसि कुर्वन् अयं पाशस्य बन्धः दृढः=कठिनतमः, अस्तीति शेषः। (तावत् त्वमेव) मृगे च—सखे मृग ! स्नायुनिर्मिताः=स्नायुभिः देहस्थधर्मविशेषैः, निर्मिताः=रचिताः, पाशाः=बन्धनरज्जवः सन्ति । अद्य=अस्मिन्दिने, रविवासरे भट्टारकवारेऽस्मिन्दन्तैर्न स्पृशामि [illegible] देवेनेति यावत् । अथ, भट्टारकवासरे सूर्यो हि पूज्यत्वादित्यात् 'भट्टारक' इत्युच्यते, तस्य वासरे, एतान्=स्नायुपाशान् कथं दन्तैः=दशनैः, स्पृशामि ? मित्र ! मृग ! यदि (त्वं स्वस्य) चित्ते, अन्यथा=मम नीतिवाक्यं गुरुतरं मन्यसे अस्मत्कृते—इति कृत्वा विपरीतं दुष्टमित्यर्थः । तादृशं दुष्टं न मन्यसे चेत् । तदा प्रभाते त्वया यद् वक्तव्यं मोचनोपायकथनम्, तत् तेनैवमायाप्रयासरूपेणैव मया कर्तव्यमिति । अनन्तरं=तदनु सः काकः, प्रदोषकाले=सायंसमये, मृगमनागतमवलोक्य इतस्ततः=समन्तात् अन्विष्यन्=अन्वेषणं कुर्वन् सन् तथाविधं=पाशबद्धं स्थितं तं=मृगम् दृष्ट्वा उवाच—सखे मृग ! एतत्=पाशबन्धनरूपम्, किं=किं निमित्तं जातमिति । मृगेण उक्तम्—एतत्=बन्धनम्, अवधीरितम्=अवज्ञातम् अस्वीकृतं यत् सुहृदः मित्रस्य वाक्यं वचनं तस्य फलं=परिणामः अस्ति ।

भा०—इसके बाद हिरन के बन्धन को बारम्बार देख कर मन में सोचा कि 'यह बन्धन तो बड़ा मजबूत है ।' और कहा कि—'मित्र हिरन ! स्नायु के बनाये हुए ये पाश हैं । आज रविवार के रोज मैं दाँतों से इनको कैसे छूऊँ ? क्योंकि रविवार को दाँत काटना निषिद्ध है । मित्र मृग ! यदि तुम अपने चित्त में विपरीत नहीं मानो तो सुबह होते ही तुम जो कहोगे सो मैं करूँगा ।' इसके बाद वह कौआ सायं-काल के समय मृग को नहीं आया देखकर इधर-उधर खोजते खोजते बन्धन में बँधे हुए मृग को देखकर बोला—'हे मृग ! यह बन्धन कैसे हुआ ?' मृग बोला—'मित्र का वचन नहीं मानने का यह फल है' । कहा भी है—

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
विपत् सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ७२ ॥

व्या०—यः हितकामानां सुहृदां भाषितं न शृणोति तस्य विपत् सन्निहिता स नरः

नर' शत्रुनन्दन.। व्या०—य.=अन.; हितकामानां=हितम् अनुकूलम् इष्टं काम॰यन्ते इति हितकामा. तेषां=हितार्थिनाम्. सुहृदाम्—शोभन हृदय येषान्ते तेषां=बन्धूनाम्, भाषितम्=उपदेशवचनम्, न शृणोति=नाङ्गीकरोति, तस्य=जनस्य, विपत्=विपत्ति, सन्निहिता=उपस्थिता निकटवर्तिनी भवति, सः=तादृश., वरः=जनः, शत्रुनन्दन'=नन्दयतीति नन्दन, शत्रूणामानन्दकरो भवतीति।

भा०—जो लोग हितकारक मित्रों के वचनों को नहीं मानते हैं उनको आपत्तियाँ शीघ्र आती हैं और वे शत्रुओं के आनन्ददाता बन जाते हैं, क्योंकि उनको आपत्तिमग्न देखकर शत्रु लोग खुश होते हैं॥ ७५॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः काऽऽस्ते ?' मृगेणोक्तम्—'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव'। काको ब्रूते—'मित्र ! उक्तमेव मया पूर्वम्।'

व्या०—काक ब्रूते=कथयति, सः वञ्चक.=प्रतारक शृगालः, क=कस्मिन्प्र॰देशे, आस्ते=तिष्ठति ? मृगेण उक्तम्—मन्मांसार्थी=मम मांसम् अर्थयते इति मन्मांसार्थी शृगाल', अत्रैव=प्रदेशे, तिष्ठति। काक ब्रूते-मित्र मृग ! मया पूर्वं=प्रागेव, उक्तम्=अभिहितम्।

भा०—काक बोला—'वह ठग शृगाल कहाँ है ?' मृग ने कहा—'मेरा मांस खाने की इच्छा रखने वाला वह यहीं ही है'। काक ने कहा—'वह तो मैंने प्रथम ही कहा था'।

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम्।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि॥ ७६॥

अ०—मे अपराध' न अस्तीति एतद् विश्वासकारण न, हि नृशंसेभ्य' गुणवता॰मपि भय विद्यते। व्या०—मे=मम, अपराध =दोषः, नास्ति=न विद्यते, इति एतत्=एतावच्चिन्तनम्, विश्वासकारण—विश्वासस्य कारण विश्वासकारण=विसर्गक्रूरे प्रत्ययहेतु, न भवतीति शेष। हि निश्चयार्थं। नृशंसेभ्य =नॄन् शंसन्ति हिंसन्ति ये ते नृशंसा तेभ्य, गुणवतामपि—गुणा सन्ति येषामिति गुणवन्त तेषां=निरप॰राधानामपीत्यर्थ'। भयम्=अनिष्टाशङ्का, भवत्येव।

भा०—'मेरा कुछ भी अपराध नहीं है ? इसलिये यह मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं करेगा' ऐसा विश्वास कभी नहीं रखना चाहिये। क्योंकि क्रूर पुरुष निरपराधियों का भी पूर्ण अनिष्ट करता है, अत उससे डर रहता है॥ ७६॥

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गताऽऽयुषः॥ ७७॥

अ०—गतायुष' दीपनिर्वाणगन्ध न जिघ्रन्ति, सुहृद्वाक्य न शृण्वन्ति, अरुन्धतीं न पश्यन्ति। व्या०—गतम् गतायुष'=निकटनिधना जना दीप-

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible] ॥ ७८ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

शिन वशिन कृता' तेषां=वशमागीतानामित्यर्थः। अद्दधतां=श्रद्धां विश्वासं च कुर्वताम्, आशावताम्=आशाः स्वेष्टप्राप्तिविषयका मनोरथविशेषाः ताः सन्ति येषां तेषाम्=अर्थिनामित्यर्थः। किं=किं कार्यम्, वञ्चयितव्यं=वञ्चनया साधितव्यम्, अस्ति? न किमपीत्यर्थः। उपजाति वृत्तम्।

भा०—जगत् में मधुर वचनों से प्रलोभित किये हुए तथा कपट से वश में किये हुए एव श्रद्धालु और आशावाले जनों को वञ्चित करना कोई अच्छा काम नहीं है, इसलिए तुमने यह काम अच्छा नहीं किया॥ ७९॥

अन्यच्च—उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम्।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे! कथं वहसि॥८०॥

अ०—य. उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ पाप समाचरति, असत्यसन्ध तं जनं हे भगवति वसुधे! (त्व) कथ वहसि? व्या०—यः=जन., उपकारिणि—उपकरोतीति उपकारी तस्मिन्=उपकारतत्परे, विश्रब्धे=कृतविश्वासे, शुद्धमतौ=शुद्धा अकपटा विमला मतिर्यस्य स तस्मिन्=कपटरहिते, एतादृशे जने, पापं=कपटव्यापारम्, समाचरति=सम्यग् ज्ञात्वा करोति। असत्यसन्धम्=असत्ये कापट्यव्यवहारे सन्धा=प्रतिज्ञा यस्य त प्रतारणप्रधानम्, त तादृशम्, जनम्, हे भगवति! =ऐश्वर्यशालिनि पूज्ये वसुधे!=वसुन्धरे! त्व कथं=केन प्रकारेण वहसि?। आर्या जातिः।

भा०—हे भगवति पृथिवी! तुम ऐसे लोगों को कैसे धारण करती हो? जो उपकारी, शुद्ध विचार वाले एव विश्वस्त जनों के साथ विश्वासघात का पाप करते हैं॥ ८०॥

दुर्जनेन समं सख्यं वैरञ्चाऽपि न कारयेत्।
उष्णो दहति चाऽङ्गारः शीतः कृष्णायते करम्॥ ८१॥

अ०—दुर्जनेन समं वैर सख्य चापि न कारयेत्। उष्ण अङ्गार' करं दहति शीतश्च कर कृष्णायते। व्या०—दुष्ट जनः दुर्जन तेन=खलेन समं=सार्धं, वैरं=शत्रुतां, तथा सख्य=मित्रतां चापि न कारयेत्। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति—उष्ण इति। उष्णः=प्रदीप्त', अङ्गार=अलातम्, कर=तत्स्पृष्ट हस्त दहति, अथ च शीत' अनुष्ण. स 'कृष्णल' इत्यर्थः, कर कृष्णायते=कृष्ण करोति।

भा०—दुर्जन से वैर अथवा मित्रता कुछ भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह दोनों स्थिति में अनिष्ट करता है, जैसे तप्त अङ्गार छूने से हाथ को जलाता है और ठण्डा होने पर छूने से काला करता है॥ ८१॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्—

भा०—अथवा दुर्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे रौति शनैर्विचित्रम्।

छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८९ ॥

अ०—मशकः खलस्य सर्वं चरितं करोति यतः पादयोः पतति पृष्ठमांसम् अत्ति कर्णे किमपि विचित्रं मधुरं शनैः रौति छिद्रं निरूप्य अशङ्कः सहसा प्रविशति। व्या०—मशकः=मशकजातीयः क्षुद्रजन्तुविशेषः, खलस्य=दुष्टजनस्य सर्वं=बहुविधम् चरितम्=आचरणं करोति। तदेव दर्शयति—प्रथमेति। प्रथमम्=पूर्वम् अग्रे समीप इत्यर्थः। पादयोः=चरणयोः चरणयोः, पतति ततः पृष्ठमांसम्=पृष्ठे मांसं पृष्ठमांसं पृष्ठे स्थितम् मांसं खादति। कर्णे च गत्वा विचित्रं कर्णमधुरं च किमपि अव्यक्तशब्दं शनैः शनैः रौति छिद्रम्=प्रवेशद्वारं निरूप्य=अवलोक्य अशङ्कः=भयरहितः सन् सहसा=झटिति प्रविशति। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

भा०—मच्छर में खल पुरुष का सब चरित मिलता है—पहिले तो सामने प्रथम पैरों पर गिरता है, पीछे पीठ पर मांस खाता है, कानों में जाकर अस्पष्ट बोलता है और छिद्र देखकर अनायास प्रवेश करता है॥ ८९॥

तथा च—दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम्॥ ९०॥

अ०—दुर्जनः प्रियवादी चैतत् विश्वासकारणं न जिह्वाग्रे मधु तिष्ठति हृदि तु हालाहलं विषम्। व्या०—दुर्जनः=खलः, प्रियवादी—प्रियं वदतीति प्रियवादी=मधुरभाषी एतत्=प्रियवादित्वं विश्वासकारणं=विश्वासस्य कारणं तु न भवति यतः दुर्जनस्य जिह्वाग्रे—जिह्वाया अग्रे तस्मिन्=रसनाग्रभागे मधु=सुमधुरं वचो मात्रं तिष्ठति अन्तः च हृदि=अन्तःकरणे तु हालाहलं विषं तिष्ठतीति।

भा०—दुर्जन पुरुष प्रिय बोलता है लेकिन प्रियवचन से ही उसका विश्वास नहीं करना, क्योंकि उसकी जीभ में ही मधुरता रहती है अन्तःकरण में तो हलाहलरूपी जहर भरा रहता है॥ ९०॥

अथ प्रभाते स क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशम् आगच्छन् काकेनावलोकितः। तमवलोक्य काकेन उक्तम्—'सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत्सन्दर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान् स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। अहं तव चक्षुषी चञ्च्वा किमपि विलिखामि। यदा अहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे'। मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः, अथाऽसौ—'आः स्वयं मृतोऽसि!'—इत्युक्त्वा मृगं बन्धनात् मोचयित्वा पाशान् संवरीतुं (संग्रहीतुं) सत्वरो (सयत्नो) बभूव। ततः

क्रियद्दूरे अन्तरिते क्षेत्रपतौ स मृगः काकस्य शब्दं श्रुत्वा सत्वरमुत्थाय पलायित। तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात् क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो व्यापादितः।

व्या०— अथ = अनन्तरम्, प्रभाते, लगुडहस्त लगुडो हस्ते यस्य सः एतादृश, क्षेत्रस्य पतिः स्वामी, त प्रदेश प्रति आगच्छन् = आव्रजन्, काकेनावलोकित = दृष्ट काकेन त क्षेत्रपतिम् अवलोक्य उक्तम् = मृगाय अभिहितम्–सखे मृग! त्वम् आत्मानं=स्वशरीर, मृतवत् = मृतमिव, सन्दर्श्य = दर्शयित्वा, उदर वातेन = पवनेन, पूरयित्वा, पादान् = चरणान् स्तब्धीकृत्य=अस्तब्धान् स्तब्धान् कृत्वा इति स्तब्धीकृत्य, स्थिरीकृत्येत्यर्थः। तिष्ठ = अवस्थान कुरु, अह चञ्च्वा = चञ्च्वग्रेण, चक्षुषी = लोचने, किमपि = शनै शनै, विलिखामि = विकर्षामि, यदा अह शब्द = निनाद, करोमि = करिष्यामि, तदा, त्व सत्वर = झटिति, उत्थाय, पलायिष्यसे = धावित्वा अन्यप्रदेश गमिष्यसीति। स मृग. काकस्य वचनेन = उपदेशानुसारेण, तथैव = यथाकथित तदवस्थ एव, स्थित = अवतस्थे। ततः तदुत्तर, क्षेत्रपतिना= क्षेत्रस्य पति तेन, हर्षोत्फुल्ललोचनेन हर्षेण उत्फुल्ले लोचने यस्य स तेन = पाशबद्धमृगदर्शनजन्यानन्दप्रयुक्तविस्फारितनेत्रेण तथाविध = तादृशी विधा पाशबद्धाऽवस्था यस्य स तादृश, मृगः = हरिण आलोकित, अथ = आलोकनानन्तरम्, असौ = क्षेत्रपति, आ = आश्चर्ये, हर्ष अव्ययम्। स्वय=स्वेनैव मत्प्रयत्नमन्तरेणैव, मृतोऽसि = निधन गतोऽसि त्वम्, इत्येतत् उक्त्वा मृग, बन्धनात् = पाशात्, मोचयित्वा = मुक्तबन्ध कृत्वा, पाशान् = विस्तीर्णजालानि, सवरीतु = सङ्क्षेप्तुम्, सहर्तुमिति यावत्, सत्वर = शीघ्रंयत्नो बभूव। तत = अनन्तर क्षेत्रपतौ, कियद्दूरे = किञ्चित् दूरम्, अन्तरिते=व्यतिगते सति, स मृग काकस्य शब्द पूर्वकृतसङ्केतानुसार श्रुत्वा सत्वरमुत्थाय पलायित = प्रधावितवान्। त= पलायमान मृगम्, उद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य, तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात्—क्रोधात्, निक्षिप्तेन = बलात् क्षिप्तेन, लगुडेन = दण्डेन, शृगाल = मध्ये स्थितो वञ्चको जम्बूक, व्यापादित = मारित मरण गत इति भाव।

भा०—उस के बाद प्रभात में काक ने उस खेत के मालिक को हाथ से डण्डा लेकर खेत में आते हुए देखा। उसे देख कर काक ने कहा—'मित्र हरिण! तुम अपने को मृत के सदृश दिखाकर, श्वास से पेट को फुलाकर, पैरों को कड़ाई से फैलाकर पड़े रहो, मैं चोंच से तुम्हारी आंखों को धीरे धीरे नोचता (छूता) हू, जब मैं बोलूं, उसी समय तुम उठ कर एकदम भाग जाना'। वह मृग काक के कहने से वैसा ही मृतवत् हो गया तदनन्तर खेत के मालिक ने (दूर से ही) प्रसन्नतापूर्ण नेत्रों से फँसे हुए मृग को देखा, किन्तु समीप आने पर कहा—'अहा! अपने से ही मर कर पड़े हो'–ऐसा कहकर मृग को

सम्बन्ध से कुछ करते काक को सम्बोधित करते करते थोड़ी दूर गया कि व्याध का बाण छूटा और उसको छूकर वह जम्बुक पकड़ जाता । तब क्षेत्रपति ने क्रोधित हो कर पीछे से चलाते हुए दण्ड के ऊपर फेंका और वे उसकी चोट से वह जाते हैं बीच में छिपा हुआ जम्बुक मार खाकर मर गया ।

तथा चोक्तं—त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।

अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८४ ॥

अ०—(जनः) अत्युत्कटैः पापपुण्यैः फलम् इहैव त्रिभिः वर्षैः त्रिभिः मासैः त्रिभिः पक्षैः त्रिभिः दिनैः अश्नुते । व्या०—अत्युत्कटैः = अतिशयैः, पापपुण्यैः—पापानि च पुण्यानि च तैः—कर्मधारयः, अतिप्रबलैः, फलम्—शुभाशुभपरिणामम्, इहैव—अस्मिन्नेव जन्मनि, त्रिभिः वर्षैः—वत्सरैः, वर्षत्रयेणेत्यर्थः । त्रिभिर्मासैः—मासत्रयेण त्रिभिः पक्षैः = पक्षत्रयेण, त्रिभिर्दिनैः = दिनत्रयेण वा अश्नुते = भुङ्क्ते ।

भा०—अतिशय पाप पुण्य के फल इसी जन्म में तीन वर्ष में अथवा तीन मास में, तीन पक्ष में या तीन दिन में भोगना पड़ता है ॥ ८४ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि ।

भा०—इसलिये मैं कहता हूँ कि—'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि ।

(इति मृगकाकजम्बुककथा)

काकः पुनराह—(काक ने फिर से कहा)—

भक्षितेनाऽपि भवता नाऽऽहारो मम पुष्कलः ।

त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवाऽनघ ! ॥ ८५ ॥

अ०—हे अनघ ! भवता भक्षितेनापि मम पुष्कलः आहारो न त्वयि जीवति चित्रग्रीव इव जीवामि । व्या०—हे अनघ ! निष्पाप ! भवता = त्वया, भक्षितेनापि खादितेनापि, त्वद्भक्षणेनापीत्यर्थः । मम पुष्कलः—अतिशयेन सम्पूर्णः, आहारः—भोजनं न भवतीति । किन्तु त्वयि = भवति जीवति जीवति इति जीवन् तस्मिन् सति, चित्रग्रीवनामकः कपोतराज इव जीवामि (जीविष्यामीत्यर्थे लट्) ।

भा०—हे निष्पाप ! हिरण्यक मूषिकराज ! तुमको खाने से मेरा भोजन भी पूर्ण नहीं होगा और तुम्हारे जीवित रहने पर मैं भी चित्रग्रीव के समान बहुत से आनन्द सुख का अनुभव करूँगा ॥ ८५ ॥

अन्यच्च—तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम् ।

सतां हि साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते ॥ ८६ ॥

अ०—पुण्यैककर्मणां तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः हि सतां साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते । व्या०—पुण्यैककर्मणाम्—पुण्यमेव एकं कर्म येषां ते पुण्यैक

न हित

कर्माणस्तेषाम्=धार्मिकाणामित्यर्थः । तिरश्चां=पश्वादीनामपि, विश्वासः=विश्रम्भ, दृष्ट=दृश्यते बहुधा । तत्र हेतुमाह=सतामिति । हि=यस्माद्धेतो., सतां=धार्मिकाणां सत्पुरुषाणाम्, साधुशीलत्वात्-साधु=सौम्य हितकर कापट्यरहित शील येषान्ते साधुशीलाः, तेषां भावस्तस्मात् , स्वभाव =स्वेषां भाव हितकरत्वादिसद्गुणाऽनुरूपो निसर्गः, न निवर्तते=कदाचिदपि न विलीयते इति ।

भा०—केवल पुण्यशील कार्यों को करनेवाले पशुओं का भी विश्वास करना चाहिये । क्योंकि जो साधु स्वभाव वाले होते हैं उनका सत्स्वभाव कभी नहीं बदलता है ॥ ८६ ॥

किञ्च—साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया ॥ ८७ ॥

अ०—प्रकोपितस्यापि साधोः मन विक्रियां न आयाति हि तृणोल्कया सागराम्भ. तापयितु न शक्यम् । व्या०—प्रकोपितस्य=प्रकर्षेण कोपितस्य क्रोधितस्यापि, साधोः=सज्जनपुरुषस्य, मन.=चित्त, विक्रियां=विकारम् न आयाति=न प्राप्नोति, हि, तथा हि तृणोल्कया=तृणस्य घासस्य उल्का अग्निज्वाला तया तृणवह्निशिखयेत्यर्थः । सागराम्भ'=सागरस्य समुद्रस्य अम्भः जलम्, तापयितु=उष्ण कर्तुं, न शक्यमिति ।

भा०—क्रोध दिलाने पर भी सत्पुरुषों के हृदय में कुछ भी विकार नहीं होता है, जैसे घास की अग्नि समुद्र के जल को गरम नहीं कर सकती है ॥ ८७ ॥

हिरण्यको ब्रूते—'चपलस्त्वम् , चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्य.' ।

व्या०—हिरण्यकः स मूषिकराजः ब्रूते-त्व चपलः=चञ्चलप्रकृति. असि, चपलेन=चपलस्वभावेन जनेन, सह=सार्धम्, स्नेह सर्वथा=सर्वप्रकारेणापि न कर्तव्य इति ।

भा०—हिरण्यक ने कहा—'तू चपल है, चपल स्वभाववालों के साथ किसी प्रकार से स्नेह नहीं करना चाहिये' ।

तथा चोक्त—मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा ।
विश्वासात् प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नो हितः ॥ ८८ ॥

अ०—मार्जार महिष मेष काकः तथा कापुरुष एते विश्वासात् प्रभवन्ति, तत्र विश्वासः नो हित । व्या०—मार्जारः=विडाल , महिषः=लुलाय ,मेषः=उरभ्र', काकः=वायस , कापुरुष =कुत्सित पुरुष , एते पञ्च विश्वासात्=तेषु विश्वासकरणात् , प्रभवन्ति=अनिष्ट कर्तुं प्रभव समर्थाः भवन्ति । अत एव तत्र=तेषु पञ्चसु विश्वास' कदाऽपि हित —हितकर', नो=न हि, भवति । (नोचित इति पाठान्तरम्) ।

भा०—बिडाल, भैंसा, भेड़ा, काक तथा कापुरुष ये पांच विश्वास करने से ही अनिष्ट करने में समर्थ बनते हैं, उनका विश्वास कभी हितकारक नहीं होता ॥ ८८ ॥

किञ्चान्यत्—'शत्रुपक्षो भवानस्माकम्। शत्रुणा सन्धिर्न विधेयः'।

व्या०—किञ्च अन्यत्=अन्यदपि वक्तव्यमस्तीति शेषः। तदेवं दर्शयति शत्रुपक्ष इति। भवान् = त्वं विडालः, अस्माकं=मूषिकाणाम्, शत्रुपक्षः=शत्रुरसीति। शत्रुणा सह सन्धिः=मैत्र्यं न विधेय इति।

भा०—और भी, तुम (बीला) हमारी (मूषिक जाति के) शत्रु हो इसलिये शत्रु के साथ मेल नहीं रखना चाहिये।

उक्तञ्च—शत्रुणा न हि सन्दध्यात् सुश्लिष्टेनापि सन्धिना।

सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ८९ ॥

अ०—सुश्लिष्टेनापि सन्धिना शत्रुणा न हि सन्दध्यात्। सुतप्तमपि पानीयं पावकं शमयत्येव। व्या०—सुश्लिष्टेनापि=सुदृढेनापि सन्धिना=सन्धानेन मेलनेन, शत्रुणा सह न हि सन्दध्यात्=नैव सम्मिलेत्। तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति—सुतप्तमिति। अतितप्तम् अतीव उष्णमपि पानीयं पावकम्=वह्निं, शमयत्येवेति।

भा०—शत्रु के साथ दृढ सन्धि करने पर भी उसका पूर्ण विश्वास कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि खौला हुआ भी जल आग को बुझा ही देता है ॥ ८९ ॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।

मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ ९० ॥

अ०—विद्ययाऽलङ्कृतः सन् अपि दुर्जनः परिहर्तव्यः, मणिना भूषितः असौ सर्पः किं भयङ्करः न (भवति)। व्या०—विद्यया=शास्त्रज्ञानेन, अलङ्कृतः=युक्तः सन् अपि दुर्जनः=दुष्टस्वभावो जनः, परिहर्तव्यः=त्यक्तव्यः। तथाहि—मणिना भूषितः=शिरोरत्नेन अलङ्कृतः, असौ=एषः, सर्पः=भुजङ्गः किमिति अर्थे। भयङ्करः=भयावहो न भवति अपितु भवत्येवेत्यर्थः।

भा०—दुर्जन पुरुष के विद्वान् होने पर भी उसका सर्वथा त्याग करना ही उचित है। क्योंकि मणि से सुशोभित होने पर भी सर्प क्या भयानक नहीं होता है ॥ ९० ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत्।

नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९१ ॥

अ०—यत् अशक्यं तत् न शक्यम्, यत् शक्यं तत् शक्यमेव, उदके शकटं न याति स्थले च नौः न गच्छति। व्या०—यत्=यत्कार्यम् अशक्यं=सर्वथा साधयितुं न पार्यते तत् न शक्यमेव=तत्कार्यं सर्वथा साध्यमेव न भवतीति। यच्च यत् कार्यं शक्यं=सुसाध्यम्, तत्=कार्यं सर्वथा साध्यमेव भवति। तथा हि—उदके=जले, शकटं=यानविशेषः, न याति=न गच्छति। स्थले च, नौः=नौका न गच्छतीति।

भा०—जो असम्भावित है वह कभी नहीं हो सकता और जो शक्य है वही सम्भव हो सकता है। जैसे जल में रथ नहीं चलता और स्थल में नौका नहीं चल सकती ॥ ९१ ॥

अपरञ्च—महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ९२ ॥

अ०—यः महता अपि अर्थसारेण शत्रुषु विरक्तासु भार्यासु च विश्वसिति, तस्य जीवन तदन्तं (भवति) । व्या०—यः = जनः, महता अपि = गुरुणाऽपि, अर्थसारेण = श्रेष्ठप्रयोजनेन, शत्रुषु = अनिष्टकारिषु, विरक्तासु = स्वस्मिन्ननरक्तासु, भार्यासु = स्त्रीषु च, विश्वसिति = विश्वास करोति, तस्य = विश्वस्तजनस्य, जीवनम् = आयु, तदन्तम् = स विश्वास एव अन्तो नाशो यस्य तत् तदन्त भवतीति ।

भा०—बड़े भारी प्रयोजन के लिये भी शत्रु में तथा अपने में स्नेहशून्य स्त्री में जो लोग विश्वास रखते हैं, उस विश्वास में ही उनका प्राणनाश हो जाता है ॥ ९२ ॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वं, तथाऽपि ममैतावानेव सङ्कल्पः, यत् त्वया सह सौहृद्यम् अवश्यं करणीयमिति । अन्यथा अनाहारेणाऽऽत्मानं तव द्वारि व्यापादयिष्यामीति' ।

व्या०—लघुपतनकनामा काकः ब्रूते-मया सर्वं=समस्तं भवदुक्तं, श्रुतम्=आकर्णितम्, तथाऽपि=सर्वस्मिन् श्रुतेऽपि, मम एतावान् = वक्ष्यमाणस्वरूपः, सङ्कल्पः= मनोरथः, अस्तीति शेष । तदेव दर्शयति—यदिति । त्वया मूषिकेण सह सौहृद्य = मैत्र्यम् , अवश्य = निश्चयात् , करणीय = कर्तव्यमिति । अन्यथा=यदि मैत्र्य न करिष्यसि, तदा तव द्वारि = अङ्गणे, अनाहारेण = अनशनेन, आत्मान = शरीरम् , व्यापादयिष्यामि = नाशयिष्यामीति ।

भा०—लघुपतनक काक ने कहा—'मैंने तुम्हारा कहना सब सुना, लेकिन मेरा तो यही सङ्कल्प है कि—तुम्हारे साथ मित्रता करना, अगर मित्रता नहीं करोगे तो तुम्हारे द्वार पर ही अनशन व्रत करके प्राण तज दूँगा' ।

तथा हि—मृद्घटवत् सुखभेद्यो दु सन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥ ९३ ॥

अ०—दुर्जनः मृद्घटवत् सुखभेद्य दुःसन्धानश्च भवति, सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्य आशु सन्धेयश्च (भवति) । व्या०—दुर्जन = दुष्टजन , मृदा निर्मित घटः मृद्घट स इव, सुखभेद्यः = सुखेन अनायासेन भेत्तु त्यक्तु शक्यः, दुःसन्धान = दुष्कर सन्धान पुन सयोगो यस्य स एतादृशश्च भवतीति । सुजनस्तु = सज्जनस्तु, कनकघटवत् कनकेन निर्मित घट स इव, दुर्भेद्यः दुःखेन महताऽऽयासेन भेत्तुं शक्यः, अथ च आशु = झटिति, सन्धेयः = सन्धातु योग्यो भवतीति ।

भा०—मिट्टी का घड़ा जैसे अल्प प्रहार से भी फूट जाता है और बहुत प्रयत्न करने पर भी फिर उन टुकड़ों का जोड़ना नहीं हो सकता है वैसे ही दुर्जन का स्नेह भी स्वल्प निमित्त से भिन्न हो जाता है और अनेक उपाय करने पर भी अच्छी तरह से नहीं हो सकता है और सुवर्ण का घट जल्दी फूटता नहीं है तब होने पर अल्प प्रयास से फिर जुड़ सकता है। ऐसे सज्जन का स्नेह भी अल्प हेतु से भग्न नहीं होता है और जो भग्न हो जावे पर भी फिर अनायास से सम्पूर्ण बन जाता है॥ ९४॥

मि०—द्रवत्वात् सर्वलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम्।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां सङ्गतं दर्शनात् सताम्॥ ९५॥

अ०—सर्वलोहानां द्रवत्वात् मृगपक्षिणां निमित्तात् मूर्खाणां भयाल्लोभाच्च सतां दर्शनात् सङ्गतं (भवति)। व्या०—सर्वलोहानां = सर्वेषां स्वर्णरजतताम्रादीनां लोहानाम् द्रवत्वात् = द्रवत्वधर्मात् (मेलनं भवतीति सम्बन्धः)। मृगपक्षिणाम् = मृगाश्च पक्षिणश्च तेषाम् निमित्तात् = ... मूर्खाणां भयात् = ... लोभात् = ... च, सतां = सज्जनानाम् दर्शनादेव = ... सङ्गतं = मेलनम् दृश्यते इति शेषः। भवतीति शेषः।

भा०—सब प्रकार के धातुओं का मेल द्रवीभाव के कारण से होता है और पशु-पक्षियों का मेल खेतों में चोगादि निमित्त से तथा मूर्खों का मेल भय से या लोभ से होता है और सज्जनों का मेल दर्शन मात्र से ही हो जाता है॥ ९५॥

मि०—नारिकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सुहृज्जनाः।
अन्ये बदरिकाऽऽकारा बहिरेव मनोहराः॥ ९६॥

अ०—सुहृज्जनाः नारिकेलसमाकारा हि दृश्यन्ते अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः। व्या०—सुहृज्जनाः = सज्जनाः, नारिकेलसमाकाराः = नारिकेलेन समः सदृशः आकारो येषान्ते = नारिकेलवत् बहिः कठिनाः, अन्तस्तु मधुरा इत्यर्थः। दृश्यन्ते ... इति शेषः। अन्ये = दुर्जनास्तु बदरिकाकाराः = बदरिफलस्य ... आकार इव आकारो येषान्ते बदरीफलवत् ... इत्यर्थः। बहिरेव = बहिःस्थित एव मनोहराः = मनः हरन्ति इति मनोहराः = सुन्दराः रमणीया भवन्तीत्यर्थः।

भा०—सज्जन नारियल के फल की तरह ऊपर से कठोर और भीतर से अति मधुर रहते हैं। कुछ जन ऊपर से सुन्दर और भीतर से बेर के फल के समान अन्दर में कठोर ... के समान ... होते हैं॥ ९६॥

अत एव सतां सङ्गतिरिष्यते। (अतः सज्जनों की सङ्गति चाहते हैं)।

अन्यच्च—स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नाऽऽयान्ति विक्रियाम्।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥ ९६ ॥

अ०—साधूनां स्नेहच्छेदेऽपि गुणा विक्रियां न आयान्ति, हि मृणालानां भङ्गेऽपि तन्तवः अनुबध्नन्ति। व्या०—साधूनां=सज्जनानाम्, स्नेहच्छेदेऽपि=स्नेहस्य प्रणयस्य छेदेऽपि कदाचित् भङ्गेऽपि, गुणाः दयापरहितकरत्वादयः, विक्रियाम्=अन्यथाभावं, न आयान्ति=न प्राप्नुवन्ति, हि=तथा हि, मृणालानां=कमलनालानाम्, भङ्गेऽपि=छेदे सत्यपि, तन्तवः=तदन्तःस्थसूक्ष्मसूत्राणि, अनुबध्नन्ति=सुसंश्लिष्टा एव तिष्ठन्ति।

भा०—साधुजनों का स्नेह टूटने पर भी उनके गुण सदा सद्गुण ही रहते हैं, दुर्गुण नहीं हो जाते। क्योंकि कमल का नाल टूट जाने पर भी उनके अन्तर्नाल में ग्रथित तन्तु अलग नहीं होते हैं ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः।
दाक्षिण्यञ्चाऽनुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥ ९७ ॥

अ०—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सुखदुःखयोः सामान्यं दाक्षिण्यम् अनुरक्तिः सत्यता च सुहृद्गुणाः। व्या०—शुचित्वं=पवित्रता अकृत्रिमत्वमित्यर्थः। त्यागिता=दानशीलता, शौर्यं=वीरता, सुखदुःखयोः=सुखञ्च दुःखञ्च सुखदुःखे, तयोः सुखदुःखयोः सुखे च दुःखे चेत्युभयत्र, सामान्यम्=समानभाव, दाक्षिण्यम्=औदार्यं सारल्यं च, अनुरक्तिः=सदाऽनुराग, सत्यता=सत्यस्य भाव, एतानि सर्वाणि, सुहृद्गुणाः=सुहृदः गुणाः, मित्रगुणा भवन्ति।

भा०—पवित्रता, दानशीलता, शूरता, सुख-दुःख में समानता, उदारता, अनुराग, सत्यता ये सब मित्र के गुण हैं ॥ ९७ ॥

'एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत् प्राप्तव्यः ?' इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिः निःसृत्याऽऽह—'आप्यायितोऽहं भवतामेतेन वचनामृतेन'।

व्या०—एतैः=प्रदर्शितरूपैः, गुणैः=स्वधर्मैः, उपेतः=युक्तः, भवदन्यः=भवन्तं मूषिकात् अन्य अपर, कः सुहृत्=मित्रभूतः, प्राप्तव्य इति। हिरण्यकोऽपि इत्यादि तद्वचन=तस्य काकस्य वचनं विश्वासपूर्णवाक्यम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा, बहिः=विवराद् बहिर्भागे, निःसृत्य=निर्गत्य, आह—भवतां=पूज्यानाम्, एतेन=पूर्वोक्तेन, वचनामृतेन=वचनम् अमृतमिव तेन अहम् आप्यायितः=द्रवीकृत, संतोषित इत्यर्थः।

भा०—'इन सब गुणों से युक्त तुम्हारे बिना दूसरा कौन मित्र मिलेगा ?' इत्यादि वचन को सुनकर हिरण्यक अपने बिवर से बाहर निकल कर बोला—'आह ! आपके अमृत वचनों से मैं बहुत प्रसन्नचित्त हुआ हूँ'।

तथा चोक्तम्—घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्यै सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥१८॥

अ०—सद्युक्त्या परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमं च सज्जनभाषितं यथा चेतसः प्रीत्यै प्रायः प्रभवति तथा घर्मार्तं सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली न प्रत्यङ्गमर्पितं श्रीखण्डविलेपनम् अपि न सुखयति । व्या०—सद्युक्त्या=उत्तमतर्कान्विता, परिष्कृतम्=भूषितम्, सुकृतिनाम्=पुण्यवताम्, आकृष्टिमन्त्रोपमम्=आकृष्टिः आकर्षणं तदर्थं यो मन्त्रः स एव उपमा यस्य तत् वशीकरणमन्त्रसदृशं च सज्जनभाषितम्=सज्जनवचनम्, यथा...चेतसः प्रीत्यै प्रायः=बाहुल्येन प्रभवति=समर्थं भवति तथा...घर्मार्तम्=घर्मेण पीडितम् आर्तो दुःखितः तम्, तादृशं जनमित्यर्थः (कर्म) । सुशीतलजलैः=सुशीतलानि च तानि जलानि च तैः अतिशीतलजलैः, कृतं स्नानं (कर्तृ) न सुखयति (प्रीणयति) इत्यन्वयः । एवं मुक्तावली=मुक्ताहारः अपि न सुखयति, एवं प्रत्यङ्गम्=अङ्गे अङ्गे इति प्रत्यङ्गं सर्वाङ्गे इत्यर्थः । अर्पितम्=अर्पितम्, श्रीखण्डविलेपनम्=श्रीखण्डस्य चन्दनस्य विलेपनं च न सुखयतीति । (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्) ।

भा०—उत्तम नीतिमय युक्तियों से सुमार्जित पुण्य, वशीकरण मन्त्र के समान सज्जन का वचन जितना चित्त को प्रसन्न करता है उतना ग्रीष्मातप से पीड़ित जनों के स्नान, मुक्ताहार तथा अङ्ग में लिप्त चन्दन भी प्रसन्न नहीं करता है॥

अन्यच्च—रहस्यभेदो याच्ञा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥ १९ ॥

अ०—रहस्यभेदः याच्ञा नैष्ठुर्यं चलचित्तता क्रोधः निःसत्यता द्यूतम् एतत् मित्रस्य दूषणम् अस्ति ।

व्या०—रहस्यस्य=गुप्तवार्तायाः भेदः=अन्यत्र प्रकाशनम्, याच्ञा=धनादीनां प्रार्थना, नैष्ठुर्यम्=क्रूरता निर्दयता, चलचित्तता=चञ्चलम् अनवस्थितं चित्तं यस्य तस्य भावः, क्रोधः=कोपः, निःसत्यता=असत्यता मिथ्याभाषित्वम्, द्यूतम्=अक्षक्रीडा च, एतत् सर्वं मित्रस्य=सुहृदः दूषणम्=दूषणकारणम् इत्यर्थः ।

भा०—गुप्तबातों को अन्यत्र प्रकाश करना, याचना, क्रूरता, चञ्चल चित्त की अनवस्थितता, क्रोध रखना, असत्य बोलना, द्यूत खेलना ये सब मित्रता के दूषण हैं ॥ १९ ॥

अनेन वचनक्रमेण तत् पदमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते ।

व्या०—अनेन=पूर्वोक्तेन वचनक्रमेण=वचनानां क्रमः...

तेन् तत्=पूर्वोक्तम् असुहृद, एकमपि=तदन्यतममपि, दूषणं त्वयि=भवति, न लक्ष्यते=न प्रतीयते इति ।

भा०—इन सब पूर्वोक्त तुम्हारे वचनों से मालूम होता है कि उनमें से एक भी दूषण तुम्हारे में नहीं है ।

यतः—पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुद्ध्यते ।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते ॥ १०० ॥

अ०—पटुत्व सत्यवादित्व कथायोगेन बुध्यते, अस्तब्धत्वम् अचापल्यं प्रत्यक्षेण अवगम्यते ॥

व्या०—पटुत्व=दक्षता, सत्यवादित्वं=सत्य वदतीति सत्यवादी तस्य भाव, सत्यपरायणतेत्यर्थः । कथायोगेन, कथाया, वार्ताया योग प्रसङ्गस्तेन, बुध्यते=ज्ञायते अनुमीयते । अस्तब्धत्वम्=जाड्यराहित्यम्, उत्साहवत्त्वमिति यावत् । अचापल्यम्=चपलस्य भाव चापल्य चञ्चलता तन्न भवतीति अचापल्य स्थिरता, धीरतेति यावत् । प्रत्यक्षेण=दर्शनेनैव, अवगम्यते=प्रतीयते इति ।

भा०—वाक् चतुरता तथा सत्यवादिता ये दोनों वार्तालाप से मालूम होते हैं, और प्रत्यक्ष से तो उत्साह शक्ति तथा धीरता ये दोनों निश्चित होते हैं (अत तुम मित्रता के योग्य हो) ॥

अपरञ्च—अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत् स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०१ ॥

अ०—स्वच्छान्तरात्मन सौहार्दम् अन्यथैव भवेत्, हि शाठ्योपहतचेतसः वाणी अन्यथा प्रवर्तते । व्या०—स्वच्छः=कापट्यादिशून्यः निर्मल, अन्तरात्मा=अन्तःकरण मानस यस्य स तस्य निर्दोषान्त करणस्येत्यर्थः । सौहार्दं=सुहृदो भाव मित्रता, अन्यथैव=अन्यप्रकारेणैव, भवेत्, हि=निश्चयार्थ । अथ च शाठ्योपहतचेतसः=शठस्य भावः शाठ्य धूर्तता तेन उपहत व्याप्तं चेतो यस्य तस्य धूर्तस्येत्यर्थः । वाणी=वार्तालाप, अन्यथा=अन्यप्रकारेण, प्रवर्तते=नि सरतीति ।

भा०—स्वच्छान्त करण वाले की मैत्री दूसरी रीति से ही (उत्तम भाव से ही) होती है और शठात्मा पुरुष की तो वाणी दूसरे ढङ्ग से निकलती है ॥ १०१ ॥

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०२ ॥

अ०—दुरात्मनाम् मनसि अन्यद् वचसि अन्यत् कर्मणि अन्यद्, महात्मनां मनसि एक वचसि एकं कर्मणि एकम् । व्या०—दुरात्मनाम्=दुष्टान्त करणानां जनानाम् । मनसि=हृदये, अन्यत्=अन्यप्रकार वर्तते, वचसि=वाक्ये, अन्यत् तदन्यथा वर्तते, कर्मणि=कर्तव्यविषये [illegible] वर्तते इति, महात्मनां=महा-

कुसुमानां तु, मनसि अन्यत् वचसि अन्यत् कर्मणि अन्यत्, महात्मनस्तु अविपरीतमेव वर्तते इति।

भा०—अन्य पुरुषों के मन-वचन में कुछ दूसरा ही और कुछ दूसरा ही वचन में रहता है और तीसरा ही कुछ करनी में रहता है। महात्मा पुरुष के हृदय में जो रहता है वही बोलते हैं और वैसा ही करते हैं॥ १०२॥

'तद्भवतु भवतः अभिमतमेव' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्वस्थानं गतः। ततः प्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैः विश्रम्भालापैश्च कियत्कालोऽतिवर्तते। एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे! वायसस्य कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानम्। तदेतत् परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि'। हिरण्यको ब्रूते—

अ०—तद्भवतु = तस्मात् पूर्वोक्तवाक्यविशेषात्, भवतः = काकस्य अभिमतमेव = अभिलषितमेव भवतु—अस्तु, इत्युक्त्वा हिरण्यकः = मूषिकराजः, मैत्र्यं = सख्यम् विधाय = कृत्वा भोजनविशेषैः = भोजनार्थं भक्ष्यभोज्यपदार्थानां विशेषैः उत्तमपदार्थैः, वायसं = काकम् सन्तोष्य = तृप्तं कृत्वा, विवरं = बिलं प्रविष्टः। ततः वायसः = काकः अपि स्वस्थानं अभिगतः। ततः = तस्मात् दिवसात्, प्रभृति = आरभ्य, तयोः = काकमूषिकयोः, अन्योन्याहारप्रदानेन = अन्योन्यस्मै आहारस्य प्रदानेन कुशलस्य प्रश्नैः, विश्रम्भस्य विश्वासस्य आलापैः कथाभिः, कियत्कालः = कियान् समयः, अतिवर्तते निर्गच्छति। लघुपतनकः काकः एकदा हिरण्यकं मूषिकमाह—सखे! वायसस्य = काकस्य कष्टेन लभ्यः आहारो यस्मिन् तत् तादृशम् इदम् = एतत्, स्थानं = स्थलं, वर्तते। तदेतत् = तस्मादेतत् एतत् परित्यज्य = विहाय, स्थानान्तरम् = अन्यत् स्थानं गन्तुमिच्छामि। हिरण्यकः, ब्रूते—कथयति—

भा०—अच्छा तुम्हारी इच्छानुसार ही हो ऐसा कह कर हिरण्यक मित्रता करके भक्ष्यविशेष भोजन से काक को सन्तुष्ट करके अपने बिल में घुस गया, काक भी अपने निवास स्थान पर चला गया। उस दिन से दोनों का परस्पर भोजन देना, कुशल समाचार पूछना, वार्तालाप करना इत्यादि से कुछ समय व्यतीत हो रहा है। एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—मित्र! काक का भोजन इस स्थान में अति कठिनाई से मिल रहा है। अतः इस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाना चाहता हूँ। हिरण्यक बोला—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।
इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्॥ १०३॥

अ०—दन्ताः केशाः नखाः नराः स्थानभ्रष्टाः न शोभन्ते मतिमान् इति विज्ञाय स्वस्थानं न परित्यजेत्। व्या०—दन्ताः = दशनाः, केशाः = कचाः, नखाः = करजाः,

नराः=मनुष्या , स्थानभ्रष्टाः=स्थानात् स्वस्वोचितस्थानात् भ्रष्टाः प्रच्युताः सन्त, न शोभन्ते, अत मतिमान्=बुद्धिमान् , इति विज्ञाय=इत्येवं सम्यग् विविच्य, स्वस्थानं= स्वस्य आत्मनः स्थानं योग्यपदम् , न परित्यजेत् = विहाय नाऽन्यत्र गच्छेत् ।

भा०—दात, केश, नख तथा मनुष्य ये चारों अपने स्थान से भ्रष्ट होने पर नहीं शोभा देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्थान को त्याग न करे ॥ १०३ ॥

काको ब्रूते—'मित्र ! कापुरुषस्य वचनमेतत्' ।

भा०—काक ने कहा—'मित्र ! निर्बल पुरुष का ऐसा बोलना होता है ।

यत—स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ १०४ ॥

अ०—सिंहा सत्पुरुषाः गजा. स्थानम् उत्सृज्य गच्छन्ति, काकाः कापुरुषाः मृगा तत्रैव निधन यान्ति । व्या०—सिंहाः=केसरिण , सत्पुरुषाः=सज्जना , गजाः= करिण, स्थानं=स्वनिवासभूमिम्, उत्सृज्य=परित्यज्य, गच्छन्ति । किन्तु काकाः= वायसा , कापुरुषा =कुत्सिता पुरुषा निर्बलपुरुषा , मृगा =हरिणादय, तत्रैव = स्वनिवासे एव, निधन=मरण, यान्ति=गच्छन्ति ।

भा०—सिंह, सत्पुरुष, हाथी, ये सब अपने स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाकर जीविका प्राप्त करते हैं और काक, क्षुद्र पुरुष और मृग ये सब जीविका न मिलने पर भी अपने ही स्थान में मरते हैं ॥ १०४ ॥

अन्यच्च—को वीरस्य मनस्विन स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापाऽर्जितम् ।
यद् दंष्ट्रानखलाङ्कुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १०५ ॥

अ०—मनस्विन वीरस्य स्वविषय क ? विदेशो वा कः स्मृत , (स) य देश श्रयते तमेव बाहुप्रतापार्जित कुरुते । दंष्ट्रानखलाङ्कुलप्रहरण सिंह यद् वनं गाहते तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरै आत्मन तृष्णां छिनत्ति । व्या०—मनस्विनः=सवीर्यचेतस, वीरस्य=शूरस्य, स्वविषय =स्वस्य विषय देश क ? विदेश =परदेश वा क ? स्मृतः=कथितः । (स) धीर , य, देशं, श्रयते=अवलम्बते, तमेव देश, बाहुप्रतापार्जितम्=बाह्वो प्रतापेन अर्जितः स्वायत्तीकृत तम्, भुजबलेन स्वाधिकृतमित्यर्थ । कुरुते । यत दंष्ट्रानखलाङ्कुलप्रहरण=दंष्ट्रा प्रधानदन्ता , नखाः, लाङ्कुल=बालधिः (लाङ्गूल इति दीर्घप्रयोग साधु, ह्रस्वप्रयोगस्तु छन्दोनुरोधादनुसन्धेय) तान्येव प्रहरणानि अस्त्रभूतानि यस्य स , एतादृश सिंह =मृगेन्द्र , यद् वनं (कर्म), गाहते=प्रविशति, तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरै =हताः व्यापादिता ये द्विपेन्द्रा द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपा गजा , द्विपानाम् इन्द्रा श्रेष्ठाः तेषां रुधिरै

मीनादिभिः, आत्मना = स्वस्य बुध्या ... , तिष्ठति = विश्राम्यति इत्यर्थः । (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्)।

भा०—सम्यग्युक्त वीर पुरुष की कौन सा अपना देश और कौन सा पर देश है ! अर्थात् कोई नहीं । वह जिस देश में जाता है वहीं अपने भुजबल से ही जीवनवृत्ति करता रहता है क्योंकि वन में जाता है वहाँ अपने बल से हाथियों को मारकर अपनी जीवनवृत्ति चलाता है ॥ १०४ ॥

हिरण्यको ब्रूते—'मित्र ! क्व गन्तव्यम् ?'

भा०—हिरण्यक ने कहा—'मित्र, कहाँ जाओगे ?'

तथा चोक्तम्—चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।
नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत् ॥ १०५ ॥

अ०—बुद्धिमान् एकेन पादेन चलति एकेन तिष्ठति परं स्थानम् असमीक्ष्य पूर्वम् आयतनं न त्यजेत् । व्या०—बुद्धिमान् = बुद्धिर्विवेकोऽस्यास्तीति बुद्धिमान् जनः, एकेन पादेन = चरणेन, चलति = गच्छति एकेन अपरेण च पादेन तिष्ठति ... तथा परम् = अपरम्, ... स्थानम्, असमीक्ष्य = सम्यग् अपरीक्ष्य ... पूर्वम् = ... स्थानं न त्यजेत् ।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य एक पैर से चलता है और एक पैर से स्थित रहता है, अर्थात् आगे देख देखकर चलता है । इसलिये ... अच्छी प्रकार परीक्षा किये बिना प्रथम स्थान नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १०५ ॥

वायसो ब्रूते—'मित्र ! अस्ति सुनिश्चितं स्थानम् ।' हिरण्यकोऽवदत्—'किं तत् ?' वायसः कथयति—अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः । तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभिधानः कूर्मः सहजधार्मिकः प्रतिवसति । पश्य मित्र !—

व्या०—वायसः ... ब्रूते—मित्र ! हिरण्यक ! सुनिश्चितम् = सम्यक् परीक्षितं स्थानम् अस्ति । हिरण्यकः = मूषिकराजः, अवदत्—'किं तत् ...मिति ।' वायसः कथयति—दण्डकारण्ये = दण्डकं च तदरण्यं च तस्मिन् दण्डकारण्ये । कर्पूरवत् गौरम् इति (पुरा दण्डो नाम इक्ष्वाकुवंशीयो राजा ... ... तत्र ... 'दण्डकारण्य'मिति नाम इति रामायणी कथा)। गौराभिधानं—कर्पूरवत् गौरम् इति कर्पूरगौरम् = ... तदेव गुणानुरूपम् अभिधानम् यस्य तदिति । सरः = ... , प्रतिवसति = निवसति । तत्र ... । चिरकालोपार्जितः = ... उपार्जितः मित्रत्वेन प्राप्तः, मे = मम सुहृत् ... , सहजधार्मिकः सहजः धार्मिकः स्वभावात् धर्मशीलः 'मन्थराभिधानः' ...

इति नाम यस्य तथोक्त, कूर्मः = कच्छपः, प्रतिवसति = वासं करोति, मित्र ! = सखे !, पश्य अवधानं कुरु, शृणु इति यावत्—

भा०—काक ने कहा—'मित्र हिरण्यक ! एक सुपरिचित स्थान है।' हिरण्यक ने कहा—'कौन सा ?' काक ने कहा—दण्डक वन में कर्पूरगौर नामक सरोवर है, वहाँ पर बहुत काल से परिचित स्वभाव से धार्मिक मेरा प्रिय मित्र 'मन्थर' नाम का कच्छप रहता है। ख्याल करो मित्र !—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित् तु महात्मनः ॥ १०७ ॥

अ०—सर्वेषां नृणां परोपदेशे पाण्डित्यं सुकरं, तु कस्यचिन्महात्मनः धर्मे स्वीयम् अनुष्ठानं (सुकरम्)। व्या०—सर्वेषां=यावताम्, नृणां=मनुष्याणाम्, परोपदेशे= परस्मै परस्य वा उपदेशवचनं तस्मिन्, पाण्डित्यम् = पण्डितस्य भाव. नैपुण्यम्, सुकरम् = सुखेन क्रियते तत् सुकरम् अकठिन भवति, तु=किन्तु, कस्यचित्, महात्मनः=सत्पुरुषस्य, धर्मे, स्वीयम्=स्वकीयम्, अनुष्ठानम्=वचनानुरूपवर्तनं भवतीति।

भा०—परोपदेश करने में पाण्डित्य दिखाना सब मनुष्यों को सहज है। परन्तु—अपने धार्मिक अनुष्ठान का आचरण कोई एक महात्मा ही करता है ॥ १०७ ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति । हिरण्यकोऽप्याह—तत्किमत्राऽवस्थाय मया कर्तव्यम् ?

व्या०—स च कूर्म, भोजनविशेषैः=भोजनानां विशेषा बहुविधास्तै, अनेकविधपक्वान्नैरित्यर्थः । मां = मां काकं, संवर्धयिष्यति = ससम्मानं पालयिष्यति, पुष्टिं प्रापयिष्यतीत्यर्थः । हिरण्यक मूषिक अपि आह—तत्=तस्मात् एतादृशभोजनदातु मित्रस्य सत्त्वादिति हेतो, मया = मूषिकेण, अत्र=एतत्स्थले शुष्कभूते प्रदेशे, अवस्थाय = स्थित्वा, किं कर्तव्यम् ? किन्तु गन्तव्यमेवेति भावः।

भा०—वह कच्छप अच्छे भोजनों से मुझको पुष्ट करेगा। हिरण्यक ने भी कहा—तब तो मैं भी यहाँ रह कर क्या करूँगा ?

यत —यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धव ।
न च विद्यागम कश्चित् तं देशं परिवर्जयेत् ॥ १०८ ॥

अ०—यस्मिन् देशे सम्मान. न, वृत्ति न, बान्धवश्च न, कश्चित् विद्यागमश्च न, त देशं परिवर्जयेत्। व्या०—यस्मिन् देशे = स्थलविशेषे, सम्मान = सम्यक् मानः सत्कार, नास्ति, वृत्ति = जीवनसाधनम्, नास्ति, बान्धवश्च = बन्धुरेव बान्धव सुहृज्जन, नास्ति, कश्चिदपि, विद्यागम = विद्याया शिक्षाया आगम प्राप्ति नास्ति, त देश, विज्ञ पुरुष अवश्यम्, परिवर्जयेत् = परित्यजेत्।

भा०—जिस देश में सम्मान, आजिविका, बन्धुजन तथा किसी प्रकार की विद्याप्राप्ति न हो उस देश का त्याग करना चाहिये ॥ १०८ ॥

अन्वय—धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् ॥ १०९ ॥

अ०—यत्र धनिकः श्रोत्रियः राजा नदी पञ्चमस्तु वैद्यः, पञ्च न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् । व्या०—यत्र = यस्मिन्देशे, धनिकः = धनम् अस्यास्तीति धनी स एव धनिकः, सेठी धन कुबेरः । श्रोत्रियः = 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥' इत्येवंलक्षणः श्रोत्रियः, राजा = प्रजारक्षणे नृपतिः, नदी = जलप्रवाहवती सरित्, पञ्चमस्तु वैद्यः रोगचिकित्सकः, एते पञ्च यत्र देशे नगरे वा न विद्यन्ते = न सन्ति निवसन्ति, तत्र तस्मिन् देशे नगरे वा, वासं = निवासस्थितिम्, न कारयेत् न कुर्यात्, स्वार्थेऽयं णिच् ।

भा०—जिस देश में या नगर में धनकुबेर, वैदिक ब्राह्मण तथा प्रजापालक राजा, जलपूर्ण नदी और पाँचवाँ वैद्य, ये पाँच न रहते हों उस देश या नगर में वास नहीं करना चाहिये ॥ १०९ ॥

अन्वय—लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात् तत्र संस्थितिम् ॥ ११० ॥

अ०—यत्र लोकयात्रा, भयं लज्जा, दाक्षिण्यं त्यागशीलता पञ्च न विद्यन्ते तत्र संस्थितिं न कुर्यात् । व्या०—यत्र = यस्मिन् स्थाने, लोकयात्रा = लोकव्यवहारः जनानां जीवनयात्रोपायः, भयं = राजादिशासनभयम्, लज्जा = निन्द्यकर्मभ्यो भयम्, दाक्षिण्यम् = औदार्यम् अनुकूलता च, त्यागशीलता = त्यागस्य स्वभावः, एते पञ्च यत्र स्थाने, न विद्यन्ते तत्र स्थाने संस्थितिं = सदा वासम् न कुर्यात् ।

भा०—जिस स्थान में लोकयात्रा (जीविका), राजशासनभय, लज्जा, उदारता और दानशीलता ये पाँच न हों उस स्थान में वास नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

अन्वय—तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥ १११ ॥

अ०—मित्र ! यत्र ऋणदाता वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी च चतुष्टयं नास्ति तत्र न वस्तव्यम् । व्या०—हे मित्र ! सखे ! यत्र = यस्मिन् प्रदेशे ऋणदाता = ऋणस्य दाता उत्तमर्णः नास्ति वैद्यः = विद्या अस्यास्तीति वैद्यः (वा) चिकित्सकः, श्रोत्रियः = श्रुतिमधीते वेत्ति वेदि श्रोत्रियः वैदिकब्राह्मणः नास्ति सजला = जलेन सहिता, नदी सरित् न नास्ति, एतच्चतुष्टयं (चत्वारः अवयवाः इति चतुष्टयं तयप्) यत्र प्रदेशे न विद्यते तत्र स्थाने कदापि न वस्तव्यम् ।

भा०—हे मित्र सखे ! जिस देश में ऋण [illegible] ब्राह्मण तथा वैद्य और वैदिक ब्राह्मण, एवं जलपूर्ण नदी ये चार न हों उस प्रदेश में नहीं रहना चाहिये ॥ १११ ॥

अतो मामपि तत्र नय। वायसोऽवदत्—'एवमस्तु'।' अथ वायसस्तेन मित्रेण सह विचित्रालापसुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ। ततो मन्थरो दूरादेव लघुपतनकम् अवलोक्य उत्थाय यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषिकस्याऽप्यातिथिसत्कारं चकार।

व्या०—अतः अस्मात् स्थानात्, माम् (मूषिकम्) अपि, तत्र=कूर्मस्थले, नय=प्रापय, त्वमिति शेषः। वायसः=काक, अवदत् एवम्=तथा, अस्तु भवतु इति। अथ=पश्चात्, वायसः=काक, तेन=मूषिकेण मित्रेण सह, विचित्रालापसुखेन विचित्राश्च ते आलापाः तेभ्य सुखं तेन, विविधवार्ताजन्याऽऽनन्देनेत्यर्थः। तस्य पूर्वोक्तस्य कर्पूरगौराख्यस्य सरसः, समीपम् अन्तिकं, ययौ जगाम। ततः=सरोनिकटे गमनानन्तरम्, मन्थरः तन्नामा कूर्मः, दूरादेव, लघुपतनक नाम वायसम्, अवलोक्य=दृष्ट्वा, उत्थाय=जलादुत्तीर्य, यथोचितम्=यथायोग्यम्, आतिथ्यं काकस्य सत्कारम्, विधाय=कृत्वा; मूषिकस्य अपि=हिरण्यकस्यापि, अतिथिसत्कारम् आतिथ्यविधानम्, चकारेति।

भा०—इसलिए मुझे भी वहाँ ले चलो।' काक बोला—'अच्छा ऐसा ही सही'। उसके बाद काक मित्र हिरण्यक के साथ अनेक वार्तायें करते हुए उस सरोवर के समीप में गया। और—'मन्थर' नामक कच्छप ने दूर से ही 'लघुपतनक' मित्र काक को देखकर उठकर यथायोग्य अतिथि सत्कार करके मूषिक का भी आतिथ्य सत्कार किया।

यतः—बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः॥ ११२॥

अ०—गृहम् आगत बालो वा यदि वा वृद्ध युवा वा, तस्य पूजा विधातव्या, सर्वत्र अभ्यागतो गुरुः। व्या०—गृहम्=स्वनिवासभूमिम्, आगतः अकस्मादुपस्थित, बाल यदि वा वृद्धः युवा वा य—कश्चिद्भवति, तस्य सर्वविधस्य अतिथे, पूजा=अभ्युत्थानादिना सत्कारपूजा, विधातव्या=कर्तव्या, यतः अभ्यागतः=अतिथि, सर्वत्र=आश्रमचतुष्टयेऽपि, गुरु=गुरुवत् सेव्य इति।

भा०—घर आये हुये बालक अथवा युवा अथवा वृद्ध चाहे कोई भी अतिथि हो, उसकी पूजा तथा सत्कार अवश्य करना चाहिये, क्योंकि सब आश्रमियों के लिये अतिथि गुरुतुल्य है॥ ११२॥

तथा—गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः॥ ११३॥

अ०—अग्नि द्विजातीनां गुरु, ब्राह्मण वर्णानां गुरु, पति एकः स्त्रीणां गुरुः, अभ्यागत सर्वत्र गुरु। व्या०—अग्नि=वह्नि, द्विजातीनां=ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां त्रिवर्णानां, गुरुः=पूजनीयः, पतिः=भर्ता एकः=मुख्य एव, स्त्रीणां=नारीणाम्, गुरुः=

पूजनीयः, देवमयत्वं भवति [illegible]—अतिथिश्च, सर्ववर्णेषु [illegible], गुरु [illegible] इति।

हि०—ब्राह्मण अग्नि [illegible] तीन वर्णों का गुरु अग्नि है, ब्राह्मण चारों वर्णों का गुरु है, स्त्री का पति ही गुरु है और अतिथि सबके [illegible] पूजनीय है ॥ ११३ ॥

अन्यच्च—उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ११४ ॥

अ०—उत्तमस्यापि वर्णस्य गृहम् आगतः नीचः अपि यथायोग्यं पूजनीयः, अतिथिः सर्वदेवमयः। व्या०—उत्तमस्य [illegible], वर्णस्य [illegible] पूर्वं = विचारम् [illegible] अतिथिरेव [illegible]। नीचः [illegible] यथायोग्यं = यथोचितम् पूजनीयः = [illegible], यतः, अतिथिः सर्वदेवमयः = सर्वे च ते देवाः [illegible] इति।

वायसोऽवदत्—'सखे! मन्थर! सविशेषपूजामस्मै विधेहि, यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः, एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि यदि सर्पराजः कदाचित् कर्तुं समर्थः स्यात्' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान्। ततो मन्थरः सादरं हिरण्यकं सम्पूज्याऽऽह—'भद्र! आत्मनो निर्जनवनागमनकारणम् आख्यातुमर्हसि'। हिरण्यकोऽवदत्—'कथयामि श्रूयताम्—

व्या०—वायसः अवदत्—सखे मन्थर! [illegible] अस्मै हिरण्यकनाम्ने मूषिकराजाय सविशेषपूजाम् [illegible] तथा स्यात् तथा पूजां [illegible] त्वं विधेहि। यतः अयं मूषिकराजः, पुण्यकर्मणाम् [illegible] धुरीणः = धुरि भवो [illegible], अत एव कारुण्यरत्नाकरः [illegible] = दयायाः रत्नाकरः समुद्र [illegible] अस्तीति। सर्पराजः [illegible], अपि जिह्वा-सहस्रद्वयेन—[illegible] इति जिह्वा, [illegible] हिरण्यकस्य [illegible] इत्यर्थः। एतस्य = मूषिकराजस्य गुणस्तुतिं गुणानां स्तुतिं [illegible] कर्तुं कदाचित् कस्मिंश्चित् [illegible] समर्थः = [illegible] स्यात्। इत्युक्त्वा चित्रग्रीवस्य = कपोतराजस्य उपाख्यानं = [illegible] वर्णितवान् = [illegible]। ततः [illegible] मन्थरः = [illegible] हिरण्यकं मूषिकराजं, सादरम् = आदरसहितं सम्पूज्य = [illegible] आह—भद्र! सखे! मूषिकराज! आत्मनः स्वस्य [illegible]। निर्जनवनागमनकारणम् [illegible] च [illegible] आख्यातुम् [illegible]

अर्हसि=योग्योऽसि, हिरण्यकः=मूषिकराजः, अवदत्, कथयामि, श्रूयताम्=आकर्ण्यताम्।

भा०—काक ने कहा—सखे मन्थर! इन मूषिकराज की पूजा विशेष रूप से करो, क्योंकि धार्मिकों में अग्रगण्य, करुणा के समुद्ररूप, हिरण्यक नामके ये मूषिकराज हैं, शेषनाग भी दो हजार जीभों से इनके गुणों का वर्णन करने में कदाचिद् (कल्पान्तर में) पार पा सकते हैं। ऐसा कहकर चित्रग्रीव नामक कपोतराज का आख्यान सुनाया। उसके बाद मन्थर नामक कच्छप आदरपूर्वक हिरण्यक की पूजा करके बोला—'सौम्य! भद्र! आपका इस निर्जन वन में आने का क्या कारण हुआ सो बताइये।' हिरण्यक नामक चूहे ने कहा—'कहता हूँ सुनो—

कथा ४

अस्ति चम्पकाऽभिधानायां नगर्यां परिव्राजकाऽऽवसथः। तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति। स च भोजनाऽवशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति, अहं च तदन्नम् उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि। अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद् वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः, तेन सह नानाकथाप्रसङ्गाऽवस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत्। तं तथाविधं दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच—'सखे किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान्?'

भा०—चम्पकाभिधानायां='चम्पका'इत्यभिधा यस्याः सा तस्याम्, नगर्यां=पुर्याम्, परिव्राजकाऽऽवसथः=सर्वं परित्यज्य व्रजन्ति इति परिव्राजकाः सन्यासिनः, तेषाम् आवसथः आश्रमः अस्ति। तत्र आश्रमे, 'चूडाकर्णो' नाम='चूडाकर्ण' इति नाम्ना प्रसिद्धः, परिव्राजकः=सन्यासी, प्रतिवसति। स च चूडाकर्णः, भोजनाऽवशिष्टभिक्षान्नसहित=भिक्षया प्राप्तम् अन्नं भिक्षान्नं (मध्यमपदलोपी समासः) ओदनादिकं भोजनात् अदनात् अवशिष्टं च तत् भिक्षान्नं तेन सहितं युक्तम्, भिक्षापात्रम्=काष्ठकपालात्मकं भाजनम्, नागदन्तके=नागस्य करिणः दन्त इव दन्तोऽग्रे यस्य स नागदन्तः स एव नागदन्तकः नागदन्तसदृशे गृहभित्तौ प्रोथिते दारुमयकीलके इत्यर्थः। अवस्थाप्य=निधाय, स्वपिति=निद्रां करोति। अहञ्च उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं प्रतिदिनं, तदन्नम् अवशिष्टान्नं भक्षयामि। अनन्तरं=कियति समये गच्छति सति चूडाकर्णस्य प्रियसुहृत्, 'वीणाकर्णो' नाम परिव्राजकः सन्यासी, समायातः उपस्थितः, चूडाकर्णः सन्यासी तेन वीणाकर्णेन सन्यासिना सह नानाकथाप्रसङ्गावस्थितः नाना बहुविधाः याः कथाः तासां प्रसङ्गः अवतारणं तस्मिन् अवस्थितः समासक्तः अपि, मम त्रासार्थं त्रासाय इदमिति त्रासार्थम्, मम भयप्रदर्शनार्थम्, जर्जरवंशखण्डेन वंशस्य खण्डः वंशखण्डः, जर्जरः जीर्णः वंशखण्डः यष्टिकारूपः तेन, भूमि-

मुच्चाशनभूमिषु, बहुधायासक्लेशितत्वात् । तं चूडाकर्णं, तथाविधम् अन्यमनस्कं, दृष्ट्वा वीणाकर्णो वदति—'सखे ! चूडाकर्ण ! किमिति किमर्थम् मम कथाविरक्तः कथायां विरक्तः विरतानुरागः, अन्यासक्तः अन्यमनस्कः, भवान् भवतीति शेषः ।

भा०—चम्पक नाम की नगरी में संन्यासी का आश्रम है। उसमें 'चूडाकर्ण' नाम का एक संन्यासी रहता है। वह भिक्षान्न को—भोजन करने से अवशिष्ट को पात्र में रखकर खूँटी पर लटकाकर सो जाता था। तब मैं प्रतिदिन कूद कूद कर उस अन्न को खाता था। एक बार उस चूडाकर्ण का प्रियमित्र 'वीणाकर्ण' नाम का संन्यासी वहाँ आया और चूडाकर्ण वीणाकर्ण के साथ विविध कथाओं में व्यापृत होने पर भी मुझे डराने के लिये पुराने बाँस के टुकड़े से जमीन में ताडन करता था। तब ताडन करते हुए उसको देखकर वीणाकर्ण ने कहा 'मित्र तुम मेरी कथा को छोड़कर अन्यत्र मन क्यों करते हो ?'

यतः—मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः कथाऽनुरागो मधुरा च वाणी ।

स्नेहोऽधिकः सम्भ्रमदर्शनञ्च सदानुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म ॥११५॥

अ०—मुखं प्रसन्नम् दृष्टिः विमला, कथानुरागः, वाणी च मधुरा स्नेहः अधिकः, सम्भ्रमदर्शनञ्च सदा अनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म । व्या०—मुखं = वदनम् प्रसन्नं प्रसादयुक्तं हर्षयुक्तमित्यर्थः । दृष्टिः = अवलोकनम् विमला = स्नेहपरिपूर्णा सुन्दरा मनोहरा, कथानुरागः = कथायाः कथने अनुरागः उत्साहः प्रवणभावोऽभिरुचिः इत्यर्थः । वाणी = वचनं च मधुरा = श्रुतिसुखदा मनोरमा इत्यर्थः । स्नेहः = प्रीतिः अधिकः = परिपूर्णः । सम्भ्रमदर्शनम् = सम्भ्रमेण त्वरया दर्शनम् अवलोकनम् पुनः पुनर्दर्शनमित्यर्थः, एतत् सदा = सर्वदा, अनुरक्तस्य = स्नेहपरायणस्य पवनस्य जनस्य = मित्रस्य लक्ष्म = चिह्नं भवतीति । (उपजातिवृत्तम्)

भा०—मुख पर प्रसन्नता, प्रेमपरिपूर्ण दृष्टि, बातों में प्रीति वाणी में मधुरता, अत्यन्त स्नेह बारम्बार देखना, ये सब स्निग्ध तथा प्रेमी पुरुष में होते हैं । ११५ ॥

अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनमनमानं दुश्चरिताऽनुकीर्तनम् ।

कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिर्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम् ॥ ११६ ॥

अ०—अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनम् अमाननं दुश्चरितानुकीर्तनम् कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिः, विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम् । व्या०—दृष्टेः दर्शनं सत्या दानं दृष्टिदानं तत् न भवतीति अदृष्टिदानम् = अवीक्षणम् । कृतपूर्वनाशनम् = पूर्वं कृत-मिति कृतपूर्वम् तस्य नाशनम् = पूर्वकृतोपकारस्याऽस्मरणम् अमाननम् = मानाभावः अमानननम् अनादरः इत्यर्थः । दुश्चरितानुकीर्तनम् = दुः दुष्टानि चरितानि च तानि चरितानि तेषां केवलम् अनुकीर्तनम् इत्यर्थः । कथाप्रसङ्गेन = कथायां वार्तायां प्रसङ्गेन प्रस्तावेनेत्यर्थः । नामविस्मृतिः नाम्नः विस्मृतिः एतत् सर्वं जनस्य मनुष्यस्य विरक्तभावस्य = उदासीनतायाः लक्षणं चिह्नं भवतीति ।

भा०—दृष्टि न देना, किये हुए उपकार का अनङ्गीकार करना, सत्कार नहीं करना, दुराचरण को प्रकाशित करना, वार्ता प्रसङ्ग में याद भी नहीं करना, ये पाँच चिह्न मनुष्यों के विरक्त भाव को बताने वाले हैं ॥ ११६ ॥

चूडाकर्णेन उक्तम्—'भद्र ! नाहं विरक्त', किन्तु पश्य अयं मूषिको ममाऽपकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति'। वीणाकर्णो नागदन्तमवलोक्याह—'कथमयं मूषिक' स्वल्पवलोऽप्येतावद् दूरमुत्पतति ? तदत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम्।'

व्या०—चूडाकर्णेन सन्यासिना उक्तम्, भद्र सौम्य ! अहं न विरक्त' त्वया सह कथायाम्, किन्तु पश्य अवलोकय, अयम् अग्रवर्ती मूषिक', मम अपकारी अपकरोति इति अपकारी हानिकर्ता, सदा प्रत्यहम्, उत्प्लुत्य, पात्रस्थं भिक्षाया पात्रे तिष्ठतीति तादृशम्, भिक्षान्नम्, भक्षयति खादति इति तद्भयार्थं भूमिं ताडयामि, न तु तव कथायामपि विरक्तो भवामीति भाव। वीणाकर्ण' संन्यासी, नागदन्त=भित्तिप्रोथितम् अत्युच्चप्रदेशस्थं तं कीलकम्, अवलोक्य आह—'अयं मूषिकः, स्वल्पवल' अपि=स्वल्प कीलकप्राप्त्यर्थमपरिपूर्णं बलम् उत्पतनसामर्थ्यं यस्य स' तादृश सन्नपीत्यर्थं, एतावत् दूरम् अत्युच्चै' उत्पतति, तत् तस्माद् हेतो, अत्र=उत्पतने, केनाऽपि कारणेन हेतुना भवितव्यम् स्थातव्यमिति।

भा०—चूडाकर्ण ने कहा—भद्र ! मैं तुम्हारी बातों में विरक्त नहीं हूँ, किन्तु देखो यह चूहा मेरा अपकार करने वाला है। यह रोजाना कूद कर पात्र में से भिक्षान्न को खा जाता है। तब वीणाकर्ण—ऊँची खूँटी को देखकर बोला—यह चूहा थोड़ा बलवाला होने पर भी इतना ऊँचा कैसे कूद सकता है, इसमें कुछ कारण होना चाहिए।

क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—'कारणञ्चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति।'

व्या०—क्षण=किञ्चित्काल, विचिन्त्य=विचार्य, उक्तम्=अत्र उन्दुरो' कूर्दने, कारणञ्च—हेतुस्तु, धनबाहुल्यमेव=धनस्य भूमिनिक्षिप्तद्रव्यस्य बाहुल्य विपुलत्वम् एव, प्रतिभाति=विज्ञायते इति।

भा०—सन्यासी ने थोड़ी देर तक विचार करके कहा—खूब धन ही इसके कूदने का कारण मालूम होता है।

यत'—धनवान् बलवांल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा।
प्रभुत्व धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥ ११७॥

भा०—सर्व धनवान् लोके सर्वदा बलवान्, हि राज्ञामपि प्रभुत्व धनमूलम् उपजायते। व्या०—सर्व=समस्त, धनवान्=धनमस्याऽस्तीति धनवान् सुख-

नौतिज्ञ्=धनिकवक्ता नरः, लोके=संसारे सर्वत्र=सर्वस्मिन् प्रदेशे, स्वदेशे परदेशे चेत्यर्थः। सर्वदा=सर्वस्मिन् काले, सुभिक्षे दुर्भिक्षे च समये बलवान्=बलं सर्वविधा शक्तिः तद्वस्याऽस्तीति बलवान् सामर्थ्ययुक्तः भवतीति। हि=यतः, राज्ञामपि=नृपतीनामपि (यत्) प्रभुत्वं नृपतित्वमाधिपत्यमिति यावत् (अस्तीति शेषः) (तदपि) धनमूलम्=धनमेव मूलं यस्य तत् द्रव्यकारणकमेव, समायाति=सम्पद्यते इति।

भा०—इसलिए धनवान् लोग इस संसार में सर्वत्र तथा ही बलवान् होते हैं क्योंकि राजा को भी प्रभुता धन के प्रभाव से ही प्राप्त होती है॥११७॥

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा चिरसञ्चितं मम धनं गृहीतम्। ततः प्रभृति प्रत्यहं निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दं मन्दम् उपसर्पन् चूडाकर्णेनाऽवलोकितः। ततस्तेनोक्तम्—

व्या०—ततः=तदनन्तरम् तेन परिव्राजकेन संन्यासिना खनित्रम्=खन्यते अनेनेति खनित्रं कुद्दालम् आदाय=गृहीत्वा, विवरम्=मम वासस्थानम् खनित्वा=विदार्य चिरसञ्चितम्=चिरसमयेन सञ्चितम् एकत्रीकृतम् मम धनम्=अर्थसमूहः गृहीतम्=अपहृतम्। ततः प्रभृति=तस्मात्कालादारभ्य प्रत्यहम्=प्रतिदिवसम् निजशक्तिहीनः=(अहं) निजस्य शक्तिः शरीरबलम्, तया हीनः शून्यः, सत्त्वोत्साहरहितः=सत्त्वं बलम् धनं वा तस्य उत्साहः धैर्यम् सत्त्वोत्साहौ ताभ्यां रहितः शून्यः सन्। स्वाहारमपि=स्वस्य आहारम् उदरपूर्त्यर्थम् अपि उत्पादयितुम्=उपार्जयितुम्। अक्षमः=असमर्थः सन्, सत्रासम्=त्रासेन सहितं यथा स्यात् तथा मन्दं मन्दम्=शनैः शनैः, उपसर्पन्=गच्छन् गच्छन् सन्नहम् चूडाकर्णेन=संन्यासिना अवलोकितः, स संन्यासी मां दृष्टवानित्यर्थः। ततः=पश्चात्, तेन संन्यासिना, उक्तम्=कथितम्—

भा०—इसके बाद खोदने का हथियार लेकर वह संन्यासी बिल को खोदकर मेरा धन ले गया। उस दिन से प्रतिदिन शरीरबल से हीन और उत्साह से शून्य और उदर-पूर्ति के आहार को भी प्राप्त करने में असमर्थ होता हुआ मैं डरता-डरता धीरे-धीरे जा रहा था कि चूडाकर्ण नाम के उस संन्यासी ने मुझे देखा और कहा भी।—

धनेन बलवाँल्लोको धनाद्भवति पण्डितः।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम्॥ ११८॥

व्या०—लोके धनेन बलवान् धनात् पण्डितः भवति, एनं पापं स्वजातिसमतां गतं मूषिकं पश्य। भा०—लोके=जगति, धनेन=द्रव्येण बलवान्=बलविशिष्टः सामर्थ्य-

वान् भवति, धनात् च पण्डितः=बहुविधकलाकौशलवेत्ता भवति, एनम्=एतं गच्छन्त पापं=सत्यपि द्रव्ये परान्नादिहरणात्मकपापकर्तारम, स्वजातिसमतां गतम्=स्वस्य उन्दुरो', जाति जातीया दरिद्रा मूषिका तत्समतां धनशून्यतया तत्सदृशतां गत, मूषिकं पश्य = अवलोकय । स्वमिति शेष ।

भा०—लोग धन से ही बलवान् तथा धन से ही पण्डित होते हैं, इस पापाचारी अपनी जाति के धर्म (दरिद्रता) को प्राप्त हुए मूषिक को तुम देखो ॥ ११८ ॥

किञ्च—अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ११९ ॥

अ०—अर्थेन तु विहीनस्य अल्पमेधस' पुरुषस्य सर्वा क्रिया. ग्रीष्मे कुसरितो यथा (तथा) विनश्यन्ति । व्या०—अर्थेन तु = द्रव्येण च, विहीनस्य = विशेषेण रहितस्य, दरिद्रस्येत्यर्थः । अत एव अल्पमेधसः = अल्पा क्षुद्रा मेधा बुद्धिर्यस्य सः तस्य, पुरुषस्य, सर्वाः=समस्ता', क्रिया' =कार्याणि, ग्रीष्मे = ग्रीष्मसमये, कुसरितः = कुत्सिताः स्वल्पजलाः सरितः नद्यः, यथा नश्यन्ति, तथा विनश्यन्तीति ।

भा०—द्रव्यरहित तथा बुद्धिहीन मनुष्य की सब क्रियायें ग्रीष्म काल में छोटी नदियों की तरह सूख जाती हैं ॥ ११९ ॥

अपरञ्च—यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥१२०॥

अ०—लोके यस्य अर्थाः तस्य मित्राणि, यस्य अर्थाः तस्य बान्धवाः, यस्यार्थाः स पुमान्, यस्यार्थाः स हि पण्डित' । व्या०—लोके=संसारे, यस्य यज्जनस्य, अर्थाः= द्रव्याणि, विद्यन्ते, तस्य=पुरुषस्य, सर्वे मित्राणि=असुहृदोऽपि सुहृदो भवन्ति । यस्य च जनस्य, अर्था. भवन्ति, तस्य पुरुषस्य, सर्वे बान्धवाः=अबान्धवा अपि बान्धवा भवन्ति । यस्याऽर्थाः सन्ति स एव पुमान्, श्रेष्ठपुरुषत्वेन=प्रतिष्ठितव्यक्तित्वेन, ख्याप्यते, यस्य च जनस्य अर्थाः सन्ति, स एव पण्डितम्मन्यमानितो भवतीति ।

भा०—ससार में जिसके पास द्रव्य हो उसके सब मित्र बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो उसीके सब बान्धव भी बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो वह मनुष्य बड़ा गिना जाता है, जिसके पास द्रव्य हो वही पण्डित गिना जाता है ॥ १२० ॥

अपरञ्च—अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १२१ ॥

अ०—अपुत्रस्य गृह शून्यम, सन्मित्ररहितस्य मूर्खस्य च दिश शून्या', दरिद्रता सर्वशून्या । व्या०—अपुत्रस्य=नास्ति पुत्रो यस्य स तस्य पुत्ररहितस्य मनुष्यस्य, गृहं=निवासभवनम , शून्यम्=अप्रकाशितम् , निरर्थकमिव भवतीति । सन्मित्र-

रहितस्य = तस्य प्राप्तु मित्रं सुहृत् तेन रहिता शून्या दशा, बन्धु।-स्वजन लोकार्थः। मूर्खस्य मूर्खस्य च = सर्वं शून्यस्य जडस्य च, दिशः = प्राच्यादि दिक्समूहमपि शून्याः = अवकाशहीना भवन्ति। इत्यन्ये इति शेषः। दरिद्रता इत्यादीनां सर्वशून्या = सर्वविधशून्यतासु स्थेयार्थः।

भा०—पुत्ररहित का घर सूना जा मालूम पड़ता है, बन्धुरहित मूर्ख पुरुष को सब दिशायें सूनी मालूम पड़ती हैं और दरिद्र को तो सब प्रकार से शून्यता दिखाई पड़ती है ॥ १२१ ॥

अपरञ्च—दारिद्र्यान्मरणाद्वाऽपि दारिद्र्यमवरं स्मृतम्।

अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुःसहम् ॥ १२२ ॥

अ०—अल्पक्लेशेन। व्या०—दारिद्र्यात् = धनशून्यतायाः मरणात् वाऽपि मरणाद् मृत्योर्वा, (ल्यब्लोपे पञ्चमी) दारिद्र्यमवरमेव पक्षमश्रेष्ठमित्यर्थः। दारिद्र्यं दरिद्रता, अवरं च मरणं हीनं कष्टदम्, स्मृतं = कथितम् (बुधैः) दारि- द्र्यमरणयोर्मध्ये मरणं तु अल्पक्लेशेन = अल्पकष्टेनैव भवति अतः तेन भवतीति। दारिद्र्यं तु अतिदुःसहम् = अति कष्टदं दुःखेन सह्यते यत् तत् अति दुःसहम् यावज्जीवनकष्टदमित्यर्थः।

भा०—दरिद्रता और मरण इन दोनों में दरिद्रता ही अधिक हीन माना है क्योंकि मरण का तो थोड़ा सा ही दुःख होता है, दारिद्र्य तो जीवन भर दुःख देता है॥ १२२ ॥

अन्यच्च—तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम

सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।

अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव

अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ १२३ ॥

अ०—तानि अविकलानि इन्द्रियाणि तदेव नाम सा अप्रतिहता बुद्धिः, तदेव वचनम्, स एव पुरुषः अर्थोष्मणा विरहितः सन् अन्यः भवतीति एतद्विचित्रम्।

व्या०—इन्द्रियाणीति अवस्थार्थम्। तानि = पूर्वावस्थायां सुखस्य यानि सन्ति तान्येवेत्यर्थः। अविकलानि = विकलानि विकारयुक्तानि न भवन्ति इत्यविकलानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि सन्ति। तदेव = नाम पूर्वावस्थायां यदेव नाम तदेव नाम अस्तीति। सा = पूर्वावस्थायां यादृशी बुद्धिः आसीत् सा तादृशी एव अप्रतिहता तीक्ष्णा बुद्धिः अपि अस्तीति। तदेव = पूर्वावस्थायां यादृशमासीत् तदेव तादृशमेव, वचनं = वाक् अस्ति। स एव = पूर्वावस्थायां दारिद्र्यावस्थायां एव अभिन्नः पुरुषः अस्ति। तथाऽपि अर्थोष्मणा = अर्थस्य द्रव्यस्य ऊष्मणा गर्वेण विरहितः = शून्यः सन् क्षणेन = क्षणमात्रसमयेन अन्यः = भिन्नः अपि भिन्नेव भवतीति एतत् परं विचित्रं = विस्मयकरं बोध्यम्।

भा०—धनावस्था में पुरुष की जो सतेज इन्द्रियाँ थीं, वे ही इन्द्रियाँ, वही नाम, वही तीक्ष्ण बुद्धि, वही वाणी और वही पुरुष है, लेकिन धन की गरमी उतर जाने से क्षणमात्र में वह निस्तेज हो जाता है॥ १२३॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितं-'ममाऽत्रावस्थानमयुक्तमिदानीम्'।

भा०—इस प्रकार चूडाकर्ण का सब कथन सुन कर मैंने सोचा कि इस दरिद्रावस्था में मेरा यहाँ रहना उचित नहीं है।

तथा चोक्तम्—अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत् कुतः सुखम्॥ १२४॥

अ०—दैवे अत्यन्तविमुखे, पौरुषे यत्ने च व्यर्थे, मनस्विनः दरिद्रस्य वनात् अन्यत् कुतः सुखम्। व्या०—दैवे=दिष्टे अत्यन्तविमुखे (सति)=अत्यन्त विपरीते सति, पौरुषे=पुरुषस्य अयं पौरुषः तस्मिन् पुरुषसम्बन्धिनि, यत्ने=प्रयत्ने च, व्यर्थे=विफले सति। मनस्विनः=अभिमानधनस्य सगर्वस्य, दरिद्रस्य=धनशून्यस्य जनस्य, वनात् अन्यत्=वनमन्तरेण, कुतः=कस्मात् स्थानात्, सुखं भवति? कस्मादपि नेत्यर्थः।

भा०—भाग्य के अत्यन्त विपरीत होने पर और पुरुष-प्रयत्न के निष्फल हो जाने पर धनशून्य मनस्वी पुरुष को अरण्य से अतिरिक्त स्थान में कहीं भी सुख नहीं है॥ १२४॥

अन्यच्च—मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।
अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम्॥ १२५॥

अ०—मनस्वी कामं म्रियते, तु कार्पण्यं न गच्छति, अनलः निर्वाणम् अपि आयाति, शीततां न याति। व्या०—मनस्वी=तेजस्वी अभिमानी जनः कामम्=यथेष्टम्, म्रियते=प्राणान् विजहाति, तु=किन्तु, कार्पण्यं=दीनताम्, न गच्छति=न अङ्गीकरोति। यथा अनलः=अग्निः, (जलेन) निर्वाणं=विध्वंसम्, अपि कामम् आयाति=प्राप्नोति, किन्तु, शीतताम्=अनुष्णतां तु, न याति=न स्वीकरोति।

भा०—तेजस्वी पुरुष मरण को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन दीनता की इच्छा नहीं करते हैं। क्योंकि अग्नि जल से नष्ट तक हो जाता है, किन्तु शीतता को कभी ग्रहण नहीं करता॥ १२५॥

किञ्च—कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा॥ १२६॥

अ०—मनस्विनः कुसुमस्तबकस्येव द्वे तु वृत्ती, सर्वेषां मूर्ध्नि तिष्ठेद् वा, अथवा वने विशीर्येत। व्या०—मनस्विनः=तेजस्विनः जनस्य, कुसुमस्तबकस्य इव=कुसु-

मालां कुसुमानां स्तबकस्य गुच्छस्य तस्य इव, द्वे गती स्थिती एव, अवस्थाद्वयी, भवतः, तत्र एका सर्वेषां = समस्तानाम्, मूर्ध्नि = शिरःस्थाने, क्षेप्तव्ये इत्यर्थः। विशीर्येत वा = अथवा वने = अरण्ये विशीर्येत = विनाशं गच्छेदिति।

भा०—फूलों के गुच्छे के समान की तरह मानी के भी दो व्यापार होते हैं। सब ही उसके सिर पर धरे रहता अथवा वन में ही गिरकर विनाश को प्राप्त करता ॥ १२६ ॥

यच्चान्यस्मै परवृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम्।

भा०—दूसरे को यह वृत्तान्त सुनाना कहना भी उचित नहीं है।

श्लो०—अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥ १२७ ॥

अ०—मतिमान् अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च वञ्चनं च अपमानं च न प्रकाशयेत्। व्या०—मतिमान् = मतिः बुद्धिः अस्य अस्तीति मतिमान् धीमान् पुरुषः, अर्थनाशम् = धनस्य नाशः क्षयः तम्, मनस्तापम् = मनसः तापः दुःखं तम्, गृहे = स्वगृहस्थजनानां, दुश्चरितानि च = अनाचारानपि च, वञ्चनम् = परकृतं प्रतारणं च, अपमानम् = परकृतं तिरस्कारं च, न प्रकाशयेत् = अन्यस्मै न कथयेत्।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य को धननाश, मनोदुःख, घरवालों के दुश्चरित्र, ठगा जाना और अपमान इन बातों को प्रकाशित नहीं करना चाहिये ॥ १२७ ॥

यच्चात्रैव याच्ञया जीवनं तदप्यतीव गर्हितम्।

भा०—और प्रतिकूल स्थान में भिक्षा माँग के जीवन चलाना भी अति निन्दित है।

श्लो०—वरं विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितोऽनलः।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थ्यते जनः ॥ १२८ ॥

अ०—विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितः अनलः वरम्, उपचारपरिभ्रष्टः कृपणः जनः न प्रार्थ्यते। व्या०—विभवहीनेन = विभवेन ऐश्वर्येण हीनः रहितः तेन दुःखिना, प्राणैः = असुभिः, सन्तर्पितः = सम्यक् तृप्तिं नीतः, अनलः = वह्निः, स्यात् तदपि वरं = श्रेयस्करं भवेत्। उपचारपरिभ्रष्टः = उपचारात् सत्कारात् अति विनयाचारात् परिभ्रष्टः च्युतः, कृपणः = क्षुद्रबुद्धिः जनः, न प्रार्थ्यते (याचितः) न याच्यते।

भा०—सम्पत्तिहीन मनुष्य का अग्नि में प्रवेश करना उत्तम है किन्तु सत्कारहीन लोभी आदमी से कुछ भी याचना करना उचित नहीं है ॥ १२८ ॥

अन्यच्च—दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात् परिभ्रश्यते
निस्सत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।

निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो ! निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १२९ ॥

अ०—यथावद्बोध्य । व्या०—जन इति अध्याहार्यम् । दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्, ह्रियमेति=लज्जाम् आप्नोतीत्यर्थं । ह्रीपरिगतः=ह्रिया परिगत लज्जान्वित, जन, सत्त्वात्=पराक्रमात्, परिभ्रश्यते=परिहीयते, निस्सत्त्व पराक्रमशून्य जन, परिभूयते=पराभवमाप्नोति, पराभवात्=तिरस्कारात्, निर्वेदं=स्वस्य धिक्कारम्, आपद्यते=अनुभवति, निर्विण्ण=चेखिद्यमान, शुच=शोकम्, एति=प्राप्नोति, शोकपिहित=शोकेन पिहितः आवृत, बुद्ध्या परित्यज्यते=तस्य बुद्धिर्नश्यति, इत्यर्थः । निर्बुद्धि=बुद्धिहीन, क्षयं=नाशम्, एति, इति अहो ! आश्चर्यम् । निधनता=दरिद्रता, सर्वापदां=यावतां दु:खानाम्, आस्पद=स्थान कारणं भवतीत्यर्थं । (शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्) ।

भा०—दरिद्रता के कारण लज्जा आती है, लज्जा के मारे पराक्रमी कार्य नहीं कर सकते, अपराक्रमी का पराभव होता है, पराभव से दु:ख होता है, उसको शोक रहता है, शोक से बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धिहीन का नाश होता है, अहो ! दरिद्रता सभी आपत्तियों का स्थान है ॥ १२९ ॥

किञ्च—वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राऽभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनाऽऽस्वादनसुखम् ॥१३०॥

अ०—मौन कार्यम् इत्यपि वर, यत् अनृत वचनमुक्त न च (तत् वरं), पुंसां क्लैब्य वर परकलत्राऽभिगमन च न (वरं), प्राणत्यागः वरं, पिशुनवाक्येषु अभिरुचिश्च न (वर), भिक्षाशित्व वर, परधनास्वादनसुखं च न (वरम्) । व्या०—मौन=अभाषणम्, वरं=मनाक् प्रियम्, श्रेष्ठमित्यर्थं । किन्तु—यत् अनृतम्=असत्यं वचन=वाक्यम्, उक्त=कथित भवति तत्त च वरमिति । एवम् पुंसां=पुरुषाणाम्, क्लैब्य=नपुसकत्वम्, वर=मनाक्प्रियम्, किन्तु—परकलत्राऽभिगमन=कलत्र स्त्री तदभिगमन तत्सम्भोग न च वरमिति । एवम्, प्राणत्याग=प्राणानां जीवनस्य त्याग विनाश, वर=मनाक्प्रियः, किन्तु=पिशुनवाक्येषु=खलोक्तिषु, अभिरुचिः=अभिलाषः, न च वरम्, एव भिक्षाशित्व=भिक्षाभोजित्वम्, वरम्, किन्तु परधनास्वादनसुखम्=परस्य धन द्रव्य तस्य आस्वादनम् उपभोग तदात्मकं यत् सुखं तच्च वर (शिखरिणीवृत्तम्) ।

भा०—मौन रहना उत्तम है किन्तु असत्य बोलना अच्छा नहीं, नपुंसक होना

अच्छा है किन्तु परस्त्री-गमन अच्छा नहीं, मरना अच्छा है किन्तु चकोरि अच्छी नहीं भिक्षा मांगना अच्छा है पर पराया खाना अच्छा नहीं ॥ ११ ॥

वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ।
वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाऽधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥ १११ ॥

अ०—शून्या शाला वरम् दुष्टवृषभः न च वरः खलु । वेश्या पत्नी वरम् पुनः अविनीता कुलवधूः न । अरण्ये वासः वरम् पुनः अविवेकाऽधिपपुरे न । प्राणत्यागः वरम्, पुनः अधमानामुपगमः न वरम् । व्या०—शून्या = पश्वादिरहिता, शाला = गोशाला अपि वरं = श्रेष्ठम् दुष्टवृषभः = दुष्टश्चासौ वृषभः, वरः = श्रेष्ठः, न च खलु भवतीति । वेश्या = गणिका, स्वीकृता पत्नी वरम् पुनः = किन्तु अविनीतम् विनीता अनुकूलाचारविशिष्टा तद्भिन्ना प्रत्यनुकूलाचार-रहिता, कुलवधूः = कुलस्त्री, न वरम् । अरण्ये = निर्जनवने वासः = वसतिः वरम्, पुनः = किन्तु अविवेकाऽधिपपुरे = नास्ति विवेकः विचारः यस्य सः अविवेकः तादृशः अधिपः राजा तस्य यत् पुरं नगरं तस्मिन् वासो न वरमिति । प्राणत्यागः = मरणम्, वरम् पुनः = किन्तु, अधमानामुपगमः उपगमनम्, समाश्रयः न वरमिति । (शिखरिणीवृत्तम्) ।

भा०—गोशाला का सूना रहना उत्तम है किन्तु उसमें दुष्ट बैल का रहना उत्तम नहीं । वेश्या को पत्नी बनाना अच्छा है किन्तु दुष्ट कुलवधू अच्छी नहीं । अरण्यवास अच्छा है किन्तु अविवेकी राजा के नगर में रहना उत्तम नहीं । मरना अच्छा है किन्तु अधम व्यक्ति का समागम अच्छा नहीं ॥ १११ ॥

अपि च—सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम् ।
हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति ॥ ११२ ॥

अ०—सेवा अखिलं मानम् इव ज्योत्स्ना तम इव जरा लावण्यम् इव हरि-हरकथा दुरितम् इव अर्थिता गुणशतमपि हरति । व्या०—सेवा = अनुवृत्तिः, अखिलम् = समस्तम्, मानम् = अभिमानम् यथा हरति । ज्योत्स्ना = कौमुदी तमः = अन्धकारं यथा हरति । जरा = वार्धक्यम् लावण्यम् = सौन्दर्यादिकं यथा हरति । हरि-हरकथा = हरिः विष्णुः हरः शङ्करः तयोः कथा गुणानुवादः, दुरितम् = पापं यथा दुरितं पातकं हरति तथा अर्थिता = याचनाशीलता गुणशतमपि = गुणानां शतमपि हरति ।

भा०—सेवा (नौकरी) जैसे गौरव का नाश करती है, चन्द्रमा जैसे अन्धकार का

नाश करता है, वृद्धावस्था जैसे सौन्दर्य का नाश करती है, हरि हर कथा जैसे पापों का नाश करती है, वैसे ही याचनावृत्ति सैकड़ों गुणों का नाश कर देती है ॥ १३२ ॥

तत् किमहं परपिण्डेन आत्मानं पोषयामि? कष्टं भोः। तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम्।

भा०—तब फिर क्या मैं परान्न से शरीर का पोषण करूँ? वह भी बड़ा कष्ट है, क्योंकि परान्न भोजन भी एक यमालय जाने का स्वतन्त्र कारण है।

अन्यच्च—रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः॥ १३३ ॥

अ०—यथावद्बोध्य। व्या०—रोगी = दीर्घव्याधिग्रस्त, चिरप्रवासी = चिर प्रवसति दूरदेशे वास करोति, अथवा चिर प्रवसति प्रवासगमन करोतीति। तादृश जन, परान्नभोजी = परस्य अन्न भुङ्क्ते इति, परान्नाद, परावसथशायी = परस्य आवसथ निवासभवन तस्मिन् शेते इति परगृहशयनशील इत्यर्थः। तादृश जन यत् किमपि जीवति, तत् जीवन = मरणमेव मरणसमानमित्यर्थः। यच्च तस्य मरणं स च, अस्य = तादृशस्य जनस्य विश्राम शान्तिरिति। (आर्यावृत्तम्)।

भा०—रोगी, बहुतकाल परदेशवासी, परान्नभोजी, परगृहनिवासी, इन चारों का जीवन मरणतुल्य है और मरण विश्राम के तुल्य है ॥ १३३ ॥

इत्यालोच्याऽपि लोभात् पुनरपि तदीयमन्नं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम्।

भा०—ऐसा सोचते हुए भी लोभ से पुन उस सन्यासी के अन्न को खाने का (ग्रह = हठ) विचार मैंने किया।

तथा चोक्त—लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्तो दु खमाप्नोति परत्रेह च मानव ॥ १३४ ॥

अ०—लोभेन बुद्धि चलति, लोभ तृषां जनयते, तृषार्त मानव परत्र इह च दु खम् आप्नोति। व्या०—लोभेन = धनलिप्सया, बुद्धि, चलति = विचलिता भवतीति, लोभ, = धनलोभ, तृषाम् = उत्कटेच्छाम्, जनयते = उत्पादयति, तृषार्तः = तृषया ऋत तृषार्तः धनतृष्णापीडित, मानव = मनो अपत्य पुमान् मानव जन, परत्र=परस्मिन् लोके, इह च=अस्मिन् लोके च, दु ख=विविध कष्टम् आप्नोतीति।

भा०—लोभ से बुद्धि चलायमान होती है, लोभ से धनकी उत्कटेच्छा होती है, धनेच्छावान् मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में बडा दु ख पाता है ॥ १३४ ॥

ततोऽहं मन्द मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाऽचिन्तयम्—'लुब्धो ह्यसन्तुष्टो नियतम् आत्मद्रोही भवति'।

व्या०—तदा=तदनन्तरम् तेन=वीणाकर्णेन संन्यासिना, चर्मतंकृतबद्धोदन कर्तरि वा संन्यस्य पश्यता तेन चालितः=बाहुतः, शनैः शनैः=क्रमेण क्रमेण उपलब्धम्=पश्चात् अहम् अचिन्तयम्=विचारं कृतवान्-लुब्धः=तृष्णायुक्तः, असन्तुष्टः=सन्तोषरहितः, तथा, नियतं=निर्बन्धनम् आत्मद्रोहिणमात्मने दुःखदमिति आत्मद्रोही स्वहितविरोधी भवतीति ।

भा०—इसके बाद उस वीणाकर्ण नामक संन्यासी द्वारा डंडा-दण्ड से ताड़न किया हुआ मैं धीरे-धीरे चलते-चलते सोचने लगा कि—लोभी और असन्तोषी होना निश्चय ही आत्मद्रोही बनना है ।

यथा च—धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥ १५५ ॥

अ०—यस्य मानसं न तुष्टम्, (तस्यो वा) धनलुब्धस्य, असन्तुष्टस्य, अनियतात्मनः अजितेन्द्रियस्य, तस्य सर्वा एव आपदः (भवन्ति) । व्या०—यस्यास्य मानसम्=अन्तःकरणम् न तुष्टं=सन्तोषपूर्णं भवति, तस्यो वा, धनलुब्धः=धने लुब्धः लोभयुक्तः, असन्तुष्टः=अतृप्तः, अनियतात्मा=नास्ति नियता संयता आत्मा स्वभावो यस्य सः, संयमहीन इत्यर्थः । अजितेन्द्रियः=न जितानि निगृहीतानि इन्द्रियाणि येन सः, अजितेन्द्रियः, दुर्गतस्य तस्य=जनस्य सर्वाः एव आपदः=विपत्तयः, समापतन्तीति ।

भा०—जिसका मन सन्तुष्ट नहीं है ऐसे ही लालची, असन्तोषी, संयमहीन और इन्द्रियाधीन पुरुष हैं उनको सभी आपत्तियाँ आती हैं ॥ १५५ ॥

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १५६ ॥

अ०—यस्य मानसं सन्तुष्टं तस्य सर्वाः सम्पत्तयः, ननु उपानद्गूढपादस्य भूः चर्मावृता इव । व्या०—यस्य=जनस्य मानसम्=अन्तःकरणम्, सन्तुष्टं=सन्तोषपूर्णं भवति तस्य=जनस्य सर्वाः=अशेषाः, सम्पत्तयः=सम्पदः, भवन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह—उपानदिति । उपानद्=चर्मपादुका तया गूढौ आवृतौ पादौ चरणौ यस्य तस्य जनस्य भूः=समग्रा पृथिवी चर्मावृता इव चर्मणा आवृता आच्छादिता इव भवतीति । ननु इति निश्चयार्थकमव्ययम् ।

भा०—जिसका मन सन्तुष्ट है उसको सब प्रकार की सम्पत्ति मिलती है जैसे पैर में जूते पहिनकर चलनेवाले मनुष्य को समग्र पृथ्वी चर्म से ही मढ़ा हुआ प्रतीत होता है ॥ १५६ ॥

अपरञ्च—सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १५७ ॥

अ०— सन्तोषामृततृप्तानां शान्तचेतसां यत् सुखं तद् धनलुब्धानाम् इतश्च इतश्च धावतां कुतः ? व्या०—सन्तोषामृततृप्तानां = सन्तोषः तृष्णाऽऽभावः स एव अमृतं तेन तृप्तानां तृप्तिमताम् , शान्तचेतसाम्=शान्तं क्षोभरहितं चेतः मनो येषा-न्ते तेषां स्थिरान्तःकरणानां जनानां, यत्=यादृशं सुखं भवति। तत्=तादृशं सुखम्, धनलुब्धानाम् = धने द्रव्ये लुब्धाः लोलुपाः तेषाम्, इतश्च इतश्च धावतां= समन्तात् प्रदेशान्तरे परिभ्रमतां जनानाम् , कुतः = कस्माद्धेतोः स्यादिति।

भा०—सन्तोषरूप अमृत से तृप्त शान्तचित्तवाले जनों को जो सुख मिलता है, वह सुख धन के लोभी इधर उधर दौड़नेवाले को कहाँ से मिले ॥ १३७ ॥

किञ्च—तेनाऽधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाऽऽशा पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १३८ ॥

अ०—येन आशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यम् अवलम्बितम्, तेन सर्वम् अधीतम्, तेन सर्वं श्रुतम् , तेन सर्वम् अनुष्ठितम्। व्या०— येन = पुरुषेण, आशा = विविधा-स्तृष्णा, पृष्ठतः = पश्चात्, कृत्वा विहायेत्यर्थः। नैराश्यम् = आशाशून्यत्वम् , अवलम्बितम् = आश्रितम् , तेन = पुरुषेण, सर्वम् अधीतम्=सर्ववेदादिकं पठितम् , तेन सर्वं श्रुतं=नीतिशास्त्रादिकमाकर्णितम्। तेन च सर्वम् अनुष्ठितं=तपश्चरणा-दिकमाचरितमिति।

भा०—जिसने आशाओं को पीछे रखकर निराशा का अवलम्बन किया है उसने सब पढ़ लिया, सब श्रवण कर लिया तथा सब अनुष्ठान भी कर लिया ॥ १३८ ॥

अपि च—असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।
अनुक्तक्लीववचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १३९ ॥

अ०—असेवितेश्वरद्वारम् अदृष्टविरहव्यथम् अनुक्तक्लीववचनं कस्यापि जीवनं धन्यम्। व्या०—असेवितेश्वरद्वारम्=न सेवितम् अनाश्रितम् ईश्वरस्य धनवज्जनस्य द्वारं गृहाऽङ्गणं यस्मिन् तत् , धनिकाऽधीनतानपेक्षमित्यर्थः। अदृष्टविरहव्यथम् = न दृष्टा विरहस्य इष्टजनवियोगस्य व्यथा कष्टं यस्मिन् तत् , इष्टवियोगजदुःखानु-भवरहितमित्यर्थः। अनुक्तक्लीववचनम्—न उक्तं क्लीवस्य दीनतायाः वचनं यस्मिन् तत् 'मां रक्ष' इति वचनाऽवसराऽप्राप्तमित्यर्थः। एतादृशं जीवनं तु कस्यापि जनस्य धन्यमिति प्रशस्यतरं भवतीति।

भा०—जिसको अपने जीवन में धनी के घर नहीं जाना पड़ा है और न तो स्वजनों के विरह का दुःख देखना पड़ा है तथा 'मैं असहाय हूँ, मेरा रक्षण करो' ऐसा दीन वचन नहीं बोलना पड़ा है ऐसे पुरुष का जीवन धन्य है ॥ १३९ ॥

यतः—न योजनशतं दूरं वाह्यमानस्य तृष्णया।
सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादरः ॥ १४० ॥

अ०—दूरस्था याच्यमानस्य योजनशतं दूरं न सम्मुखस्य करप्राप्तेऽपि अर्थे आदरः न भवति। व्या०—दूरस्थता = दूरवर्तिता, याच्यमानस्य = आकृष्यमाणस्य जनस्य योजनशतमपि = योजनानां शतमपि शतयोजनदूरमपीत्यर्थः। न दूरमिति कृते न भातीति। अत्र च सम्मुखस्य = अनुन्मुखस्य जनस्य तु, करप्राप्तेऽपि = करे प्राप्तं यस्मिन्, हस्तगतकोषेऽपि प्राप्तेऽपीत्यर्थः। अर्थे = द्रव्यादिपदार्थे, आदरः = आस्था न भवति।

भा०—तृष्णा से भरे मनुष्य को योजन भी भी दूर नहीं मालूम है और सन्तोषी मनुष्य को हाथ में प्राप्त हुवे भी पदार्थ में आदर नहीं होता॥ १४० ॥

तदत्र भवत्स्वोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान्।

भा०—इसलिये अब अपनी स्थिति के अनुकूल कार्य करने का निर्णय करना ही उचित है।

को धर्मो ? भूतदया किं सौख्यं ? नित्यमरोगिता जगति।
कः स्नेहः ? सद्भावः किं पाण्डित्यं ? परिच्छेदः॥ १५१॥

अ०—जगति कः धर्मः भूतदया, किं सौख्यं नित्यमरोगिता कः स्नेहः, सद्भावः, किं पाण्डित्यं परिच्छेदः। व्या०—जगति = संसारे कः धर्मः = धर्मस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) (उत्तरम्)—भूतदयेति भूतदया = भूतानां प्राणिनाम् उपरि दया करुणा स धर्मः भवतीति। किं सौख्यं = सुखस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) नित्यं = सर्वदा, अरोगिता = नीरोगिता सुखम् (इत्युत्तरम्)। कः स्नेहः = स्नेहः किं स्वरूपः? (इति प्रश्नः) सद्भावः = सौजन्यं भावः, सर्वेषु सुखदुःखसम-भाव एव स्नेहः (इत्युत्तरम्)। किं पाण्डित्यं = पाण्डित्यस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) परिच्छेदः = कर्तव्याऽकर्तव्यनिर्णय एव पाण्डित्यमित्युत्तरम्। (आर्यावृत्तम्)

भा०—संसार में धर्म क्या वस्तु है? प्राणि-मात्र पर दया करना धर्म है। सुख का क्या स्वरूप है? सदा नीरोगी रहना ही सुख है। स्नेह का क्या स्वरूप है? सद्भाव ही स्नेह है। पाण्डित्य किसको कहते हैं? कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करना ही पाण्डित्य है॥ १५१॥

तथा च—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे॥ १५२॥

अ०—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं (भवति) विपत्तयः यदापन्ना अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः पदे पदे स्युः। व्या०—परिच्छेद हि = कर्तव्याऽकर्तव्यनिर्णय एव पाण्डित्यमिति भवति यतः विपत्तयः-विपदोऽपि यदापन्नाः-यस्मात् पाण्डित्यात् आपन्नाः, न त्यक्तवन्तः, विपदः दूरगा। भवन्तीति शेषः। अपरिच्छेदकर्तॄणाम् = परिच्छेदस्य निर्णयस्य कर्तारः परिच्छेदकर्तारः ते न भवन्तीति अपरिच्छेदकर्तारस्तेषाम् अपरि-

परिच्छेदकर्तृणाम्, निश्चयरहितानामित्यर्थः । विपदः=आपत्तयः, पदे पदे=कार्ये कार्ये भवन्तीति ।

भा०—पाण्डित्य को ही परिच्छेद कहते हैं, क्योंकि विपत्तियों का अन्त पाण्डित्य से होता है। परिच्छेद (कर्तव्याकर्तव्यविचार) नहीं करने वाले को आपत्तियाँ क्षण क्षण में आती रहती हैं ॥ १४२ ॥

तथा हि—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १४३ ॥

अ०—कुलस्यार्थे एकं त्यजेत्, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्, जनपदस्यार्थे ग्रामं (त्यजेत्) आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् । व्या०—कुलस्यार्थे=कुलस्य अर्थे कुलमर्यादाया रक्षणार्थम्, एकं=कमपि आत्मीय पुत्रदारादिकम्, त्यजेत्=परिहरेत् । ग्रामस्यार्थे=ग्रामस्य अर्थे स्वग्रामजनानाम् उपकाररक्षणाद्यर्थे तु, कुलं=कुटुम्बादिकम् त्यजेत्=परिहरेत्, जनपदस्यार्थे=जनपदस्य देशस्य अर्थे उपकाररक्षणाद्यर्थं च ग्रामं स्वजन्मभूमिम् त्यजेत्=परिहरेत्, आत्मार्थे=निजहिताद्यर्थं तु, प्रतिकूलां पृथिवीमपि=जनपदात्मिकां भूमिमपि, त्यजेदिति ।

भा०—कुल की मर्यादा के रक्षण के लिये घर के एक व्यक्ति का त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये और ग्राम की रक्षा के लिये कुलत्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये । देश की रक्षा के लिये ग्रामत्याग करना पड़े तो वह भी करना और देश का भी त्याग करने से आत्मरक्षा होती हो तो देश भी त्याग देना चाहिये ॥ १४३ ॥

अपरं च—पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
विचार्य्य खलु पश्यामि तत् सुखं यत्र निर्वृतिः ॥१४४॥

अ०—निरायासं पानीयं वा, भयोत्तरं स्वादु अन्नं वा, विचार्य्य, खलु, यत्र निर्वृतिः तत् सुखम् इति पश्यामि । व्या०—निरायासम्=नि नास्ति आयासः प्रयासः यस्मिन् तत् पानीयं=जलं वा, भयोत्तरं=भयं भीतिः उत्तरमुत्तरकाले यस्य तत्, भीतिसङ्कुलमित्यर्थः । स्वादु=सुमिष्टम्, अन्नं भोजनं वा, एतयोर्मध्ये विचार्य=सुचिन्त्य, खलु यत्र निर्वृतिः=यत्रानन्दः निश्चयेन भवति, तत्सुखं=सुखकरमिति, पश्यामि=निर्धारयामीति ।

भा०—बिना प्रयास से मिला हुआ जल, और पीछे से विकार-प्रयुक्त दुःख का भय कराने वाला मिष्टान्न भोजन, इन दोनों में विचार करके जिससे शान्ति होती है वही सुखकर है—ऐसा निर्धारण करता हूँ ॥ १४४ ॥

इत्यालोच्याऽहं निर्जनवनमागतः ।
ऐसा विचारकर मैं निर्जन वन में आया हूँ ।

यत—वरं वन व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभक्षणम्।
तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्॥

अ०—(यत) द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभक्षणं तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं (यत्र तत्) व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं वनं वरम्, तु बन्धुमध्ये धनहीनजीवनं न (वरम्)।

व्या०—(तत्र वने) द्रुमालयः=द्रुमा एव गृह [illegible] भवति। [illegible] इति [illegible] भवति। [illegible] एतावत्, वल्कलं=[illegible] भवति। तादृशं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं [illegible] वरम्=श्रेयस्करमिति मन्ये। किन्तु बन्धुमध्ये [illegible] धनहीनजीवनं [illegible] इति मन्ये। (वंशस्थवृत्तम्)।

भा०—जिस वन में वृक्ष ही घर है [illegible] ऐसे व्याघ्र-हाथी से सेवित वन में रहना अच्छा है किन्तु कुटुम्ब के बीच में धनहीन जीवन अच्छा नहीं है॥ १५॥

ततः कस्यचित्पुण्योदयात्मया विवेकार्थं स्नेहाद्गुरुस्याऽनुगृहीतः।
अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः।

व्या०—[illegible] कस्यचित्पुण्योदयात् [illegible] [illegible] स्नेहाद्गुरुणा=स्नेहस्य [illegible]। अनुगृहीतः [illegible]। अधुना [illegible] पुण्यपरम्परया [illegible]। भवदाश्रयः=भवतः [illegible] स्वर्ग एव=स्वर्गतुल्यः, मया प्राप्तः=लब्धः इति।

भा०—[illegible] उसने मुझे अनुगृहीत किया। और अब तो पुण्ययोग से आप (पूर्ण) का आश्रयरूप स्वर्ग ही मैंने पाया।

मत—संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः सङ्गमः सज्जनैः सह॥ १४६॥

अ०—संसारविषवृक्षस्य काव्यामृतरसास्वादः, सज्जनैः सह सङ्गमः (इति) द्वे एव रसवत्फले। व्या०—संसारविषवृक्षस्य विषस्य वृक्षः विषवृक्षः, संसार एव विषवृक्षः तस्य काव्यामृतरसास्वादः=काव्यम् अमृतमिव इति [illegible]

सदा समागम इत्यर्थः। इत्येव द्वे एव, रसवत्फले–रसाः सन्ति अनयो' इति रसवती, रसवती च ते फले च भवत इति।

भा०—संसार रूप विषवृक्ष के काव्यरूप अमृत का रसास्वादन और सत्पुरुष का समागम ये दो ही मधुर रसवाले फल हैं ॥ १४६ ॥

अपरञ्च—सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम्।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत् ॥ १४७ ॥

अ०—असारे खलु संसारे सत्सङ्गः, केशवे भक्तिः, गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम् इति त्रीणि साराणि भावयेत्। व्या०—असारे=सारशून्ये तुच्छे, संसारे=जगच्चक्रे, सत्सङ्ग'=सतां साधुजनानां सङ्ग समागम, केशवे=परमेश्वरे, भक्ति=प्रेमातिशय, गङ्गाऽम्भसि=गङ्गाया अम्भ' जल तस्मिन्, निमज्जनं=स्नानम्, इत्येतानि त्रीणि साराणि=स्थिरफलानि सन्तीति, भावयेत्=चिन्तयेत्।

भा०—असार संसार में सत्सङ्ग, भगवद्भक्ति, गङ्गास्नान, ये तीन ही सार हैं, उनका सेवन करना चाहिये ॥ १४७ ॥

मन्थर उवाच—

अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम्।
धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापहतो जरापरिणतः शोकाग्निना दह्यते ॥ १४८ ॥

अ०—(जगति) अर्थाः पादरजोपमाः, यौवन गिरिनदीवेगोपमम्, आयुष्य जलबिन्दुलोलचपल, जीवन फेनोपम य निश्चलमति स्वर्गार्गलोद्घाटन धर्मं न करोति, स जरापरिणत पश्चात्तापहत शोकाग्निना दह्यते। व्या०—(जगति) अर्थाः=द्रव्याणि पादरजोपमा=पादस्य चरणतलस्य रज' धूलि उपमा क्षणवियोगित्वेन उपमान येषान्ते तादृशा भवन्ति। यौवन=तारुण्यम्, गिरिनदीवेगोपमं=गिरे शिखरिण या नदी निर्झरिणी तस्या वेग उपमा क्षणस्थायित्वेन उपमान यस्य तत् तादृश भवतीति। आयुष्य=मनुष्यशरीरमपि जलबिन्दुलोलचपल=जलस्य बिन्दव' कणा त इव लोल च तत् चपल चेति भवति, क्षणभङ्गुर भवतीत्यर्थ। जीवनम्=आयु, फेनोपम=फेनस्य उपमा अकस्मान्नष्टस्वभावत्वेन सादृश्य यस्य तत् तादृश भवतीति। (एतावताऽपि) यः निश्चलमति=निश्चला स्थिरा मतिर्यस्य, दीर्घदर्शीत्यर्थ। स्वर्गार्गलोद्घाटन=स्वर्गस्य य अर्गल प्रतिबन्ध तस्य उद्घाटन विनाशक इत्यर्थ। तादृश धर्मं=सुकृत न करोति=नार्जयति। स' जरा

पतितः = वरुणा वद्धः शिथिलबन्धनः, अथ च कालतापहतः = नाशात् मरण समये तापः वेदना तेन हतः व्याकुलः सन् शोकाग्निना = शोक एव अग्निः तेन दह्यते = सन्तप्तमानो भवतीति ।

भा०—सम्पत् ते क्या—संसार में धन पर्वतक की वृष्टि के समान नाशवान है, यौवन पर्वत की नदी के वेग के समान अस्थिर है, मनुष्य की आयु जलबिन्दु के समान क्षण में नष्टहोने वाली है, जीवन फेन के समान नाशवान है। तो भी जो दुर्बुद्धि जन स्वर्ग के द्वार की खोलनेवाले धर्म को नहीं कर सकता है वह बाद में पीड़ित होकर पश्चात्ताप करता हुआ शोकाग्नि से जलता रहता है ॥ १४८ ॥

युष्माभिः अतिसञ्चयः कृतः, तस्यायं दोषः ।

भा०—आपने भी बहुत धन संचय किया, उसका यह फल है ।

यतः—उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।

तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १४९ ॥

अ०—तडागोदरसंस्थानाम् अम्भसां परीवाहः इव उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् । भा०—तडागोदरसंस्थानाम् = तडागस्य जलाशयस्य उदरं मध्ये तस्मिन् संस्था स्थितिर्येषाम् तेषाम्, अम्भसां = जलानाम् परीवाहः = परिवाहः बहिर्गमनं स इव यथा रक्षणरूपो भवति तथा उपार्जितानां = सञ्चितानाम् वित्तानां = द्रव्याणाम् त्यागः = पात्रे वितरणमेव हि रक्षणं = रक्षणस्य उपायो भवतीति ।

भा०—जैसे तालाब के बीच में भरे जल का बाहर निकलना ही उसकी रक्षा का उपाय है। वैसे ही कमाये धन का सत्पात्र को दान देना ही रक्षा है ॥ १४९ ॥

अन्यच्च—यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः ।

तदधो निलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १५० ॥

अ०—मितम्पचः क्षितौ अधोऽधः वित्तं यत् निचखान तत् अग्रतः अधोनिलयं गन्तुं पन्थानं चक्रे। भा०—मितम्पचः = मितम् अल्पं स्वोदरमात्रपूरणार्थं पचतीति मितम्पचः कृपणः, क्षितौ = पृथ्वीतले यत्नेन अधोऽधः = गर्तमागेऽभ्यन्तरम् निर्जनप्रदेशे यत् निचखान = स्थापितवान् । तद्धनमपि अग्रतः = प्रथमत एव मरणपूर्वमेव अधोनिलयं गन्तुं = पातालम् अधोगतिं कर्तुम् अधोगमनमार्गमिति यावत् । चक्रे = करोतीति ।

भा०—कंजूस होने पर भी जो कृपण पृथ्वी में जो धन गाड़ता है वह (उसी धन का) ऊपर है [illegible] वह कृपण को नरकरूप अधोगति में जाने का मार्ग बनाता है ॥ १५० ॥

यत —निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।
परार्थभारवाहीव स क्लेशस्यैव भाजनम् ॥ १५१ ॥

अ०—य. निजसौख्य निरुन्धान. धनार्जनम् इच्छति, स परार्थभारवाही इव क्लेशस्यैव भाजनम् । व्या०—य =जन , निजसौख्य=निजस्य स्वमात्रस्य सौख्य तृप्तिं शान्तिमयजीवनम् , निरुन्धान =निरुन्धन् सन् आत्मानं क्लेशयित्वेत्यर्थ. । धनार्जन=धनस्य द्रव्यस्य अर्जनम् सकलनम् इच्छति=अभिलषति । स = जन:, परार्थभारवाही इव=परार्थे परनिमित्त भारस्य काष्ठपाषाणादे गुरुपदार्थस्य वाही वहनकर्ता रासभ इव यथा क्लेशभाजन भवति तथा क्लेशस्य द्रव्योपार्जन-प्रयासस्य भाजन भवति, न तु तत्फल भुङ्क्ते ।

भा०—जो मनुष्य अपने को आराम न देकर केवल द्रव्योपार्जन ही करता है, वह मनुष्य दूसरे के लिये भार ढोने वाले गदहे की तरह केवल क्लेश का ही पात्र बनता है ॥

तथा चोक्त—दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
भवाम. किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५२ ॥

अ०—यदि दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनः (भवन्ति) तदा तेनैव धनेन वयं किं धनिनो न भवाम ? । व्या०—यदि पक्षे दानोपभोगहीनेन=दान च उपभोगश्च ताभ्यां हीनेन उपभोगेन च शून्येन, धनेन=विपुलेनाऽपि द्रव्येण जना धनिनो धनवन्तो भवन्ति । तदा=तस्मिन् पक्षे तेनैव धनेन=तस्य धनिन द्रव्येणैव, वय-मपि=द्रव्यशून्या· वयमपि किं=कथम्, धनिनो न भवाम ? तस्मिन् द्रव्ये दानो-पभोगशून्यतया द्वयो· समानत्वादिति भाव· ।

भा०—अगर दान तथा उपभोग स शून्य जो द्रव्य है उससे यदि लोग धनी कहाते हैं तो हम भी उस (दूसरों के) धन से धनी क्यों न कहावें ? ॥ १५२ ॥

यत—धनेन किं ? यो न ददाति नाऽश्नुते
बलेन किं ? यश्च रिपून् न बाधते ।
श्रुतेन किं ? यो न च धर्ममाचरेत् ·
किमात्मना ? यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ १५३ ॥

अ०—य न ददाति न अश्नुते (तस्य) धनेन किम् ? । यश्च रिपून् न बाधते (तस्य) बलेन किम् ? यश्च धर्मं न आचरेत् (तस्य) श्रुतेन किम् ? । य· जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य) आत्मना किम् ? । व्या०—य =धनाढ्यो जन·, न ददाति = सत्पात्रे दान न करोति, न च अश्नुते=न स्वय भुङ्क्ते, तस्य =धनाढ्यस्य, धनेन, किं ? =किं साधित ? किं च फल ?, न किमपीत्यर्थं । यश्च=बली जन , रिपून्= शत्रून् , न बाधते=न पीडयति, तस्य बलवतः बलेनापि किम् ? बलस्य=

किं फलम् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः। धनं = प्राप्तमपि यो धनम्, धर्मः = सदा चारादिर्न, न चाचरेद्धर्मं धारयेत् तस्य जीवितमात्रस्य जन्तोः, मृतेनापि जीवताप्यत्रजीवितेनापि किं फलम्, न किञ्चिदित्यर्थः। यथा = तथा जितेन्द्रियत्वं जितानि संयमितानि इन्द्रियाणि येन स तादृशो न भवेत् तस्य मनुष्यजन्मनोऽपि किम् ? मोक्षसाधनसमर्थस्य मनुष्यजन्मनः अपि किं फलं न किञ्चिदित्यर्थः।

भा०—जो धनी न दान देता है न खाता है उसके धन का कोई फल नहीं है जो धनी पुरुष धर्म भी नहीं देता है उसका धन निष्फल है जो धर्मपालन नहीं करते हैं उनका पाण्डित्य निष्फल है वैसे ही जो जितेन्द्रिय नहीं है उसका जीवन भी निष्फल है ॥ १५३ ॥

अन्यच्च—असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः।
अस्येदमिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते ॥ १५४ ॥

अ०—कृपणस्य धनम् असम्भोगेन परैः सामान्यम् हानौ—'दुःखेन अस्य इदम्' इति सम्बन्धो गम्यते। व्या०—कृपणस्य धनम् असम्भोगेन उपभोगराहित्येन अनुपभुक्तत्वादित्यर्थः। परैः—अन्यैरितरैर्जनैः, सामान्यं समानमेव तुल्यमित्यर्थः। परन्तु हानौ = चौरादिना अपहृते सति दुःखेन = तज्जन्यशोकजन्यदुःखेन, 'अस्य दुःखितस्य कृपणस्य इदं द्रव्यम्' इति सम्बन्धः = स्वस्वामिभावरूपः, गम्यते = ज्ञायते, नान्यथेति।

भा०—कृपण पुरुष का धन—भोग रहित होने से धन स्वामी के प्रति तथा अन्यों के प्रति समान है केवल द्रव्य का अपहरण मात्र होने से जिससे दुःख होता है उसके ही उसका स्वामित्व मालूम हो जाता है ॥ १५४ ॥

अपि च—न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने।
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः ॥ १५५ ॥

अ०—कृपणस्य धनं देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न, आत्मने च न याति (अपि तु) वह्नितस्करपार्थिवैः ह्रियते। व्या०—कृपणस्य—अत्यन्तलुब्धस्य जनस्य धनं द्रव्यम् देवाय न = देवपूजार्थं न याति विप्राय न = विप्रपूजार्थं न याति बन्धुभ्यो न = बन्धुनाम् उपयोगाय च न याति किन्तु—वह्नितस्करपार्थिवैः = वह्निः अग्निः तस्कराः चौराः पार्थिवाः राजानः तैः ह्रियते = नश्यति चौर्यते इत्यर्थः।

भा०—कृपण पुरुष का द्रव्य देवता के लिये, ब्राह्मण के लिये, बन्धुजनों के लिये और अपने कार्य के लिये उपयोग में नहीं आता है किन्तु अग्नि, चोर या राजा उसे हर जाता है ॥ १५५ ॥

तथा चोक्तं—दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमाऽन्वितं शौर्यम्।
त्यागसहितञ्च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥१५६॥

अ०—प्रियवाक्सहित दानम्, अगर्वं ज्ञानम्, क्षमाऽन्वितं शौर्यम्, त्यागसहितञ्च वित्तम्, एतच्चतुर्भद्रं दुर्लभम्। व्या०—प्रियवाक्सहित=प्रिया मधुरा या वाग् वाणी तया सहित दान सत्पात्रे वितरणम्, अगर्व=नास्ति गर्वो यस्य तत् अगर्वम् अभिमानरहित ज्ञानं=शास्त्रजन्यविज्ञ्यविद्या, क्षमाऽन्वित=क्षमया तितिक्षया अन्वित युक्तम्, शौर्य=शूरत्वम्, त्यागसहितञ्च=त्यागः दान तेन सहितञ्च वित्त द्रव्यम्, एतच्चतुर्भद्र=चतुर्णां भद्राणां समाहार' चतुर्भद्र कल्याणचतुष्टयम्, दुर्लभ= दुष्प्रापम् भवतीति।

भा०—प्रियवचन-पूर्वक दान, गर्वरहित पाण्डित्य, क्षमायुक्त शूरता दानयुक्त द्रव्य, ये चारों श्रेय पदार्थ दुर्लभ हैं॥ १५६॥

उक्तञ्च—कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः।
पश्य सञ्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः॥ १५७॥

अ०—नित्य सञ्चय कर्तव्य, अतिसञ्चय न कर्तव्य', सञ्चयशीलः असौ जम्बुकः धनुषा हतः पश्य। व्या०—नित्य सर्वदा, सञ्चयः=द्रव्यसकलनम्, कर्तव्यः =विधेय., अतिसञ्चय =अत्यन्तं निरवधि. सञ्चयस्तु न कर्तव्यः, सञ्चयशीलः= कार्मुकेण, हत' =नाशित इति।

भा०—सदा सञ्चय करना चाहिये, लेकिन उचित का त्यागकर अतिसञ्चय नहीं करना चाहिये। क्योंकि अतिसञ्चय करने वाला यह शृगाल धनुष से मारा गया॥ १५७॥

तावाहतु—'कथमेतत्?' मन्थरः कथयति—

भा०—मूषिक तथा काक दोनों बोले-'यह जम्बुक का वृत्तान्त कैसा है?' तब मन्थर कहने लगा—

कथा ५

आसीत् कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः। स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यन् विन्ध्याटवीमध्यं गतः। तत्र तेन मृग एको व्यापादितः। ततो मृगमादाय गच्छता तेन घोराकृतिः शूकरो दृष्ट.। ततस्तेन मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेण हतः। शूकरेणाप्यागत्य प्रलयघनघोरगर्जनं कुर्वाणेन स व्याधो मुष्कदेशे हत. छिन्नद्रुम इव पपात।

व्या०—कल्याणकटकवास्तव्य =कल्याणकटकनाम्नि देशे वास्तव्य वासकारी भैरवो नाम व्याध =मृगयुः, आसीत्। स च व्याधः, एकदा=एकस्मिन् समये, मांसलुब्धः=मांसे लुब्धः सतृष्ण सन्, धनु =कार्मुकम्, आदाय=गृहीत्वा, मृगं=

हरिणम्, धनिष्यन्नानीय, अञ्जनपर्वतशिखराकारः अञ्जनाख्यपर्वतस्य शिखरस्य आकार इव आकारो यस्य तादृशः, तेनानेन व्याधेन पुनः मृगः = हरिणः व्यापादितः = मारितः, ततः तदनन्तरम्, भूमौ स्थापयन् हरिणं भूमौ, अन्यत्र शूकरः = व्याधेन घोरा प्रहृतो ... आहृतः स्वकर्म... शूकरः = वराहः, हतः। ततः = तदनन्तरम्, तेन = व्याधेन मृगं = हरिणम्, भूमौ = भुवि निधाय = संस्थाप्य शरेण = बाणेन शूकरः = स वराहः, हतः = ताडितः, शूकरेणापि प्रलयघनघोरगर्जनं कृत्वा = प्रलयकालिकमेघवत् गर्जनं कृत्वा, आगत्य = व्याधसन्निधौ समुपस्थाय ... घोरगर्जनं = प्रलयस्य प्रलयकालस्य ये घना मेघाः तस्य गर्जनमिव घोरं भयङ्करं गर्जनम् कृत्वा मुष्कदेशे ताडयित्वा तथा मुष्कदेशे = मुष्कयोः हतः = ताडितः, स व्याधः छिन्नद्रुम इव = छिन्नः वृक्षः इव पपात = भूमौ पतितः।

भा०—'कल्याणकटक' नामक देश में भैरव नामक एक व्याध रहता था, वह एक बार मांस के लिए धनुष लेकर वहाँ से चला और विन्ध्याचल पर्वत पर गया। वहाँ उसने एक मृग को मारा, मृग लेकर जाते हुये उस व्याध ने एक सूअर को देखा, तब मृग को जमीन पर रख कर सूअर को बाण से मारा। बाण लगते ही क्रुद्ध हुये उस सूअर ने चिग्घाड़ कर प्रलय के मेघ के समान गर्जना कर व्याध के अण्डकोश में प्रहार किया जिससे व्याध कटे हुये वृक्ष की तरह गिर पड़ा।

तथा चोक्तम्—जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद् व्याधिः पतनं गिरेः ।
निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते ॥ १५८ ॥

अ०—जलम् अग्निः विषं शस्त्रं क्षुत् व्याधिः गिरेः पतनं किञ्चित् निमित्तम् आसाद्य देही प्राणैः विमुच्यते। व्या०—जलं = सलिलम्, अग्निः = वह्निः, विषं = गरलम्, शस्त्रं = आयुधम्, क्षुत् = बुभुक्षा, व्याधिः = रोगः, गिरेः पतनं = पर्वतात् पतनम्, इत्येतेषु किञ्चिन्निमित्तम् आसाद्य = प्राप्य देही = शरीरी, प्राणैः = असुभिः, विमुच्यते = त्यज्यते।

भा०—जल, अग्नि, विष, शस्त्र, भूख, व्याधि, पहाड़ से पतन इनमें से किसी भी निमित्त से प्राणी प्राणों से अलग हो जाता है ॥ १५८ ॥

अत्र तयोः पादास्फालनेन एकः सर्पोऽपि मृतः। अथानन्तरं 'दीर्घरावो' नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान् मृतान् मृगव्याधसर्पशूकरान् अपश्यत्। आलोक्याचिन्तयच्च—'अहो! भाग्यम्! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम्'।

व्या०—अत्र तयोः = व्याधशूकरयोः, पादास्फालनेन पादाघातमात्रेणैव तयोः, एकः = कश्चित् सर्पः अपि मृतः = प्राणैर्वियुक्तः। अथानन्तरं = तदनन्तरम् आहारार्थी = आहारस्य अर्थी इति आहारार्थी, दीर्घरावो नाम = दीर्घः रावः यस्य सः महान् जम्बुकः

शब्दो यस्य सः तादृशनाम्ना ख्यात इति, जम्बुकः=शृगालः, परिभ्रमन्=परिभ्रमतीति पर्यटति इति परिभ्रमन् पर्यटन् सन्। तान् मृतान् मृगश्च व्याधश्च सर्पश्च शूकरश्चेति तान्, अपश्यत्। आलोक्य=दृष्ट्वा च, अचिन्तयत्=विचारं कृतवान्—अहो इति हर्षे, भाग्य=दैवम्, अद्य=अस्मिन्दिने, मे=मम, महद्भाग्यं समुपस्थितं=फलितम्।

भा०—और उस व्याध तथा शूकर के तड़फड़ाने से उसके पैरों से एक साँप मर गया। उस समय आहार के लिये घूमते हुए दीर्घराव नामक जम्बुक ने मरे हुये मृग, व्याध, सर्प, शूकर इन चारों को देखा। देख कर सोचा भी—ओह! भाग्य है, आज मुझे बड़ा भोजन मिल गया है।

अथवा—अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ १५९ ॥

अ०—यथैव देहिनाम् अचिन्तितानि दुःखानि आयान्ति, तथा सुखान्यपि (आयान्ति) इति मन्ये। अत्र दैवम् अतिरिच्यते। व्या०—यथैव=यद्वत्, देहिनां=शरीरिणाम्, अचिन्तितानि=न चिन्तितानि आकस्मिकानि, दुःखानि=आपत्तय, आयान्ति, तथा सुखानि अपि आकस्मिकानि, आयान्ति। इति=अहं मन्ये, अत्र=अस्मिन् सुखदुःखागमने, दैव=भाग्यमेव, अतिरिच्यते=सर्वमूर्धन्यतया तिष्ठति।

भा०—जिस प्रकार शरीरधारियों को आकस्मिक दुःख आते हैं वैसे ही आकस्मिक सुख भी आते हैं, इनमें दैव ही प्रधान है ॥ १५९ ॥

भवतु, एषां मांसैः मासत्रयं समधिकं भोजनं मे भविष्यति।

भा०—अच्छा हुआ, इन सबके मांस से तीन महीने तक मेरा भोजन खूब चलता रहेगा।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ।
अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥ १६० ॥

अ०—नरः एकं मासं याति, मृगशूकरौ द्वौ मासौ, (याति) अहिः एकं दिनं याति, अद्य धनुर्गुणः भक्ष्यः। व्या०—नरः=व्याधशरीरमांसम्, एकं मासम्=एकमासं व्याप्य, याति=भक्ष्यतां गच्छति, मृगश्च शूकरश्च तौ, मृगस्य मांसं शूकरस्य च मांसम्, द्वौ मासौ=मासद्वयं व्याप्य, याति इति। अहिः=सर्पमांसम्, एकं दिनं व्याप्य, याति=भक्ष्यत्वं गच्छति, अद्य=अस्मिन्दिने तु धनुर्गुणः=धनुषः कार्मुकस्य गुणः मौर्वी चर्ममौर्वीत्यर्थः, भक्ष्यः=भक्षणीय इति।

भा०—मनुष्य मांस एक मास चलेगा, दो मास तक मृग तथा शूकर का मांस चलेगा, एक दिन साँप के मांस से गुजरेगा। आज तो यह धनुष की सूखी स्नायुमय रस्सी ही खा लेनी चाहिये ॥ १६० ॥

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि इत्युक्त्वा तथाऽकरोत्। ततश्छिन्ने स्नायुबन्धने द्रुतम् उत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि 'कर्तव्यः सञ्चयो नित्यम्' (१९७) इत्यादि।

व्या०—ततः = तस्मात्, अग्रे भोक्तव्यत्वेनेति हेतुरेवार्थः। प्रथमबुभुक्षायां = प्रथमा चासौ बुभुक्षा भोक्तुमिच्छा तस्यां सत्याम्, इदं = पुरःस्थितम् निःस्वादु = निःस्वादम्, कोदण्डलग्नं = कोदण्डे कार्मुके लग्नं सक्तम्, स्नायुबन्धनं = स्नायुः अन्त्रवाही तस्या बन्धनं धनुर्बन्धनम् खादामीत्यर्थः। खादामि = भक्षयामि। इत्युक्त्वा तथा = स्नायुभोजनमनुतिष्ठन् अकरोत्। ततः स्नायौ छिन्ने सति स्नायुबन्धनेऽन्त्रस्य बन्धने छिन्नेऽपगते सति द्रुतम् उत्पतितेन = ऊर्ध्वं गतेन झटिति उत्पतता धनुषा = कार्मुकेण हृदि = हृदयप्रदेशे, निर्भिन्नः = ताडितः, सः = दीर्घरावनामा शृगालः, पञ्चत्वं = मरणं गतः। अतः = अस्माद्धेतोः, ब्रवीमि = कथयामि 'कर्तव्य' इत्यादि।

भा०—इस हेतु से प्रथम भूख में यह स्वादरहित धनुष में बँधी हुई स्नायु की रस्सी खा लूँ, ऐसा कहकर वैसे किया। उस ताँत के कट जाने पर शीघ्र उछले हुए धनुष से हृदय में छेदा गया और पञ्चत्व को प्राप्त हुआ, इसलिये मैं कहता हूँ कि—'कर्तव्य' इत्यादि।

तथा च—यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम्।

अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥ १९१ ॥

अ०—यद् धनं ददाति यद् अश्नाति धनिनः तदेव धनम्, अन्ये मृतस्य दारैः धनैरपि क्रीडन्ति। व्या०—यद् धनं ददाति = सत्पात्रे वितरणं करोति यद् च धनम् अश्नाति = स्वयं भुङ्क्ते, धनिनः = धनियुक्तस्य तदेव धनम् इति सार्थकं भवति। तस्य अन्ये जनाः, मृतस्य = धनिनः, दारैः = कलत्रैरपि धनैः अपि च क्रीडन्ति = आनन्दमनुभवन्तीति।

भा०—जो धन दान में दिया जाता है और अपने उपभोग में भी लाया जाता है वही धनवानों का धन कहलाता है दूसरा नहीं। क्योंकि मरने बाद उस धनवान् के धन तथा स्त्री से भी दूसरे ही लोग मौज करते हैं ॥ १९१ ॥

किञ्च—यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने।

तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि ॥ १९२ ॥

अ०—दिने दिने यद् विशिष्टेभ्यो ददासि, यच्च अश्नासि तद् ते वित्तम् (इति) अहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि। व्या०—दिने = दिने = अहनि अहनि यद् = यद्

द्रव्यम्, विशिष्टेभ्य =श्रेष्ठसत्पात्रेभ्य', ददासि=अर्पयसि, यच्च=धनम्, स्वयम् अश्नासि=स्वोपभोगार्थं व्यय नयसि, तत्=वित्तम्, ते=तवास्ति इति अह मन्ये=स्वीकरोमि। अथ च शेष=दानाऽशनाऽतिरिक्त द्रव्यन्तु, कस्यापि=कस्य-चिदन्यस्योपभोगार्थम्, रक्षसि=स्थापयसि इति।

भा०—जिस द्रव्य का सत्पात्रों को दान देते हो और अपने भी उपयोग में खर्च करते हो वही तुम्हारा है और बाकी सब दूसरे के लिये ही रखते हो-ऐसा मैं समझता हूँ ॥१६२॥

यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन ।

भा०—जाने दो, इस समय गई बातों के विवेचन से क्या काम है !

यत'—नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नरा. पण्डितबुद्धय. ॥ १६३ ॥

अ०—पण्डितबुद्धय नरा अप्राप्य न अभिवाञ्छन्ति, नष्ट शोचितु नेच्छन्ति, आपत्सु अपि न मुह्यन्ति। व्या०—पण्डितबुद्धय =पण्डितानां बुद्धिरिव बुद्धिर्येषान्ते स्थिरमतय, नरा=जना, अप्राप्य प्राप्तुं योग्य प्राप्य न प्राप्यम् अप्राप्यम्=अलभ्यम् नाभिवाञ्छन्ति=प्राप्तु नेच्छन्ति, नष्ट=नाश गत वस्तु च, शोचितु=शोकविषय कर्तुम्, नेच्छन्ति=नाभिलपन्ति। आपत्सु=दु'खदविपत्तिषु प्राप्तासु सतीषु, अपि न मुह्यन्ति=मोह न कुर्वन्ति इति।

भा०—पाण्डित्ययुक्त बुद्धिवाले मनुष्य अप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करते हैं, नष्ट वस्तु का शोक नहीं करते हैं, आपत्ति में अधीर नहीं होते हैं ॥ १६३ ॥

तत् सखे ! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम् । यतः—

भा०—इसलिये सखे ! मूषिक ! तुमको सदा उत्साह-सहित रहना चाहिये । क्योंकि—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुष' स विद्वान् ।
सुचिन्तितञ्चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १६४ ॥

अ०—(जना) शास्त्राणि अधीत्य अपि मूर्खा भवन्ति, य पुरुष क्रियावान् स विद्वान्, औषधं नाममात्रेण सुचिन्तितम् आतुराणाम् अरोग न करोति। व्या०—(जना) शास्त्राणि, वेदादीनि अधीत्य=पठित्वा अपि, मूर्खाः=कुण्ठिताचरणा भवन्ति= अवतिष्ठन्ते। यस्तु पुरुषः=जन, क्रियावान्=अधीतियोग्याचरणप्रचारणवान्, स एव विद्वान्=यथार्थपण्डित। यथा औषध=भेषजम्। नाममात्रेण=तन्नाम्ना, सुचिन्तितमपि=बहु स्मृतमपि, आतुराणां=रोगिणाम्, अरोग=रोगध्वसम्, न करोति। (उपजातिवृत्तम्)।

भा०—बातों को पकड़ कर भी दोष ढूंढ़ते रहते हैं जो मनुष्य बात पकड़ कर उस मुताबिक व्यवहार करते हैं वे ही यथार्थ विद्वान् हैं। बहुत याद करते हुए भी औषध का नाम रोगी के रोग का नाश नहीं करता है॥ १६४॥

अन्यच्च—न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः॥

अ०—विज्ञानविधिः अध्यवसायभीरोः स्वल्पमपि गुणं न करोति। हि इह हस्ततलस्थितः अपि प्रदीपः अन्धस्य अर्थं प्रकाशयति किम्? व्या०—विज्ञानविधिः = विशेषेण ज्ञायते इति विज्ञानं शास्त्रम् तस्य विधिः विधानम् उपदेश इति यावत्। अध्यवसायभीरोः [illegible] [illegible] उद्योगभीरोः पुरुषस्य [illegible] स्वल्पमपि, गुणम् [illegible] कार्यं न करोति। हि [illegible] इह भुवि हस्ततलस्थितः [illegible] करतलस्थितः अपि प्रदीपः, अन्धस्य [illegible] अर्थम् = वस्तुजातं, प्रकाशयति किम् [illegible] किम्? अर्थात् न प्रकाशयति (प्रकाशितं करोति)।

भा०—आलस्ययुक्त पुरुष को शास्त्रोपदेश कुछ भी नहीं करता है जैसे इस लोक में हाथ में रक्खा हुआ भी प्रदीप अन्धे को प्रकाश नहीं करता है॥ १६५॥

तदत्र सखे गृहाऽविशेषेण यथाशान्तिः करणीया [illegible] त्वया न मन्तव्यम्।

व्या०—तत् तस्माद्धेतोः, सखे! मित्र! अत्र = मम गृहे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न मन्तव्यं = [illegible]।

भा०—इसलिये मित्र मूषक! तुम बेधड़क मेरे ही घर में आनन्द करो यह मेरे घर में निवास करना भी कष्टप्रद मत मानना।

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥ १६६॥

अ०—आपतितं सुखं तथा आपतितं दुःखं सेव्यम् सुखानि च दुःखानि च चक्रवत् परिवर्तन्ते। व्या०—आपतितं = समुपस्थितम् सुखं सेव्यम् = अनुभवनीयम्। तथा = तेन प्रकारेण आपतितं दुःखमपि सेव्यम् = अनुभवनीयम् सुखानि च दुःखानि च, चक्रवत् = चक्रं यथा भ्रमति तथा परिवर्तन्ते = क्रमशः आयान्ति [illegible]।

भा०—आया हुआ सुख और दुःख दोनों को सहन करना चाहिये। क्योंकि जगत् में सुख और दुःख चक्र की तरह घूमते (आते-जाते) रहते हैं॥ १६६॥

अपरञ्च—निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः॥ १६७॥

अ०—मण्डूकाः निपानमिव, अण्डजाः पूर्णं सर इव, सर्वसम्पदः विवशाः सोद्योगं नरमायान्ति। व्या०—मण्डूकाः = भेकाः, निपानं = क्षुद्रजलाशयम्, इव, अण्डजाः = अण्डेभ्यो जाताः अण्डजाः = पक्षिणः, पूर्णं = प्रभूतजलयुक्तम्, सरः = तडागमिव, सर्वसम्पदः = सर्वाश्च ताः सम्पदः सर्वसमृद्धयः, विवशाः = सोद्योगजनाऽधीनाः सत्यः, सोद्योगम् = उद्योगेन सहितः तम्, नरं = जनम्, आयान्ति = समुपतिष्ठन्ते इति।

भा०—मण्डूक जैसे जलाशय के प्रति जाते हैं, पक्षिगण जैसे पूर्ण सरोवर के प्रति जाते हैं वैसे ही उद्योगपूर्ण जन के प्रति सर्वसम्पत्तियाँ विवश होकर आ पड़ती हैं॥ १६७॥

अपि च—उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः॥१६८॥

अ०—लक्ष्मीः निवासहेतोः स्वयम् उत्साहसम्पन्नम् अदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेषु असक्तं शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च (जनम्) याति। व्या०—लक्ष्मीः = सम्पद्देवी, निवासहेतोः = निवासः अवस्थानम् एव हेतुः निमित्तं तस्मात् निवासार्थम्, स्वयम् = आत्मनैव, उत्साहसम्पन्नम् = उत्साहेन उद्योगेन सम्पन्नः युक्तः तम्, अदीर्घसूत्रम् = दीर्घं चिरेण सूत्रयति सम्पादयति इति दीर्घसूत्रः, स न भवति इति अदीर्घसूत्रः तम्, शीघ्रकार्यकारिणमित्यर्थः। क्रियाविधिज्ञम् = क्रियाणां कर्तव्यविषयाणां विधयः विनियोगाः तान् जानाति विवेचयतीति क्रियाविधिज्ञः तम्, यथायोग्यकार्यानुष्ठानवेत्तारमित्यर्थः। व्यसनेषु = मद्यद्यूतमृगयादिषु असक्तम् = न सक्तः असक्तः तम्, अनिहितमानसमित्यर्थः। शूरं = वीर्यवन्तम्, कृतज्ञम् = कृतम् उपकृतं जानाति इति तम् कृतज्ञम्, उपकारवेत्तारमित्यर्थः। दृढसौहृदम् = दृढम् अन्तरायशून्यं सौहृदं मैत्री यस्य सः तादृशं जनम्, याति = अभिगच्छति। (उपजातिवृत्तम्)।

भा०—लक्ष्मी निर्विघ्न निवासस्थान के लिये उत्साही, शीघ्रकार्यकारी, कर्तव्याकर्तव्य विवेकशाली, व्यसनशून्य, शूर-वीर, कृतज्ञ और दृढमित्र ऐसे जो पुरुष हैं उनके यहाँ स्वयं जाकर रहती है॥ १६८॥

विशेषतश्च—विनाऽप्यर्थैर्धीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां
द्युतिं सैंहीं श्वा किं धृतकनकमालोऽपि लभते॥१६९॥

अ०—धीरा अपि विपदापि बहुमानोपयोगिपदं लभन्ते कृपणा अपि सम्पुद्योऽपि परिभवपदं यान्ति या सकलकलमायाज अपि स्वभावात् मनुजा गुणसमुदयासमर्थविधिचयी जैही द्युतिं लभते किम् ? । व्या०—धीरा = सुदेवो विदुषो जन अपि विपदापि = दुःखापि विमार्गेऽपि बहुमानोपयोगिपदं = बहुमाना बहुमानयोग्य स्थानं अपि सम्पुत्राः तयोः पदं स्थानं तादृशीं स्थितिमित्यर्थः, लभन्ते लभतेऽलिम्पति इति । कृपणाः = देहहीना जनाः, अपि = सुखैः समायुक्ता अपि परिभवपदं = परिभवस्य अपमानस्य अपकृष्टतायाः वा पदं स्थानं यान्ति । तथा हि—या = कुक्कुर, सकलकलमायाज अपि = यत्ना कलकलस्य सुवर्णस्य माला येन वा तादृशोऽपि अपि, स्वभावात् = निसर्गात् उपाध्याय = अयशो प्रकाशमानत्व गुणसमुदयासमर्थविधिचयात् = गुणानां शोभादीनां समुदया समुदायस्य तस्य प्रकाशित प्राप्ति तस्या विधया सुविधा तात बहुगुणयोग्योपविकासमित्यर्थः । एतादृशीं जैहीम् = सिंहस्य इवं जैही तामं द्युतिं = कान्तिम् लभते = विन्दति किम् ? अर्थात् नैव विन्दति इति (शिखरिणी वृत्तम्) ।

भा०—धीर पुरुष धनहीन होने पर भी बहुसम्मान तथा अभ्युदय को पाते हैं और बहुधनयुक्त भी कृपण जन अपमान ही पाते हैं । यह बात यथार्थ है । क्योंकि कुत्ता सुवर्ण की माला धारण करने पर भी स्वाभाविक अयश होने वाली तथा शौर्यादिगुणसमूह को सूचित करने वाली सिंह की कान्ति (निर्भयताकिता) को कभी नहीं पा सकता ॥ १६९ ॥

किम्—अन्वयादिति हि मयस्ते किं गतविस्मयो विपादमुपयासि ।

करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ १७० ॥

अ०—धनवान् इति ते मदः, किं धनविरहितः विषादम् उपयासि हि मनुष्याणां पातोत्पाताः करनिहतकन्दुकसमाः । व्या०—यदि धनवान् = धनाढ्यः असि इति हेतोरपि ते = तव मदः = अभिमानः, अस्ति तर्हि किं = कथम् ? धनविरहः = धनात्, विगताः विरहिताः सम्पत्तयो यस्य सा एतादृशः सन् विषादमेव उपयासि प्राप्नोषि । हि = यतः, मनुष्याणां = जनानाम् पातोत्पाताः पातोऽवपातः उत्पाता उत्पतनं चेति पातोत्पाता अवनत्युन्नतयः । करनिहतकन्दुकसमाः = करेण हस्तेन निहतः ताडितः यः कन्दुकः गेन्दुकः तेन समाः सदृशाः भवन्ति । (आर्यावृत्तम्) ।

भा०—मैं धनवान् हूँ ऐसा यदि तुमको मद है तो फिर निर्धन बनने पर क्यों शोक करते हो क्योंकि—मनुष्यों की अवनति तथा उन्नति हाथ से मारे हुये गेंद की तरह होती रहती है ।

अन्यच्च—वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।

गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ॥ १७१ ॥

अ०—वृत्त्यर्थं न अतिचेष्टेत हि सा धात्रैव निर्मिता, जन्तौ गर्भात् उत्पतिते

मातुः स्तनौ प्रस्रवतः । व्या०—वृत्त्यर्थं=जीविकार्थम्, न अति चेष्टेत—अति प्रयासं न कुर्यात्। हि—यतः, सा—वृत्तिः, धात्रैव=विधात्रा एव, निर्मिता=प्रथमतः निर्धारिता भवति । यथा हि जन्तौ=बाले, गर्भात्=उदराशयात्, उत्पतिते=ऊर्ध्वं बहिः निःसृते सति, मातुः=जनन्याः, स्तनौ=पयोधरौ, निसर्गात् एव प्रस्रवतः=पयः मुञ्चतः।

भा०—जीविका के लिये अति चेष्टा नहीं करना, क्योंकि विधाताने ही जीविका का निर्माण किया है। बालक के गर्भ के बाहर आते ही उसके लिये माता के स्तनों से दूध बहता है ॥ १७१ ॥

अपि च सखे ! शृणु (और भी सुनो मित्र)

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १७२ ॥

अ०—येन हंसाः शुक्लीकृताः, शुकाश्च हरितीकृताः, येन मयूराश्च चित्रिताः, स ते वृत्तिं विधास्यति । व्या०—येन विधात्रा, हंसाः=हंसपक्षिणः, शुक्लीकृताः=शुभ्रवर्णाः कृताः, शुकाश्च=कीराश्च, हरितीकृताः=हरिद्वर्णाः कृताः, येन च विधात्रा, मयूराः=शिखिनः, चित्रिताः=विचित्रवर्णाः कृताः उत्पादिताः, सः=स एव विधाता, ते=तव, वृत्तिं=जीविकाम्, विधास्यति=समुपस्थापयिष्यतीति ।

भा०—जिस विधाता ने हंसों को सफेद बनाया, सुग्गों को हरा बनाया और जिसने मयूरों को रङ्गविरङ्गा बनाया, वही विधाता तुम्हारी भी जीविका चलायेगा ॥ १७९ ॥

अपरञ्च सतां रहस्यं शृणु, मित्र ! (और भी बडे लोगों का रहस्य सुनो, मित्र !)

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु ।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ॥ १७३ ॥

अ०—अर्थाः अर्जने दुःखं जनयन्ति, विपत्तिषु तापयन्ति, सम्पत्तौ च मोहयन्ति, (अतस्ते) कथं सुखावहाः ? । व्या०—अर्थाः=द्रव्याणि, अर्जने=उपार्जने सफलीकरणे, दुःखं=बहुप्रयास क्लेशं, जनयन्ति=उत्पादयन्ति । विपत्तिषु=चौरादिकृतहरणादिषु, तापयन्ति=परितापम् उत्पादयन्ति । सम्पत्तौ=बहुविधे ऐश्वर्ये सति, तु, मोहयन्ति=मदं जनयन्ति । (इत्यस्माद्धेतो अर्थाः) कथं=केन प्रकारेण, सुखावहाः=सुखम् आवहन्तीति सुखावहाः सुखसम्पादकाः भवन्ति, न कथमपीत्यर्थः ।

भा०—धन को प्राप्त करने में भी कष्ट होता है, चोरादि के ले जाने से क्लेश होता है, खूब सम्पत्ति हो जानेसे मन्दोन्मत्तता आती है। अब कहो द्रव्य किस स्थिति मे सुखदायी है ? ॥

अन्यच्च—धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥ १७४॥

अ०—यस्य धर्मार्थं वित्तेहा तस्य निरीहता वरम्। पङ्कस्य प्रक्षालनात् दूरात् अस्पर्शनं वरम्। व्या०—यस्य = जनस्य (अधर्मं कृत्वा धनमर्जयतः) धर्मार्थं यागदानादिधर्मोपार्जनार्थम् वित्तेहा = वित्तस्य धनस्य ईहा धनार्जनचेष्टा भवति तस्य = तज्जनस्य निरीहता = निः नास्ति ईहा चेष्टा यस्य तस्य भावस्तत्ता धनार्जनविराम एव वरं = श्रेष्ठः समाधिप्रियो भवति इति। यथा हि—पङ्कस्य = कर्दमस्य प्रक्षालनात् = कर्दमप्रक्षालनापेक्षया दूरात् = प्रथमत एव, अस्पर्शनं = न स्पर्शनं, वरं भवति।

भा०—(अपने धर्म करने के लिये) धनोपार्जन करने में तत्परतापूर्वक धनप्राप्ति की चेष्टा करना, उससे धन प्राप्ति की चेष्टा ही नहीं करना श्रेयस्कर है जैसे कीचड़ में पैर डुबाकर फिर कीचड़ के धोने की अपेक्षा प्रथम ही कीचड़ का स्पर्श ही नहीं करना श्रेष्ठ है।

अन्यच्च—यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ १७५॥

अ०—आमिषं यथा आकाशे पक्षिभिः, भुवि श्वापदैः, सलिले मत्स्यैः भक्ष्यते तथा वित्तवान् सर्वत्र (भक्ष्यते)। व्या०—आमिषं = मांसम् (कर्मधनम्) यथा आकाशे = गगने, पक्षिभिः = खगैः भक्ष्यते भुवि = भूतले, श्वापदैः = हिंस्रजन्तुभिः भक्ष्यते, सलिले = जले तु, मत्स्यैः = जलजन्तुभिः, भक्ष्यते = ग्रस्यते तथा वित्तवान् = वित्तं धनम् अस्यास्तीति वित्तवान् धनवान्, सर्वत्र = सर्वेषु स्थलेषु, भक्ष्यतेऽर्थः दस्युतस्करैः ग्रस्यते इति।

भा०—मांस को जैसे आकाश में पक्षी खा जाते हैं पृथिवी में हिंसक जन्तु खा जाते हैं जल में मत्स्य आदि खा जाते हैं, वैसे ही धनवान् को भी सभी स्थलों में दुष्ट–चोरादि खा लेते हैं॥ १७५॥

अन्यच्च—राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव॥ १७६॥

अ०—प्राणभृतां मृत्योरिव अर्थवतो राजतः सलिलात् अग्नेः चोरतः स्वजनादपि नित्यं भयम् (भवति)। व्या०—प्राणभृताम् = प्राणान् बिभ्रति इति प्राणभृतः तेषाम् शरीरिणामित्यर्थः। मृत्योरिव = मरणात् यथा भयं भवति, तथा अर्थवताम् = धनवतां जनानाम् राजतः = (पञ्चम्यास्तसिः) राज्ञः नृपतेः, सलिलात् = जलात्, अग्नेः = वह्नेः, चोरतः = तस्करात् स्वजनादपि = स्वे जनाः बन्धुप्रभृतयः तस्मात् अपि नित्यं = सर्वदा भयं = भीतिः, भवति = वर्तते।

भा०—प्राणी को जैसे मृत्यु से भय रहता है वैसे ही धनाढ्य को राजा से, जल से, अग्नि से, चोरों और स्वजनों से भी निरन्तर भय रहता है ॥ १७६ ॥

यथा हि—जन्मनि क्लेशबहुले किन्तु दुःखमतः परम्।
इच्छासम्पद् यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥१७७॥

अ०—यत क्लेशबहुले जन्मनि इच्छासम्पत् नास्ति, यच्च इच्छा न निवर्तते, अत पर दुःख किं नु ? व्या०—यत =यस्माद्धेतोः, क्लेशबहुले = कष्टप्रधाने, जन्मनि = जीवने, इच्छासम्पत् = इच्छानुरूपा सम्पत् इच्छासम्पत् (मध्यमपद लोपी समास) स्वेच्छानुसार सम्पत् नास्ति न मिलति। अथ च यत , इच्छाऽपि= सम्पत्तृष्णाऽपि, न निवर्तते=न शाम्यति। (वद मो.) अत परम् = अस्मादन्यत्, दुःख = कष्टम्। किं नु ? (नु–वितर्के) किं = कीदृश भवति ?

भा०—(क्या कारण है कि) क्लेशमय ससार मे इच्छाऽनुसार सम्पत्ति नहीं मिलती है और इच्छा की निवृत्ति भी नहीं होती है। इससे ज्यादा और कौन सा दुःख है ? ॥१७७॥

अन्यच्च भ्रातः शृणु—
धन तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण पाल्यते।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १७८ ॥

अ०—धन तावत् असुलभ, लब्ध कृच्छ्रेण पाल्यते, लब्धनाशः यथा मृत्युः, तस्मादेतत् न चिन्तयेत्। व्या०—धन=द्रव्यम्, तावत्=आदौ, असुलभ=न सुखेन लभ्यते। लब्धम् = अर्जित सत्, अपि, कृच्छ्रेण = महता कष्टेन, पाल्यते = रक्ष्यते, लब्धनाश लब्धस्य धनस्य नाश क्षय , यथा=यद्वत्, मृत्युः=तद्वत् मृत्युसमदुःखदो भवति। तस्मात् एतत् = द्रव्योपार्जनादिक, न चिन्तयेत् = न समीहेतेति।

भा०—धन प्रथमत कष्ट से मिलता है, मिलने पर दुःख से उसका रक्षण करना पड़ता है और प्राप्त करने के बाद उसका नाश होना मृत्युसमान कष्टदायी होता है। इसलिये द्रव्य का चिन्तन ही नहीं करना चाहिये ॥ १७८ ॥

सा तृष्णा चेत् परित्यक्ता को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यञ्च शिरसि स्थितम् ॥ १७९ ॥

अ०—सा तृष्णा परित्यक्ता चेत् क दरिद्रः ? क ईश्वर ?। तस्या प्रसरः दत्तश्चेत्, दास्यञ्च शिरसि स्थितम्। व्या०— सा=पूर्वोक्ता, तृष्णा=धनस्पृहा,(जनेन) परित्यक्ता=विलीनीकृता चेत् ! (तदा तस्य जनस्य दृष्ट्या) कः दरिद्रः=धनशून्य , कश्च ईश्वरः=धनी, तृष्णारहितस्य विरक्तस्य दारिद्र्यम् ऐश्वर्यञ्चेत्युभयमपि सममित्यर्थं। तस्या =धनतृष्णायाः प्रसर =अवसर , दत्त चेत् ! (तदा अवश्य) दास्यं=दासत्वम् , शिरसि = मस्तके, स्थित भवति आरोहतीत्यर्थः।

भा०—जब तृष्णा अपर त्याग कर दी जाय तो (उस विरक्त पुरुष की दृष्टि में) कौन दरिद्र है? और कौन धनी है? (कोई नहीं है) और यदि तृष्णा को अवसर दिया गया तो अवश्य ही पुरुष के सिर पर दासत्व आरूढ़ हो जाता है ॥ १७९ ॥

अपरञ्च—यद् यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १८० ॥

अ०—यद् यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते यतः वाञ्छा निवर्तते सः अर्थः अर्थतः एव प्राप्तः । व्या०—यद् यद् एव=यद्यद्वस्तु वाञ्छेत=अभिलषेत ततः तदुत्तरं वाञ्छा=इच्छा तृष्णा, प्रवर्तते=अधिका भवति । यतः=यस्मात् वस्तुनः वाञ्छा=प्राप्तुमिच्छा, निवर्तते=निवृत्ता भवति सः अर्थः=वस्तु, अर्थतः=वस्तुतः, प्राप्त एव=लब्ध एवेति ।

भा०—जिस-जिस वस्तु की इच्छा करते हैं उससे इच्छा बढ़ती ही जाती है, जिस वस्तु से इच्छा निवृत्त हो जाती है वही वस्तु वास्तविक में मिली है ॥ १८० ॥

किं बहुना विश्रम्भालापैः मयैव सहाऽत्र कालो नीयताम् ।

भा०—अब ज्यादा क्या कहना है? विश्वासपूर्वक वार्तालाप करते हुए मेरे साथ यहाँ जीवन व्यतीत करो ।

यतः—आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ १८१ ॥

अ०—महात्मनां प्रणयाः आमरणान्ताः कोपाः तत्क्षणभङ्गुराः परित्यागाश्च निःसङ्गाः भवन्ति हि । व्या०—महात्मनाम्=महापुरुषाणां सज्जनानाम्, प्रणयाः=स्नेहाः आमरणान्ताः=आमरणान्तम् आ मरणात् आमरणम्, आमरणे अन्तः येषां ते, मरणावधिकाः भवन्तीति । एवं कोपाः=क्रोधास्तु, तत्क्षणभङ्गुराः=तस्मिन् क्षणे भङ्गुराः तत्क्षणभङ्गुराः क्षणे एव विनाशशीलाः भवन्तीति । एवं परित्यागाः=दानानि तु, निःसङ्गाः=निः नास्ति सङ्गः आसक्तिः येषु ते तथाविधाः भवन्तीति । हि=निश्चये ।

भा०—महापुरुषों का स्नेह आमरणान्त स्थिर होता है और क्षणभङ्गुर होता है क्रोध, और त्याग स्वार्थरहित होते हैं ॥ १८१ ॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते—धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा आश्रयणीयोऽसि ।

भा०—ऐसा मन्थर का वचन सुनकर लघुपतनक बोला—धन्य हो मन्थर! तुम सब प्रकार से आश्रय करने योग्य हो ।

यतः—सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ १८२ ॥

अ०—सन्त एव नित्य सताम् आपदुद्धरणक्षमा', पङ्कमग्नानां गजानां गजाः एव धुरन्धरा (भवन्ति)। व्या०—सन्त' = साधुजनाः एव, सतां = साधुजनानाम्, आपदुद्धरणक्षमाः=आपदां विपत्तीनाम् उद्धरणम् अपनयन तस्मिन् क्षमा समर्था (भवन्तीति)। तथा हि-पङ्कनिमग्नानाम् = पङ्के कर्दमे निमग्ना, तेषां गजाना= हस्तिनाम्, (उद्धरणे=बहि निष्कासने इति शेष।) गजाः=करिण एव धुरन्धरा'= धुर भार धरन्तीति धुरन्धरा, भवन्तीति।

भा०—क्योंकि-सत्पुरुष ही सत्पुरुषों की आपत्तियाँ दूर करने में समर्थ होते हैं। जैसे कीचड में फँसे हुए हाथी को बाहर निकालने में हाथी ही समर्थ होते हैं॥ १८२॥

अपरञ्च—श्लाघ्यः स एको भुवि मानवाना
स उत्तम॰ सत्पुरुष॰ स धन्यः।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाविभङ्गा विमुखा प्रयान्ति॥ १८३॥

अ०—भुवि यस्य (सकाशात्) अर्थिनो वा शरणागता वा आशाविभङ्गाः (सन्त) विमुखा न प्रयान्ति, स एकः मानवानां श्लाघ्य, स उत्तम सत्पुरुष, स धन्य'। व्या०—भुवि = जगति, यस्य = ऐश्वर्यशालिन॰ जनस्य सकाशात्, अर्थिन = याचकाः वा, शरणागता वा=शरणम् आगता गृहागता वा केऽपि जना, आशाविभङ्गा = आशाया प्राप्त्यभिलाषस्य विभङ्गो अफलता येषान्ते तथाविधा सन्त, विमुखा = पराङ्मुखा, न प्रयान्ति = न गच्छन्ति स एक = अद्वितीय॰ मानवानां = मनुष्याणा मध्ये, श्लाघ्य = प्रशंसास्पदम्, स एव च उत्तम = श्रेष्ठः सत्पुरुषः = सश्चासौ पुरुष। स एव च धन्य सफलमनुजजन्मा भवतीति।

भा०—जगत् में जिस ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ मनुष्य के याचक तथा शरणागत जन आशा-भङ्ग हो जाने से लौट नहीं जाते वही ऐश्वर्यशाली जन मनुष्यों में श्लाघनीय है, वही उत्तम सत्पुरुष है, और वही धन्य है॥ १८३॥

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्तिस्म। अथ कदाचित् चित्राङ्गनामा मृग' केनाऽपि त्रासितस्तत्राऽऽगत्य मिलित। तत्पश्चादायान्तं भयहेतुं सम्भाव्य मन्थरो जलं प्रविष्ट, मूषिकश्च विवरं गत, काकोऽपि उड्डीय वृक्षाग्रमारूढ'। ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यवलम्बितः, पश्चात्-तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टा। मन्थरेणोक्तम्-भद्र मृग! कुशलं ते? स्वेच्छया उदकाद्याहारोऽनुभूयताम्। अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथी-

क्रियताम्। चित्राङ्गो ब्रूते—लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः। ततश्च भवद्भिः सह मित्रत्वमिच्छामि भवन्तश्च अनुकम्पयन्तु मैत्र्येण।

व्या०—एवमं प्रकारेण, ते = हिरण्यकादयः, आहारविहारम् = आहारेण सह विहारः आहारविहारः तौ कुर्वाणा आहारविहारस्तम्, कुर्वाणाः = आचरन्तः सन्तुष्टाः = सन्तोषान्विताः, सुखम् = आनन्दो यथा स्यात् तथा, निवसन्ति स्म = अवसन्, कदाचित् = कस्मिंश्चित्काले, केनापि = केनचिद् व्याधेन, त्रासितः = भयं नीतः, चित्राङ्गनामा मृगः = हरिणः तत्र = मन्थरादिवासे आगत्य मिलितः = सङ्गतः। तत्पश्चात् = तस्य मृगस्य पश्चात् पृष्ठतः, आयान्तम् आगच्छन्तम्, भयहेतुम् = भयस्य हेतुं कारणं व्याधमेव, सम्भाव्य = सम्भावनां कृत्वा, मन्थरः जलं प्रविष्टः। मूषिकश्च विवरं = बिलम् गतः = प्रविष्टः। काकोऽपि लघुपतनकोऽपि उड्डीय वृक्षाग्रम् = वृक्षस्य अग्रभागम् आरूढः। ततः लघुपतनकेन काकेन, सुदूरम् = अतिदूरं निरूप्य = विलोक्य कोऽपि भयहेतुः न आयातीत्यवलोकितम्, न आयाति इति—न आयातः इति अवलोकितः। पश्चात् लघुपतनकस्य वचनात् तदाज्ञानुसारमेवेत्यर्थः, आगत्य पुनः सर्वे = पुनः एव, मिलित्वा = सङ्गत्य तत्रैव स्थाने उपविष्टाः = उपविविशुः। मन्थरेण उक्तम्—भद्र मृग! मित्र सज्जनमृग! कुशलं ते? स्वेच्छया = स्वस्य इच्छया उदकाद्याहारः = उदकम् आदिर्यस्य सः उदकादिः स चासौ आहारः = उदकादिराहारः अनुभूयताम् = भुज्यताम्। अत्र = मम गृहे, अवस्थानेन निवासेन वनमिदं = एतद्वनम् सनाथीक्रियताम् = असनाथं सनाथं क्रियताम् = सनाथं कुरु। चित्राङ्गो ब्रूते—लुब्धकत्रासितः = लुब्धकेन व्याधेन त्रासितः भयं प्रापितः अहम्, भवताम् = युष्माकं शरणम् आगतः। ततश्च = तस्मात् भवद्भिः = युष्माभिः सह मित्रत्वम् = सख्यम् इच्छामि। भवन्तश्च = यूयं सर्वे मैत्र्येण = मैत्रीभावेन अनुकम्पयन्तु = अनुगृह्णन्तु।

भा०—इस प्रकार वे कूर्मादि सब इच्छानुकूल आहार विहार आदि करते हुए सन्तोषपूर्वक सुख से निवास करते थे। एक बार चित्राङ्ग नामक मृग किसी व्याध से भगाया हुआ वहाँ आया। उस मृग के पीछे आते हुए भय के हेतु को समझकर मन्थर जल में घुस गया, मूषिक बिल में घुस गया, काक उड़कर पेड़ पर बैठ गया। उसने अनुसन्धान कर के दूर तक देखा लेकिन भय का हेतु कोई दिखाई नहीं पड़ा। तब उसके कहने से वे सब फिर से मिलकर बैठे। मन्थर ने कहा—भद्र मृग! तुम कुशल से हो? अपनी इच्छा के अनुसार जल-घासादि ग्रहण करो और यहाँ रहकर इस वन को सनाथ करो। चित्राङ्ग ने कहा—व्याध से भयभीत होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ और आप लोगों के साथ मित्रता करना चाहता हूँ। आप सब मित्रता स्वीकार कर अनुग्रह कीजिए।

यतः—लोभाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि यस्त्यजेच्छरणागतम्।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ १८४ ॥

अ०—यः लोभाद्वा अथ भयाद् वा अपि शरणागतं त्यजेत्, मनीषिणः तस्य ब्रह्महत्यासमं पापम् आहुः। व्या०—यः ऐश्वर्यशाली जनः, लोभाद्वा = द्रव्यादिप्रलोभनेन, अथवा भयाद् = महत्कृतभीतिहेतोर्वा, अपि, शरणागतम् = शरणम् आगतं तम्, स्वाश्रयविश्वस्तं जनम्, त्यजेत् = जह्यात्, तादृशजनरक्षणं न कुर्यादित्यर्थः। मनीषिणः = मनस्विनः बुद्धिमन्तः जनाः, तस्य = अरक्षकस्य जनस्य, ब्रह्महत्यासमं-ब्रह्मणः = ब्राह्मणस्य हत्या वधः हननं तेन समं, पापं = दुष्कृतं दुरितम्, आहुः = कथयन्ति।

भा०—जो पुरुष (समर्थ होने पर भी) लोभ से अथवा भय से शरणागत का रक्षण नहीं करता है विद्वान् लोगों ने उसको ब्रह्महत्या के समान पाप कहा है ॥ १८४ ॥

हिरण्यकोऽप्यवदत्—मित्रत्वं तावदस्माभिः सह, अयत्नेन निष्पन्नं भवतः।

भा०—हिरण्यक ने कहा—अनायास ही हमारे साथ तुम्हारी मित्रता हुई।

यतः—औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमाऽऽगतम्।
रक्षकं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १८५ ॥

अ०—औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतं व्यसनेभ्यश्च रक्षकम् (इति) चतुर्विधं मित्रं ज्ञेयम्। व्या०—औरसम् = उरसः जातं शरीरसम्बन्धादुत्पन्नम् अपत्यादिकम्, कृतसम्बन्धं=कृतः नूतनो विहितः सम्बन्धः विवाहादिरूपः आभाषणपूर्वकत्वरूपो वा येन तत् तादृशम्, तथा वंशक्रमागतं = वंशस्य कुलस्य यः क्रमः परम्परा, तेन सह आगतम्, व्यसनेभ्यश्च=आकस्मिकाऽऽपद्भ्यश्च, रक्षकं=रक्षणकारि, इत्येवं चतुर्विधं = चतुष्प्रकारं, मित्रं = सुहृद् ज्ञेयं = बोध्यमिति।

भा०—मित्र चार प्रकार के होते हैं—एक अपना पुत्र-प्रपौत्रादि, दूसरा विवाहादि सम्बन्ध वाले सम्बन्धी जन, तीसरा वंश-परम्पराओं से चले आते पड़ोसी आदि, चौथा आकस्मिक आपत्तियों से बचाने वाले, ये चार मित्र हैं ॥ १८५ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषेण स्थीयताम्। तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा कृतस्वेच्छाऽऽहारः पानीयं पीत्वा जलासन्नवटतरुच्छायायामुपविष्टः।

व्या०—तत्=तस्मात् मित्रत्वरूपहेतोः, स्वगृहनिर्विशेषेण=स्वस्य निजस्य तव गृहात् निः नास्ति विशेषः भेदो यस्य सः तेन स्वगृहभेदभावशून्येनेत्यर्थः। भवता= त्वया, अत्र स्थीयतां=स्थितिः निवासः क्रियतामित्यर्थः। तत्=हिरण्यकस्य वचनं

कृत्वा मृगः=चित्राङ्गनामा हरिणः, सानन्दम्=आनन्दपूर्वं भूत्वा कृतस्वेच्छाहारः कृतः जलपूरितः स्वस्य इच्छया आहारः भोजनं येन सः, यथेच्छं भोजनं कृत्वेत्यर्थः। पानीयं=जलम्, पीत्वा जलासन्नतरुच्छायायाम्=जलस्य आसन्नः समीपवर्ती यः तरुः तस्य वृक्षस्य छायायाम् उपविष्टः=निषसाद।

भा०—इसलिये अपना घर मानकर तुम यहाँ ही रहो। हिरण्यक के इस वचन को सुनकर वह मृग आनन्दित हुआ और यथेष्ट भोजन करके पानी पी के जल के समीपस्थ वृक्ष की छाया में बैठ गया।

अथ मन्थरो ब्रूते—सखे मृग! केन त्रासितोऽसि? अस्मिन्निर्जने वने कदाचित् किं व्याधाः सञ्चरन्ति? मृगेण उक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नृपतिः स च दिग्विजयव्यापारक्रमेण आगत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावेशितकटको वर्तते प्रातश्च तेनाऽत्रागत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यम्' इति व्याधानां मुखात् किंवदन्ती श्रूयते तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथा कार्यं तथा आरभ्यताम्। तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'मित्र! जलाशयान्तरं गच्छामि।' काकमृगावपि उक्तवन्तौ—'मित्र! एवमस्तु' हिरण्यको विहस्याऽब्रवीत्—पुनर्जलाशये प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम् स्थले गच्छतोऽस्य का विधा?

व्या०—मन्थरः=मन्थरनामा कूर्मः, ब्रूते=कथयति। सखे मृग! केन=केन कारणेन त्रासितः=भयं प्रापितः, असि=भवसि? अस्मिन्निर्जने=मनुष्यरहिते वने=अरण्ये व्याधाः=लुब्धकाः, कदाचित्=कस्मिन्नपि काले, सञ्चरन्ति परिभ्रमन्ति, किम्=प्रश्ने। मृगेण=चित्राङ्गेण उक्तम्—कलिङ्गविषये=कलिङ्ग इति नाम्ना प्रख्यातो विषयः देशः तस्मिन्, रुक्माङ्गदनामा नृपतिः=राजा, अस्ति=विद्यते स च राजा, दिग्विजयव्यापारक्रमेण=दिशां प्राच्यादिसर्वदेशानां विजयस्य स्वायत्तीकरणस्य व्यापारः अनुष्ठानं तस्य क्रमः परम्परा तेन आगत्य=समेत्य चन्द्रभागानदीतीरे='चन्द्रभागा' नामनद्याः तीरे=तटप्रदेशे समावेशितकटकः=समावेशितः सन्निवेशितः कटकः शिबिरो येन सः तथाविधः सन् वर्तते प्रातश्च=प्रातःकाले तेनात्र अत्र=अस्मिन् वने आगत्य=समेत्य कर्पूरसरःसमीपे=कर्पूरसरसः समीपे निकटे, भवितव्यम् इति=इत्येवंरूपा व्याधानां=लुब्धकानाम् मुखात् किंवदन्ती=वार्ता श्रूयते=मया आकर्ण्यते। तदत्रापि प्रातः=आगामिनि प्रातःकाले अत्रापि एतस्मिन्नरण्येऽपि अवस्थानं=स्थितिः भयहेतुकम्=भयं हेतुर्यस्य तत् भयकारणमित्यर्थः। इत्यालोच्य यथा=

येन प्रकारेण, कार्यं=कर्तुं योग्य तथा आरभ्यतां=विधीयताम्, तच्छ्रुत्वा, कूर्मः=मन्थर., सभय=भयभीतः सन् आह=मित्र हरिण! जलाशयान्तरम्=अन्य. जलाशय इति जलाशयान्तरम् अपरं जलह्रद, गच्छामि=अपसरामि। तत' काकमृगौ अपि=काकश्च मृगश्च तौ अपि, उक्तवन्तौ=अभिहितवन्तौ मित्र! कूर्म! एव-मस्तु=यथा कथयसि तथाऽन्यत्र गमन कुरु, हिरण्यक=मूषिक', विमृश्य=दीर्घं विचार्य, अब्रवीत्-पुनः जलाशये=तडागे, प्राप्ते=अधिगते सति एव, मन्थरस्य=कूर्मस्य, कुशल=क्षेमम्, भविष्यति। स्थले=स्थलमार्गेण जलाशयान्तर गच्छत. अस्य=कूर्मस्य, का विधा? =मध्ये का दशा भविष्यतीति?। (अर्थात् स्थले कथ गन्तु पारयिष्यति)

भा०—मन्थर ने कहा--सखे मृग! किससे भयभीत हुए हो? क्या इस निर्जन वन में व्याध लोग आते हैं? मृगने कहा--'कलिङ्गदेश में रुक्माङ्गदनाम का राजा है, वह दिग्विजय करता हुआ चन्द्रभागा नदी के किनारे पर शिबिर डालकर टिका है, प्रात काल इस वन में कर्पूरसरोवर के समीप में आवेगा' ऐसी व्याधों की किंवदन्ती सुनी है, इसलिये सुबह यहां पर भी रहना भयजनक है। सो आप विचार करके जैसा करना हो वैसा कीजिये। यह सुनकर कूर्म भयभीत होकर बोला--मित्र मृग! मैं तो दूसरे जलाशय में जाता हूँ। काक और मृग दोनों ने कहा--'मित्र कूर्म! जैसे हो करो।' पर हिरण्यकने विचारपूर्वक कहा--'मन्थर जलाशय पहुँचने पर सुखी होगा। लेकिन पृथिवी पर जाते हुए इसका क्या हाल होगा?

यत'—अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम्।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां सैन्यं परं बलम्॥ १८६॥

अ०—जलजन्तूनाम् अम्भांसि, दुर्गनिवासिनां दुर्गम्, श्वापदादीनां स्वभूमि., राज्ञां सैन्य, च परं बल भवति। व्या०—जलजन्तूनाम्=जलस्य जन्तवः प्राणिन तेषाम्, जलचराणामित्यर्थः। अम्भांसि=जलानि, एव पर बल भवति। दुर्गनिवासिनां=दुर्गे कोट्टे कोट्टमध्ये निवसन्ति इति दुर्गनिवासिनस्तेषाम्, दुर्गं=कोट्ट एव परं बल भवति। श्वापदादीनां=शुन पदमिव पद येषान्ते श्वापदाः व्याघ्रादय ते आदिर्येषान्ते इति श्वापदादय व्याघ्रादयो वनवासिन मूषिकादयश्च बिलवासिन-स्तेषामित्यर्थ। स्वभूमिः=स्वेषां भूमिः निवासस्थलम्, तदेव परं बल भवति, राज्ञां=नृपाणां, सैन्य पर बल भवतीति।

भा०—जलजन्तुओं का परम बल जल ही है, किला के निवासियों का बल किला ही होता है, हिंस्र प्राणियों का बल अपना निवास स्थान ही है, और राजाओं का बल सैन्य ही होता है॥ १८६॥

तथाप्युपायश्चिन्त्यताम्। तथा चोक्तम्—

फिर भी उपाय ढूँढना चाहिए। कहा भी है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥ १८७ ॥

अ०—उपायेन हि यच्छक्यं तत् पराक्रमैः न शक्यम्, शृगालेन पङ्कवर्त्मना गच्छता (सता) हस्ती हतः। व्या०—उपायेन = साम-दान-भेद-दण्ड-मार्गेण उपायविशेषेण हि—निश्चये यत् = यत् कार्यं शक्यं = कर्तुं योग्यं भवति तत् पराक्रमैः शौर्यादिभिरपि, न शक्यं = कर्तुं योग्यं न भवतीति। तथा हि शृगालेन = केनचित् जम्बुकेन पङ्कवर्त्मना = पङ्कस्य कर्दमस्य वर्त्मना मार्गेण कर्दमयुक्तमार्गमाश्रित्येत्यर्थः। गच्छता = व्रजता, (सता) महाबलोऽपि हस्ती = करी हतः = विनाशित इति।

भा०—उपाय से जो काम होता है वह पराक्रम से नहीं होता। गीदड़ ने कीचड़ वाले मार्ग में चल कर हाथी को भी मार डाला ॥ १८० ॥

तद्यथा—

कथा ६

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती। तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म 'यद्ययं केनाप्युपायेन म्रियते, तदाऽस्माकम् एतेन देहेन मासचतुष्टयस्य स्वेच्छाभोजनं भवेत्'। ततस्तन्मध्यादेकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञा कृता—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्'। अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु'। हस्ती ब्रूते—'कस्त्वम्? कुतः समायातः?'। सोऽवदत् 'जम्बुकोऽहं सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः। यद्विना राज्ञा स्थातुं न युक्तम्, तदत्राऽटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः'।

व्या०—ब्रह्मारण्ये = 'ब्रह्म' नाम्नि वने कर्पूरतिलक इति नामधेयः, हस्ती = करी अस्ति = वर्तते। सर्वे शृगालाः = जम्बुकाः, चिन्तयन्ति स्म = मन्त्रणां कुर्वन्ति स्म—यदि अयं = हस्ती केनापि उपायेन म्रियते = मरणं प्राप्नोति तदा अस्माकं = जम्बुकानाम् एतेन हस्तिनः देहेन, मासचतुष्टयस्य = मासानां चतुष्टयं तस्य मासचतुष्टयपर्यन्तमित्यर्थः। स्वेच्छाभोजनम् = स्वेच्छया इच्छानुकूलं भोजनमिति स्वेच्छाभोजनम् भवेत् = स्यात्। ततः = इत्थं मन्त्रणानन्तरम् तन्मध्यात् तेषां शृगालानां मध्यात् एकेन वृद्धशृगालेन = वृद्धश्चासौ शृगालश्चेति प्रतिज्ञा कृता, मया बुद्धिप्रभावात् = बुद्धेः प्रभावः चातुर्य

तस्मात् , अस्य = हस्तिनः, मरणं = निधनम्, साधयितव्य = घटयितव्यम् , अनन्तरम् = प्रतिज्ञां कृत्वेत्यर्थः । सः वञ्चक = धूर्तः वृद्धशृगाल , कर्पूरतिलकनाम्नः हस्तिन समीप=पुर प्रदेशं गत्वा, साष्टाङ्गपातम् = अष्टाङ्गैः करद्वयपादद्वयहृदयहस्तद्वयललाटात्मकैः सहितः भूमिस्पर्शपूर्वकः पातो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा, प्रणम्य = दण्डवन्नमस्कारं विधाय, उवाच—देव ! = स्वामिन् ! दृष्टिप्रसाद = दृष्ट्या अवलोकनेन, प्रसाद् पवित्रं प्रसन्नतां वा, कुरु = विधेहि । हस्ती ब्रूते—कस्त्वम् = त्व जात्यादिना कुलपरिचयेन च क असि ? कुत. ? = कस्मात् स्थानात् कस्माद्वा हेतोः समायातः आगतोऽसि ? । सः वृद्धशृगाल' अवदत्—जम्बुक = शृगाल., अस्मीति शेषः, अथ च सर्वैः = समस्तैः वनवासिभि'=वने वसन्ति इति वनवासिनः तै , पशुभिः = श्वापदै', मिलित्वा = सम्भूय, भवत्सकाश = भवतः सन्निधौ, प्रस्थापित = प्रेषित , अस्मीति शेषः । यद् यस्माद्धेतोः, राज्ञा विना = नृपतिमन्तरेण, अनृपतिना राज्येन स्थातु = व्यवस्थातु, न युक्तं भवतीति । तत् = तस्माद्धेतो , अत्र= एतस्मिन् , अटवीराज्ये = अटव्या वनस्थल्या राज्ये=राज्यसिंहासने, अभिषेक्तुम्= राजत्वेन स्वीकर्तुम् , सर्वस्वामिगुणोपेतः=सर्वे च ते स्वामिन. राज्ञः गुणाः शौर्यदयादयस्तैरुपेतः, अत एव भवान् = त्वमेव, निरूपित. = निर्धारितः ।

भा०—'ब्रह्म' वन में 'कर्पूरतिलक' नाम का हाथी रहता था, उसको देखकर सब शृगालों ने विचार किया—'किसी उपाय से इस हाथी का मरण हो जाय तो इसके शरीर से अपने सबका चार मास पर्यन्त यथेष्ट भोजन चलेगा'। यह सुनकर उस शृगाल में से एक वृद्ध शृगाल ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं बुद्धि की चतुरता से इसकी हत्या करा दूँगा।' उसके बाद वह धूर्त वृद्ध शृगाल 'कर्पूरतिलक' हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके बोला—'देव ! दृष्टिपात करने से मुझे अनुगृहीत करिए।' हस्तीने कहा—'तुम कौन हो और क्यों आये हो ?' शृगाल बोला-मैं जम्बुक हूँ, और सभी वनवासी पशुओं ने मिलकर आपके पास मुझे भेजा है, क्योंकि राजा बिना राज्य नहीं चल सकता है। इसलिये इस वनस्थली के राजसिंहासन पर अभिषेक करने योग्य सर्वराजगुणों से युक्त आप ही निर्धारित किये गये हैं।

यत'—कुलाचारजनाऽऽचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् ।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥ १८८ ॥

अ०—(य) कुलाचारजनाचारै अतिशुद्धः प्रतापवान् , धार्मिकः नीतिकुशल', (भवति) स भुवि स्वामी युज्यते । व्या०—य. = पुरुष , कुलाचारजनाचारै = कुलस्य आचाराः वंशागतरीतयः जनस्य आचारा लोकव्यवहारगतरीतय' तै. अतिशुद्ध =कलङ्करहित , प्रतापवान्=ऐश्वर्यशाली प्रभावशाली चेत्यर्थः । धार्मिक= धर्मनिष्ठः, नीतिकुशल = नीतिशास्त्रनिपुणश्च भवति । सः=तादृशः पुरुष', भुवि = जगत्याम् , स्वामी = राजा नरपति , युज्यते =(जनै) नियुज्यते ।

भा०—कुलाचार से तथा लोकाचार से अभिज्ञ, प्रतापी, धार्मिक, नीतिकुशल जो हों वे ही पृथिवी में राजा के योग्य हैं ॥ १८८ ॥

अपरञ्च पश्य—

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम् ? ॥ १८९ ॥

अ०—प्रथमं राजानं विन्देत्, ततः भार्यां, ततः धनम्, अस्मिन् लोके राजनि असति भार्या कुतः ? धनं च कुतः ?। व्या०—प्रथमम्=आदौ राजानं=स्वरक्षकं नृपतिं, विन्देत्=आश्रयेत्, ततः भार्यां=पत्नीं विन्देत्=गृह्णीयात्, ततः धनं विन्देत्=उपार्जयेत्, अस्मिन् लोके=संसारे राजनि=नृपतौ असति=अविद्यमाने सति, राज्यकुशलसम्पादनेऽपि यावत्। भार्या=पत्नी कुतः=कुत्र रक्षिता स्यात्, धनं च कुतः ? नृपमसति कथं रक्षितं भवेत् ? समस्तस्य राजाधीना वृत्तिः यतः।

भा०—प्रथम राजा का आश्रय होना चाहिये, पश्चात् स्त्री का ग्रहण करना चाहिये और तब धन कमाना चाहिये। राज्य में राजा का अनुशासन यदि न हो तो स्त्री तथा द्रव्य इन वस्तुओं से सुरक्षित कैसे रह सकते हैं ? ॥ १८९ ॥

अन्यच्च—पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥ १९० ॥

अ०—पृथिवीपतिः पर्जन्य इव भूतानाम् आधारः हि पर्जन्ये विकलेऽपि जीव्यते न तु भूपतौ। व्या०—पृथिवीपतिः=पृथिव्याः पतिः, राजा पर्जन्य इव=मेघ इव भूतानां=प्राणिनाम् आधारः=जीवनं रक्षको वा भवतीति। हि=यतः, तत्र पर्जन्ये मेघे विकलेऽपि कदाचित् जलवर्षणमपि लोकैः जीव्यते। तु=किन्तु, भूपतौ=राजनि विकले=विपन्ने सति न जीव्यते।

भा०—राजा मेघ की तरह प्राणिमात्र का आधार है। वर्षा भी मेघ के बिना कदाचित् *जीवन धारण किया जा सकता है किन्तु राजा के बिना नहीं* ॥ १९० ॥

किञ्च—नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः ।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥ १९१ ॥

अ०—अस्मिन् परवशे जगति (लोकः) प्रायशः दण्डयोगात् नियतविषयवर्ती *(भवति)* साधुवृत्तस्तु दुर्लभः (भवति) कुलनारी दण्डभीत्या कृशमपि विकलं वा व्याधितं वा अधनं वा पतिम् अभ्युपैति। व्या०—अस्मिन्=रागद्वेषयुक्ते, जगति=संसारे परवशे=परलोभाधीने प्रायशः=प्रायेण दण्डयोगात्=दण्डस्य शासनस्य योगात् भयाद्धर्मं भजमानः नियतविषयवर्ती=नियते नीतियुक्ते विषये व्यवहारे

वर्तते य स नियतविषयवर्ती, (जनसमुदाय इति शेष॰) भवति । यतः लोके साधुवृत्तस्तु=साधु समीचीनम् वृत्तम् आचरणं यस्य स एतादृशस्तु जन॰, दुर्लभः= न लभ्यते । कुलनारी=सुकुलोत्पन्ना रूपगुणादिमती अपि नारी, दण्डभीत्या=राज शासनभयेन, कृश=निर्बलम् अपुष्टशरीरम्, विकल=केनचित् इन्द्रियेण शून्यं काणं वा बधिर वा कुरूप वेति, व्याधित=कफादिरोगग्रस्त वा, अधन=निर्धन वा, पतिम् अभ्युपैति=स्वभर्तारम् स्वीकुरुते ।

भा०—यह काम-लोभादि दोष के अधीन ससार प्रायश दण्ड के भय से ही अपने अपने पदार्थों में सतोष मान कर चलता है क्योंकि साधु आचरणवाले दुर्लभ होते हैं । कुलनारी भी दण्ड के भय से कृश, विकलाङ्ग, रोगी, निर्धन ऐसे पति की सेवा करती हैं ॥ १९१ ॥

तद् यथा लग्नवेला न चलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन। इत्युक्त्वा उत्थाय चलित । ततोऽसौ राज्यलोभाऽऽकृष्ट॰ कर्पूरतिलकः शृगालदर्शितवर्त्मना धावन् महापङ्के निमग्नः । हस्तिना उक्तम्—'सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम् ? महापङ्के पतितोऽहं म्रिये, परावृत्य पश्य ?' । शृगालेन विहस्य उक्तम्—देव ! मम पुच्छाग्रे हस्तं दत्त्वा उत्तिष्ठ, यस्माद् मद्विधस्य वचसि त्वया विश्वास॰ कृत तस्य फलमेतत् । तदनुभूयताम् अशरणं दुःखम् ।

व्या०—तद्=तस्माद्, यथा=यावद्, लग्नवेला=लग्नस्य राज्याभिषेकमुहूर्तस्य समय, न चलति=न अतिवर्तते, तथा=तेन प्रकारेण कृत्वा, सत्वरं=शीघ्रम्, आगम्यतां देवेन, इत्युक्त्वा, उत्थाय (वृद्धशृगाल) चलित =गन्तुं प्रवृत्त । तत राज्यलोभाऽऽकृष्ट=राज्यस्य लोभेन आकृष्ट॰ आहृतबुद्धि असौ कर्पूरतिलकनामा हस्ती, शृगालदर्शितवर्त्मना=शृगालेन प्रदर्शित यत् वर्त्म=कपटमार्गं तेन, धावन्= सवेग गच्छन् सन्, महापङ्के=गम्भीरकर्दमे, निमग्न =पतित । तत॰ हस्तिना उक्तम्=सखे शृगाल ! अधुना=इदानीम्, किं विधेय=निष्कामनोपाय क अनुष्ठेय॰ ? । परावृत्य पश्य=प्रत्यावृत्य अवलोकय, अहं महापङ्के पतित सन् म्रिये= मरणनिकटो भवामि । तत॰ शृगालेन विहस्य उक्तम्—देव ! मम पुच्छस्य अग्रे वालधिप्रान्ते, हस्त=शुण्ड, दत्त्वा, उत्तिष्ठ=उत्थितो भव । यस्माद्धेतो, मद्विधस्य= मादृशस्य धूर्तस्य, वचसि=वाक्ये, त्वया विश्वास =विश्रम्भ॰ कृत , तस्य=विश्वासस्य, एतत् पङ्कनिमग्नतारूपं=फलम् , अवगच्छ । तदेतत् अशरण=न विद्यते शरणम् उद्धारक॰ कश्चिदपि यस्य, एतादृशम्, दु॰खम्, अनुभूयताम्=भुज्यताम् ।

भा०—इसलिये जब तक मुहूर्त का समय न चला जाय आपको वहाँ पहुँचना चाहिये। ऐसा कहकर वह शृगाल उठकर चला और राज्य के लोभवाला 'कर्पूरतिलक' हाथी भी शृगाल के बताये हुए मार्ग से दौड़ते दौड़ते गहरे कीचड़ में फँस गया । हाथी ने कहा—

मित्र शृगाल ! अब क्या करूँ, देखो मैं यहाँ कीचड़ में फँसकर मरता हूँ। शृगाल ने हँस कर कहा—देव ! मेरी पूँछ को सूंड से पकड़ कर निकल जाओ। मेरे जैसे धूर्त के वचन में आपने विश्वास किया उसका यह फल है अब अनिवार्य दुःख का भोग करो।

तथा चोक्तं—यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि।
यदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ १९२ ॥

व्या०—(अन्वयो यथाश्रुतः) यदा = यस्मिन् काले, असत्सङ्गरहितः = असतां दुर्जनानां सङ्गः प्रसङ्गः तेन रहितः शून्यः, भविष्यसि तदा भविष्यसि=जीवन् स्थास्यसीत्यर्थः। यदा तु—असज्जनगोष्ठीषु = असज्जनानां धूर्तानां गोष्ठीषु = वार्तासु, पतिष्यसि=विश्वासं करिष्यसि तदा पतिष्यसि = महद्दुःखापदि पतिष्यसीति।

भा०—जब तक दुष्टों के संगसे बचे हो तब तक जीवन बैठता है बचता है जब दुष्ट के संग में पड़ जाते हो तब फिर पद पद में अधोगति होती है ॥ १९२ ॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि 'उपायेन हि यच्छक्यम् (१८७) इत्यादि।

भा०—इसके बाद वहीं कीचड़ में फँसकर मरे हुये हाथी को गीदड़ों ने खा डाला। इसीसे मैं कहता हूँ कि—'उपाय से जो काम हो' इत्यादि।

ततस्तद्धितवचनमनवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव मन्थरस्तज्जलाशयमुत्सृज्य प्रचलितः। तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमानास्तमनुजग्मुः। ततः स्थले गच्छन् केनाऽपि व्याधेन वने पर्यटता स मन्थरः प्राप्तः, स च तं गृहीत्वा उत्थाप्य धनुषि बद्ध्वा 'धन्योऽस्मि' इत्यभिधाय भ्रमणक्लेशात् क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं प्रयातः। अथ ते मृगवायसमूषिकाः परं विषादमुपगताः तमनुगच्छन्ति स्म। ततः हिरण्यको विलपति—

व्या०—ततः = तदनन्तरम् तद्धितवचनम् = तस्य हिरण्यकस्य हितं हितकरं वचनम्, अनवधीर्य = अनादृत्य महता भयेन विमुग्धः=मोहप्राप्त इव मन्थरः=कूर्मः, तज्जलाशयमुत्सृज्य=तद्वापीजलं तडागं त्यक्त्वा, स्थलमार्गेण प्रचलितः= प्रचलितः। ते हिरण्यकादयोऽपि अपि अनिष्टं=अनिष्टमिव आशङ्कमानाः= परिशङ्कमानाः सन्तः, स्नेहात्=मित्रप्रेम्णा, तं = कूर्मम् अनुजग्मुः। ततः स्थले= पृथिव्याम्, गच्छन् सन् स मन्थरः = कूर्मः, केनापि वने पर्यटता व्याधेन प्राप्तः, स च व्याधः तं = मन्थरं गृहीत्वा = आदाय धनुषि = धनुष्कोट्यां बद्ध्वा, 'धन्योऽस्मि सौभाग्योऽस्मि' इति अभिधाय = कथयित्वा भ्रमणक्लेशात् = भ्रमणजन्यपरिश्रमात्, क्षुत्पिपासाऽऽकुलः = क्षुधा पिपासया च क्षुत्पिपासे ताभ्याम् आकुलः

ग्यात सन्, स्वगृहाभिमुख=स्वस्य निजस्य यद् गृहं निवासपुरं, तस्य अभिमुखं, प्रयात = प्रस्थितः। अथ = अनन्तरम्, मृगवायसमूषिकाः, परम् = अत्यन्त, विषाद = शोकम्, उपगताः (सन्तः), त = कूर्महर्तारं व्याधम्, अनुगच्छन्ति स्म = अनुजग्मु। ततः हिरण्यक मूषिकराजः, विलपति = विलाप साऽऽक्रन्दन-विलपन करोति—

भा०—हिरण्यक के हितकारी वचन को न मानकर बड़े भय से मुग्ध होकर मन्थर उस जलाशय को छोड़कर चल दिया, तब हिरण्यक, काक तथा मृग भी 'कूर्म अवश्य दुखी होगा' ऐसा समझकर स्नेह के वश में होकर पीछे २ चले। अनन्तर पृथिवी में चलते हुए मन्थर को जङ्गल में घूमने वाले किसी व्याध ने देखकर पकड़ लिया और धनुष में बाँध कर 'वाह खूब अच्छा हुआ' ऐसा बोलकर भ्रमण करने से क्षुधा-पिपासा से व्याकुल होने के कारण जल्दी से घर को चल दिया। यह देखकर मृग, काक, मूषिक तीनों बड़े शोकातुर होकर व्याध के पीछे २ जाने लगे और हिरण्यक विलाप करने लगा—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१९३॥

अ०—अहम् अर्णवस्य पारमिव यावत् एकस्य दु खस्य अन्तं न गच्छामि, तावत् द्वितीय समुपस्थितम्। छिद्रेषु अनर्था बहुलीभवन्ति। व्या०—अहम् अर्णवस्य=समुद्रस्य, पारम्=अपरतीरम् इव=यथा, न गम्यते, तद्वत् एकस्य दुःखस्य = कूर्ममित्रवियोगस्य वा स्वधननाशात्मकस्य वा चित्रग्रीवबन्धनजनितस्य कष्टस्य वा अन्तम् = अवसान विस्मरणमिति यावत्। न गच्छामि = न प्राप्तोऽस्मि, तावत् = तन्मध्ये एव, द्वितीय = कूर्मबन्धनात्मक दु खम्, उपस्थितम्। यत छिद्रेषु=रन्ध्रेषु सत्सु, अनर्था = आपत्तय, बहुलीभवन्ति = बहुप्रकारका भवन्ति इति।

भा०—समुद्र के अन्त के समान एक दु ख (धननाश अथवा चित्रग्रीव का बन्धन अथवा कूर्म का वियोग) का अन्त नहीं हुआ उतने में मुझे दूसरा दु ख (कूर्म-बन्धन) भी उपस्थित हुआ क्योंकि छिद्र, अवसर वा मौका मिलने पर बहुत से अनर्थ (दु ख) होते हैं ॥ १९३ ॥

स्वभावजं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ १९४ ॥

अ०—यत्, स्वभावज मित्र भाग्येनैव अभिजायते, तत् तु अकृत्रिमसौहार्दम् (मित्रम्) आपत्सु अपि न मुञ्चति। व्या०—यत् स्वभावज=स्वभावेन निसर्गेण, एव निष्पन्न, मित्र=सुहृत्, भाग्येन=प्राक्तनसञ्चितपुण्येन एव, अभिजायते= संयोग गत भवति। तत् तु=तादृशस्वाभाविकमित्रन्तु, अकृत्रिमसौहार्दं = न कृत्रिमम् अकृत्रिम तादृशं यत् सौहार्दं प्रेमभाव तत्, (कर्म) आपत्सु अपि = महतीषु

आपत्सु प्राप्तासु अपि न मुञ्चति = न परित्यजति ।

भा०—जो स्वाभाविक मित्र है वह भाग्य से मिलता है । वह मित्र अकृत्रिम (स्नेह
मिलता) है वह आपत्तियों में भी नहीं छोड़ता है ॥ १९४ ॥

अपि च—न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चाऽऽत्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ् मित्रे स्वभावजे ॥ १९५ ॥

अ०—पुंसां स्वभावजे मित्रे यादृक् विश्वासः (भवति) तादृशः न मात
दारेषु न सोदर्ये न च आत्मजे (भवति) । व्या०—पुंसां = पुरुषाणाम् स्व
स्वभावेन जायते इति स्वभावजः = अकृत्रिमः तस्मिन् मित्रे = सुहृदि, याद
यादृशः, विश्वासः भवति तादृशः = तादृक् विश्वासः, न मातरि विशेषेण मा
या सा माता तस्यां जनन्याम् न भवति । न दारेषु = पत्न्यामपि न भवति ।
सोदर्ये = समाने एकस्मिन् उदरे शयितः, सोदर्यः भ्राता तस्मिन् न भवति
आत्मजे = आत्मनः स्वस्मात् जायते स आत्मजः = स्वतनयः तस्मिन्नपि न भव

भा०—पुरुषों का स्वाभाविक मित्र में जैसा विश्वास होता है वैसा न माता
स्त्री में न भाई में और न तो पुत्र में ही होता है ॥ १९५ ॥

इति मुहुः विचिन्त्य प्राह—'अहो मे दुर्दैवम् ।

भा०—इस प्रकार बारंबार विचार करके हिरण्यक बोला अरे ! मेरा दुर्भाग्य है'

यतः—स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि ।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥ १९६

अ०—जन्मान्तराणि दशान्तराणि इव तानि स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि का
लान्तरावर्तिशुभाशुभानि तानि मया इहैव दृष्टानि । व्या०—जन्मान्तराणि
जन्म एव अन्तरं व्यवधानं प्राणी येषां तानि इति जन्मान्तराणि भवान्तरीणि
नि प्राप्यानि इत्यर्थः । तादृशानि यानि दशान्तराणि = अन्याः परस्परं भिन्नाः
दशाः अवस्थाः इति दशान्तराणि बाल्ययौवनाद्यवस्थाभेदाः इत्यर्थः । त
इव = जन्मान्तरोपार्जिते शरीरे एव यदीयबाल्याद्यवस्थाभेदाः यथा भोक्तुः यथ
तथा जन्मान्तरे एव भोक्तुं योग्यानि यानीति सङ्गतिस्पष्टत्वार्थः । स्वकर्मसन्त
विचेष्टितानि स्वस्य कर्माणि शुभाशुभानि तेषां सन्तानाः परम्पराः, ते
विचेष्टितानि = विलसितानि स्वकृतकर्मणां क्रमेण फलानि कालान्तरमायातानि
कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि = अन्यः कालः कालान्तरं जन्मान्तरम् तस्मि
आवर्तीनि यानीति शुभानि अशुभानि च फलानि । तानि कर्माणि मयैव इहै
अस्मिन्नेव जन्मनि दृष्टानि भुक्तानि इति ।

भा०—जैसे जन्मान्तरीय शरीर की बाल्य-यौवनादि अवस्थायें जन्मान्तरीय शरीरमें

भोग्य होती हैं, वैसे ही अपने किये हुये कर्म समूहों से उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभ फल भी दूसरे जन्ममें भोग्य होते हैं । लेकिन मुझे तो दुर्भाग्यसे इस जन्ममें ही भोग करना पड़ा ॥

अथवा इत्थमेवैतत् । (अथवा यह सब ऐसे ही होते हैं)—

काय. सन्निहिताऽपायः सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः साऽपगमा. सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ १९७ ॥

अ०—काय सन्निहिताऽपाय , सम्पद आपदां पदम् , समागमा. साऽपगमा , उत्पादि सर्वं भङ्गुरम् । व्या०—काय =पाञ्चभौतिको देहः, सन्निहिताऽपाय=सन्निहित समीपवर्ती अपाय. नाश मरण यस्य सः विनश्वरो भवतीत्यर्थ । सम्पदः= सम्पत्तय आपदाम्=नृपति-चौराद्युपद्रवाणाम्, पद=स्थान भवन्ति । समागमा= इष्टजनसयोगा साऽपगमा =अपगमेन वियोगेन नाशेन सहिता सन्तः भवन्तीत्यर्थ । उत्पादि=उत्पत्तिशीलम् , सर्वं=यावद्वस्तुजातम् , भङ्गुर=ध्वसस्वभावमिति भवति ।

भा०—शरीर विनाशस्वभाववाला है । सम्पत्ति सब दु ख का स्थान रूप है । मित्रादिसमागम सब वियोगान्त होते हैं, और उत्पत्तिशील सब नष्ट होते हैं । (इसलिये शोक क्यों करना) ॥ १९७ ॥

पुनर्विमृश्याऽऽह—(फिर से विचार कर बोला)—

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९८ ॥

अ०—शोकारातिभयत्राण प्रीतिविश्रम्भभाजन मित्रम् इति इदम् अक्षरद्वयं रत्नं केन सृष्टम् ? व्या०—शोकारातिभयत्राणम्=शोकः विषाद एव अराति शत्रुः तस्मात् यत् भय तस्मात् त्राणं यस्मात् तत् , अथवा शोकश्च अरातिश्च भय चेति तेभ्य त्राण यस्मात् तत् तादृशम् , प्रीतिविश्रम्भभाजनम्=प्रीतिश्च विश्रम्भश्च तयोः भाजनम् , स्नेहविश्वासयो. पात्रमित्यर्थं । 'मित्रम्' इति इदम् अक्षरद्वयम्=अक्षरयोः द्वय यस्मिन् तत् , इत्यक्षरद्वयम् रत्नम्=अमूल्य ललाम केन=विधात्रा, सृष्टम्=उत्पादितम् ।

भा०—शोक से, शत्रु से और भय से रक्षण करनेवाला, स्नेह तथा विश्वास का स्थानरूप 'मित्र' ये दो अक्षर का नामवाला रत्न किस महापुरुषने उत्पन्न किया है ? ॥ १९८ ॥

किञ्च—मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः

पात्रं यत् सुखदुःखयोः सममिदं पुण्यात्मना लभ्यते ।
ये चाऽन्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विधिः ॥१९९॥

अ —यद् मित्रं नयनयोः प्रीतिरसायनं चेतसः आनन्दनं सुखदुःखयोः समं पात्रम्, इदं पुण्यात्मना लभ्यते। ये च समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषिणः सुहृदः, ते सर्वत्र मिलन्ति तेषां तु विपत् तत्परीक्षणमात्रा (भवति)। व्या०—मित्रं = सुहृद् नयनयोः = नेत्रयोः, प्रीतिरसायनम् = प्रीत्यात्मकस्य रसस्य आयनम् स्नेहात्मकरसस्योत्पादकमित्यर्थः, भवतीति शेषः। चेतसः = अन्तःकरणस्य आनन्दनम् = आनन्दयतीति आनन्दनम् आह्लादकरं भवति। सुखदुःखयोः सुखं च दुःखं च तयोः, समं पात्रम् दुःखे सति समदुःखभाजनम् दुःखे सति च सम सुखभाजनं भवतीत्यर्थः। इदम् = एतादृशं मित्रं पुण्यात्मना = पुण्यवता लभ्यते = प्राप्यते। ये च, समृद्धिसमयेऽभ्युदयसमये द्रव्याभिलाषिणः = धनस्य अभिलाषेण सम्पन्नता आगच्छन्ति, स्वार्थपरायणाः, सुहृदः = मित्राणि भवन्ति ते तु = स्वार्थपरायणास्तादृशाः सुहृदस्तु। सर्वत्र = सकले स्थाने मिलन्ति। तेषां तु स्वार्थपरायणमित्राणां तु, विपद् = आपत्तिः, तत्परीक्षणमात्रा = तस्य मित्रस्य परीक्षायाः मात्रा प्रमाणं भवतीति।

भा०—जो मित्र नेत्रों को प्रीतिरस पिलानेवाला है, तथा चित्त को आनन्ददायक है, सुख-दुःख में समान भाग लेनेवाला है, ऐसे मित्र किसी पुण्यात्मा को मिलते हैं और जो सम्पत्ति के समय में धन की आशा रखनेवाले हैं, ऐसे मित्र तो सब जगह सुलभ हैं। ऐसे स्वार्थी मित्रों की विपत्ति समय में परीक्षा की जाती है ॥ १८९ ॥

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह—'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्'। तौ ऊचतुः— 'त्वरितं यथाकार्यमुपदिश'। हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवाऽऽत्मानं निश्चेष्टं दर्शयतु, काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु, नूनमनेन लुब्धकेन मृगमांसार्थिना तत्र कच्छपं परित्यज्य सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि सन्निहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्'।

व्या —इति = इत्थं प्रकारेण बहु विलप्य = अतिविलापं कृत्वा हिरण्यकः मूषिकराजः चित्राङ्गलघुपतनकौ = मृगकाकौ आह—यावत् अयं व्याधः लुब्धकः वनात् अरण्यात्, यावत् = यावता समयेन न निःसरति न निर्गच्छति तावत् तावता कालेन मन्थरं मोचयितुं = व्याधबन्धनात् मुक्तं कर्तुं (मुच्यामि) यत्नः = चेष्टा क्रियतां = विधीयताम्। तौ = काकहरिणौ ऊचतुः यथा = येन प्रकारेण कार्यं योग्यं भवति तत् त्वरितं = शीघ्रम् उपदिश = त्वमेव आदिश। हिरण्यको मूषिको ब्रूते चित्राङ्गः = अयं हरिणः, जलसमीपं = जलस्य समीपं गत्वा आत्मानं = स्वम् मृतमिव निश्चेष्टं = न विद्यते चेष्टा यस्य तत् तथाविधम् दर्शयतु। काकश्च, तस्य

मृगस्य उपरि, स्थित्वा = अवस्थाय, किमपि = कीटादिमिषाऽऽमासम् चञ्च्वा विलिखतु = चञ्चुपुटेन विकर्षतु, (तदवलोक्य) मृगमांसार्थिना = मृगस्य मांसम् अर्थयते इति मृगमांसार्थी तेन, तथाविधेन, अनेन = लुब्धकेन, नूनम् = अवश्यम्, तत्र = तस्मिन्नेव स्थले, कच्छप = मन्थर, परित्यज्य, सत्वर = शीघ्रं, (मृगं प्रति) गन्तव्य ततः = पश्चात्, अहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। लुब्धके च (युवयो) सन्निहिते= समीपे आगते सति, भवद्भ्यां = युवाभ्यामपि, शीघ्र पलायितव्यम्।

भा०—इस प्रकार बहुत विलाप करके हिरण्यक ने हरिण तथा काक से कहा कि-'जब तक यह व्याध वन से बाहर न जाय तब तक ही मन्थर को छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिये'। मृग और काक बोले—'जैसा करना उचित हो वह जल्दी कहो'। हिरण्यक ने कहा—'चित्राङ्ग जल के समीप जाकर अपने को मृतवत् निश्चेष्ट बनावे और काक उसके ऊपर बैठकर चञ्चु से नोचे। यह देखकर मृगमांस का लोभी वह लुब्धक जरूर मन्थर को वहाँ ही छोड़कर हरिण के पास जायगा और पीछे से मैं मन्थर के बन्धन को काट डालूँगा, जब तुम लोगों के समीप में व्याध आ जाय तब तुम दोनों भाग जाना।

ततश्चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथाऽनुष्ठिते सति स व्याधः परिश्रान्त. पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टः सन् तथाविधं मृगमपश्यत्। ततः कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलित.। अत्राऽन्तरे हिरण्यकेन आगत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। छिन्नबन्धन॰ कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविष्टः, स च मृगः आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय द्रुतं पलायितः, प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत् तरुतलमायाति तावत् कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतत् ममाऽसमीक्ष्यकारिण.'।

व्या०—तत = तादृश विचार्य, चित्राङ्गलघुपतनकाभ्याम्, शीघ्र, व्याधस्य पुरः= जलाशयसमीपे गत्वा, तथा अनुष्ठिते सति = मृतवदाचरिते सति, परिश्रान्त. स व्याधः, पानीय = जल, पीत्वा, तरोः = वृक्षस्य, अधस्तात् = छायायाम्, उपविष्टः सन्, तथाविध = मृतमिव मृगम्, अपश्यत्। तत कच्छपं = मन्थरम्, जलसमीपे= जलस्य समीपे, निधाय = स्थापयित्वा, कर्तरिकां = छुरिकाम्, आदाय = गृहीत्वा, प्रहृष्ट प्रसन्नं मनो यस्य तथाविध सन्, मृगान्तिक = मृगस्य अन्तिकम्, चलितः= प्रस्थितः। अत्रान्तरे = एतस्मिन् अवसरे, हिरण्यकेन, आगत्य, मन्थरस्य बन्धन छिन्न = कर्तितम्। सः कूर्मः छिन्नबन्धन॰ = मुक्तबन्धन॰ सन्, सत्वर = त्वरया, जलाशय = ह्रद प्रविष्ट। स च मृगः= चित्राङ्ग त = व्याधम्, आसन्न = निकटवर्तिनम्, विलोक्य = दृष्ट्वा, उत्थाय = उत्प्लुत्य, द्रुत = सत्वरम्, पलायित॰ = धावित,

[illegible] प्रत्यावृत्य = प्रत्यागत्य यावत् तत्स्थानम् = तस्य स्थानम्, आयाति = आ[illegible]
[illegible] तावत् कूर्मः = कच्छपः, [illegible] सन् [illegible]
[illegible] ईक्षित्वा करोतीति समीक्ष्यकारी तथाविधो न भवतीति [illegible]
[illegible] कारी अविमृश्यकार्यकारीत्यर्थः । तस्मात्तत्र श्रम = [illegible]
[illegible] पश्चात्तस्मीत्यमेव ज्ञातमिति ।

भा०—ऐसा विचार करने के बाद मृग और काक दोनों ने [illegible]
आचरण किया । [illegible] व्याध भी पानी पीकर वृक्ष के नीचे बैठे ही [illegible]
देखकर कच्छप को जल के समीप रखकर छुरी लेकर प्रसन्नता पूर्वक मृग की ओर [illegible]
इसी अवसर में हिरण्यक ने आकर कच्छप का बन्धन काट डाला, [illegible]
पानी में चला गया और उधर वह मृग भी व्याध को समीप में आता देखकर [illegible]
[illegible] भाग गया । व्याध लौटकर जब वृक्ष के नीचे आया तो वहाँ कच्छप को [illegible]
देखकर चिन्ता करने लगा कि—अविचार्य कार्य करने वाले मेरे लिये यह ठीक ही हुआ ।

यतः—यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥ २०० ॥

अ—यः ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते तस्य ध्रुवाणि नश्यन्ति अध्रु[illegible]
नष्टमेव हि । व्या०—यः जनः, ध्रुवाणि = निश्चितानि स्थिराणि वा, परित्यज्य = [illegible]
विहाय अध्रुवाणि = अनिश्चितानि अस्थिराणि वा निषेवते = [illegible] । तस्य [illegible]
[illegible] ध्रुवाणि = निश्चितानि [illegible] परित्यागात् नश्यन्तीति अध्रुवम् = अनि[illegible]
[illegible] न भवति [illegible] भवति इति ।

भा०—जो मनुष्य ध्रुव (स्थिर) वस्तु को त्याग कर अध्रुव वस्तु का अवलम्बन करता [illegible]
उसकी ध्रुव वस्तु नाश हो जाती है और अध्रुव तो नष्ट ही है । (इसलिये दोनों [illegible]
से हाथ धोना है) ॥ २ ।

ततोऽसौ स्वकर्मवैफल्यान्निराशः कटकं प्रविष्टः मन्थरप्रमुखाः सर्वे[illegible]
मुक्ताऽऽपदः स्वस्थानं गत्वा यथासुखमास्थिताः ।

व्या—ततः = तदनन्तरम्, असौ = व्याधः, स्वकर्मवैफल्यात् = [illegible] अविमृश्य-
कारित्वरूपं कर्म तस्य [illegible] निराशः—निर्गता आशा यस्य सः तथाविधः सन्,
कटकं = शिबिरं स्वस्थानं, प्रविष्टः = गतः । मन्थरप्रमुखाः सर्वे = मन्थरप्रमुखाः [illegible]
[illegible] मुक्तापदः—मुक्ता—[illegible] आपद् येषां ते आपद्विरहिताः सन्तः, स्वस्थानं =
स्वेषां स्थानम् गत्वा यथासुखम्—सुखम् अनतिक्रम्य वर्तन्ते इति यथासुखं शान्ति-
पूर्वकम् आस्थिताः—स्थिताः [illegible] ।

भा०—इसके बाद वह व्याध अपने कर्मफल से निराश होकर अपने स्थान को चला गया

और मन्थर चित्राङ्ग-लघुपतनक तथा हिरण्यक ये सब आपत्ति से मुक्त होकर अपने स्थान में जाकर आरामपूर्वक रहने लग गये।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—'सर्वं श्रुतवन्तः। सुखिनो वयम्, सिद्धं नः समीहितम्'। विष्णुशर्मोवाच—'एतद्भवतामभिलषितमपि सम्पन्नम्, अपरमपि इदमस्तु—

व्या०—अथ=काकादिकथासमाप्त्यनन्तरम्, राजपुत्रः=राज्ञः पुत्रा तनया तैः सानन्दम्=आनन्देन सहितं यथा स्यात् तथा, उक्तम्=अभिहितम्=सर्वे वय=वय सर्वे राजपुत्राः (भवदुक्तं मित्रलाभाख्य प्रबन्धम्) श्रुतवन्त=आकर्णितवन्त, अथ च सुखिन=अतिहृष्टाः भवाम, किञ्च न=अस्माकम्, समीहितम्=अभिलषितम्, यदासीत्, तत् सिद्ध=सम्पन्नमिति। तदा विष्णुशर्मोवाच—एतावत्=मित्रलाभाख्यनिबन्धमात्रम्, भवतां=राजपुत्राणाम्, अभिलषित सम्पन्नम्, अपि च, अपरमपि=मित्रलाभकथाऽतिरिक्तम्, इदम्=वक्ष्यमाणमपि, अस्तु=भवतु—

भा०—कौवे आदि की कथा समाप्त होने पर राजपुत्रों ने आनन्द के साथ कहा—'हम सब मित्रलाभाख्य नीति को श्रवण करके खूब सुखी हुए हैं, हमारी इच्छा पूर्ण हुई। तब विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—यह मित्रलाम रूप नीतिविचार आपकी अभिलाषानुसार सुसम्पन्न हुआ और यह भी हो—

मित्रं यान्तु च सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालभ्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत् स्वधर्मे स्थिताः।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः॥ २०१॥

अ०—सज्जनाः मित्रं यान्तु, जनपदैः लक्ष्मी समालभ्यताम्, भूपाला शश्वत् स्वधर्मे स्थिता वसुधां परिपालयन्तु, वः नीतिः नवोढा इव सुकृतिनां मानसतुष्टये आस्ताम्, भगवान् चन्द्रार्धचूडामणिः जनस्य कल्याण कुरुताम्। व्या०—सज्जनाः=सन्तश्च ते जनाः साधव, मित्रं=सुहृदम्। यान्तु=लभन्ताम्, जनपदैः=जनपदवासिजनैरित्यर्थः। लक्ष्मीः=विविधा सम्पद्, समालभ्यतां=समासाद्यताम्। भूपाला=भुवं पृथ्वीं पालयन्ति इति भूपाला, शश्वत्=सर्वदा, स्वधर्मे=स्वेषां राज्ञां धर्मः प्रजारक्षनादिरूपो धर्मस्तस्मिन्, स्थिता=वर्तमानाः सन्तः, वसुधां=वसुन्धरां पृथ्वीम्, परिपालयन्तु=सरक्षन्तु, सम्यग् अवन्तु इति। वः युष्माकं (राजपुत्राणाम्) नीतिः=नीतिशास्त्रविज्ञानम्, नवोढा इव नवविवाहिता तरुणीव, सुकृतिनां=पण्डितानाम् मानसतुष्टये=मानसस्य अन्तःकरणस्य तुष्टि सन्तोष तस्यै,—

भास्वताम् = नृपाणाम्। [illegible] = [illegible] [illegible] कल्पान्तं स्थायिनी = कल्पस्य पर्यन्तम् इति कल्पान्तं, कल्पान्तं यावत् स्थायिनी स्थिरा सा कल्पान्त-स्थायिनी [illegible] [illegible] = [illegible] [illegible] = [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] = [illegible] [illegible] इति । (अत्र श्लोके नीतिर्वारविलासिनीव' इत्यस्य स्थाने 'नीतिः प्रथीता मया' इति पाठान्तरम् ।) शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ।

भा०—उत्तम पुरुषों का मित्रों के साथ समागम हो, देश तथा देशवासी लोग सम्पत्तियों से परिपूर्ण हों, राजा लोग चिरन्तर लक्ष्मी में रहते हुए पृथिवी का पालन करें। आपका नीति विलास सुन्दर विलासिनी रमणी के समान पुण्यशाली [illegible] के अन्तः-करण की तुष्टि के लिए हो, (भगवान्) चन्द्रमा को मस्तक में धारण करने वाले शङ्कर लोग (प्राणिमात्र) का कल्याण करें ॥ १ ॥

॥ इति शम् ॥

स्वामिनारायणे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] ॥ १ ॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] ॥ २ ॥
[illegible] 'चन्द्रिकां' [illegible]। [illegible] [illegible] ॥ ३ ॥
[illegible] (१९९८) [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] ॥
हितोपदेशस्य [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]। स्वामिनारायणे [illegible] [illegible] ॥

इति श्रीसद्धर्मविजयाभ्यास—षड्दर्शनाचार्य—[illegible]—[illegible]—
[illegible]—पण्डित—श्रीकृष्णवल्लभाचार्य—स्वामिनारायणवि-
रचिता हितोपदेशीय-मित्रलाभव्याख्या समाप्ता ।

श्लोकानुक्रमणिका



श्लोकानुक्रमणिका।



॥ श्री ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७७

****

श्रीनारायणपण्डितसंगृहीतः

हितोपदेश-सुहृद्भेदः

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

संस्कृतव्याख्याकार

पण्डित हरगोविन्द शास्त्री

हिन्दीव्याख्याकार

पण्डित प्रद्युम्नपाण्डेयः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

१९८३

प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
मुद्रक चौखम्बा प्रेस वाराणसी
संस्करण पञ्चम वि सं २ ४
मूल्य रु १ –

K. 37/99 Gopal Mandir Lane
Post Box 8 Varanasi–221001 (India)
Phone 63145

प्रधान शाखा
कृष्णदास अकादमी
पो० बा० ११८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी–२२१००१
(भारत)

संपादकीय

हितोपदेश व्यावहारिक, लौकिक, नैतिक, सामान्य नैतिक एव राजनीतिक ज्ञान से पूर्ण छोटी-छोटी कथाओ का एक अत्यन्त हृदयग्राही सग्रह है, जो सुकुमार बुद्धिवाले बालको मे उक्त मस्कारो का बीजारोपण करने मे अत्यन्त ही सशक्त एव समर्थ है। इसका रचनाकाल १४ वी शताब्दी है। इसके सग्रहकर्ता नारायण पडित हैं जिनके आश्रयदाता बगाल के राजा धवलचद्र थे। कुछ लोग इसे विष्णुशर्मा प्रणीत मानते है, किन्तु यह भ्रम उन्हे इसलिए हुआ है कि इसमे भी पञ्चतत्र के समान कथा-वाचक विष्णुशर्मा ही है।

इसके रचयिता ने इसे 'सस्कृतोक्तिपु पाटवम्' (सस्कृत बोलने मे पटुता) 'सवत्र वाचाम् वैचित्र्यम्' (वाणी मे विचित्रता) तथा 'नीतिविद्या' देने वाला बताया है और है भी यह पूर्णरूपेण अनुभूत सत्य। सस्कृत भाषा के परिज्ञान का सचमुच इतना सुलभ एव सरल साधन कोई नही है। गहन से गहन विपयो की इतनी सरल तथा आकर्षक व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी इन्ही विशेपताओ के कारण यह ग्रन्थ संस्कृत पाठ्य-क्रमो मे प्रारम्भिक कक्षाओ के लिए प्राय सर्वत्र स्वीकृत है।

'सुहृद्भेद' इसी हितोपदेश का एक अश है, जिसमे राजकर्मचारियो के कर्तव्यो, राजाओ की नीतिरीतियो, प्रजा, कर्मचारियो एव राजा के बीच के सम्बन्धो आदि प्रासगिक व्यवहारो की मीमासा के साथ ही स्थान-स्थान पर सामान्य जीवनविधियो का निरूपण करते हुए 'मित्रों मे फूट पैदा करके अपने कार्य की सिद्धि' के उपाय बताये गये हैं। नित्यजीवन मे इसका जितना मूल्य है उससे कहीं अधिक राजनीति में इसकी आवश्यकता है। राजा राष्ट्ररक्षा के लिए जहाँ एक ओर अन्य राज्यो से मैत्री (मित्रलाभ) करता है, वहाँ अपने शत्रु, दो मित्र राजाओ मे फूट पैदा करके (सुहृद्भेद) उनकी सगठित शक्ति क्षीण कर देता है। 'सुहृद्भेद' मे अन्य अवान्तर कथाओ के साथ एक ऐसी ही कथा का उल्लेख है, जिसमे दमनक और करकट ने पिंगलक और सजीवक मे फूट पैदा करके अपना अधिकार पुन प्राप्त किया था।



कथासार

मूलकथा

दक्षिण देश की सुवर्णवती नाम की नगरी में वर्धमान नाम का एक वणिक् रहता था। वह व्यापार द्वारा अधिक धन प्राप्त करने की कामना से कश्मीर की ओर चला किन्तु सुदुर्ग नाम के वनखण्ड में उसकी गाड़ी का संजीवक नामक बैल जुआ टूट जाने से गिर पड़ा। वर्धमान उसे वहीं छोड़ कर आगे चला गया। संजीवक किसी प्रकार उठा और बहुत दिनों तक वहाँ स्वच्छन्द आहार विहार के कारण महाबलिष्ट बन गया।

उसी वनखण्ड में पिंगलक नाम का एक सिंह भी रहता था। वह वहाँ का राजा था। एक दिन वह पानी पीने के लिए यमुना के किनारे गया किन्तु वहाँ संजीवक के अपूर्व शब्द को सुनकर बिना पानी पीए ही लौट आया और बैठ कर उस शब्द के बारे में विचार करने लगा। उसके प्रधान मंत्री के लड़के दमनक और करटक ने उसे इस स्थिति में देखा। दमनक ने उसकी इस स्थिति से लाभ उठाने का संकल्प किया और करटक से विमर्श करने के बाद उसके पास पहुँचा। बातचीत के प्रसंग में सिंह ने अपने भयभीत होने का कारण बता दिया। दमनक उसके सामने भय का कारण दूर करने की प्रतिज्ञा करके करटक के पास लौट आया।

दोनों साथ-साथ संजीवक के पास पहुँचे। दमनक ने उसे साम दाम आदि से अपने वश में कर लिया और सिंह के सामने उपस्थित किया। सिंह ने उसे अभयदान देकर अपने पास रख लिया और दमनक तथा करटक को इस उपकार के बदले विशेष अधिकार दे दिया किन्तु अधिकार के मद में दोनों अत्यन्त स्वच्छन्द हो गए और मनमानी करने लगे।

एक दिन पिंगलक का भाई स्तब्धकर्ण आया। पिंगलक उसके भोजन की व्यवस्था में शिकार के लिए जा रहा था कि संजीवक ने पहले के लिये बचे शिकार के बारे में उससे पूछा। वार्तालाप के प्रसंग में सिंह ने दमनक और करटक की मनमानी का उल्लेख किया जिसे सुनकर स्तब्धकर्ण ने कर्मचारियों के अधिकार की व्याख्या करते हुए पिंगलक से कहा कि 'धर्माधिकार इस गुणसेवी संजीवक को देना चाहिए'। पिंगलक ने उसकी बात मान ली और संजीवक को धर्माधिकारी बना दिया। उसने व्यय को संयमित कर दिया जिससे दमनक और करटक दोनों को बड़ा बुरा लगा और दोनों ने संजीवक तथा पिंगलक की मैत्री में फूट डालने का निश्चय कर लिया।

दमनक एक दिन पिंगलक के पास पहुँचा और उसे समझाया कि आपने संजीवक को जो इतना अधिकार दे दिया है उसका बड़ा बुरा फल होने वाला

है। सेवक धर्म के नाते मैं आप को आगाह कर दे रहा हूँ। वह आप पर बलप्रयोग करके आप से राज-पद को छीनना चाहता है अत आप अनर्थ होने के पहिले सावधान हो जायें। सिंह ने यह सुन कर कहा—'तो क्या उसे निकाल दिया जाय ?' इस 'मन्त्रभेद' का भय दिखाते हुए दमनक ने कहा—'अभी नहीं। वह स्वयं आप से युद्ध करने आयेगा उस समय आप मुँह खोले पंजो का प्रहार करने के लिए उद्यत बैठे रहियेगा।' ऐसा कहकर वह संजीवक के पास पहुँचा और उससे कहा कि स्वामी तुम्हें मारना चाहते हैं अत सींग टेढ़ी किए गरजते हुए तुम भी उनके सामने जाओ अपने बल का प्रदर्शन करो। संजीवक उसके बताए हुए ढंग से पिंगलक के पास पहुँचा। पिंगलक ने क्रुद्ध होकर उस पर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला। इस प्रकार दमनक और करकट ने 'सुहृद्भेद' के द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध किया और गत अधिकार को पुन प्राप्त कर लिया।

प्रासंगिक कथाएँ

१—कीलोत्पाटित्रानर-कथा

मगध देश में शुभदत्त नाम का एक कायस्थ विहार बनवा रहा था। वहाँ बढ़इयो ने आधी फटी हुई लकडी मे एक कील डाल कर छोड दिया था। एक दिन एक बन्दर ने आकर उस कील को पकड लिया और वहीं बैठ गया। बैठते समय उसका अण्डकोश लकडी के बीच में चला गया। उसने चंचलता से कील को खीच लिया जिससे उसका अडकोश दब गया और वह मर गया। अत मनुष्य को व्यर्थ कार्यों मे नही लगना चाहिए।

२—चीत्कारकारि-गर्दभ-कथा

काशी में कर्पूरपुरटक नाम का एक धोबी था। वह एक दिन गहरी नींद मे सोया था कि कुछ चोर उसके घर मे घुस गए। आगन मे बन्धे हुए गदहे ने वहीं बैठे हुए कुत्ते से कहा कि तुम भूँक कर स्वामी को जगा दो क्योंकि वही तुम्हारा काम है। लेकिन धोबी से अपमानित कुत्ते ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। तब गदहा स्वामी को जगाने के लिए स्वयम् चिल्लाने लगा। धोबी की नींद उचट गई और उसने गदहे को इतना मारा कि वह मर गया। अत दूसरे के अधिकार की चर्चा भी नहीं करनी चाहिए काम करना तो दूर की बात है।

३—दधिकर्ण बिडाल-कथा

अर्बुद पहाड़-शिखर पर दुर्दान्त नाम का एक सिंह था। उसके सोने के समय एक चूहा निकल कर उसका अयाल काट देता था। इसलिए उसने दधिकर्ण नाम का एक बिलार पाल लिया और भोजनादि से उसका बड़ा सत्कार करने लगा। अब चूहा भी उसके डर से बाहर नहीं निकलता था जिससे सिंह सुख से सोता था। एक दिन भूख से व्याकुल होकर चूहा बाहर निकला तो बिलार ने उसे मार डाला। अब सिंह ने बिलार की आवश्यकता न समझ कर उसके भोजनादि में कटौती कर दी जिससे वह धीरे धीरे दुर्बल हो कर मर गया। अतः सेवक को चाहिए कि वह स्वामी को कभी भी अपने प्रति निरपेक्ष न होने दे।

४—घटाकर्ण-कुट्टनी-कथा

श्रीपर्वत पर ब्रह्मपुर नाम का एक नगर था। वहाँ घंटा चुराकर भागने वाले एक चोर को सिंह ने मार डाला। उस घंटे को बन्दरों ने ले लिया और उसे बजाना शुरू किया। उस मरे हुए चोर को देख और घंटे की आवाज सुन कर नगर के सभी लोग घंटाकर्ण भूत के डर से भागने लगे। एक कुट्टनी ने इस रहस्य का पता लगा लिया और वह राजा से बोली—राजन् यदि आप कुछ धन खर्च करें तो मैं घटाकर्ण को वश में कर लूँगी। राजा ने उसे धन दे दिया। वह कुछ फल लेकर वहाँ गई और उन्हें फेंक दिया। बन्दर घंटा छोड़ कर फल खाने लगे। कुट्टनी घंटा लेकर चली आई। राजा ने उसे बहुत पुरस्कृत किया। इसलिए केवल शब्दमात्र से नहीं डरना चाहिए।

५—स्वर्णरेखा तथा नापितगोपवधू-कथा

काञ्चनपुर नाम के नगर में एक राजा था। उसके सिपाही एक नाई को पकड़ कर मारने के लिए ले जा रहे थे कि एक साधु के साथ आये हुए कन्दर्पकेतु ने उसे बचा लिया और कहा—मैं सिंहल द्वीप का राजपुत्र हूँ मैंने एक दिन नाविकों के मुँह से सुना कि समुद्र में चतुर्दशी के दिन एक सुन्दरी कन्या दिखाई पड़ती है। यह सुनकर मैं वहाँ गया और उसे देखते ही उसके रूप पर आसक्त होकर समुद्र में कूद पड़ा। उसके बाद मैंने उसे सोने के महल में देखा और उससे विवाह कर लिया। एक दिन उसने मुझे चित्र में बनी सुवर्णरेखा अप्सरा को छूने के लिये मना किया किन्तु मैंने उसे छू दिया। छूते ही उसने मुझे ऐसा धक्का दिया कि मैं अपने देश में आ गिरा। तभी से सन्यासी बन कर घूम रहा हूँ। एक दिन मैं एक ग्वाले के घर में सोया था। उस समय

जब ग्वाला पशुओं को खिला-पिलाकर घर लौटा तो उसने अपनी स्त्री को एक दूती से बातचीत करते हुए देखकर उसे खम्भे में बांध दिया और सो गया। रात को फिर दूती ने आकर अपने को खभे मे बांध दिया और ग्वालिन को नाई के पास भेज दिया। ग्वाले ने आंख खुलने पर फिर ग्वालिन से कहा कि अब क्यो नहीं अपने जार के पास जा रही हो। कुछ उत्तर न पा कर क्रुद्ध होकर उसने उसकी नाक काट ली और फिर सो गया। ग्वालिन नाई के यहां से लौट कर नाइन को बधन से खोल कर फिर अपने को उसमे बांध दिया। नाइन अपने घर लौट गई। प्रात काल जब नाई ने अपनी पेटी मांगी तो उसने केवल छुरा दिया जिससे उसने छुरा उसके ऊपर चला दिया। इस पर अपनी नाक काट लेने का दोष लगा कर नाइन उसे अदालत मे ले गई। इधर जब ग्वाला उठा और उसने अपनी स्त्री से पूछा तो उसने उसे डांटते हुए कहा कि मैं सती हूं, देखो उसी के प्रभाव से मेरी कटी हुई नाक जुड गई है। ग्वाला इसे देखकर उसके पैरो पर गिर गया।

उसने साधु की कथा कहते हुए कहा कि यह एक दिन वेश्या के घर मे सोया था। इसने वेश्या के द्वार पर काठ के एक वैताल की मूर्ति देखी जिसके सिर पर रत्न था। लालच में आकर उसने इसे लेना चाहा, किन्तु पुतले ने उसे पकड लिया। उसका चिल्लाना सुनकर वेश्या ने कहा कि तुम्हारे पास जो भी रत्न हो दे दो, तभी छूट सकते हो। सभी रत्नो के देने के बाद ही यह बेचारा छूट पाया था। अत मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है।

६—गोपीजारद्वय कथा

द्वारवती मे एक ग्वाले की एक कुलटा स्त्री थी। वह गाँव के मुखिया और उसके लडके के साथ फँसी हुई थी। एक दिन जिस समय मुखिया का लडका उसके पास था उसी समय मुखिया भी आया। ग्वालिन ने उसे अनाज की खत्ती मे छिपा दिया और वह मुखिया के साथ आनन्द लूटने लगी। इसी समय ग्वाला भी आ गया। तब ग्वालिन ने उससे कहा कि तुम डण्डा लेकर क्रोध से बडबडाते हुए घर से निकल जाओ। ग्वाले ने उसे इस प्रकार जाते हुए देखकर पूछा कि यह किस लिए आया था। ग्वालिन ने कहा कि यह अपने लडके को मारने के लिए दौडाया था वह भाग कर मेरे घर में चला आया। जिसे मैंने छिपा दिया। यह उसे न पाकर क्रोध मे बडबडाता हुआ जा रहा है यह कहकर उसने उसके लडके को दिखा दिया। इस प्रकार उसने सबको सकट से बचा लिया। अत समयानुसार बुद्धि द्वारा मनुष्य कठिनाइयों को जीत सकता है।

७—काकी-कृष्णसर्प कथा

एक वृक्ष पर कौओं का एक जोड़ा रहता था। उसी वृक्ष की जड़ में एक काला साँप भी रहता था। वह कौओं के बच्चों को खा जाया करता था। एक दिन कौवी ने वहाँ से दूसरी जगह चलने को कहा तब कौवे ने कहा कि डरो मत, तुम बुद्धि से काम लो। राजा रोज इस तालाब में स्नान करने आता है तुम उसके उतारे हुए सोने के हार को उठाकर साँप के खोखले में रख दो। कौवी ने ऐसा ही किया। फिर हार को खोजते हुए राजा के सिपाही पेड़ के खोखले के पास पहुँचे और वहाँ काले साँप को देखकर उन्होंने मार डाला। अर्थात् कोई काम बुद्धि के द्वारा ही आसानी से पूरा किया जा सकता है।

८—दुर्दान्तसिंह शशक कथा

मन्दर नाम के पहाड़ पर दुर्दान्त नाम का सिंह था। उसे दिन भर में कई पशुओं को मारते हुये देखकर सभी पशुओं ने प्रतिदिन एक-एक पशु देने का निश्चय किया। सिंह ने भी इसे मान लिया। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आई। खरगोश उसके मारने का उपाय सोचते हुये उसके पास देर से पहुँचा। सिंह के पूछने पर उसने बताया कि इस जंगल में रहने वाले दूसरे सिंह ने मुझे पकड़ लिया था। मैं उससे कसम खाकर आप के पास सूचना देने आया हूँ। सिंह यह सुनकर आग-बबूला हो गया और दूसरे सिंह को मारने चल पड़ा। खरगोश ने एक कुएँ में उसी की परछाईं को दिखा दिया। सिंह बिना सोचे कुएँ में कूद पड़ा और मर गया। अतः बुद्धि का बल सबसे बड़ा बल होता है।

९—समुद्र टिटिभ कथा

दक्षिण समुद्र के किनारे टिटिहरियों का एक जोड़ा रहता था। समुद्र बराबर टिटिहरी के अंडों को बहा ले जाया करता था। एक बार टिटिहरी ने अण्डा देने के समय टिटिहरे से दूसरी जगह चलने को कहा। लेकिन टिटिहरा नहीं हटा। इसकी बार भी समुद्र अंडे को बहा ले गया तब टिटिहरा सभी पक्षियों को जमा करके गरुड़ के पास गया। उन्होंने विष्णु से कहा और विष्णु ने समुद्र को आदेश दिया कि अंडों को लौटा दो। समुद्र ने उनकी आज्ञा से अंडे लौटा दिये। अतः किसी की शक्ति का अनुमान उसके सभी सम्बन्धियों को जान कर ही लगाया जा सकता है।

॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

—:०:—

सुहृद्भेदः

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य, मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः। इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः।' विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

मणिप्रभा

गणनाथं प्रणम्याथ रमानाथमुमापतिम्।
उमां च नत्वा कुर्वेऽहं सुहृद्भेदे मणिप्रभाम्॥ १॥

अथ = मित्रलाभश्रवणानन्तरम्, इदानीम् = अधुना, सुहृद्भेदम् = एतन्नामकं हितोपदेशस्य द्वितीयं प्रकरणम्, शृणुत—यूयमिति शेषः। आद्यः = प्रथमः।

हिन्दी रूपान्तर

इसके पश्चात् उन राजपुत्रों ने कहा—'आर्य', हम लोगों ने 'मित्रलाभ' तो सुन लिया अब 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं। विष्णुशर्मा ने कहा—तो 'सुहृद्भेद' सुनो। जिसका पहला श्लोक यह है—

वर्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः॥ १॥

अन्वयः—वने मृगेन्द्रवृषयोः वर्द्धमानः महान् स्नेहः पिशुनेन अतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः॥ १॥

वर्द्धमानः—वर्द्धत इति वर्द्धमानः एधमानः, स्नेहः = प्रेम, मृगेन्द्रवृषयोः = सिंहवृषभयोः, पिशुनेन = कर्णजपेन (चुगली करनेवाले), जम्बुकेन = शृगालेन॥

वन में सिंह एवं बैल के बढ़ते हुए महान् स्नेह को अत्यन्त लालची तथा चुगली करने वाले स्यार ने नष्ट करा दिया॥ १॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतत्।' विष्णुशर्मा कथयति—

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी। तत्र वर्धमानो नाम

पथि निवसति। तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान् समीक्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्बभूव। यतः—

दक्षिणापथे = दक्षिणस्यां दिशि तत्र = सुवर्णवत्यां नगर्याम्, वर्धमान नाम्नो वणिजः, प्रचुरे = प्रभूते 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः, अपरान् = अन्यान् स्वसदृशानित्यर्थः समीक्ष्य = दृष्ट्वा अर्थवृद्धिः = धनवृद्धिः, मतिर्बभूव = विचारोऽभवत्। यतः = यस्मात् ॥

राजपुत्रों ने पूछा—'ऐसा कैसे हुआ' विष्णुशर्मा ने कहा—'दक्षिण देश में सुवर्णवती नाम की एक नगरी है। वहाँ वर्धमान नाम का एक अत्यन्त धनी बनिया रहता था। बहुत अधिक धन होने पर भी अपने अन्य अत्यन्त धनी बन्धुओं को देखकर उसे और भी अधिक धन बढ़ाने की इच्छा हुई। क्योंकि—

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥ २ ॥

अन्वयः—अधः अधः पश्यतः कस्य (जनस्य) महिमा न उपचीयते। उपरि उपरि पश्यन्तः सर्वे एव दरिद्रति ॥ २ ॥

अधोऽधः=नीचैः नीचैः, पश्यतः=अवलोकयतः—(दृश् धातु षष्ठी ए व), महिमा=महत्त्वम्, उपचीयते = वर्धते। उपर्युपरि = उच्चैः उच्चैः दरिद्रति= दरिद्रा भवन्ति (दरिद्रा धातु प्र पु ब व 'अभ्यस्तस्य झः अत्' इत्यनेन झकारस्य 'अत्' इति गुणभावः) ॥

अपने से नीचे की ओर देखनेवाले किस मनुष्य का महत्त्व नहीं बढ़ जाता! किन्तु अपने से ऊपर देखनेवाले सभी दरिद्र दिखाई पड़ते हैं। (अपने से कम धनवालों को देखनेवाले अपने को धनी समझते हैं किन्तु अपने से अधिक धनवालों को देखकर दरिद्र बन जाते हैं) ॥ २ ॥

अपरं च—ब्रह्महापि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम्।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

अन्वयः—यस्य (नरस्य) विपुलम् धनम् अस्ति (सः) ब्रह्महा अपि नरः पूज्यः (भवति) (किन्तु) शशिनः तुल्यवंशः अपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

ब्रह्महा = ब्राह्मणघाती (ब्रह्माणं हतवान् इति विग्रहः); पूज्यः=पूजनीयः, विपुलम्=अधिकम् धनिकः=धनरहितः परिभूयते=तिरस्क्रियते ॥

और भी—जिसके पास अत्यन्त अधिक धन है, वह मनुष्य ब्रह्महत्या करने पर

भी अत्यन्त पूज्य होता है; किन्तु चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वंश में जन्म लेकर भी निर्धन व्यक्ति सभी जगह अपमानित होता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च—अव्यवसायिनमलसं दैवपरं साहसाच्च परिहीनम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

अन्वयः—लक्ष्मीः अव्यवसायिनम् अलसम् दैवपरम् साहसात् परिहीनम् च (जनम्) प्रमदा वृद्धपतिम् इव उपगूहितुम् न इच्छति ॥ ४ ॥

अव्यवसायिनम्=अनुद्योगिनम्, अलसम्=आलस्ययुक्तम्, दैवपरम्=भाग्याधीनम् (भाग्य पर ही भरोसा करनेवाले), प्रमदा=युवति, वृद्धपतिम्=प्रवयस भर्तारम्, उपगूहितुम्=आलिङ्गितुम्, पक्षे आश्रयं कर्तुम् ॥

और भी—उद्योग रहित, आलसी, भाग्य के भरोसे रहने वाले एवं साहस से हीन व्यक्ति को लक्ष्मी उसी प्रकार आलिङ्गन करना नहीं चाहती है जैसे यौवन मे मतवाली स्त्री बूढ़े पति को ॥ ४ ॥

किं च—आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
सन्तोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

अन्वयः—आलस्यम्, स्त्रीसेवा, सरोगता, जन्मभूमिवात्सल्यम्, सन्तोष, भीरुत्वम् (इति इमे) षट् महत्त्वस्य व्याघाता. (सन्ति) ॥ ५ ॥

स्त्रीसेवा = स्त्रीविषयेऽधिकासक्ति, सरोगता = रोगयुक्तता, जन्मभूमिवात्सल्यम्=जन्मभूम्या सह स्नेह, तेन जन्मभूमि त्यक्त्वाऽन्यत्र गमनाभाव.; भीरुत्वम् = भयम्, व्याघाता = बाधका ॥

और भी—आलस्य, स्त्री की गुलामी, रोगी बना रहना, जन्मभूमि के प्रति स्नेह, संतोष और डर—यही महत्त्व-प्राप्ति के छ. विघ्न हैं ॥ ५ ॥

यतः—संपदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—य स्वल्पया अपि सम्पदा सुस्थिरम्मन्य भवति, कृतकृत्य विधि तस्य ताम् न वर्द्धयति, (इति अहम्) मन्ये ॥ ६ ॥

सम्पदा=धनेन, सुस्थिरम्मन्य —आत्मानं सुस्थिरं मन्यते एवंविध आत्मानं सुस्थिर मन्यते इति विग्रहे 'आत्ममाने खश्च' इति खश्प्रत्यये खित्त्वान्मुमागम,

कृतकृत्यः = कृतार्थः विधिः = दैवम्, ताम् = सम्पदम्। मन्ये=(मैं) मानता हूँ।

क्योंकि—जो थोड़े ही धन से अपनी स्थिति को अच्छी समझनेवाला होता है उसका भाग्य भी कृतकृत्य होकर उसकी सम्पत्ति को नहीं बढ़ाता है॥ ६॥

अपरं च—निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम्।

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम्॥ ७॥

अन्वयः—काचित् सीमन्तिनी निरुत्साहम्, निरानन्दम्, निर्वीर्यम्, अरिनन्दनम् पुत्रम् मा स्म जनयेत्॥ ७॥

निरुत्साहम् (निर्गत उत्साहः यस्मात् स तम्—उत्साहहीनम् एवमन्येऽपि बोध्यम्। निर्वीर्यम्—पराक्रमहीनम्, अरिनन्दनम्—शत्रोः हर्षप्रदम्, सीमन्तिनी—नारी 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः। मा स्म जनयेत्—नोत्पादयेत् (अत्र 'मा' न तु 'माङ्' अतएव लुङ् नेति बोध्यम्॥

और भी—उत्साहरहित उदासीन और शत्रुओं को आनन्दित करनेवाले पुत्र का जन्म कोई भी स्त्री न दे॥ ७॥

तथा चोक्तम्—अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात्।

रक्षितं वर्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत्॥ ८॥

अन्वयः—(सम्पत्तिकामुकः जनः) अलब्धम् (धनम्) लिप्सेत लब्धम् च अवक्षयात् रक्षेत् रक्षितम् वर्धयेत्, वृद्धम् तीर्थेषु सम्यक् निक्षिपेत् च॥ ८॥

लिप्सेत=लब्धुमिच्छेत्, अवक्षयात्=हानेः, तीर्थेषु=काशीप्रयागादितीर्थस्थानेषु सत्पात्रेषु वा निक्षिपेत् = दानं कुर्यात्॥

जैसा कि कहा भी गया है—जो प्राप्त नहीं हो सका है, उसे पाने की इच्छा करनी चाहिए, जो प्राप्त हो चुका है उसे नष्ट होने से बचाना चाहिए, बचाए हुए धन को बढ़ाना और बढ़े हुए धन को अच्छे कामों में लगाना चाहिए॥

यतोऽलब्धमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव। लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः। अपि च। अवर्धमानश्चार्थः काले स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति। अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः। तथा चोक्तम्—

अलब्धम् = अप्राप्तम्, अर्थयोगात् = वित्तसम्बन्धात्, अरक्षितस्य = अगुप्तस्य, निधेः=[illegible] (भूगर्भस्थापित धन निधि कहलाता है)। अवर्धमानः=अवृद्धिशीलः

अर्थं =धनम्, काले=स्वल्पसमयानन्तरम्, अञ्जनवत्=अञ्जनेन तुल्यम्, क्षयमेति= नश्यति। अनुपभुज्यमान =स्वोपभोगेऽनियुज्यमान, निष्प्रयोजन =व्यर्थ. (इद-मर्थस्य विशेषणमत्र पुंस्त्वमत्रेति बोध्यम्) ॥

क्योंकि—अप्राप्त धन के चाहनेवाले व्यक्ति को धन लगाने से धन की प्राप्ति होती ही है। प्राप्त हो जाने पर भी यदि रक्षा न की जाय तो खजाना भी स्वयम् नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि धन बढ़ाया न जाय तो वह थोडा खर्च करने पर भी अञ्जन के समान समय पाकर समाप्त हो जाता है और यदि उसका उपभोग न किया जाय तो उसका पाना ही व्यर्थ है। जैसा कहा गया है कि—

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ९ ॥

अन्वयः—य (जन धनम्) न ददाति, न अश्नुते, (तस्य जनस्य) धनेन किम् (अस्ति)? य (जन) रिपून् न बाधते, (तस्य) बलेन किम् (अस्ति)? य (जन) धर्मम् न आचरेत् (तस्य जनस्य) श्रुतेन किम् (अस्ति)? य (जन) जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य) आत्मना किम् (अस्ति) ॥

अश्नुते=भुङ्क्ते, भोग करोतीत्यर्थ। बलेन=शक्त्या, रिपून्=शत्रून्, बाधते= पीडयति विजयते इत्यर्थ। श्रुतेन=शास्त्रज्ञानेन, आत्मना=आत्मज्ञानेन, जिते-न्द्रिय =संयतेन्द्रिय। तस्य नरस्य धनादिकं सर्वं व्यर्थमस्ति, य तेन दानादिकार्यं न करोतीत्याशय ॥

उस धन के मिलने से क्या हुआ जो न तो दिया ही गया और न तो अपने ही उपयोग में लाया गया, उस बल से क्या हुआ जो शत्रुओं को वश में न कर सका, उन धर्म-ग्रन्थों के सुनने से क्या हुआ जिसके अनुसार धर्म का आचरण ही न हो सका और उस आत्मा से क्या हुआ जो इन्द्रियों को जीत न सके ॥ ९ ॥

यतः—जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

अन्वयः—घट क्रमशः जलबिन्दुनिपातेन पूर्यते, सर्वविद्यानाम् च धर्मस्य च धनस्य स हेतु. (अस्ति) ॥ १० ॥

घट:—कलशः क्रमशः—क्रमात्, जलबिन्दुनिपातेन=जलस्य बिन्दूनां निपातनेन पूर्यते=पूर्णो भवति । सर्वविद्यानाम्=समस्तज्ञानानाम् । यथा जलस्य बिन्दूनां पतनेन घटः पूर्णो भवति तथैव क्रमशः सर्वविद्याधनोऽपि अभ्यासेन पूर्णो भवन्ति ॥

क्योंकि—जैसे एक-एक बूँद गिरने से धीरे-धीरे घड़ा भर जाता है उसी प्रकार सभी विद्याएँ धर्म और धन भी धीरे ही धीरे बढ़ता है ॥ १० ॥

दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ११ ॥

अन्वयः—यस्य (जनस्य) दिवसाः दानोपभोगरहिताः यान्ति स (जनः) कर्मकारभस्त्रा इव श्वसन् अपि न जीवति ॥ ११ ॥

दानोपभोगरहिताः = त्यागोपभोगाभ्यां शून्याः दिवसाः = दिनानि यान्ति = व्यतियन्ति (बीतते हैं) कर्मकारभस्त्रेव = कर्मकारस्य लोहकारस्य भस्त्रा वायुपूरणचर्मविशेष इव (भाथी के समान) श्वसन् = श्वासं कुर्वन् जीवनलक्षणं न जीवति=मृततुल्योऽस्ति ॥

जिसके दिन दान और भोग के बिना ही चले जाते हैं, वह लुहार की भाथी के समान साँस लेते हुए भी जीवित नहीं कहा जा सकता ॥ ११ ॥

इति संचिन्त्य नन्दकसञ्जीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः काश्मीरं प्रति । अन्यच्च—

इति=एवम् धुरि=भारवहनकार्ये नियुज्य=नियुक्तौ कृत्वा (नि+युज्+ल्यप्) शकटम्=यान (गाड़ी को) नानाविधद्रव्यपूर्णम्=अनेकप्रकारकवस्तुभरितम्, वाणिज्येन=व्यापारेण काश्मीरम्=एतन्नामकं भारतस्य उत्तरोत्तरदिशि स्थितं प्रान्तविशेषम् ॥

इस प्रकार सोचकर नंदक और संजीवक नाम के दो बैलों को बोझ में जोत कर गाड़ी को तरह-तरह की वस्तुओं से भरकर व्यापार करने की इच्छा से कश्मीर की ओर चला । और भी—

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ १२ ॥

अन्वयः—(मनुष्यैः) अञ्जनस्य क्षयम् वल्मीकस्य सञ्चयम् च दृष्ट्वा दानाध्ययनकर्मसु दिवसम् अवन्ध्यम् कुर्यात् ॥ १२ ॥

अञ्जनस्य=कज्जलस्य, क्षयम्=नाशम्, वल्मीकस्य=वामलूरस्य (बाँबी), सञ्चयम्=वृद्धिम्, अवन्ध्यम्=सफलम्, दानाध्ययनकर्मभि.=दानपठनादि-कार्यै. (वृद्धिरहितमत्यल्पश व्ययीभवदप्यञ्जनं क्षीयते, क्षयरहित सतत स्वल्पशोऽपि उपचीयमानं वल्मीकं वर्द्धते इत्येतद् दृष्ट्वा धनदान शास्त्रपठन च कृत्वा मानवेन दिवसस्य साफल्य कर्तव्यमिति भाव. ॥

आँखो मे लगाये जानेवाले अञ्जन का धीरे-धीरे नष्ट हो जाना तथा बाँबी का धीरे-धीरे एकत्रित होकर बढना देखकर मनुष्य को चाहिये कि वह अपने दिन को दान, अध्ययन तथा अन्य कर्मों से सफल करे ॥ १२ ॥

यतः—कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेश. सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—समर्थानाम् (जनानाम्) क अतिभार. (अस्ति) ? व्यव-सायिनाम् किम् दूरम् (अस्ति) ? सविद्यानाम् क विदेश (अस्ति) ?, प्रियवादिनाम् क पर (अस्ति) ? ॥ १३ ॥

अतिभार =महाभार , भारयुक्तम्-असाध्यमित्यर्थ , समर्थानाम्=सामर्थ्य-वताम्, व्यवसायिनाम् = उद्योगिनाम्, विदेश =परदेश , सविद्यानाम्= विदुषाम्, प्रियवादिनाम्=मधुरभाषिणाम् ॥

क्योंकि—शक्तिशाली के लिए कोई भी कार्य बोझ जैसा नहीं लगता, परिश्रमी व्यक्ति के लिए कोई भी स्थान दूर नही होता, विद्वान् के लिए कोई भी देश विदेश नहीं होता और प्रिय बोलने वाले का कोई भी शत्रु नहीं होता ॥१३॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये सञ्जीवको भग्नजानु-र्निपतितः । तमालोक्य वर्धमानोऽचिन्तयत्—

सुदुर्गनाम्नि=सुदुर्गनामके, महारण्ये = महावने, भग्नजानु =भग्नं जानु यस्य स (टूटे घुटनेवाला), निपतित = अपतत्, अचिन्तयत् = चिन्तितवान् ॥

इसके पश्चात् जाते-जाते सुदुर्गनाम के एक बडे जगल मे सजीवक का घुटना टूट गया और वह गिर पडा । वर्धमान ने उसे देखकर विचार किया—

करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।
फल पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—नीतिज्ञ (नर) इतस्तत व्यवसायम् करोतु नाम पुन अस्य फलम् तत् एव (भवति), यत् विधे मनसि स्थितम् (वर्तते) ॥ १४ ॥

नीतिविद्—नीतिं जानातीति विग्रहे नीतिपूर्वकात् विद् धातोः क्विप् इति च = नीतिप्रविज्ञः । इतस्ततः = यत्र तत्र (इधर-उधर) व्यवसायम्,—उद्योगम्, फलम् = परिणाम सिद्धिः—प्राप्यस्य मनसि—चित्ते ॥

चतुर व्यक्ति इधर-उधर कितना ही प्रयत्न क्यों न करे; परन्तु उसका फल नहीं होता है जो ब्रह्मा के मन में होता ॥ १४ ॥

किन्तु—विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।
तस्माद् विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—सर्वकर्मणाम् प्रत्यूहः विस्मयः (खेदः) सर्वथा हेयः (अस्ति) तस्माद् (खेदम्) विस्मयम् उत्सृज्य साध्ये सिद्धिः विधीयताम् ॥ १५ ॥

विस्मयः—वैकल्यम् (घबड़ाहट) सर्वथा—सर्वं प्रकारैः (सब तरह) हेयः—त्याज्यः प्रत्यूहः—विघ्नः, उत्सृज्य—त्यक्त्वा (उत्+सृज्+ल्यप्), साध्ये = कार्ये कर्तव्ये इत्यर्थः, विधीयताम् = क्रियताम् ॥

किन्तु विस्मय (किसी कार्य की बाधाओं को देखकर चकित हो जाना) का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि वह सभी कार्यों का विघ्न होता है। इसलिए आश्चर्य को छोड़कर अपने द्वारा किए जानेवाले कार्य में सफलता प्राप्त करनी चाहिए ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य वर्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय धुरि नियोज्य चलितः। ततः संजीवकोऽपि कथंकथमपि खुरत्रये भरं कृत्वोत्थितः। यतः—

इति—एवम्; संचिन्त्य = विचार्य परित्यज्य = त्यक्त्वा वर्धमानः — एतन्नामकः वणिक्, महाकायम् = स्थूलशरीरम्, धुरि नियोज्य = भारवहने नियुक्तं कृत्वा कथंकथमपि = कथञ्चित्, खुरत्रये—त्रिषु खुरेषु एकपादानुपयुक्तत्वेऽपि भारम् उत्थितः—उत्थितवान् ॥

ऐसा सोचकर उसने संजीवक को वहीं छोड़ दिया और स्वयं धर्मपुर नाम के नगर में जाकर एक बड़े डील-डौल वाले दूसरे बैल को लाकर बोझ में नाध दिया तथा आगे चल पड़ा। कुछ देर बाद संजीवक भी अपने तीन ही खुरों पर बल देकर किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ। क्योंकि—

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च ।
तक्षकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

अन्वयः—आयु पयोराशौ निमग्नस्य, पर्वतात् पतितस्य, तक्षकेण दष्टस्य च अपि (नरस्य) मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

आयु =वय , जीवितावधिकाल (उम्र), पयोराशौ=समुद्रे, निमग्नस्य= ब्रुडितस्य, तक्षकेण = एतन्नामकेन तीव्रविषेण सर्पेण, दष्टस्य = कृतदंशनस्य (डँसे गये), मर्माणि=मर्मस्थलानि, रक्षति=गोपायति ॥

समुद्र में भी डूबनेवाले, पर्वत से भी गिरे हुए तथा साँप द्वारा काटे गए व्यक्ति के प्राणो को भी आयु बचा लेती है ॥ १६ ॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १७ ॥

अन्वयः—जन्तु शरशतै विद्ध अपि अकाले न म्रियते, (तथा) प्राप्तकालः (सन् स.) कुशाग्रेण एव सस्पृष्ट न जीवति ॥ १७ ॥

अकाले=मृत्युसमये अप्राप्ते, जन्तु =प्राणी, देहधारीत्यर्थ , शरशतै = अनेक-शतसङ्ख्यकवाणै , विद्ध = छिद्रित ताडित इत्यर्थ , कुशाग्रेण = दर्भाग्रभागेनैव (कुशकी नोकसे), प्राप्तकाल =प्राप्तमृत्युसमय ॥

और भी—सैकडो बाणों से बिंधा हुआ प्राणी भी बिना समय आए नहीं मर सकता, किन्तु समय आ जाने पर वही कुश की नोक से छू जाने पर भी नहीं बच सकता ॥ १७ ॥

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहेन जीवति ॥१८॥

अन्वयः—(मानवादिना) अरक्षितम् (अपि) दैवरक्षितम् (वस्तु) तिष्ठति, (मानवादिना) सुरक्षितम् (अपि) दैवहतम् (वस्तु) विनश्यति । (एवमेव, मानवादिना) वने विसर्जित अनाथ अपि जीवति, (तथा मानवादिना) गृहे कृतप्रयत्न अपि न जीवति ॥ १८ ॥

अरक्षितम् = मानवादिना अकृतरक्षणम्, दैवरक्षितम् = भाग्येन कृतरक्षणम्, तिष्ठति=न विनश्यति । दैवहतम् = भाग्येन विनष्टम्, विसर्जित =त्यक्त , कृतप्रयत्न=मानवादिना कृतसुरक्षण ॥

भाग्य जिसकी रक्षा करना चाहे तो दूसरों द्वारा अरक्षित होने पर भी वह बच जाता है किंतु दूसरों द्वारा बचाये पर भी भाग्य का मारा हुआ नहीं बच सकता। जैसे जंगल में फेंका हुआ अनाथ बच्चा भी जीता रहता है किन्तु अनेक यत्नों के होने पर भी घर में पड़ा हुआ बालक नहीं जी पाता॥१८॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारं कृत्वारण्यं भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति। तथा चोक्तम्—

स्वेच्छाहारविहारम्=स्वेच्छापूर्वकभोजनभ्रमणम्, हृष्टपुष्टाङ्ग=मुदितशरीरः, ननाद् = उच्चस्वरेण　स्वभुजोपार्जितराज्यसुखम्—स्वभुजैव = बाहुबलेन उपार्जितस्य=प्राप्तस्य राज्यस्य सुखं=हर्षं अनुभवन्=प्राप्नुवन्॥

कुछ दिन बीतने के बाद अपनी इच्छा के अनुसार आहार-विहार करने के कारण संजीवक के सभी अंग हृष्ट पुष्ट हो गये और वह अत्यन्त ऊँची स्वर से डकारें भरने लगा। उसी जंगल में पिङ्गलक नाम का एक सिंह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्यसुख का अनुभव करता हुआ निवास करता था। जैसे कहा भी है—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य　स्वयमेव　मृगेन्द्रता॥१९॥

अन्वयः—मृगैः सिंहस्य अभिषेकः (तथा) संस्कारः न क्रियते (किन्तु) विक्रमार्जितराज्यस्य (तस्य मृगस्य) मृगेन्द्रता स्वयमेव (भवति)॥१९॥

अभिषेकः=राज्याभिषेकः संस्कारः=पुरस्कारादिसुसज्जा मृगैः = वन्यपशुभिः विक्रमार्जितराज्यस्य—विक्रमेण=स्वभुजबलेन अर्जितम्=उपार्जितम् राज्यम्=साम्राज्यम् येन स तस्य। स्वयमेव=स्वतः एव मृगेन्द्रता=मृगराजता॥

जंगली पशुओं द्वारा सिंह का न तो अभिषेक ही किया जाता है और न संस्कार ही किन्तु वह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्य का स्वयम् राजा बन जाता है॥१९॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत्। तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वमकालघनगर्जितमिव संजीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा सचकितः परिवृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथाविधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां दृष्टः। तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक, किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयम

पीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमवतिष्ठते।' करटको ब्रूते—'मित्र दमनक, अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते। यदि तथा भवति, तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम्। यतोऽनेन राज्ञा विनापराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम्।

पिपासाऽऽकुलित.=तृष्णया व्याकुल, पानीयम्=जलम्, यमुनाकच्छम्=यमुनायास्तीरम्, अननुभूतपूर्वकम्=प्रथममश्रुतम्, अकालघनगर्जितम्—अकाले=असमये प्रावृडभावेऽपीति भाव, घनस्य = मेघस्य, गर्जितम् गर्जनम्, सञ्जीवकनर्दितम् = सञ्जीवकस्य गर्जितम्, अश्रावि=श्रुतम्। सचकित = आश्चर्यित, परावृत्य=परवर्तितो भूत्वा, आलोचयन् = विचारयन्, तूष्णीम्=मौन सन्, तथाविध =तादृश, पिपासाऽऽकुलत्वेऽपि सञ्जीवकनर्दितेन सतीतजल, किमिति=कथम्, उदकार्थी=पिपासित, अवतिष्ठते—अत्र 'समवप्रविभ्य स्थ' इत्यात्मनेपदम्॥ अस्मन्मतेन=स्वविचारेण, स्वामिचेष्टानिरूपणेन = स्वामिनो भयादिकारणविचारेण, विनापराधेन=अपराध विनैव, चिरम्=चिरकालात्, अवधीरिताभ्याम्=तिरस्कृताभ्याम्, अनुभूतम्=प्राप्तम्॥

वह सिंह एक बार प्यास से व्याकुल होकर पानी पीने के लिए यमुना नदी के किनारे गया। वहाँ असमय में बादलों की गर्जन के समान सञ्जीवक की आवाज सिंह को सुनाई पड़ी। ऐसी आवाज उसने इसके पहले कभी नहीं सुनी थी। यह सुन कर बिना पानी पिए ही वह चकित होकर लौट पड़ा और अपने स्थान पर आकर, 'यह क्या है' ऐसा सोचता हुआ चुपचाप बैठ गया। उसके मन्त्री के पुत्र करटक और दमनक नाम के दो स्यारों ने उसे इस अवस्था में देखा। उसे इस प्रकार की अवस्था में देखकर दमनक ने करटक से कहा—'मित्र, करटक, पानी चाहनेवाले यह मेरे स्वामी बिना पानी पिए ही क्यों लौटकर इस प्रकार उदासभाव से चुपचाप बैठे हैं?' करटक ने कहा मित्र दमनक, मेरे विचार से तो यह सेवा करने योग्य ही नहीं है, फिर इस प्रकार इस स्वामी की चेष्टा देखने से हम लोगों का लाभ भी क्या है? क्योंकि इस राजा के द्वारा बिना किसी अपराध के ही हम दोनों अपमानित होकर बहुत दिनों से कष्ट झेलते चले आ रहे हैं।

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम्॥ २०॥

अन्वयः—(दमनक) पश्य, सेवया धनम् इच्छद्भिः, सेवकैः यत् कृतम्, शरीरस्य यत् स्वातन्त्र्यम् (आसीत्), तत् अपि मूढैः हारितम्॥ २०॥

भाग्य जिसकी रक्षा करना चाहे तो दूसरों द्वारा अरक्षित होने पर भी वह बच जाता है किन्तु दूसरों द्वारा बचाने पर भी भाग्य का मारा हुआ नहीं बच सकता। जैसे जंगल में फेंका हुआ अनाथ बच्चा भी जीवित रहता है किन्तु घोर प्रयत्नों के होने पर भी घर में रखा हुआ बालक नहीं जी पाता॥ १८॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारं कृत्वाऽरण्यं भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति। तथा चोक्तम्—

स्वेच्छाहारविहारम्=इच्छापूर्वकभोजनभ्रमणम्, हृष्टपुष्टाङ्गः=पुष्टशरीरः, ननाद = उच्चस्वरेण। स्वभुजोपार्जितराज्यसुखम्—स्वभुजेन = बाहुबलेन उपार्जितस्य=प्राप्तस्य राज्यस्य सुखं=हर्षं अनुभवन्=आस्वादयन्॥

कुछ दिन बीतने के बाद अपनी इच्छा के अनुसार आहार-विहार करने के कारण संजीवक के सभी अंग हृष्ट पुष्ट हो गये और वह अत्यन्त ऊँची ध्वनि से डकारें भरने लगा। उसी जंगल में पिङ्गलक नाम का एक सिंह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्यसुख का अनुभव करता हुआ निवास करता था। जैसे कहा भी है—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता॥ १९॥

अन्वयः—मृगैः सिंहस्य अभिषेकः (तथा) संस्कारः न क्रियते (किन्तु) विक्रमार्जितराज्यस्य (तस्य मृगस्य) मृगेन्द्रता स्वयमेव (भवति)॥ १९॥

अभिषेकः=राज्याभिषेकः संस्कारः=पुरस्कारादिशुभकर्म। मृगैः = वन्यपशुभिः विक्रमार्जितराज्यस्य—विक्रमेण=स्वभुजबलेन अर्जितम्=उपार्जितम्, राज्यम्=राजभावम् येन स तस्य। स्वयमेव=स्वत एव मृगेन्द्रता=मृगराजता॥

जंगली पशुओं द्वारा सिंह का न तो अभिषेक ही किया जाता है और न संस्कार ही किन्तु वह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्य का स्वयम् राजा बन जाता है॥ १९॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत्। तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वमकालघनगर्जितमिव संजीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा सचकितः परिवृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथाविधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां दृष्टः। तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक, किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयम

अन्वयः—धनिनः (त्वम्) एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ, वद, मौनं समाचर, एवम् आशाग्रहग्रस्तैः अर्थिभिः (सह) क्रीडन्ति ॥ २३ ॥

एहि=आगच्छ, पत = पतनं कुरु, मौनं समाचर = तूष्णींभावं गच्छ, आशाग्रहग्रस्तैः = आशारूपपाशेन बद्धैः, अर्थिभिः = अर्थाभिलाषुकैः सेवकैः, क्रीडन्ति= खेलन्ति ॥

और भी—आओ, जाओ, बैठो, उठो, बोलो, चुप रहो—इस प्रकार की आज्ञाएँ दे-देकर धनी लोग आशारूपी ग्रह से ग्रसित याचकों से अपना मनोविनोद करते रहते हैं ॥ २३ ॥

किं च—अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अबुधैः (जनैः) पण्यस्त्रीभिः इव अर्थलाभाय आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य स्वयम् परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

अबुधैः=मूर्खैः, पण्यस्त्रीभिः=वेश्याभिः, आत्मा ॰कृतः=अलङ्कारादि-शृङ्गारेण (पक्षे—विद्याज्ञानशौर्यादिना) शरीरं पुनः पुनः मण्डयित्वा ॥

और भी—मूर्खों ने धन के लिए वेश्याओं के समान अपने आप को सजा-सजा कर स्वयं ही उसे दूसरों के कार्य में लगा दिया है ॥ २४ ॥

किं च—या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २५ ॥

अन्वयः—(स्वामिनः=प्रभोः) प्रकृत्या एव चपला या दृष्टिः अशुचौ अपि निपतति, सेवकाः स्वामिनः ताम् अपि बहु मन्यन्ते ॥ २५ ॥

प्रकृत्यैव = स्वभावेनैव, अशुचौ अपि निपतति = अपवित्रमपि पश्यति, बहु मन्यन्ते=स्वामी मयि कृपादृष्टिं करोति इति मत्वा सेवकाः कृतार्था भवन्ति ॥

और भी—सेवक लोग स्वभाव से ही चंचल एवं अपवित्र स्थान में पड़नेवाली स्वामी की दृष्टि को भी बहुत बड़ी वस्तु समझते हैं ॥ २५ ॥

अपरं च—मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २६ ॥

सेवया = स्वामिनः सेवनेन सेवकैः = भृत्यैः स्वातन्त्र्यम् = स्वतन्त्रता, हारितम् = नाशितम् ॥

सेवा द्वारा धन की अभिलाषा रखने वाले सेवकों ने जो किया उसे देखो। इन मूर्खों ने इसके लिए अपने शरीर की स्वतंत्रता भी गँवा दी ॥ २० ॥

अपरं च—

शीतवातातपक्लेशान् सहन्ते यान् पराश्रिताः ।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

अन्वयः—पराश्रिताः यान् शीतवातातपक्लेशान् सहन्ते; मेधावी तदंशेन अपि तपः तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

शीतवातातपक्लेशान्—शीतम् = अनुष्णत्वम् वातश्च = वायुश्च आतपश्च = घर्मश्च इति शीतवातातपाः तेषां क्लेशान् = दुःखानि पराश्रिताः = पराधीनाः सेवकाः इत्यर्थः तदंशेन = शीतादिसम्बन्धिदुःखस्य स्वल्पतमभागेन मेधावी = बुद्धिमान् तपस्तप्त्वा = तपस्यां कृत्वा ॥

और भी—दूसरों के अधीन रहनेवाले शीत वायु तथा धूप आदि के जिन दुःखों को सहते हैं उसके अंशमात्र दुःखों को ही सहकर बुद्धिमान् तप करके सुखी हो जाता है ॥ २१ ॥

अन्यच्च—एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः ॥ २२ ॥

अन्वयः—यत् (जनस्य) अनायत्तवृत्तिता (भवति) एतावत् जन्मसाफल्यम् (अस्ति) ये (जनाः) पराधीनताम् याताः (सन्ति यदि) ते जीवन्ति (तर्हि) के (जनाः) मृताः सन्ति ? ॥ २२ ॥

जन्मसाफल्यम् = जन्मनः सफलता अनायत्तवृत्तिता = स्वतन्त्रजीवनम्, पराधीनताम् = परतन्त्रताम्—स्वतन्त्रमेव जनस्य जन्म सफलमस्ति पराधीनास्तु जनाः मृतकतुल्याः एवेत्याशयः ॥

और भी—जीविका का दूसरे के अधीन न होना ही इस जन्म की सफलता है। यदि पराधीन व्यक्ति को ही जीवित माना जाय तो फिर मरा हुआ किसे कहा जायगा ॥ २२ ॥

अपरञ्च—एहि गच्छ, पतोत्तिष्ठ वद, मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २३ ॥

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २८ ॥

अन्वयः—तुष्टा ये अचिरेण एव (सेवकानाम्) मनोरथान् पूरयन्ति, (ते) परमेश्वरा सेवकै कथं नाम यत्नत न सेव्यन्ते ॥ १८ ॥

कथ नाम=कस्मात्कारणात्, यत्नत =प्रयत्नपूर्वकम्, परमेश्वरा. = स्वामिन , तुष्टा =सन्तुष्टा ॥

उन स्वामियों की सेवा अत्यन्त यत्न के साथ क्यो नही करनी चाहिए, जो प्रसन्न होकर शीघ्र ही सारी अभिलाषाओ को पूरी कर देते हैं ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य—

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसंपदः ।
उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी ॥ २९ ॥

अन्वयः—सेवाविहीनानाम् (सेवकजनानाम्), चामरोद्धूतसम्पद उद्दण्डधवलच्छत्रम् वाजिवारणवाहिनी च कुत (प्राप्यते) ? ॥ २९ ॥

सेवाविहीनानाम् = स्वामिसेवनमकुर्वताम्, चामरोद्धूतसम्पद —चामरेण उद्धूताश्च ता सम्पदश्च = चामरसञ्चालनसूचितधनानि, उद्दण्डधवलच्छत्रम्= उत्=ऊर्ध्वं दण्डं यस्य तत् उद्दण्डम्, तच्च तत् धवल = शुभ्रम् छत्रञ्च=राजत्वसूचकोर्ध्वीकृतशुभ्रातपत्रम्, वाजिवारणवाहिनी—वाजिनाम्=अश्वानाम् वारणानाम्= हस्तिना च वाहिनी=सेना ॥

और भी देखो—सेवा न करनेवाले सेवकों को भला चामरयुक्त लक्ष्मी, लम्बी डडी वाला छत्र, घोडे और हाथियों से युक्त सेना कैसे प्राप्त हो सकती हे ? ॥ २९ ॥

करटको ब्रूत—'तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण । यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः । पश्य—

तथापि=स्वामिसेवाया कर्तव्यत्वेऽपि, व्यापारेण = कार्येण, परिहरणीय = त्याज्य ।

करटक ने कहा—'फिर भी हमलोगो को इस कार्य (स्वामी का ध्यान रखना) से क्या लाभ ! क्योंकि अकरणीय कार्यों में व्यर्थ की उधेडबुन करने से सदा बचना चाहिए । देखो—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स भूमौ निहतः शेते कीलोत्पाटीव वानरः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—(स्वामिना सेवकः) मौनात् मूर्खः (अस्तीति कथ्यते एवं सर्वत्र योज्यम्) प्रवचनपटुः वातुलः वा जल्पकः क्षान्त्या भीरुः यदि न सहते (तदा) प्रायशः नाभिजातः, नियतम् पार्श्वे भवति (तदा) धृष्टः च दूरे (भवति तदा) अप्रगल्भः (एवम्) परमगहनः सेवाधर्मः योगिनाम् अपि अगम्यः।

मौनात्—तूष्णींभावात् प्रवचनपटुः—अधिकवक्ता चतुरः वातुलः—वाचालः (बातूनी) जल्पकः—मुधाऽभिभाषकः (बकवादी) क्षान्त्या—क्षमया भीरुः—भययुक्तः (डरपोक) नाभिजातः—अकुलीनः अप्रगल्भः—अज्ञानी परमगहनः—अतिकठिनः योगिनामपि—योगिनामपि अगम्यः—सेवनेऽतिकठिनः, अतोऽत्र कार्ये अतिकठिनं सेवाधर्मं परमसहिष्णवोऽपि सेवकाः निर्वोढुं न शक्नुवन्तीति भावः॥

और भी—यदि सेवक चुप रहे तो स्वामी उसे मूर्ख, बात करने में चतुर हो तो बातूनी, सहनशील हो तो डरपोक, असहनशील हो तो अकुलीन, नित्य स्वामी के पास रहे तो ढीठ और दूर रहे तो कायर समझते हैं। इसलिए सेवाधर्म अत्यन्त कठिन होता है जिसकी साधना योगियों के लिए भी दुष्कर होती है॥ २६॥

विशेषतश्च—

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान्।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः॥ २७॥

अन्वयः—सेवकात् अन्यः कः मूढः उन्नतिहेतोः प्रणमति जीवितहेतोः प्राणान् विमुञ्चति सुखहेतोः दुःखीयति॥ २७॥

सेवकात् अन्यः—सेवकं विना उन्नतिहेतोः—उच्चत्वार्थम्, प्रणमति—नमस्करोति यशः—प्राप्तो भवति जीवितहेतोः—जीवितुम् प्राणान् विमुञ्चति—त्यजति सुखहेतोः—सुखप्राप्त्यर्थं दुःखीयति। सेवक एव स्वोन्नत्यै स्वामिनं प्रणमति जीवितुं स्वाम्यर्थं प्राणत्यागमपि करोति तथा सुखप्राप्त्यै दुःखानि सहते नान्य इत्यर्थः॥

विशेष करके—सेवक अपनी उन्नति के लिये झुकता है, जीवित रहने के लिये मरता और सुख पाने के लिए दुःख उठाता है। अतः सेवक से बढ़कर और कौन दूसरा मूर्ख हो सकता है॥ २७॥

दमनको ब्रूते—'मित्र सर्वथा मनसापि नैतत्कर्तव्यम्। यतः—

दमनक ने कहा—मित्र मन से भी कभी ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

विदार्यमाणकाष्ठशकलयोर्मध्यभागे । अनन्तरम् = काष्ठखण्डद्वयमध्येऽण्डकोषद्वय-प्रवेशान्ते, सहजचपलतया = स्वाभाविकचञ्चलतया, आकृष्टवान् = उत्पाटितवान् (खींचा, उखाड़ा) । चूर्णिताण्डद्वय —चूर्णित = चूर्णीभूतम्, अण्डयो = मुष्कयो , द्वयम् = युगल यस्य स । पञ्चत्व गत = मृत । तथापि = अव्यापारेषु व्यापारकरणस्यानौचित्येऽपि, स्वामिचेष्टानिरूपणम् = प्रभोश्चेष्टाया निर्णय , अनु-जीविना=सेवकेन, पराधिकारचर्चा=अन्याधिकारसम्बद्ध वार्तालाप , सर्वथा= सर्वप्रकारेण ॥

मगध देश मे धर्मारण्य के समीप ही किसी स्थान पर शुभदत्त नाम का एक कायस्थ विहार (बौद्धमठ) बनवा रहा था । वहाँ आरे से चीरे गये कुछ दूर तक फटे हुए लकड़ी के एक खम्भे की दोनो फाँको के बीच मे बढ़ई ने एक कील गाड़ दी थी । एक दिन वहाँ बन्दरो का एक बहुत बड़ा झुण्ड खेलता कूदता हुआ पहुँचा । काल से प्रेरित होकर उनमे से एक बन्दर उस कील को पकड़ कर बैठ गया । वहाँ उसके लटकते हुए अंडकोश भी फटे हुए काठ के बीच मे चले गए । इसके बाद उसने अपनी स्वाभाविक चंचलता के कारण बड़े परिश्रम से उस कील को खींच लिया । कील के निकल जाने पर उसके दोनो अण्डकोश उसी मे पिस उठे, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'अव्यापार मे जो व्यापार करता है' इत्यादि । दमनक ने कहा—'फिर भी सेवक को स्वामी की चेष्टाओ पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।' करटक ने कहा—'जिसे सभी अधिकार दिए हैं, वह प्रधान मन्त्री करे । क्योकि सेवक को दूसरे के अधिकार की चर्चा भी कभी नही करनी चाहिये । देखो—

पराधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया ।
स विषीदति चीत्कारात् गर्दभस्ताडितो यथा ॥ ३१ ॥

अन्वयः—य (सेवक) स्वामिहितेच्छया पराधिकारचर्चाम् कुर्यात्, चीत्कारात् ताडित गर्दभ यथा स विषीदति ॥ ३१ ॥

पराधिकारचर्चाम्=अन्याधिकारसम्बद्धा वार्ताम्, कुर्यात्=करोति, स्वामि-हितेच्छया=प्रभो हिताभिलाषेण, विषीदति=विषाद करोति, चीत्कारात्= चीत्कारकरणात् (चिल्लानेसे), गर्दभ =रासभ यथा=इव ॥

जो सेवक स्वामी की भलाई के लिए दूसरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा करता है, वह उसी प्रकार दुखी होता है जैसे चिल्लाने के कारण पिटा हुआ गदहा हुआ था ॥ ३१ ॥

दमनक पृच्छति—'कथमेतत्' ? करटको ब्रूते—
दमनक ने पूछा—'यह कैसे ?' करटक ने कहा—

अन्वयः—यो नरः अव्यापारेषु व्यापारं कर्तुम् इच्छति, स (नरः) कीलोत्पाटी वानर इव निहतः (सन्) शेते ॥ १ ॥

अव्यापारेषु=अकर्मसु सः शेते=मृतः सन् भूमौ तिष्ठति। कीलोत्पाटी—कीलस्य=शंकोः उत्पाटी = उत्पाटनकर्ता ॥

जो मनुष्य अकरणीय कामों के करने में अपने आपको लगाने की इच्छा करता है वह कील उखाड़ने वाले वानर के समान घायल होकर मर जाता है॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत्' करटकः कथयति—

दमनक ने पूछा—यह कैसे? करटक ने कहा—

कथा १

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्तुमारब्धः। तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः। तत्र बलवान् वानरयूथः क्रीडन्नागतः। एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः। तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे प्रविष्टम्। अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान्। आकृष्टे च कीलके चूर्णिताण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि 'अव्यापारेषु व्यापारम्' इत्यादि। दमनको ब्रूते—'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्यं करणीयम्। करटको ब्रूते—सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु। यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या। पश्य—

मगधदेशे—एतन्नामकजनपदे (पटना गया आदि के प्रान्तको मगध कहते हैं) धर्मारण्यसंनिहितवसुधायाम्—धर्मारण्यस्य निकटस्थभूमौ विहारः—बौद्धभिक्षुकाणां निवासार्थं भवनम्, करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य—करपत्रेण=काष्ठविदारकशस्त्रविशेषेण ('करौत आरा' इति भाषायाम्) विदार्यमाणस्य—द्विधा क्रियमाणस्य एकस्य=अन्यतमस्य स्तम्भस्य=काष्ठविशेषस्य कियद्दूरस्फाटितस्य—स्वल्पं विदारितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये—द्वयोः काष्ठखण्डयोर्मध्यभागे कीलकः—शङ्कुः सूत्रधारेण=काष्ठविदारकेण वार्धकिना (बढ़ई) निहितः=स्थापितः। बलवान्=महान्, वानरयूथः=वानरसमूहः, कालप्रेरितः=मृत्युप्रेरितः तस्य=वानरस्य मुष्कद्वयम्=द्वौ अण्डकोषौ काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे=

अन्वयः—य (भृत्य सुहृद्वा) कार्यकाले याचते स किंभृत्य (च) किंसुहृद् अस्ति। य (प्रभु) तु कार्यकाले भृत्यान् सम्भाषयेत्, सः किंप्रभु अस्ति ॥ ३२ ॥

कार्यकाले = कार्यस्य समये, याचते = अर्थयते, किंभृत्य = निन्दित भृत्य, किंसुहृद् = कुत्सित मित्रम्, सम्भाषयेत् = भाषणं कुर्यात्, सर्वत्र 'किं क्षेपे' इति समास ॥

'जो सेवक या मित्र कार्य के समय स्वामी या मित्र से कुछ माँगता है वह अच्छा मित्र या सेवक नहीं है।

कुत्ते ने कहा—

'और काम पड़ने पर ही सेवक से बात करे, वह स्वामी भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता' ॥ ३२ ॥

यतः—आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥

अन्वयः—आश्रितानाम् भृतौ स्वामिसेवायाम् धर्मसेवने च पुत्रस्योत्पादने एव प्रतिहस्तका न सन्ति ॥ ३३ ॥

आश्रितानाम् = आश्रयवताम्, भृतौ = पालने, स्वामिसेवायाम् = स्वामिसेवने, प्रतिहस्तका = प्रतिनिधय । एतानि कार्याणि स्वयमेव कर्तव्यानि, न तु प्रतिनिधिद्वारेणेत्यर्थं ।

क्योंकि—अपने अधीन लोगों की रक्षा करने, स्वामी की सेवा करने, धर्म का कार्य करने एव सन्तान उत्पन्न करने मे कोई किसी का प्रतिनिधि नहीं बन सकता है। अर्थात् वे कार्य अपने ही द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभ सकोपमाह—'अरे दुष्टमते, पापीयाँस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि। भवतु तावत्। यथा स्वामी जागरिष्यति, तन्मया कर्तव्यम्। यतः—

सकोपम्—कोपेन सहित यथा स्यात्तथा = क्रोधसहितम्, क्रियाविशेषणमिदम्, आह = ब्रवीति 'ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव, इति ब्रुव्धातोराहादेशस्तिप णलादेशश्च। पापीयान्—अतिशयेन पाप पापीयान् पापशब्दादीयसुन् प्रत्यय —महापापीत्यर्थं, उपेक्षाम् = अवज्ञाम्। यथा = येन प्रकारेण, जागरिष्यति = जागरण करिष्यति, तत् = तथा कार्यम्, कर्तव्यम् = करणीयम् ॥

कथा २

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः। स रात्रौ गाढनिद्रया प्रसुप्तः। तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः। तस्य पश्चाद् गर्दभो बद्धस्तिष्ठति। कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति। अथ गर्दभः श्वानमाह—'सखे, भवतस्तावदयं व्यापारः। तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि।' कुक्कुरो ब्रूते—'भद्र मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्तव्या। त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहरक्षां करोमि। यतोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति। तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः। यतो विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति।' गर्दभो ब्रूते— शृणु रे बर्बर

वाराणस्याम्=काश्याम्, रजक = धावक (धोबी) प्रसुप्त=सुप्तवान्॥ तदनन्तरम् = रजकस्य शयनानन्तरम्, हर्तुम् = चोरयितुम्। किमिति = कथम्, नियोगस्य = कर्तव्यस्य अहर्निशम् = अहोरात्रम्, निर्वृत = चोरादिभयरहित निश्चिन्त सन्। अधुना=इदानीम् 'पश्चाद् सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा।' इत्यमर। आहारदाने=भोजनदाने मन्दादरः=शिथिलादरः विना विधुरदर्शनम् दुःखमदर्शनम् उपजीविषु=भृत्येषु, बर्बर=मूर्ख नीचेत्यर्थः॥

वाराणसी में कर्पूरपटक नाम का एक धोबी था। वह रात में गहरी नींद में सो गया। इसके पश्चात् उसके घर का सामान चुराने के लिये वहाँ चोर घुस आए। उसके आँगन में गदहा बँधा हुआ था और कुत्ता बैठा हुआ था। गदहे ने कुत्ते से कहा—'मित्र यह तुम्हारा काम है। इसलिए चोर के शब्द करके स्वामी को क्यों नहीं जगा रहे हो?' कुत्ते ने कहा—'भाई मेरे अधिकार की चर्चा तुम्हें नहीं करनी चाहिए। क्या तुम नहीं जानते हो कि मैं रात-दिन उसके घर की रखवाली करता रहता हूँ। इसी से यह इससे छुटकारा पाकर मेरी आवश्यकता नहीं समझता। और अब मुझे भोजन देने में भी लापरवाह हो गया है। क्योंकि बिना नुकसान देखे स्वामी लोग सेवकों की ओर ध्यान नहीं देते।' गदहे ने कहा—'अरे जंगली सुन तो सही—

याचते कार्यकाले यः स किंभृत्यः स किंसुहृत्।'

कुक्कुरो ब्रूते—

'भृत्यान्सम्भाषयेद्यस्तु कार्यकाले स किंप्रभुः॥ ३२॥

अन्वयः—य (भृत्य सुहृद्वा) कार्यकाले याचते स किंभृत्य (च) किंसुहृद् अस्ति। य (प्रभु) तु कार्यकाले भृत्यान् सम्भाषयेत्, स किंप्रभु अस्ति ॥ ३२ ॥

कार्यकाले = कार्यस्य समये, याचते = अर्थयते, किंभृत्य = निन्दित भृत्य., किंसुहृद् = कुत्सित मित्रम्, सम्भाषयेत् = भाषण कुर्यात्, सर्वत्र 'किं क्षेपे' इति समास ॥

'जो सेवक या मित्र कार्य के समय स्वामी या मित्र से कुछ माँगता है वह अच्छा मित्र या सेवक नहीं है।

कुत्ते ने कहा—

'और काम पड़ने पर ही सेवक से बात करे, वह स्वामी भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता' ॥ ३२ ॥

यतः—आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥

अन्वयः—आश्रितानाम् भृतौ स्वामिसेवायाम् धर्मसेवने च पुत्रस्योत्पादने एव प्रतिहस्तका न सन्ति ॥ ३३ ॥

आश्रितानाम् = आश्रयवताम्, भृतौ = पालने, स्वामिसेवायाम् = स्वामिसेवने, प्रतिहस्तका = प्रतिनिधय । एतानि कार्याणि स्वयमेव कर्तव्यानि, न तु प्रतिनिधिद्वारेणेत्यर्थ ।

क्योंकि—अपने अधीन लोगों की रक्षा करने, स्वामी की सेवा करने, धर्म का कार्य करने एव सन्तान उत्पन्न करने मे कोई किसी का प्रतिनिधि नही बन सकता है। अर्थात् ये कार्य अपने ही द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—'अरे दुष्टमते, पापीयाँस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि। भवतु तावत्। यथा स्वामी जागरिष्यति, तन्मया कर्तव्यम्। यतः—

सकोपम्—कोपेन सहित यथा स्यात्तथा = क्रोधसहितम्, क्रियाविशेषणमिदम्, आह = ब्रवीति 'ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव', इति ब्रुव्धातोराहादेशस्तिप णलादेशश्च। पापीयान्—अतिशयेन पाप पापीयान् पापशब्दादीयसुन् प्रत्यय — महापापीत्यर्थ, उपेक्षाम् = अवज्ञाम्। यथा = येन प्रकारेण, जागरिष्यति = जागरण करिष्यति, तत् = तथा कार्यम्, कर्तव्यम् = करणीयम् ॥

तब गदहे ने क्रोध के साथ कहा—'अरे दुष्ट तू तो बड़ा ही पापी है,' स्वामी के कार्य में ध्यान नहीं देता है। अच्छा जो हो। मैं वही उपाय करूँगा जिससे स्वामी जाग जायँ। क्योंकि—

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम्।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया॥

अन्वयः—(जनः) अर्कम् पृष्ठतः हुताशनम् जठरेण स्वामिनं सर्वभावेन (तथा) परलोकम् अमायया सेवयेत् ॥ ६४ ॥

अर्कम्=सूर्यम्, पृष्ठतः=पृष्ठभागेन हुताशनम्—हुतमश्नातीति हुताशनस्तम्=अग्निम् जठरेण=अभिमुखेन सर्वभावेन=सर्वप्रकारेण परलोकम्=स्वर्गम् अमायया=निष्कपटतया सेवयेत्=इत्यस्य सर्वत्रान्वयः ॥

सूर्य का सेवन पीठ देकर करना चाहिए, (सूर्य की ओर पीठ कर धूप लेनी चाहिए) अग्नि का सेवन पेट द्वारा करना चाहिए (आग सामने करके तापना चाहिए) स्वामी की सेवा सभी प्रकार से करनी चाहिए और परलोक का सेवन माया छोड़ कर करना चाहिए ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान्। ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास। तेनासौ पञ्चत्वमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'पराधिकारचर्चाम्' इत्यादि। पश्य। पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः। स्वनियोगचर्चा क्रियताम्। (विमृश्य)। 'किंत्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम्। यत आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति। दमनकः सरोषमाह—'कथमाहारार्थी भवान् केवलं राजानं सेवते। एतदयुक्तमुक्तं त्वया। यतः—

अतीव=उच्चस्वरेण पुनः पुनः चीत्कारशब्दं कृतवान्—चीत्कृतवान्। प्रबुद्धः=जागरितः निद्राभङ्गकोपात्—निद्राया भङ्गः न भ. कोपस्तस्मात्=जागरणजन्यकोपात्, लगुडेन=दण्डेन ('लाठी') तेन लगुडताडनेन असौ=गर्दभः पञ्चत्वमगमत्=मृतः। अन्वेषणम्=अनुसन्धानम्, अस्मन्नियोगः=अस्माकमधिकृतकार्यम् (ड्यूटी)। आवयोः=मम तव च भक्षितशेषाहारः=भुक्तावशिष्टं भोज्यम् प्रचुरः=पर्याप्तः (काफी) आहारार्थी=भोजनाभिलाषुकः। अयुक्तम्=अनुचितम् ॥

ऐसा कहकर वह अत्यन्त जोर से शब्द करना प्रारम्भ किया जिससे वह धोबी उस रेंकने से जाग पड़ा और नींद टूट जाने के कारण क्रोध से उठकर गदहे को डंडे से पीटने लगा, जिससे वह मर गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि दूसरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा, आदि। पशुओं की टोह लगाना ही हम लोगों का काम है। अपने काम की बात करो। (विचार करके) किन्तु आज हमें उसकी चर्चा की भी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम लोगों के खाने से बचा हुआ भोजन अभी पर्याप्त है।' दमनक ने क्रोध के साथ कहा—'क्या तुम केवल भोजन पाने के लिए ही राजा की सेवा करते हो। यह तो तुमने अनुचित कहा है। क्योंकि—

सुहृदामुपकारकारणाद्
द्विषतामप्यपकारकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधै-
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—सुहृदाम् उपकारकारणात्, द्विषताम्=शत्रूणाम् अपि अपकारकारणात् बुधैः नृपसंश्रय इष्यते, कः (जनः) केवलम् जठरम् न बिभर्ति ॥ ३५ ॥

सुहृदाम्=मित्राणाम्, उपकारकारणात्=उपकाराय, द्विषताम् = शत्रूणाम्, अपकारकारणात्=अपकाराय हानये इत्यर्थः, बुधैः=विद्वद्भिः, नृपसंश्रयः=राजाश्रयणम्, राजसेवेत्यर्थः, इष्यते=अभिलष्यते। जठरम्=उदरम्, बिभर्ति=पूरयति ॥

बुद्धिमान् लोग मित्रों का उपकार एवं शत्रुओं का विनाश करने के लिए ही राजा की सेवा करते हैं। वैसे अपना पेट कौन नहीं भर लेता ॥ ३५ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यस्य जीविते विप्राः, मित्राणि, बान्धवाः (च) जीवन्ति, तस्य जीवितम् सफलम् (अस्ति), आत्मार्थे कः (नरः) न जीवति ॥ ३६ ॥

यस्य=मनुष्यस्य, जीविते=जीवने, यस्मिन् जीवति सति इत्याशयः, विप्राः= ब्राह्मणाः, बान्धवाः=भ्रात्रादिपरिवाराः, सफलम्=सार्थकम्, आत्मार्थे=स्वार्थे ॥

जिसके जीवित रहने से ब्राह्मण, मित्र और भाई बन्धु जीवित रहें, उसी का जीवन सफल है। यों अपने लिए तो सभी जीवित रहते हैं ॥ ३६ ॥

अपि च—यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—यस्मिन् (नरे) जीवति (सति) बहवः (जनाः) जीवन्ति सः तु जीवतु । काकः अपि चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् न कुरुते किम् ? ॥ १७ ॥

बहवः=अनेके जनाः काकः=वायसः चञ्च्वा=चोंचसे 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियौ' इत्यमरः । स्वोदरपूरणम्=स्वजठरपूर्तिम् ॥

और भी—जिसके जीवित रहने पर बहुत से लोग जीवित रहते हैं वस्तुतः वही जीवित रहता है । नहीं तो कौवा भी क्या अपनी चोंचसे अपना पेट नहीं भर लेता है ? ॥ १७ ॥

अन्यच्च—पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।
कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ॥ १८ ॥

अन्वयः—कः अपि मानवः पञ्चभिः पुराणैः दासत्वम् याति कः अपि लक्षैः कृती (भवति) कः अपि लक्षैः न लभ्यते ॥ १८ ॥

कोऽपि=कश्चित् पुराणैः=पणैः (अशीतिवराटिकात्मकः पणो भवति—पैसा) दासत्वं याति=भृत्यो भवति लक्षैः—शतसहस्रसंख्याकैर्मुद्राभिः कृती=कृतार्थः ॥

देखो—कोई मनुष्य पाँच पैसे पर ही गुलाम बन जाता है कोई लाखों पैसे पर, किन्तु कोई-कोई लाखों पर भी नहीं प्राप्त होता अर्थात् गुलामी नहीं स्वीकार करता ॥ १८ ॥

अन्यच्च—मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।
प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः—मनुष्यजातौ तुल्यायाम् भृत्यत्वम् अतिगर्हितम् (अस्ति) तत्र अपि यः (भृत्यः) प्रथमः न (भवति) सः जीवत्सु गण्यते किम् ? ॥ १९ ॥

मनुष्यजातौ=मनुष्यत्वे भृत्यत्वम्=दासत्वम् अतिगर्हितम्=अतिशयेन निन्दितम्, तथापि तस्मिन् भृत्यत्वेऽपि यः=भृत्यः प्रथमः=मुख्यः भृत्येषु प्रधानम् इत्यर्थः जीवत्सु=प्राणधारकेषु जनेषु ॥

और भी—मनुष्य जाति में अपने समान व्यक्ति की नौकरी करना अत्यन्त निन्दनीय है । ऐसी दशा में सेवक होकर भी सेवा में सर्वप्रथम नहीं हुआ तो क्या उसकी गणना जीवितों में की जा सकती है ? ॥ १९ ॥

तथा चोक्तम्—वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम् ।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ २० ॥

अन्वयः—वाजिवारणलोहानाम् काष्ठपाषाणवाससाम् नारीपुरुषतोयानाम् (पारस्परिकम्) अन्तरम् महत् अन्तरम् (भवति) ॥ ४० ॥

वाजिवारणलोहानाम् = अश्वगजायसानाम्, काष्ठपाषाणवाससाम् = दारुशिलावस्त्राणाम्, नारीपुरुषतोयानाम्=स्त्रीपुरुषजलानाम्, अन्तरम्=भेद । अश्वादिषु परस्पर महान् भेदो भवति, नैव सर्वेऽपि समानरूपा भवन्तीत्याशय ॥

जैसे कहा भी गया है—घोडा, हाथी, लोहा, लकडी, पत्थर, कपडा, नारी-पुरुष और जल मे महान अन्तर होता है ॥ ४० ॥

तथाहि । स्वल्पमप्यतिरिच्यते—

स्वल्पमपि = पूर्वोक्ताश्वादीना साधारणमप्यन्तरम्, अतिरिच्यते = अधिक महत्त्वाधायक भवति ॥

फिर भी कभी-कभी छोटी वस्तु भी बडी मानी जाती है ।

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिन निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न भवेत्तस्य क्षुध॰ शान्तये ।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विप
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥४१॥

अन्वयः—श्वा स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम् निर्मांसम् अपि अस्थिकम् लब्ध्वा परितोषम् एति, (किन्तु तत्) तस्य क्षुध शान्तय न भवेत् । सिंह अङ्कम् आगतम् अपि जम्बुकम् त्यक्त्वा द्विपम् निहन्ति, कृच्छ्रगत अपि सर्व जन सत्त्वानुरूपम् फलम् वाञ्छति । ४१ ॥

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम्—स्वल्पेन=मात्राया न्यूनेन, स्नायुवसयो = वस्नमामेदसो, अवशेषेण = अवशिष्टांशेन, मलिनम् = मलयुक्तम्, निर्मांसम् = मांसरहितम्, अस्थिकम् = अस्थि (हड्डी), लब्ध्वा = प्राप्य, परितोषम् = सन्तोषम्, एति=प्राप्नोति । क्षुध = बुभुक्षाया, शान्तये=शमनाय । जम्बुकम्= शृगालम्, अङ्कम् = स्वक्रोडम्, अतिसमीपमित्यर्थं, आगतम्=स्वय प्राप्तम् निहन्ति=मारयति, द्विपम्=गजम्, कृच्छ्रगत =कष्टावस्था प्राप्तः, सत्त्वानुरूपम्= स्वबलानुकूलम् ॥

थोडी सी नसो और चर्बी से मैली मांस रहित हड्डी को ही पाकर कुत्ता सतुष्ट हो जाता है, यद्यपि उससे उसकी भूख शान्त नही होती है । किन्तु सिंह गोद में आए हुए गीदड को छोड कर हाथी को मारता है, क्योंकि सभी लोग कठिनाई मे पड जाने पर भी अपने पराक्रम के अनुकूल ही फल की इच्छा करते हैं ॥ ४१ ॥

अपरञ्च सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य—

सेव्यसेवकयोः=स्वामिदासयोः अन्तरम्=परस्परभेदम् ॥

और भी स्वामी सेवक का अन्तर देखो—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

अन्वयः—श्वा पिण्डदस्य (पुरोभागे) लाङ्गूलचालनम् अधश्चरणावपातम्, च भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनम् कुरुते तु गजपुङ्गवः धीरम् विलोकयति च चाटुशतैः भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

पिण्डदस्य—पिण्डं ददातीति पिण्डदस्तस्य=ग्रासदस्य भोजनदातुः स्वामिन इति यावत्, लाङ्गूलचालनम्=पुच्छभ्रामणम् अधश्चरणावपातम् = चरणयोरवपतनम् निपत्य=लुठित्वा वदनोदरदर्शनम्=स्वमुखस्य स्वजठरस्य च प्रदर्शनम्। गजपुङ्गवः=गजराजः धीरम् = मन्दम् विलोकयति = पश्यति चाटुशतैः=नानाचाटुकारैः प्रियभाषणैः । अनेन शुनो गजस्य च स्वभावप्रदर्शनेन नीचस्य उच्चस्य च महदन्तरमिति सूचितम् ॥

कुत्ता टुकड़ा देने वाले स्वामी के आगे अपनी पूँछ हिलाता है उसके पैरों पर लोटता है पृथ्वी पर लोट कर उसे अपना पेट तथा मुँह दिखाता है; किन्तु गजराज अपने स्वामी को बड़ी गम्भीरता से देखता है और सैकड़ों खुशामद के बाद उसके दिए हुए भोजन को ग्रहण करता है ॥ ४२ ॥

किञ्च—
यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—मनुष्यैः विज्ञानविक्रमयशोभिः अभज्यमानम् प्रथितम् यत् क्षणम् अपि जीव्यते तज्ज्ञाः इह तत् जीवितं प्रवदन्ति नाम (अन्यथा) काकः अपि [illegible] जीवति बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

यज्जीव्यते = यावत् जीव्यते क्षणमपि = क्षणमात्रमपि [illegible] यावत् [illegible] विज्ञानविक्रमयशोभिः—विज्ञानं च विक्रमश्च यशश्च [illegible] [illegible] तैः [illegible] इति विज्ञानविक्रमयशोभिः तैः अभज्यमानम् = पूर्णम्

अत एव प्रथितम्=प्रसिद्ध यथा स्यात्तथा जीव्यत इत्यनेन सम्बन्ध , तज्ज्ञा —तत् जानन्ति इति तज्ज्ञा =तद्विद , इह=ससारे, प्रवदन्ति = कथयन्ति, बलिम्=बलिदाने दीयमान भोज्यम्, धर्मशास्त्रेषु श्वाकाकादिभ्यो बलिप्रदानस्य विधिरुक्त । कलाकौशलपराक्रमकीर्तिभि पूर्णतया प्रसिद्ध जीवनमेव मानवाना वास्तविकं जीवनमस्ति, अन्यथा काकतुल्य मानवजीवन व्यर्थमिति भाव ।

और भी—ज्ञान, विक्रम एव कीर्ति से युक्त तथा लोगो में प्रसिद्ध होकर जो व्यक्ति एक क्षण भी जीवित रहता है, विद्वान लोग उसी को जीवित कहते हैं। यों तो कौवा भी बहुत दिनो तक जीवित रहकर बलि का अन्न खाया करता है ॥

अपरञ्च—यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च बन्धुवर्गे ।
किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—य (नर) आत्मजे दया न (कुरुते, कुरुते इत्यस्य अग्रेऽपि सम्बन्ध), च गुरौ न, च भृत्यवर्गे न, दीने न, च बन्धुवर्गे न, मनुष्यलोके तस्य जीवितफलेन किम् (अस्ति) ? काक अपि चिराय जीवति, च बलिं भुङ्क्ते ॥४४॥

आत्मजे=पुत्रे, गुरौ=मातापित्रादिगुरुजने, भृत्यवर्गे=सेवकसमूहे, दीने=दु खिते; बन्धुवर्गे=बान्धवसमूहे, तस्य=पूर्वोक्तपुत्रादिषु दयारहितस्य नरस्य, जीवितफलेन=जीवनेन ।

और भी—जो व्यक्ति पुत्र, गुरु, सेवको एव बन्धु बान्धवो के प्रति दया नहीं करता, इस मनुष्य लोक मे उसके जीवित रहने से क्या लाभ ? यो कौवा भी तो बलि का अन्न खा खाकर बहुत दिनो तक जीवित रहता है ॥ ४४ ॥

अपरमपि—अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य ।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः' ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अहितहितविचारशून्यबुद्धे बहुभि तिरस्कृतस्य च उदरभरणमात्रकेवलेच्छा पुरुषपशो च पशो का विशेष (अस्ति) ? ॥ ४५ ॥

हिताहितविचारशून्यबुद्धेः—हिताहितयोः=शुभाशुभयोः विचारेण=ज्ञानेन शून्या=हीना बुद्धिः=मतिर्यस्य स तस्य हिताहितज्ञानहीनस्येति भावः बहुभिः=अनेकैः श्रुतिसमयैः=शास्त्रसिद्धान्तैः समया सदाचारकार्यविशेष-सीमिति' इत्यमरः तिरस्कृतस्य=हीनस्य सदाचारकर्मविमुखस्य उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः=जठरपूर्तिमात्राभिलाषुकस्य, पुरुषपशोः—पुरुषेण पशुतुल्यस्य पशोः पश्वादिपश्वोः च को विशेषः=किमन्तरमस्ति किमप्यन्तरं नास्तीति भावः ।

और भी—अच्छे बुरे का विचार न कर सकने वाले अनेक शास्त्रों के ज्ञान तथा केवल अपना ही पेट भरने की इच्छा रखने वाले मनुष्य रूपी पशु तथा पशु में अन्तर ही क्या है ? ॥ ४५ ॥

करटको ब्रूते—'आवां तावदप्रधानौ । तदाऽऽवयोः किमनया विचारणया' दमनको ब्रूते—कियता कालेनामात्याः प्रधानतामप्रधानतां वा लभन्ते । यतः—

अप्रधानौ=अमुख्यौ कियता=कियत्परिमाणेन अमात्याः=मन्त्रिणः प्रधानताम्=मुख्यताम् ॥

करटक ने कहा—हम लोग तो प्रधान नहीं हैं । अतः हमें ऐसे विचारों से क्या लाभ होगा । दमनक ने कहा—बहुत दिनों के प्रयत्न के बाद ही साधारण मंत्री प्रधान अथवा अप्रधान पद प्राप्त करते हैं । क्योंकि—

न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा-
द्भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा ।
लोके गुरुत्वं विपरीततां वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४६ ॥

अन्वयः—इह कश्चित् (नरः) स्वभावात् कस्यचित् उदारः अभिमतः वा खलः न भवति (किन्तु) लोके स्वचेष्टितान्येव नरं गुरुत्वम् वा विपरीततां नयन्ति ॥ ४६ ॥

स्वभावात्=प्रकृतेः, उदारः=दाता महान् वा 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । अभिमतः=अभीष्टः खलः=दुर्जनः । गुरुत्वम्=गौरवम्, विपरीतताम्=लघुत्वम् स्वचेष्टितानि=आत्मनः कर्माणि नयन्ति=प्रापयन्ति ॥

कोई व्यक्ति अपने स्वभाव से ही संसार में किसी के प्रति उदार प्रिय एवं दुर्जन स्वभाव का नहीं होता है बल्कि उसके कार्य ही उसे महानता अथवा नीचता की ओर ले जाने वाले होते हैं ॥ ४६ ॥

किं च—आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—यथा शिला महता यत्नेन शैले आरोप्यते, (च) क्षणेन अध निपात्यते, तथा आत्मा गुणदोषयो महता यत्नेन आरोप्यते, क्षणेन निपात्यते च ॥

आरोप्यते=आरोह्यते, आत्मा=जीवात्मा, महतोद्योगेन शैलोपरि स्थाप्यमाना शिलेव जीवात्मा महाप्रयत्नेन गुणे आरोपितो भवति, तथा उपरितनभागाद् क्षणमात्रेणाध पात्या शिलेव जीवात्मा क्षणमात्रेण दोषयुक्तो विधीयते ॥

और भी—जैसे पत्थर की चट्टान पहाड़ पर बड़े यत्न के साथ चढ़ाई जाती है किन्तु वही नीचे की ओर बड़ी आसानी से गिरा दी जाती है, उसी प्रकार आत्मा बड़े प्रयत्न से गुणों पर पहुँचाई जाती और आसानी से दोषों में नीचे गिरा दी जाती है ॥ ४७ ॥

यात्यधोऽधः व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—नर स्वै एव कर्मभि कूपस्य खनिता यद्वत् प्राकारस्य कारक इव (क्रमश) अधो याति उच्चै व्रजति ॥ ४८ ॥

स्वैरेव कर्मभि =आत्मकृत्यैरेव, खनिता=खनक , यद्वत्=इव, प्राकारस्य=दुर्गादिचतुर्दिक्स्थभित्ते कारक =कर्त्ता ॥

मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही कुआँ खोदने वाले के समान तो नीचे जाता है और चहारदीवारी बनाने वाले के समान ऊपर पहुँचता है ॥ ४८ ॥

तद्भद्रम् । स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य ।' करटको ब्रूते—'अथ भवान् किं ब्रवीति ?।' स आह—'अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः कुतोऽपि कारणात्सचकित परिवृत्त्योपविष्टः ।' करटको ब्रूते—'किं तत्त्वं जानासि ।' दमनको ब्रूते—'किमत्राविदितमस्ति । उक्त च—

भद्रम्=वरम् । स्वयत्नायत्त =स्वकर्माधीन , कुतोऽपि=कस्माच्चिदपि, सचकित =भययुक्त , तत्त्वम्=वास्तविकताम् ॥

अत हे भाई, सभी की आत्मा अपने कर्मों के ही अधीन होती है । करटक ने कहा—'आप यह क्या कह रहे हैं ?' उसने कहा—'मेरे स्वामी पिंगलक किसी कारण से ही लौट कर अत्यन्त चकित भाव में बैठे हैं ।' करटक ने कहा—'तो क्या तुम इसका कुछ मतलब समझ रहे हो ।' दमनक ने कहा—इसमें कौन सी बात छिपी हो है । कहा भी है—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—उदीरितः अर्थः पशुना अपि गृह्यते चोदिताः हयाः च नागाः च वहन्ति पण्डितः जनः अनुक्तम् अपि ऊहति हि बुद्धयः परेङ्गितज्ञानफलाः (भवन्ति)

उदीरितः = कथितः अर्थः = विषयः पशुना = घोटकादिना पशुजनेन, नागाः = गजाः चोदिताः = प्रेरिताः ऊहति = तर्कद्वारा जानाति तर्कयति वा यावत् परेङ्गितज्ञानफलाः = अन्यदीयमानसिकभावबोधकारिकाः ॥

पशु भी कही हुई बातों को समझ लेता है। हाँका गए हुए घोड़े-हाथी भी सवारी ढोते हैं और पण्डित व्यक्ति बिना कहे हुए ही किसी बात को समझ लेते हैं। क्योंकि दूसरे के मनोभावों को जान लेना ही बुद्धि का फल होता है ॥४९॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ५० ॥

अन्वयः—आकारैः इङ्गितैः गत्या चेष्टया भाषणेन च नेत्रवक्त्रविकारेण अन्तर्गतम् मनः लक्ष्यते ॥ ५० ॥

आकारैः = आकृतिभिः इङ्गितैः = हृदयगतभावैः, गत्या = अतिविधिना चेष्टया हस्तादिसंचालनादिचेष्टया भाषणेन = कथनेन नेत्रवक्त्रविकारेण = चक्षुर्मुखविकारेण लक्ष्यते = परिचीयते अन्तर्गतं मनः = आन्तरिकभावः ॥

आकृति संकेत गति चेष्टा वाणी और मुख के परिवर्तन से मन का भाव ज्ञात हो जाती है ॥ ५० ॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि। यतः—

भयप्रस्तावे = स्वामिनो भयावसरे प्रज्ञाबलेन = बुद्धिबलेन आत्मीयं स्ववशम् ॥

इस भय की उपस्थिति के समय में अपनी बुद्धि के बल से इस स्वामी को अपना बना लूँगा।

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—य (नर) प्रस्तावसदृशम् वाक्यम् सद्भावसदृशम् प्रियम्, आत्मशक्तिसमम्, कोपम् जानाति, स पण्डित (अस्ति) ॥ ५१ ॥

प्रस्तावसदृशम्=अवसरानुकूलम्, वाक्यम्=वाक्कथनम्, सद्भावसदृशम्=सद्भावनोचितम्, प्रियम्=प्रियभाषणम्, आत्मशक्तिसमम्=स्वसामर्थ्यानुकूलम् ।

प्रसग के अनुसार बात चीत, सद्भाव के अनुकूल प्रेम तथा अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करना जो व्यक्ति जानता है वही पण्डित कहा जाता है ॥ ५१ ॥

करटको ब्रूते—'सखे, त्वं सेवानभिज्ञ. । पश्य—

सेवानभिज्ञ =सेवाकरणज्ञानहीन ॥

करटक ने कहा—मित्र ! तुम सेवा करना नही जानते । देखो—

अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते ।
आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः' ॥ ५२ ॥

अन्वयः—य तु अनाहूत विशेत्, अपृष्ट बहु भाषते, आत्मानम् भूपालस्य प्रीतम् मन्यते, स दुर्मति (अस्ति) ॥ ५२ ॥

अनाहूत =अनाकारित , विशेत्=गृहादौ गच्छेत्, अपृष्ट = अननुयुक्त (बिना पूछा गया), प्रीतम्=प्रियम्, दुर्मति =दुर्बुद्धि , बुद्धिहीन इति भाव ॥

जो बिना बुलाए निकट जाता है, बिना पूछे बहुत सी बातें करता है और अपने को राजा का प्रिय समझता है वह मूर्ख है ॥ ५२ ॥

दमनको ब्रूते—'भद्र, कथमहं सेवानभिज्ञः । पश्य ।

दमनक ने कहा— भाई मैं सेवा करना क्यो नही जानता ? देखो—

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दर वाप्यसुन्दरम् ।
यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—स्वभावेन सुन्दरम् असुन्दरम् वा अपि किमपि अस्ति ? यस्मै यत् एव (वस्तु) रोचते, तत् (वस्तु) तस्य सुन्दरम् अस्ति ॥ ५३ ॥

सुन्दरम्=मनोहरम्, रोचते=रुचिकर जायते । स्व स्वरुच्यनुसारमेव सर्वं वस्तु सर्वस्य जनस्य सदसद्वा ज्ञायते इति भाव ॥

कोई वस्तु स्वभाव से ही भली या बुरी नहीं होती बल्कि जिसमे जिसकी रुचि होती है, वही उसे भली लगती है ॥ ५३ ॥

यतः—यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हि यस्य यस्य (जनस्य) यः यः भावः (भवति) मेधावी (नर) तेन तेन अनुप्रविश्य तम् नरम् क्षिप्रम् आत्मवशम् नयेत् ॥ ५४ ॥

भावः = मनोऽभिप्रायः अनुप्रविश्य = तदनुकूलतया तं विश्वास्य मेधावी= विद्वान् आत्मवशं नयेत्=स्वस्य वशीभूतं कुर्यात् ॥

क्योंकि—प्रतिभाशाली मनुष्य को चाहिए कि जिसका जैसा भाव हो उसी के अनुसार उसके हृदय में घुस कर शीघ्र ही उसे अपने वश में कर ले ॥ ५४ ॥

अन्यच्च —कोऽग्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—(महीपतिना) अत्र कः (अस्ति) ? (इति पृष्टे) अहम् (अस्मि) सम्यक् आदेशय इति ब्रूयात्, यथाशक्ति महीपतेः आज्ञाम् अवितथाम् (च) कुर्यात् ॥ ५५ ॥

सम्यगादेशय=यथावदाज्ञापय अवितथाम्=सत्यां सफलामिति यावत् यथा- शक्ति=शक्त्यनुसारम् अन्यथं विफलम्— इति भावार्थोऽस्यश्लोकस्य ॥

और भी—राजा ज्यों ही 'यहाँ कौन है' इस प्रकार कहे' उस समय 'मैं हूँ आज्ञा दीजिए' इस प्रकार सेवक को कहना चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार राजा की आज्ञा व्यर्थ नहीं होने देना चाहिए ॥ ५५ ॥

अपरं च —अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—(य सेवक) अल्पेच्छु धृतिमान् प्राज्ञ छाया इव सदा अनुगत (सन्) आदिष्ट न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत् ॥ ५६ ॥

अल्पेच्छु=स्वल्पेच्छायुक्त धृतिमान्=धैर्ययुक्त प्राज्ञ=विद्वान्, छायेव द यथा छायेव=प्रभानुरूप वा अन्वनुगामी आदिष्ट=आज्ञप्त न विकल्पेत= इद कुर्यां न वा कुर्यामिति न विचारयेत् राजवसतौ—राजभवने ॥

और भी—थोड़े वस्तु की इच्छा करने वाला धैर्यशाली छाया के समान सदा अनुगामी है पीछे-पीछे चलने वाला और उसके आदेश का बिना विचारे पालन करने वाला बुद्धिमान ही राजा के पास रह सकता है ॥ ५६ ॥

करटको ब्रूते—'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी' । स चाह अस्त्वेवम् । तथाप्यनुजीविना स्वामिसांनिध्यमवश्यं करणीयम् । यत —

अनवसरप्रवेशात् = असमये गमनात्, अवमन्यते = अपमानं करोति। स्वामिसान्निध्यम्=स्वामिनः निकटे स्थितिम् ॥

करटक ने कहा—'सम्भवतः स्वामी बिना काम के ही पास गये हुए तुम्हारा कहीं अपमान न करे'। उसने कहा—ऐसा हो सकता है। किन्तु सेवक को स्वामी के निकट अवश्य रहना चाहिए। क्योंकि—

दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम्।
कैरजीर्णभयाद् भ्रातर्भोजनं परिहीयते ॥ ५७ ॥

अन्वयः—(यत्) दोषभीतेः अनारम्भः (भवति), तत् कापुरुषलक्षणम् (अस्ति), हे भ्रातः! अजीर्णभयात् भोजनम् कैः परिहीयते? ॥ ५७ ॥

दोषभीतेः=वातपित्तादिदोषजदुःखभयात्, अनारम्भः—कार्यस्य अप्रारम्भः, कापुरुषलक्षणम्=निन्द्यजनस्य चिह्नम्। अजीर्णभयात् = अजीर्णस्य भयहेतोः, भुक्तमन्नं जीर्णं भविष्यति नवेति भयकारणात्, परिहीयते=त्यज्यते ॥

किसी दोष के डर से जो कार्य ही नहीं प्रारम्भ करता वह तो कायर कहा जाता है। भला अपच के डर से सामने रक्खे हुए भोजन को कोई छोड़ देता है? ॥ ५७ ॥

पश्य—आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंगतं वा।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति' ॥ ५८ ॥

अन्वयः—नृपतिः विद्याविहीनम् अकुलीनम् वा असङ्गतम् आसन्नम् एव मनुष्यम् भजते, प्रायेण भूमिपतयः प्रमदाः च लताः यः पार्श्वतः वसति, तम् परिवेष्टयन्ति ॥ ५८ ॥

आसन्नम्=निकटस्थम्, अकुलीनम्=नीचवंशजम्, असङ्गतम्=अयोग्यम्, प्रायेण= प्रायशः, प्रमदाः=स्त्रियः, पार्श्वतः=पार्श्वभागे, निकटे इत्यर्थः, परिवेष्टयन्ति= भूमिपतयः अनुगृहीतं कुर्वन्ति, प्रमदाः आलिङ्गनं कुर्वन्ति, लताश्च आश्रयन्ति ॥

देखो—राजा अपने पास रहने वाले मनुष्य को ही याद रखता है, भले ही वह मनुष्य विद्या से रहित, अकुलीन अथवा मूर्ख ही क्यों न हो। क्योंकि राजा, स्त्रियाँ और लताएँ प्रायः उसी को अपनाती हैं जो उनके पास रहता है ॥ ५८ ॥

करटको ब्रूते—'अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान्।' स आह—'शृणु। किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि।' करटको ब्रूते—'किं तज्ज्ञानलक्षणम्।' दमनको ब्रूते—'शृणु।

वशयति—वशयिष्यति । अनुरक्तः—स्नेहयुक्तः । विरक्तः—विरागयुक्तः ॥

करटक ने कहा—'तो वहाँ जाकर आप क्या कहेंगे ? उसने कहा—'सुनो, पहले मैं यह मालूम करूँगा कि स्वामी मुझ पर प्रसन्न है अथवा मेरी उपेक्षा कर रहा है । करटक ने कहा— इसको जानने का क्या उपाय है' ? दमनक ने कहा—'सुनो—

दूरादवेक्षणं हासः संप्रश्नेष्वादरो भृशम् ।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५९ ॥

अन्वयः—दूरात् अवेक्षणम् हासः संप्रश्नेषु भृशम् आदरः परोक्षे अपि गुणश्लाघा प्रियवस्तुषु स्मरणम् ॥ ५९ ॥

अवेक्षणम्=अवलोकनम् संप्रश्ने=आलापादरपूर्वकं प्रश्नकरणम् परोक्षे=अप्रत्यक्षे गुणश्लाघा=गुणप्रशंसा स्मरणं—प्रियकरं वस्तु प्राप्य स्मृतिः । मदीयानि स्मारयन् तानि अपि सर्वं स्वामीत्यभिमानेन स्मरणम् ॥

दूर से ही देखना हँसना पूछने समय बहुत आदर दिखाना पीठ पीछे गुणों की प्रशंसा करना और प्रिय वस्तुओं में याद करना ॥ ५९ ॥

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम् ।
अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ६० ॥

अन्वयः—असेवके अनुरक्तिः दानम् च सप्रियभाषणम् च दोषे अपि गुणसंग्रहः (इत्येतानि) अनुरक्तस्य चिह्नानि (सन्ति) ॥ ६० ॥

असेवके=सेवाया अकर्तरि, अनुरक्तिः=अनुरागः दानं=प्रियभाषणपूर्वकं किञ्चित्प्रदानम् अनुरक्तस्य=स्नेहवतः दोषे=अपकार्ये गुणसंग्रहः=गुणानामेव दर्शनम्; (इति प्रायःप्रसिद्धार्थे वर्णितानि लक्षणानि स्नेहयुक्तस्य स्वामिनः सन्तीति बोध्यम्) ॥

सेवा न करने पर भी उसके प्रति प्रेम भाव रखना मीठी बातों के साथ कुछ देना और दोष में भी गुण ग्रहण करना यह प्रसन्न राजा के लक्षण हैं ॥ ६० ॥

कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम् ।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—मतिमान् नरः कालयापनम् आशानाम् वर्धनम् फलखण्डनम् विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयात् ॥ ६१ ॥

कालयापनम्—समयनिर्गमः (आज दूँगा कल दूँगा' इत्यादि कहकर समय टालना) आशानां वर्धनम् = वेतनवर्धनस्याशायाः सततं वर्धनम् फल-

खण्डनम्=जातेऽपि गले तन्निराकरणम्, विरक्तेश्वरचिह्नानि=विरक्तस्य स्वामिनो लक्षणानि ॥

और भी—बुद्धिमान को यह जान लेना चाहिए कि समय टालना, झूठी आशाएँ बढ़ाना और परिणाम को व्यर्थ कर देना—उदासीन राजा के लक्षण हैं ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति, तथा वदिष्यामि । यतः—

ज्ञात्वा = विदित्वा, ममायत्त =मदधीन , वदिष्यामि=कथयिष्यामि ॥

यह समझ कर जैसे यह मेरे वश मे हो वैसा ही कहूँगा । क्योंकि—

अपायसंदर्शनजां विपत्ति-
मुपायसदर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

अन्वयः—मेधाविन (नरा) नीतिविधिप्रयुक्ताम् अपायसदर्शनजाम् विपत्तिम् उपायसदर्शनजाम् सिद्धिम् पुर स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

अपायसदर्शनजाम्—अपायस्य=कार्यनाशस्य, संदर्शनात्=प्रदर्शनात् जायते= उत्पद्यते इति ताम्, उपायसदर्शनजाम्—उपायस्य=कार्यसिद्धे , सदर्शनात् जायते इति ताम्, मेधाविन = बुद्धिमन्तो जना , नीतिविधिप्रयुक्ताम् = नीति-द्वारेण सम्पादिताम्, पुर स्फुरन्तीमिव=प्रत्यक्षरूपेण भासमानामिव । बुद्धि-मन्तो जना नीत्या, एवकृते कार्यनाशेन विपत्ति तथा अनेनोपायेन करणे कार्य-सिद्धिर्भविष्यति इत्येवप्रकारेण स्वामिनोऽग्रे प्रत्यक्षदृश्यमानामिव बोधयन्ति ।

बुद्धिमान् नीतिशास्त्र की विधियों का उचित प्रयोग करके दोषों से उत्पन्न हानि और उपायों से होने वाली सिद्धि को सामने झलकती हुई सी दिखाते हैं ॥

करटको ब्रूते-'तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि । यत. ।

अप्राप्ते = अनागते, प्रस्तावे = अवसरे ॥

करटक ने कहा—फिर भी बिना प्रसग आए तो तुम कुछ भी न कह सकोगे ? क्योंकि—

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अप्राप्तकालवचनम् ब्रुवन् बृहस्पति. अपि बुद्ध्यवज्ञानम् च शाश्वतम् अपमानम् लभते ॥ ६३ ॥

अप्राप्तकालवचनम्—अप्राप्तः कालो यस्य तच्च तद्वचनम् = असामयिकवचनम्, पुरुषपरिभवम्=पुरुषपराभवम्, अपमानम्—अपमानम्=पराभवं च ॥

बृहस्पति भी बिना प्रसंग आए ही कोई बात कहने से मूर्ख समझे जाते हैं और उनका सर्वदा अनादर होने लगता है ॥ ५३ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र, मा भैषीः। नाहमप्राप्तावसरं वचनं वदिष्यामि। यतः—

दमनक ने कहा—'मित्र डरो मत मैं बिना अवसर आए कोई भी बात नहीं कहूँगा। क्योंकि—

> आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च।
> अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ५४ ॥

अन्वयः—आपदि उन्मार्गगमने च कार्यकालात्ययेषु (सत्सु) अपृष्टेन अपि हितमिच्छता भृत्येन वक्तव्यम् ॥ ५४ ॥

आपदि = स्वामिनो विपत्काले उन्मार्गगमने = कुमार्गगमने कार्यकालात्ययेषु=कार्यसमयातिक्रमणेषु अपृष्टेन=अननुयुक्तेन हितमिच्छता=हितैषिणा ॥

आपत्ति में पड़ने बुरे मार्ग में जाते रहने तथा काम का समय बीत जाने पर स्वामी का हित चाहने वाले सेवक का कर्तव्य है कि बिना पूछे ही उचित बातें कह दे ॥ ५४ ॥

यदि च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ममानुपपन्नम्। यतः—

प्राप्तावसरेण=प्राप्तावसरेण (मौका पाकर) मन्त्रः=उचितपरामर्शः, अनुपपन्नम्=असिद्धम्, व्यर्थमिति यावद् ॥

यदि अवसर पाकर भी मैं उसे उचित सलाह न दूँ तो मेरा मन्त्रित्व ही व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि—

> कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः।
> स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च ॥ ५५ ॥

अन्वयः—(पुरुषः) येन वृत्तिं कल्पयति च लोके सद्भिः प्रशस्यते, स गुणः तेन रक्ष्यः च संवर्धनीयः ॥ ५५ ॥

कल्पयति = कुरुते अर्जने स्वस्य येन=येन गुणेन वृत्तिम्=जीविकाम्, प्रशस्यते = प्रशंसनीयो जायते सद्भिः = सज्जनैः, रक्ष्यः = रक्षणीयः संवर्धनीयः=वर्धयितुं योग्यः ॥

जिस गुण से जीविका चलती है और जिससे संसार में सज्जनोंद्वारा प्रशंसा होती है, गुणी मनुष्य को उस गुण की रक्षा करनी चाहिए और उसे बढ़ाते रहना चाहिए ॥ ६५ ॥

'तद्भद्र ! अनुजानीहि माम् । गच्छामि ।' करटको ब्रूते-'शुभमस्तु । शिवास्ते पन्थानः । यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्' इति । ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः ।

अनुजानीहि माम्=स्वामिसमीपं गन्तुं मामाज्ञापय । अनुष्ठीयताम् = विधीयताम्, त्वयेति शेष । विस्मित इव=आश्चर्यितवत्, सभयवत् इत्यर्थं ॥

अत भद्र, मुझे आज्ञा दो । मैं जा रहा हूँ । करटक ने कहा—तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो । जाओ, अपनी इच्छा के अनुसार काम करो । इसके पश्चात् दमनक कुछ चकित सा होकर पिंगलक के समीप गया ।

अथ दूरादेव सादरं राज्ञा प्रवेशितः साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणिपत्योपविष्टः । राजाऽऽह—'चिराद् दृष्टोऽसि' । दमनको ब्रूते—'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, तथापि प्राप्तकालमनुजीविना सांनिध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि । किञ्च—

सादरम्=आदरपूर्वकम्, प्रवेशितः=कारितान्तःप्रवेशः, साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणिपत्य = साष्टाङ्गं पतित्वा प्रणम्य । श्रीमद्देवपादानाम् = भवच्चरणानाम् भवतामित्यर्थः, प्राप्तकालम्=अवसरे प्राप्ते, अनुजीविना = सेवकेन, सांनिध्यम्= स्वामिनिकटगमनम् ॥

राजा ने उसे दूर ही से आदर के साथ अपने पास बुलाया । वह साष्टाङ्ग प्रणाम करके बैठ गया । राजा ने कहा—बहुत दिनों के बाद दिखाई पड़े । दमनक ने कहा—यद्यपि हमारे जैसे तुच्छ सेवक की स्वामी को कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी सेवक को समय पड़ने पर स्वामी के पास अवश्य जाना चाहिए । इसी नाते आया हूँ । क्योंकि—

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्गवाक्पाणिमता नरेण ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! दन्तस्य निर्घर्षणकेन वा कर्णस्य कण्डूयनकेन तृणेन अपि ईश्वराणाम् प्रयोजनं भवति, (तर्हि) अङ्गवाक्पाणिमता नरेण किम् (वक्तव्यम्, तेन त्ववश्य प्रयोजनं भविष्यतीति भाव) ॥ ६६ ॥

निर्घर्षणकेन=सङ्घर्षणकृता (खोदनेवाले), कण्डूयनकेन=कण्डूयनकारिणा (खुजलानेवाले), ईश्वराणाम्=स्वामिनाम्, अङ्गवाक्पाणिमता = वचनहस्त-

पादस्पर्शेन । यदि [illegible] राज्ञो [illegible] प्रयोजनं [illegible] तदा [illegible] प्रयोजनं भवति [illegible]

हे राजन्, [illegible] और [illegible] के लिए राजाओं को [illegible] भी आवश्यकता पड़ जाती है तो फिर [illegible] हाथ [illegible] मनुष्य की तो [illegible] क्या है ? ॥ ६६ ॥

यद्यपि चिरकालपरीक्षितस्य देवपादेषु बुद्धिमतामपि [illegible] न श्रद्धेयम् । यतः—

[illegible] ॥

[illegible]

कर्तव्यमन्यायत्व च [illegible] यदि [illegible] ।

[illegible] ॥

अन्वयः—[illegible] (पवन) [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ६७ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ६८ ॥

[illegible]

मणि =रत्नम्, लुठति = धारित तिष्ठति । यदि मणिकाचयोरनुचितस्थाने ग्रहणेनापि तयोर्गुणं नाल्पमपि हीयते इत्यर्थ. ॥

यदि मणि को पैरो पर डाल दिया जाय और कांच को शिर पर धारण कर लिया जाय तो भी जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। कांच (शीशा) काँच ही रहेगा और मणि मणि ही रहेगी ॥ ६८ ॥

अन्यच्च—निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ६९ ॥

अन्वयः—यदा राजा निर्विशेष' (सन्) सर्वेषु सम वर्तते, यदा उद्यमसमर्थानाम् उत्साह परिहीयते ॥ ६९ ॥

निर्विशेष =गुणतारतम्यस्य अज्ञ , सर्वेषु=समस्तेषु, गुणवत्सु गुणहीनेषु चेत्यर्थं , उद्यमसमर्थानाम्=उद्योगिनाम्, परिहीयते=हीनो भवति ॥

और भी—जब राजा सेवक की विशेषताओ पर ध्यान दिए विना ही सभी के साथ समान व्यवहार करता है तो उद्यमी सेवक का उत्साह ठढा पड जाता है ॥

किञ्च—त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७० ॥

अन्वयः—राजन् ! उत्तमाधममध्यमा (इति) त्रिविधा पुरुषा' (भवन्ति, अत राजा एतान् त्रिविधेषु एव कर्मसु तथा एव योजयेत् ॥ ७० ॥

त्रिविधा = त्रिप्रकारा , उत्तमाधममध्यमा = श्रेष्ठा नीचा साधारणाश्च । नियोजयेत्—नियुक्तान् कुर्यात्, त्रिविधेषु=उत्तमनीचसाधारणेषु ॥

और भी—हे राजन् ! मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । इस लिए इन तीनो प्रकार के मनुष्यो को तीन प्रकार के कार्यो—उत्तम, मध्यम और अधम मे ही लगाना चाहिए ॥ ७० ॥

यतः—स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
नहि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—भृत्या आभरणानि च स्थाने एव नियोज्यन्ते, पादे चूडामणि शिरसा नूपुरम् नहि कृतम् (भवति) ॥ ८१ ॥

स्थाने=योग्यस्थाने आभरणानि = अलङ्काराः चूडामणिः = शिरोभूषणम्, नूपुरम् = चरणभूषणम् (पादयोः पैजनी)

और भी—सेवक और आभूषण को उचित स्थान ही पर नियुक्त करना चाहिए क्योंकि चूड़ामणि पैर में और नूपुर सिर पर कभी नहीं धारण किया जा सकता है ॥ ७१ ॥

अपि च—कनकभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते ।
न स विरौति न चापि न शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७२ ॥

अन्वयः—यदि कनकभूषणसंग्रहणोचितः मणिः त्रपुणि प्रतिबध्यते स न विरौति न न शोभते इति न (किन्तु) योजयितुः वचनीयता । (भवति) ॥७२॥

कनकभूषणसंग्रहणोचितः—स्वर्णालङ्कारे धारयितुं योग्यः त्रपुणि=सीसके, शुक्लवर्णधातुविशेषे (रांगा) नामके विरौति=विरावं करोति तथापि न शोभते इति न अपि तु शोभत एव । योजयितुः = बन्धुः भूषणे योजकस्य वचनीयता= निन्दा ॥

और भी—सोने के आभूषण में जड़ी जाने के योग्य मणि यदि रांगे में जड़ दी जाय तो न तो वह रोती है और शोभा नहीं बढ़ाती यह बात नहीं है किन्तु शोभा बढ़ाती ही है इससे तो उसके जड़नेवाले की ही निन्दा होती है ॥

अन्यच्च—मुकुटे रोपिताः काचाश्चरणाभरणे मणिः ।
नहि दोषो मणेरस्ति किन्तु साधोरविज्ञता ॥ ७३ ॥

अन्वयः—(यदि) मुकुटे काचः (च) चरणाभरणे मणिः रोपितः (भवति तदा) मणेः दोषः न हि अस्ति किन्तु साधोः अविज्ञता (भवति) ॥ ७३ ॥

मुकुटे = शिरोधार्यभूषणविशेषे रोपिताः = खचिताः (जड़ा गया) चरणाभरणे = पादभूषणे नूपुरादौ साधोः = वणिजः (जौहरी) अविज्ञता = विविवेकमहीनता ॥

और भी—यदि मुकुट में काँच और पैर के गहने में मणि जड़ दी जाय तो इसमें मणि का कोई भी दोष नहीं । बल्कि ऐसा करने वाला जौहरी ही मूर्ख समझा जायगा ॥ ७३ ॥

पश्य—बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम् ।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृप. ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अयम् बुद्धिमान् अनुरक्त , अयम् शूर , इत भयम् (अस्ति), इति भृत्यविचारज्ञ नृप भृत्यै आपूयते ॥ ७४ ॥

अनुरक्त = अनुरागपूर्ण , शूर = वीर , इत = अस्मात् भृत्यादिति शेष , इति = इत्थम्, भृत्यविचारज्ञ = भृत्यविचारज्ञानपूर्ण , आपूर्यते = परिपूर्णो भवति । बुद्धिमदादिभृत्यज्ञानवत नृपस्य समीप एव भृत्या सदा तिष्ठन्तीति भाव ॥

देखिये—यह सेवक बुद्धिमान् है, यह मुझमे अनुरक्त है, यह वीर है, इससे मुझे भय है—इस प्रकार सेवको के विषय मे ज्ञान रखने वाला स्वामी सर्वदा सेवको से भरा पूरा रहता है ॥ ७४ ॥

तथा हि—अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अश्व शस्त्रम् शास्त्रम् वीणा वाणी च नर च नारी (एते) पुरुषविशेष प्राप्य योग्या च अयोग्या भवन्ति ॥ ७५ ॥

पुरुषविशेषम् = योग्यमयोग्य वा नरम् ॥

जैसा कि—घोडा, हथियार, शास्त्र, वीणा, वाणी, पुरुष और स्त्री—ये सब योग्य या अयोग्य पुरुष के हाथों में पड कर योग्य या अयोग्य वन जाते हैं ॥७५॥

अन्यच्च—किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ।
भक्तं शक्तं च मां राजन्नवज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७६ ॥

अन्वयः—भक्तेन (परन्तु) असमर्थेन (भृत्येन) किम् (अस्ति) ?, अपकारिणा शक्तेन किम् (अस्ति) ?, हे राजन् ! (त्वम्) भक्तम् च शक्तम् माम् अवज्ञातुम् न अर्हसि ॥ ७६ ॥

भक्तेन = भक्तियुक्तेन, असमर्थेन = सामर्थ्यहीनेन, शक्तेन = सामर्थ्ययुक्तेन, अपकारिणा = अपकारकारिणा, अवज्ञातुम् = तिरस्कर्तुम्, अर्हसि = योग्योऽसि ॥

स्वामिभक्त होते हुए भी शक्तिहीन सेवक से कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार शक्तिशाली होते हुए भी बुरा चाहने वाले सेवक से भी कोई लाभ नही । इस लिए आप को स्वामिभक्त शक्तिसम्पन्न मेरे जैसे सेवक का निरादर करना उचित नहीं है ॥ ७६ ॥

यतः—अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजनः
ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये नहि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—राज्ञः अवज्ञानात् परिजनः मतिहीनः भवति ततः तत्प्रामाण्यात् बुधजनः समीपे न भवति बुधैः त्यक्ते राज्ये गुणवती नीतिः न भवति नीतौ विपन्नायाम् अवशम् सकलम् जगत् अवसीदति ॥ ७७ ॥

अवज्ञानात्=तिरस्कारात्, परिजनः=भृत्यसमूहः तत्प्रामाण्यात् = बुद्धिहीनपरिजनस्य प्रामाण्येन बुधजनः=विद्वज्जनः बुधैः त्यक्ते = विद्वद्रहिते गुणवती = प्रशस्तगुणयुक्ता विपन्नायाम् = नष्टायाम्, सकलम् = सर्वम्, सीदति = पीडितं भवति नश्यतीति यावत् ॥

क्योंकि—राजा के तिरस्कार करने से सेवक बुद्धिहीन हो जाता है जिससे उन्हीं को प्रमाण मान कर विद्वान् लोग उसके समीप ही नहीं जाते और बुद्धिमानों के द्वारा छोड़े गये राज्य में नीति गुणशालिनी नहीं होती तथा नीति के दूषित हो जाने से सारी प्रजा उच्छृङ्खल होकर नष्ट हो जाती है ॥ ७७ ॥

अपरञ्च—जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम् ।
नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७८ ॥

अन्वयः—जनपदाः नृपार्चितम् जनम् नित्यम् अर्चयन्ति यः तु नृपेण अवमतः सः सर्वैः अवमन्यते ॥ ७८ ॥

जनपदाः=देशवासिनः सर्वे, नृपार्चितम् = राज्ञा सत्कृतम्, अवमतः = अनादृतः अवमन्यते = अनाद्रियते ॥

और भी—हे राजन् राजा द्वारा सम्मानित व्यक्ति का प्रजा भी सम्मान करती है किन्तु जो राजा से अपमानित होता है वह सभी लोगों द्वारा अपमानित होता है ॥ ७८ ॥

किञ्च—बालादपि गृहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—मनीषिभिः युक्तम् उक्तम् बालात् अपि गृहीतव्यम् रवेः अविषये किम् प्रदीपस्य प्रकाशनम् न (युज्यते) ? ॥ ७९ ॥

वालात्=वालकात्, युक्तम्=योग्यम्, उक्तम्=कथित वचनम्, मनीषिभि=बुद्धिमद्भि, रवेरविषये=सूर्येऽविद्यमाने, प्रदीपस्य=दीपकस्य, प्रकाशनम्=प्रकाश, सूर्याभावे दीपप्रकाशग्रहणवद्विद्वज्जनोक्त्यभावे वालकोक्तमप्युचितवचनं ग्रहणीयमेवेत्याशय ॥

और भी—विद्वानों को वालक द्वारा भी कही गई उचित बात मान लेनी चाहिए। जहाँ सूर्य का प्रकाश काम नहीं देता वहाँ क्या दीपक नहीं जलाया जाता? ॥ ७९ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्र दमनक! किमेतत्? । त्वमस्मदीयप्रधानामात्यपुत्र इयन्तं कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि । इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि ।' दमनको ब्रूते—'देव, पृच्छामि किञ्चित् । उच्यताम् । उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मित इव तिष्ठति ।' पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्रमुक्तं त्वया । किन्त्वेतद्रहस्यं वक्तुं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति । तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि । शृणु । सम्प्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम् । अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि । तथा च श्रुतो मयापि महानपूर्वशब्दः । शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता वलेन भवितव्यम् ।' दमनको ब्रूते—'देव! अस्ति तावदयं महान् भयहेतुः । स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः । किन्तु स किमन्त्री यः प्रथमं भूमित्यागं पश्चाद्युद्धं चोपदिशति अस्मिन् कार्यसन्देहे भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्यः । यतः—

भद्र=कल्याणिन्!, अस्मदीयप्रधानामात्यपुत्र—अस्मन्मुख्यमन्त्रिसुत, इयन्त काल यावत्=एतावत्कालपर्यन्तम्, कुतोऽपि=कस्माच्चित्, खलवाक्यात्=दुर्जनोक्ते। यथाभिमतम्=स्वामीष्टानुसारम् । उदकार्थी=जलाभिलाषी स्वामी=प्रभु, भवानिति यावत् किमिति=कथम्, विस्मित इव=भीतवत्, भद्रम्=सम्यक् । रहस्यस्य=गुप्तविषयस्य, विश्वासभूमि=विश्वासस्थानम् । निभृतम्=एकान्तम्, निर्जनमिति भाव । सम्प्रति=अस्मिन् समये, अपूर्वसत्त्वाधिष्ठितम्—अपूर्वेण=नवागन्तुकेन, सत्त्वेन=जीवेन, अधिष्ठितम्=कृताधिष्ठानम्, अत्र वने कोऽपि नवीनो जन्तुस्तिष्ठतीति यावत् । श्रुत=आकर्णित, अपूर्वशब्द=अश्रुतपूर्वो ध्वनि, शब्दानुरूपेण=ध्वन्यनुसारम्, प्राणिन=जन्तो, भयहेतु=भयस्य कारणम्, आकर्णित=श्रुत । भूमित्यागम्=निवासस्थानत्यागम्, उपादिशति=मन्त्रयति, भृत्यानाम्=सेवकानाम् उपयोग=उपयोगिता ॥

पिंगलक ने कहा—भद्र दमनक, यह क्या? तुम हमारे प्रधानमंत्री के पुत्र

हो। पता नहीं किस दुष्ट की बात में पड़कर इसने किसी तरह तुम नहीं आये। अब तुम अपनी बात कहो। दमनक ने कहा—देव मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूँ। यह बताइए कि आप पानी पीने तो गए, किन्तु बिना पानी पिए ही क्यों इस प्रकार चकित-सा होकर बैठे हैं? पिङ्गलक ने कहा—'तुमने ठीक ही कहा है किन्तु इस रहस्य को बताने के लिए कोई विश्वासपात्र ही नहीं है फिर भी मैं तुमसे ये कह रहा हूँ। सुनो—इस समय इस जंगल में कोई अपूर्व जानवर आ गया है अतः मुझे यह स्थान छोड़ देना चाहिए। इसी कारण मैं चकित हूँ। मैंने भी उसका महान् अपूर्व शब्द सुना है। शब्द के अनुसार तो उस प्राणी को बहुत ही बलवान् होना चाहिए। दमनक ने कहा—'देव यह तो बड़े ही भय का कारण है। यह शब्द हमलोगों ने भी सुना है। किन्तु वह मंत्री कैसा जो पहले स्थान छोड़ देने और फिर युद्ध करने की सलाह दे। ऐसे सन्देहात्मक विषय में सेवकों की उपयोगिता समझनी चाहिए। क्योंकि—

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥ ८० ॥

अन्वयः—नरः बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य च आत्मनः सारताम् आपन्निकषपाषाणे जानाति ॥ ८० ॥

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य—बन्धूनाम् = बान्धवानाम्, स्त्रीणाम्=पत्नीनाम्, भृत्यानां च = सेवकानां च वर्गस्य = समूहस्य सत्त्वस्य=बलस्य आत्मनः= स्वस्य आपन्निकषपाषाणे—आपद्=विपत्तिरेव निकषपाषाणः = सुवर्णपरीक्षक प्रस्तरः (कसौटी) सारताम् = श्रेष्ठताम्। यथा निकषप्रस्तरे सुवर्णस्य श्रेष्ठत्वं ज्ञायते तथैव आपत्ती बन्ध्वादीनां सारत्वं नरः जानाति इत्याशयः ॥

भाई, स्त्री सेवक वर्ग बुद्धि और अपने बल को आपत्तिरूपी कसौटी पर कस कर ही मनुष्य उसका तत्त्व समझ सकता है ॥ ८० ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र, महती शङ्का मां बाधते।' दमनकः पुनराह स्वगतम्—'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां सम्भाषसे।' प्रकाशं ब्रूते—'देव! यावदहं जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम्। किन्तु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां यस्मादापत्प्रतीकार काले दुर्लभः पुरुषसमवायः—

माम् = सिंहम्, बाधते = पीडयति। स्वगतम् = स्वमनसि तत्त्वतः चिन्तितम्। अन्यथा = तथापि नहि स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानम्, सम्भाषसे= कथयसि प्रकाशम्=स्पष्टम् किं यावज्जीवितम् करटकादयः = करटकप्रभृ

तय, आश्वास्यन्ताम्=आश्वासनीया, करटकादीनप्याश्वासयेत्यर्थं। यत = यस्मात् कारणात्, आपत्प्रतीकारकाले = विपन्निराकरणक्षणे पुरुषसमवाय = शक्तानुरक्तसेवकसमूहसमागम ॥

सिंह ने कहा—'भद्र, मुझे बहुत बडी शंका सता रही है। दमनक ने मन ही मन कहा—'ऐसा न होता तो राज्यसुख छोड कर दूसरे स्थान पर जाने की बात ही क्यो मुझसे कहते ?' उसने प्रकट रूप मे कहा—'राजन्! जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक आप को डरना नहीं चाहिए। किन्तु करटक इत्यादि को भी आश्वासन दे दें, क्योंकि विपत्ति का सामना करने के समय पुरुषो का एकत्रित होना कठिन होता है।

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ। करटको गच्छन् दमनकमाह—'सखे, किं शक्यप्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः?। यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः। पश्य—

सर्वस्वेन = सर्वविधधनेन, प्रचुरद्रव्येणेति यावत्, भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय = तद्भयं निराकरिष्यामि इति प्रतिज्ञां कृत्वा। शक्यप्रतीकार = निवारयितुं शक्य, भयहेतु = भयकारणम्, भयोपशमम् = भयनिवारणम्, प्रतिज्ञाय = प्रतिज्ञां कृत्वा, महाप्रसाद = स्वामिदत्त श्रेष्ठ पुरस्कार। अनुपकुर्वाण = उपकारमकुर्वन्, उपायनम् = उपहारम् (भेंट) ॥

इसके पश्चात् दमनक और करटक राजा से भली भाँति सम्मानित होकर भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके चले। करटक ने चलते समय दमनक से कहा—मित्र, भय का कारण दूर हो सकने योग्य है अथवा नहीं—विना इसे समझे ही भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके क्यो तुमने इन बडे पुरस्कार को ले लिया? क्योंकि विना उपकार किए किसी का पुरस्कार नहीं लेना चाहिए, और विशेष कर राजा का तो अवश्य नहीं। देखो—

यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—यस्य प्रसादे पद्मा च पराक्रमे विजय आस्ते, च क्रोधे मृत्युः वसति स हि सर्वतेजोमय (अस्ति)

यस्य=नृपस्य, प्रसादे=प्रसन्नतायाम्, पद्मा = लक्ष्मी, आस्ते=वर्तते, यस्मिन् प्रसन्ने लक्ष्मीर्भवति इत्यर्थं, मृत्यु =मरणम्, सर्वतेजोमय =समस्ततेजोयुक्त ॥

जिसकी कृपा से लक्ष्मी, पौरुष से विजय तथा क्रोध से मृत्यु का निवास होता है। इसी से वह सभी तेजों से पूर्ण होता है ॥ ८१ ॥

तथा हि—बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८२ ॥

अन्वयः—(अयम्) मनुष्यः (अस्ति) इति (विचिन्त्य) बालः अपि भूमिपः न अवमन्तव्यः हि एषा महती देवता नररूपेण तिष्ठति ॥ ८२ ॥

अवमन्तव्यः=तिरस्करणीयः। भूमिपः=राजा। महती=अनुपमशक्तियुक्ता श्रेष्ठा ॥

जैसा कि—बालक राजा को भी मनुष्य समझ कर उसका निरादर नहीं करना चाहिए। वह तो एक बड़ा देवता होता है जो मनुष्यरूप से पृथ्वी पर निवास करता है ॥ ८२ ॥

दमनको विहस्याह—'मित्र ! तूष्णीमास्यताम्। ज्ञातं मया भयकारणम्। बलीवर्दनर्दितं तत्। वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः। किं पुनः सिंहस्य।' करटको ब्रूते—'यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति नापनीतः।' दमनको ब्रूते—'यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात्। अपरञ्च—

तूष्णीमास्यताम् = त्वया मौनेन स्थीयताम्। बलीवर्दनर्दितम्=वृषभगर्जनम्। भक्ष्याः=भोज्याः। स्वामित्रासः=स्वामिनो भयम्, अपनीतः=दूरीकृतः। मुच्यते=दूरीक्रियते ॥

दमनक ने हँसकर कहा—'मित्र चुप रहो। मैंने भय का कारण समझ लिया है। यह बैल का शब्द है। बैल हम लोगों का भी भोजन है फिर सिंह की तो बात ही क्या?' करटक ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो फिर तुमने स्वामी के भय को वहीं क्यों नहीं दूर कर दिया?' दमनक ने कहा—'यदि स्वामी का भय वहीं दूर कर देता तो यह इतना बड़ा पुरस्कार कैसे प्राप्त होता? और भी—

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—भृत्यैः कदाचन स्वामी निरपेक्षः न कर्तव्यः। प्रभुं निरपेक्षं कृत्वा भृत्यः दधिकर्णवत् स्यात् ॥ ८३ ॥

निरपेक्षः = अपेक्षाहीनः। कदाचन=कदाचित्। दधिकर्णवत्—दधिकर्णेन तुल्यम् इति विग्रहे तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः इति वतिप्रत्ययः=दधिकर्ण नामक बिडाल-वत्। स्यात् = भवेत् ॥

सेवक को चाहिए कि वह कभी भी स्वामी को निरपेक्ष (सेवक को अनावश्यक समझने वाला) नही करे, क्योंकि स्वामी को निरपेक्ष बना देने से सेवक की दशा दधिकर्ण के समान हो जाती है ॥ ८३ ॥

करटकः पृच्छति–'कथमेतत् ?' दमनकः कथयति—

करटक ने पूछा—'यह कैसे ?' दमनक ने कहा—

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः। तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्रं कश्चिन्मूषिकः प्रत्यहं छिनत्ति। ततः केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषिकमलभमानोऽचिन्तयत्—

महाविक्रम =अतीव पराक्रमी, पर्वतकन्दरम्=गिरिगुहाम्, अधिशयानस्य= सुप्तस्य, केसराग्रम्=ग्रीवोपरिस्थवालसमूहाग्रमित्यर्थ, लूनम् = छिन्नम्, विवरान्तर्गतम्=बिलस्याभ्यन्तरे प्रविष्टम्, अलभमान =अप्राप्नुवन्। विधेयम्=कर्तव्यम् ॥

भारत के उत्तरी प्रदेश में अर्बुदशिखर नाम के पहाड़ पर दुर्दान्त नाम का एक बड़ा बलवान् सिंह रहता था। पर्वत की गुफा में सोने के समय कोई चूहा नित्य उसके अयाल (गर्दन का बाल) का अगला भाग कुतर देता था। इस तरह अपने अयाल को कटा हुआ देखकर तथा बिल में रहने वाले चूहे को न पाकर क्रुद्ध सिंह ने विचार किया—

'क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते।
तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः' ॥ ८४ ॥

अन्वयः—य तु क्षुद्रशत्रु भवेत्, (स यदि) विक्रमात् न एव लभ्यते, (तर्हि) तम् आहन्तुम् तस्य सदृश सैनिक पुरस्कार्य ॥ ८४ ॥

क्षुद्रशत्रु =नीचो रिपु, विक्रमात्=पराक्रमेण, लभ्यते=प्राप्यते, तम्=क्षुद्ररिपुम्, आहन्तुम्=मारयितुम्, पुरस्कार्य =पुरस्कर्तव्य ॥

छोटा शत्रु बल से नहीं पकडा जा सकता है। उसे मारने के लिए उसी के समान छोटे सैनिक को पुरस्कृत करना चाहिए ॥ ८४ ॥

इत्यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा बिडालो यत्नेनानीय मांसाहारं दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः। अनन्तरं तद्भयान्मूषिकोऽपि बिलान्न निःसरति, तेनासौ सिंहोऽक्षतकेसरः सुखं स्वपिति। मूषिकशब्दं यदा यदा शृणोति, तदा तदा मांसाहारदानेन तं बिडालं संवर्धयति।

इत्यालोच्य=एवं विचार्य बिडालं=मार्जारं यत्नेन=प्रयत्नपूर्वकम् मांसाहारम्=मांसभोजनम् स्वकन्दरे=स्वावासगुहायाम्। तदनन्तरम्=सिंहेन बिडालस्य स्थापनानन्तरम् तद्भयात्=बिडालभयात्, मूषकोऽपि= अनिःसृतः सुखम्=सुखपूर्वकम् स्वपिति=सोते। मांसाहारदानेन = मांसभोजनं दत्त्वा संवर्धयति=पुष्टिकरणाद्योत्साहितं करोति॥

ऐसा विचार कर वह गाँव गया और बिलाव लेकर बड़े प्रयत्न से दधिकर्ण नामक बिलार को लाकर मांस का भोजन दे-देकर उसे अपनी गुफा में रख लिया। इसके पश्चात् चूहा भी उसके डर के कारण बिल से नहीं निकलता था। जिससे सिंह की गर्दन के बाल कटे जाने से बचने लगे और वह सुख की नींद सोने लगा। वह जब चूहे का आवाज सुनता तब मांस का भोजन दे देकर बिलार का पालन पोषण करता।

यदैकदा स मूषिकः क्षुधापीडितो बहिः सञ्चरन् बिडालेन प्राप्तो व्यापादितश्च। अनन्तरं स सिंहोऽनेककालं यावन्मूषिकं न पश्यति तद्रवमपि न शृणोति तदा तस्यानुपयोगाद् बिडालस्याप्याहारदाने मन्दादरो बभूव। ततोऽसावाहारविरहाद् दुर्बलो दधिकर्णोऽप्यवसन्नो बभूव। अतोऽहं ब्रवीमि—'निरपेक्षो न कर्तव्य' इत्यादि। ततो दमनककरटकौ संजीवकसमीपं गतौ। तत्र करटक स्तरुतले साटोपमुपविष्टः।

क्षुधापीडितः=भूखीव्याकुल सञ्चरन्=भ्रमन् व्यापादितः=हतः। अनेक-कालम्=चिरकालपर्यन्तम् तद्रवम्=मूषिकशब्दम् तस्य=दधि कर्णाख्यबिडालस्य अनुपयोगात्=उपयोगाभावात्, आहारदाने=भोजन प्रदाने मन्दादरः=शिथिलादर तरुतले=वृक्षाधोभागे साटोपम्=गर्वसहितम्॥

एक दिन चूहा भूख से व्याकुल होकर बाहर घूमते समय बिल्ली द्वारा पकड़ लिया गया और मार डाला गया। इसके बाद बहुत दिनों तक जब सिंह ने चूहे का नहीं देखा और न तो उसके शब्द ही को सुना तो दधिकर्ण बिलार की उपयोगिता न रह जाने पर भोजन देने में भी उपेक्षा करने लगा। जिससे वह न अन्न न मिलने के कारण दुर्बल हो गया और कुछ दिनों में मर गया। इसी लिए मैं कहता हूँ कि स्वामी को निरपेक्ष नहीं करना चाहिए इत्यादि। इसके बाद दमनक और करटक संजीवक के पास गए। वहाँ एक वृक्ष के नीचे करटक बड़े रोब दाब के साथ बैठ गया।

दमनकः सजीवकसमीपं गत्वाब्रवीत्—'अरे वृषभ ! एषोऽहं राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः। सेनापतिः करटकः समाज्ञापयति—' सत्वरमागच्छ। न चेदस्मादरण्याद् दूरमपसर। अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति। न जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति।' तच्छ्रुत्वा सजीवकश्चायात्। यतः—

अरण्यरक्षार्थम्=वनस्य रक्षायै, नियुक्त =अधिकृत। सत्वरम्=शीघ्रम्, न चेत्=अन्यथा, आगमनाभावे इत्यर्थ, अपसर=गच्छ। अन्यथा=मन्तिकटमागमनाभावे दूरमपसरणाभावे च विरुद्धम्=विपरीतम्। विधास्यति=करिष्यति। आयात्=आगत ॥

दमनक ने सञ्जीवक के पास जाकर कहा—अरे बैल ! मुझे राजा पिंगलक ने इस जगल की रखवाली करने के लिये नियुक्त किया है। सेनापति करटक ने आज्ञा दी है कि तुम शीघ्र ही उसके पास चलो। अन्यथा इस जगल को छोड कर दूर चले जाओ। नही तो तुम्हारी बडी बुरी दशा हो जायगी। पता नहीं क्रुद्ध होकर स्वामी क्या कर डालेंगे। यह सुनकर सञ्जीवक चला आया। क्योंकि—

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः।
पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—नरेन्द्राणाम् आज्ञाभङ्ग ब्राह्मणानाम् अनादर॰ नारीणाम् पृथक् शय्या (एतत्त्रयम्) अशस्त्रविहित वध (भवति) ॥ ८५ ॥

नरेन्द्राणाम्=नृपाणाम्, आज्ञाभङ्ग = आदेशस्य अपालनम्, पृथक्शय्या=पृथक्शयनम्, अशस्त्रविहित =शस्त्रप्रयोग विनैव कृत, वध =मृत्यु। आज्ञाभङ्गादिना नृपादयो विना शस्त्रप्रयोग म्रियन्ते, मृतकतुल्या भवन्तीत्याशय ॥

राजाओ की आज्ञा का उल्लघन करना, ब्राह्मणों का अनादर करना और स्त्रियो को अलग बिछौने पर सुलाना—ये बिना हथियार के की गयी हत्या है ॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः सभयमुपसृत्य साष्टाङ्गपातं करटकं प्रणतवान्। तथा चोक्तम्—

देशव्यवहारानभिज्ञ =देशव्यवहारज्ञानरहित, सभयम्=भययुक्तम्, उपसृत्य=निकट गत्वा, प्रणतवान्=ननाम ॥

इस लिए देशकाल के व्यवहार को न जानने वाले सञ्जीवक ने डर से निकट जाकर करटक को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। जैसा कि कहा भी है—

मतिरेव बलाद्गरीयसी यदभावे करिणामियं दशा।
इति घोषयतीव डिण्डिमः करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन् ॥८६॥

अन्वयः—बलात् मतिः एव गरीयसी (अस्ति) यदभावे करिणाम् इयम् दशा (भवति) करिणः हस्तिपकाहतः क्वणन् डिण्डिमः इति घोषयति इव ॥८६॥

बलात्=बलापेक्षया गरीयसी=अतिशयेन श्रेष्ठा यदभावे=यस्या मतेरभावे करिणाम्=गजानाम् इयं दशा=स्वस्य महाबलिसम्पन्नत्वेऽपि स्वल्पबलवत मानवस्य अधीनत्वरूपा अवस्था। घोषयति=घोषणां करोतीव डिण्डिमः=वाद्यविशेष हस्तिपकाहतः=महावतेन ताडितः क्वणन्=शब्दायमानः ॥

हाथी की पीठ पर रखे हुए नगाड़ा का पीट-पीटकर महावत द्वारा बजाने पर मानो वह नगाड़ा यह घोषणा करता है कि बल से बुद्धि ही बलवती होती है। उसी के अभाव में हाथियों की ऐसी दशा है (बली होते हुए भी वे मनुष्य की बुद्धि द्वारा ही उसके गुलाम बन जाते हैं) ॥ ८६ ॥

अथ संजीवकः साध्वसमाह—'सेनापते! किं मया कर्तव्यम्। तदभिधीयताम्। करटको ब्रूते—'वृषभ! अत्र कानने तिष्ठसि। अस्मद्देवपादारविन्दं प्रणम। संजीवको ब्रूते—'तदभयवाचं मे यच्छ। गच्छामि। करटको ब्रूते—शृणु रे बलीवर्द! अलमनया शङ्कया। यतः—

साध्वसम् = भयपूर्वकम्, अभिधीयताम् = कथ्यताम्। अत्र कानने = अस्मिन् वने तिष्ठसि = निवासं करोषि। अस्मद्देवपादारविन्दम् = अस्माकं नृपतेः चरणकमलम् प्रणम = प्रणामं कुरु। तावत् = प्रथमम् अभयवाचम् = अभयवचनम्, मे = मह्यं संजीवकाय यच्छ = देहि। अलमनया शङ्कया = इदृशीं शङ्कां न कुरु ॥

इसके बाद संजीवक ने डरते हुए कहा—'सेनापति बताइए, मैं क्या करूँ? करटक ने कहा—बैल यदि तुम इस जंगल में रहना चाहते हो तो हमारे स्वामी के चरणों में नमस्कार करो। संजीवक ने कहा—तो मुझे अभयदान दीजिए, मैं वहाँ चलता हूँ। करटक ने कहा—अरे बैल ऐसी शंका न करो। क्योंकि—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी ॥ ८७ ॥

अन्वयः—केशव शपमानाय चेदिभूभुजे प्रतिवाचम् न अदत्त केसरी घनध्वनिम् अनुहुङ्कुरुते गोमायुरुतानि न (अनुहुङ्कुरुते) ॥ ८७ ॥

प्रतिवाचम् = प्रत्युत्तरम्, केशव = कृष्ण, शपमानाय = गालिप्रदान कुर्वते, चेदिभूभुजे=शिशुपालाय। अनुहुङ्कुरुते=पश्चाद्हुङ्कृति करोति। घनध्वनिम्= मेघशब्दम्, गोमायुरुतानि=शृगालरुदितानि, केसरी=सिंह। बलवान् बलवत्स्वेव पराक्रम दर्शयति, न क्षुद्रेष्विति तात्पर्यम्।

भगवान कृष्ण ने गाली देने वाले शिशुपाल की बातो का कोई भी उत्तर नही दिया क्योकि सिंह बादलो का गरजना सुनकर ही गरजता है न कि गीदडो की बोली सुनकर ॥ ८७ ॥

अन्यच्च—तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचै प्रणतानि सर्वत.।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान्महत्येव करोति विक्रमम्' ॥ ८८ ॥

अन्वयः—प्रभञ्जन मृदूनि सर्वत नीचै प्रणतानि तृणानि न उन्मूलयति, समुच्छ्रितान् तरूनेव प्रबाधते, (यत) महान् महति एव विक्रम करोति ॥ ८८ ॥

तृणानि=घासान्, न उन्मूलयति=न उत्पाटयति, प्रभञ्जन =वात्या (आंधी), मृदूनि = कोमलानि, प्रणतानि = नम्रीभूतानि। समुच्छ्रितान्=अत्युन्नतान्, तरून्=वृक्षान्, प्रबाधते=त्रोटयति, उत्पाटयति वा॥

और—कोमल तथा सभी तरह झुकी हुई घासो को वायु कभी नही उखाडता। वह तो सिर ऊपर उठाने वाले पेडो को ही उखाडता है, क्योंकि बडे लोग बडो पर अपने बल का प्रयोग करते हैं ॥ ८८ ॥

ततस्तौ सञ्जीवकं कियद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ।

तौ = करटकदमनकौ, कियद्दूरे = स्वल्पदूरे॥

इसके बाद दोनों कुछ दूरी पर ही सञ्जीवक को बिठाकर पिङ्गलक के पास गए।

ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ। राजाऽऽह—'त्वया स दृष्ट.?।' दमनको ब्रूते—'देव, दृष्टः। किन्तु यद्देवेन ज्ञातं तत्तथा। महानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति। किन्तु महाबलोऽसौ तत' सज्जीभूयोपविश्य दृश्यताम्। शब्दमात्रादेव न भेतव्यम्। तथा चोक्तम्—

सादरम्=आदरपूर्वकम्, अवलोकितौ = दृष्टौ, देवम् = भवन्तम्। सज्जीभूय= सज्जितो भूत्वा, उपविश्य=उपवेशनं कृत्वा। शब्दमात्रात्=केवल शब्देन॥

राजा ने उन दोनों को बड़े आदर से देखा और वे दोनों भी प्रणाम करके बैठ गए। राजा ने कहा— क्या तुमने उसे देखा। दमनक ने कहा—'देव देखा तो अवश्य किन्तु आप जैसा समझते हैं वह वैसा ही बली है। वह आपका दर्शन करना चाहता है। किन्तु वह बहुत बलवान है। आप तैयार होकर बैठिए और देखिए, केवल उसके शब्द को ही सुनकर डर मत जाइएगा। जैसा कि कहा भी है—

'शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम्।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता॥ ८९॥

अन्वयः—शब्दकारणम् अज्ञात्वा शब्दमात्रात् न भेतव्यम् (यतः) शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवम् गता॥ ८९॥

अज्ञात्वा = अपरिज्ञाय शब्दकारणम् = शब्दस्य हेतुम्, कुट्टनी = [illegible] गौरवम्=महत्त्वम्॥

बिना शब्द का कारण जाने केवल शब्दमात्र से ही नहीं डरना चाहिए। शब्द का कारण जान लेने से ही एक कुटनी लोगों के आदर का पात्र बन गई थी॥

राजाऽऽह—'कथमेतत्?'। दमनकः कथयति—

राजा ने कहा—'यह कैसे?' दमनक ने कहा—

कथा ४

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम्। तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते। एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः। तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता। वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति। ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः प्रतिक्षणं घण्टारवश्च श्रूयते। अनन्तरं घण्टाकर्णः कुपितो मनुष्यान् खादति घण्टां च वादयतीत्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्यानवसरोऽयं घण्टानादः। तत् किं मर्कटा घण्टां वादयन्तीति स्वयं विज्ञाय राजा विज्ञापितः—देव यदि कियद्धनोपक्षयः क्रियते, तदाहमेनं घण्टाकर्णं साधयामि। ततो राज्ञा तस्यै धनं दत्तम्। कुट्टन्या च मण्डलं कृत्वा तत्र गणेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा स्वयं वानरप्रियफलान्यादाय वनं प्रविश्य फलान्याकीर्णानि। ततो घण्टां परित्यज्य वानराः

फलासक्ता बभूवुः। कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता सर्वजनपूज्याभवत्। अतोऽहं ब्रवीमि—शब्दमात्रान्न भेतव्यम्' इत्यादि। ततः संजीवकमानीय दर्शनं कारितवन्तौ। पश्चात्तत्रैव परमप्रीत्या निवसति।

ब्रह्मपुराख्यम्=ब्रह्मपुरनामकम्। तच्छिखरप्रदेशे=तस्य शिखरोपरिभागे, जनप्रवाद=लोकोक्ति। व्यापादित=हत। तत्पाणिपतिता—तस्य चौरस्य हस्ताद् भ्रष्टा, अनुक्षणम्=प्रतिक्षणम्। नगरजनै=नागरिकै, खादित=भक्षित, घण्टारव=घण्टाया ध्वनि, कुपित=क्रुद्ध। विमृश्य=विचार्य, अनवसर=असामयिक, घण्टानाद=घण्टाध्वनि। विज्ञापित=आवेदित। कियद्धनोपक्षय=स्वल्पधनव्यय, साधयामि=वशीकरोमि। तस्यै=कुट्टन्यै, मण्डलम्=तण्डुलकुङ्कुमादिचूर्णेन वृत्ताद्याकारम्, गणेशादिपूजागौरवम्=गणपत्यादिपूजनमहत्त्वम्, दर्शयित्वा=प्रदर्श्य, आकीर्णानि=यत्र तत्र प्रक्षिप्तानि (बिखेर दिया)। फलासक्ता.=फलग्रहणभक्षणतत्परा। सर्वजनपूज्या=समस्तमानवादरणीया परमप्रीत्या=महत्या प्रसन्नतया॥

श्री पर्वत के बीच मे ब्रह्मपुर नाम का नगर है। वहाँ के लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि उसकी चोटी पर घण्टाकर्ण नाम का राक्षस रहता था। एक बार घण्टा लेकर भागते हुए किसी चोर को सिंह ने मार डाला। उसके हाथ से गिरा हुआ घण्टा बन्दरो को मिल गया। वे बन्दर घण्टे को हर समय बजाया करते थे। जब नगरवासियो ने सिंह द्वारा खाए गए उस मनुष्य को देखा और हर समय घण्टे की आवाज सुनी तो वे लोग 'घण्टाकर्ण मनुष्यो को खाता है और घण्टा बजाता है' ऐसा कहते हुए वहाँ से भागने लगे। इसके बाद कराला नाम की कुटनी ने विचार किया कि इस घण्टे के असमय बजने मे कोई भेद है। उसने यह जान लिया कि घण्टे को बन्दर बजाते हैं और उसने राजा से निवेदन किया कि 'आप कुछ धन खर्च करें तो मैं घण्टाकर्ण को वश मे कर सकती हूँ।' राजा ने उसे धन दिया। कुटनी मण्डल बनाकर गणेशादि की पूजा करने का पाखण्ड करके स्वयं बन्दरों को अच्छे लगने वाले फल लेकर जंगल में गई और वहाँ उसने फलो को बिखेर दिया। तब घण्टे को छोड़कर बन्दर फल खाने में लग गए। और कुटनी घण्टे को लेकर नगर में चली आई तथा लोगों से सम्मानित हुई। इसीलिए मैंने कहा है कि—'केवल शब्द से नहीं डरना चाहिए' इत्यादि। इसके बाद संजीवक को वहाँ लाकर उन दोनो ने उसका दर्शन कराया। फिर वह वहीं बड़े प्रेम के साथ रहने लगा।

अथ कदाचित्तस्य पिङ्गलकस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंहः समा-

गतः। तस्यातिथ्यं कृत्वा सिंहमुपवेश्य पिङ्गलकस्तदाहाराय पशून् हन्तुं चलितः। अत्रान्तरे सञ्जीवको वदति—'देव अद्य हतमृगाणां मांसानि क्व?' राजाह—'दमनककरटकौ जानीतः।' सञ्जीवको ब्रूते—'ज्ञायतां किमस्ति नास्ति वा?' सिंहो विमृश्याह—'नास्त्येव तत्।' सञ्जीवको ब्रूते—'कथमेतावन्मांसं ताभ्यां खादितम्।' राजाह—'खादितं व्ययितमवधीरितं च। प्रत्यहमेष क्रमः।' सञ्जीवको ब्रूते—'कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैवं क्रियते?' राजाह—'मदीयागोचरेणैव क्रियते।' अथ सञ्जीवको ब्रूते—'नैतदुचितम्। तथा चोक्तम्—

सिंहस्य=पिङ्गलकस्य। आतिथ्यम्=अतिथिसत्कारम् उपवेश्य=उपवेशनं कारयित्वा (बैठा कर) तदाहाराय=स्तब्धकर्णभोजनाय। हतमृगाणाम्=मारितपशूनाम्, क्व=कुत्र अस्तीति शेषः। विमृश्य=विचार्य। एतावत्=इयत्परिमाणम्, व्ययितम्=व्ययीकृतम्, अवधीरितम्=तिरस्कृत्य क्षेपमिव विनाशितमित्यर्थः। प्रत्यहम्=प्रतिदिनम् एषः=अयम् क्रमः=परिपाटी। श्रीमद्देवपादानाम्=भवतामित्यर्थः अगोचरेण=अविषयेण भवतोऽविज्ञाप्येत्यर्थः।

कुछ दिनों के बाद वह सिंह का भाई स्तब्धकर्ण उसके घर आया। उसका आदरसत्कार करके उसे घर में बिठा कर पिङ्गलक उसके भोजन के लिए शिकार करने चला। इसी समय सञ्जीवक ने कहा—'स्वामी! आज मारे गए मृगों का मांस कहाँ हो गया?' राजा ने कहा—'दमनक और करटक जानें।' सञ्जीवक ने कहा—'तो मालूम कीजिए कि है या नहीं।' सिंह ने विचार कर कहा—'वह नहीं ही है।' सञ्जीवक ने कहा—'क्या इतना मांस वह दोनों खा गए।' राजा ने कहा—'कुछ खाया कुछ बाँटा और कुछ इधर-उधर में फेंक दिया। यह तो प्रतिदिन का क्रम है।' सञ्जीवक ने कहा—'तो क्या यह सब आप से छिपाकर किया जाता है।' राजा ने कहा—'हाँ यह सब मेरे अनजाने ही किया जाता है।' सञ्जीवक ने कहा—'यह तो ठीक नहीं है। कहा भी गया है—

नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किञ्चिदपि स्वयम्।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपते! ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे जगतीपते! आपत्प्रतीकारात् अन्यत्र भर्तुः अनिवेद्य स्वयम् किञ्चित् कार्यम् अपि न कुर्वीत ॥ ९० ॥

अनिवेद्य—निवेदनमकृत्वा प्रकुर्वीत=कुर्यात्, स्वयम्=आत्मना आपत्प्रतीकारादन्यत्र=विपत्तिनिवारणविषयं विना जगतीपते=राजन्! ॥

स्वामी को विना वताए स्वय कुछ भी नही करना चाहिए और यदि करना ही हो तो केवल विपत्तियो के दूर करने का उपाय ही करना चाहिए ॥ ९० ॥

अन्यच्च—कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः ।
नृपते ! किंक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हे नृपते ! तनुत्याग बहुग्रह कमण्डलूपम अमात्य (भवति), किंक्षण मूर्ख, (तथा) किंवराटक दरिद्र (भवति) ॥ ९१ ॥

कमण्डलूपम =कमण्डलुतुल्य , तनुत्याग = स्वल्पशस्त्यागकर्ता, बहुग्रह = विपुलग्राही, अमात्य =प्रशस्त मन्त्री भवति । किंक्षण = कुत्सितसमय — द्वित्रिषु क्षणेपु व्यर्थं गतेष्वपि का क्षति इति विचारयिता, मूर्ख. = मूढ , किंवराटक =स्वल्पवराटकोपेक्षक —कतिपयेषु वराटकेषु (कपर्दकेषु) नष्टेष्वपि का कोषे न्यूनता इत्येव विचारकर्ता दरिद्र भवति ॥

और भी—हे राजन् ! मत्री को कमण्डलु के समान थोडा खर्च करनेवाला और वहुत सग्रह करनेवाला होना चाहिए । 'क्षण भर का समय कुछ नही' ऐसा सोचनेवाला मूर्ख एव 'एक कौडी की क्या विसात है' ऐसा सोचनेवाला दरिद्र होता है ॥ ९१ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् काकिनीं यः प्रवर्धयेत् ।
कोषः कोषवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—य काकिनीम् सदा प्रवर्धयेत् स श्रेयान् अमात्य (अस्ति) कोषवत भूपते कोष प्राणा (सन्ति), प्राणा प्राणा न (सन्ति) ॥ ९२ ॥

अमात्य = मन्त्री, श्रेयान् = उत्तम , काकिनीम्=कपर्दिकाम् (कौडीको), कोषवत =कोषयुक्त (खजाने वालेका) नृपस्य, कोषा एव प्राणा सन्ति, न तु प्राणा प्राणा सन्ति ॥

एक कौडी को भी वढानेवाला ही सबसे कल्याणकारी मन्त्री समझा जाता है । क्योकि खजाना रखनेवाले राजा का प्राण खजाना ही होता है न कि उसका प्राण प्राण होता है ॥ ९२ ॥

किं चार्थैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।
धनहीनः स्वपत्न्यापि त्यज्यते किं पुनः परैः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—किं च पूरुष अर्थै न कुलाचारै सेव्यताम् एति, धनहीन पुरुष स्वपत्न्या अपि त्यज्यते, पुन परै किम् ? ॥ ९३ ॥

अर्थं = धनं गुणान्तरं = गुणान्तरम्, सेव्यतामिति—सेवनीयो भवति। स्वपत्न्या=स्वभार्यया परैः=अन्यैः किम्=किं वक्तव्यम्।

धन के अतिरिक्त अन्य गुणान्तरों से मनुष्य स्वामित्व नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि धनहीन तो अपनी पत्नी के द्वारा भी छोड़ दिया जाता है फिर दूसरों की बात ही क्या ? ॥ ५३ ॥

एतच्च राज्ञः प्रधानं दूषणम्—

यह राजा का प्रधान दोष है—

अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथार्जनमधर्मतः।
मोषणं दूरसंस्थानां कोषव्यसनमुच्यते ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अतिव्ययः, च अनपेक्षा तथा अधर्मतः (धनस्य) अर्जनम्, दूरसंस्थानाम् मोषणम् ([illegible]) कोषव्यसनम् उच्यते ॥ ५४ ॥

अतिव्ययः=अधिकव्ययः अनपेक्षा=निरीक्षणाभावः अर्जनम्=उपार्जनम् मोषणम्=स्तेयः, कोषव्यसनम्=कोषदोषः कोषहानिकारकत्वादित्यर्थः उच्यते=कथ्यते॥

अधिक खर्च करना, देखभाल न रखना, अधर्म से धन के लाना, दूर रखना और छोड़ देना ये खजाने के संकट कहे जाते हैं ॥ ५४ ॥

यतः—क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया।
परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—आयम् अनालोच्य स्ववाञ्छया व्ययमानः वैश्रवणोपमः (अपि) असौ धनी क्षिप्रम् परिक्षीयते एव ॥ ५५ ॥

क्षिप्रम् = शीघ्रम् आयम्=आगमनम् अनालोच्य=अविचार्य व्ययमानः=व्ययं कुर्वन्, परिक्षीयते=परितः क्षीणो भवति वैश्रवणोपमः=कुबेरतुल्यः ॥

क्योंकि जो धनी तत्काल होनेवाली आय का विचार किए बिना ही इच्छानुसार धन खर्च करता है वह कुबेर—जैसा धनी होने पर भी धीरे-धीरे सम्पत्ति से रहित हो जाता है ॥ ५५ ॥

स्तब्धकर्णो ब्रूते—'शृणु भ्रातः चिराश्रितावेतौ दमनककरटकौ सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ अपरञ्च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते।

ब्रूते = आह सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ = सन्धिविग्रहकार्ये प्राप्ताधिकारौ अर्थाधिकारे=द्रव्याधिकारे नियोक्तव्यौ=नियोजनीयौ। नियोगप्रस्तावे=नियुक्तिप्रसङ्गे॥

स्तब्धकर्ण ने कहा—सुनो भाई, ये दमनक और करटक दोनों ही पुराने सेवक हैं और उन्हें सन्धि या विग्रह करने का अधिकार दिया गया है, अत इन्हें अर्थ (धन) का अधिकार नहीं देना चाहिए। और नियुक्ति के विषय मे जैसा मैंने सुना है, वैसा कह रहा हूँ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति॥ ९६॥

अन्वयः—ब्राह्मण क्षत्रिय बन्धु अधिकारे न प्रशस्यते, ब्राह्मण सिद्धम् अपि अर्थम् कृच्छ्रेण अपि न यच्छति॥ ९६॥

अधिकारे=प्रजात करादानाधिकारविषये, प्रशस्यते=योग्यो भवति, सिद्धम्=लब्धम्, अर्थम्=धनम्, कृच्छ्रेण=कष्टेन, यच्छति=ददाति॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने बन्धुओं को अर्थ के अधिकारी के रूप में नियुक्त करना ठीक नहीं। क्योंकि ब्राह्मण तैयार धन को भी कठिनाइयों के समय नही देता॥ ९६॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम्।
सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः॥ ९७॥

अन्वयः—(अधिकारे) नियुक्त क्षत्रिय ध्रुवम् खड्गम् दर्शयते, बन्धु ज्ञातिभावत आक्रम्य सर्वस्वम् ग्रसते॥ ९७॥

(प्रजात करादानाधिकारे) नियुक्त=स्थापित, क्षत्रिय=बाहुज, खड्ग०—निश्चयेन खड्ग दर्शयति, अवश्य युध्यति इत्यर्थ। सर्वस्वम्=सर्वसम्पदम्, ग्रसते=गिरति, गृह्णातीति यावत्, बन्धु=भ्रात्रादिबान्धव, ज्ञातिभावत=जातित्वात्॥

यदि क्षत्रिय को अर्थ का अधिकार दे दिया जाय तो वह बात बात मे तलवार ही उठाएगा और भाई-बधु तो मौका पाकर उसपर आक्रमण करके सभी कुछ हड़प जायेंगे॥

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः॥ ९८॥

अन्वयः—नियोगी चिरसेवक अपराधे अपि नि शङ्क (भवति) स स्वामिनम् अवज्ञाय निरवग्रह चरेत्॥ ९८॥

अपराधे=दोषे, निश्शङ्क=निर्भय, नियोगी=प्रजात करादाने नियुक्त, चिरसेवक=पुरातनभृत्य, अवज्ञाय=तिरस्कृत्य, निरवग्रह=बन्धनहीन, स्वच्छन्द इति भाव॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निडर भाव से स्वामी का अपमान करता हुआ मनमानी आचरण करने लगता है॥ ९८॥

अर्थे = अर्थे। गुणान्तरैः = गुणान्तरैः। ऐश्वर्यमेति=ऐश्वर्यशीलो भवति। स्वपत्न्या=स्वभार्यया परैः=अन्यैः किम्=किं वक्तव्यम्।

धन के अतिरिक्त अन्य गुणान्तरों से मनुष्य स्वामित्व नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि धनहीन तो अपनी पत्नी के द्वारा भी छोड़ दिया जाता है फिर दूसरों की बात ही क्या ? ॥ ५३ ॥

एतच्च राज्ञः प्रधानं दूषणम्—

यह राजा का प्रधान दोष है—

अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथार्जनमधर्मतः।
मोक्षणं दूरसंस्थानां कोषव्यसनमुच्यते ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अतिव्ययः, च अनपेक्षा तथा अधर्मतः (धनस्य) अर्जनम्, दूर संस्थानाम् मोक्षणम् (इत्येतत्सर्वम्) कोषव्यसनम् उच्यते ॥ ५४ ॥

अतिव्ययः=अधिकव्ययः अनपेक्षा=निरीक्षणाभावः अर्जनम्=उपार्जनम् मोक्षणम्=त्यागः, कोषव्यसनम्=कोषदोषः कोषहानिकारकत्वादित्यर्थः उच्यते=कथ्यते ॥

अधिक खर्च करना, देखभाल न रखना, अधर्म से धन का लाना, दूर रखना और छोड़ देना, ये खजाने के संकट कहे जाते हैं ॥ ५४ ॥

यतः—क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया।
परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—आयम् अनालोच्य स्ववाञ्छया व्ययमानः वैश्रवणोपमः (अपि) असौ धनी क्षिप्रम् परिक्षीयते एव ॥ ५५ ॥

क्षिप्रम् = शीघ्रम् आयम्=आगतधनम् अनालोच्य=अविचार्य व्ययमानः=व्ययं कुर्वन्, परिक्षीयते=परितः क्षीणो भवति वैश्रवणोपमः=कुबेरतुल्यः ॥

क्योंकि जो व्यक्ति उत्पन्न होनेवाली आय का विचार किए बिना ही इच्छानुसार धन खर्च करता है वह कुबेर—जैसा धनी होने पर भी धीरे-धीरे सम्पत्ति से रहित हो जाता है ॥ ५५ ॥

स्तब्धकर्णो ब्रूते—'शृणु भ्रातः चिराश्रितावेतौ दमनककरटकौ सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ। अपरञ्च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते।

ब्रूते = आह, सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ = सन्धिविग्रहकार्ये प्राप्ताधिकारौ अर्थाधिकारे=द्रव्याधिकारे नियोक्तव्यौ=नियोजनीयौ। नियोगप्रस्तावे = नियुक्तिप्रसङ्गे ॥

स्तब्धकर्ण ने कहा—सुनो भाई, ये दमनक और करटक दोनो ही पुराने सेवक हैं और उन्हे सधि या विग्रह करने का अधिकार दिया गया है, अत इन्हे अर्थ (धन) का अधिकार नही देना चाहिए। और नियुक्ति के विषय मे जैसा मैंने सुना है, वैसा कह रहा हूँ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अन्वयः—ब्राह्मण क्षत्रिय बन्धु अधिकारे न प्रशस्यते, ब्राह्मण सिद्धम् अपि अर्थम् कृच्छ्रेण अपि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अधिकारे=प्रजात करादानाधिकारविषये, प्रशस्यते=योग्यो भवति, सिद्धम्=लब्धम्, अर्थम्=धनम्, कृच्छ्रेण=कष्टेन, यच्छति=ददाति ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने बन्धुओ को अर्थ के अधिकारी के रूप मे नियुक्त करना ठीक नहीं। क्योकि ब्राह्मण तैयार धन को भी कठिनाइयो के समय नही देता ॥ ९६ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्ग दर्शयते ध्रुवम्।
सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—(अधिकारे) नियुक्त क्षत्रिय ध्रुवम् खड्गम् दर्शयते, बन्धु ज्ञातिभावत आक्रम्य सर्वस्वम् ग्रसते ॥ ९७ ॥

(प्रजात करादानाधिकारे) नियुक्त=स्थापित, क्षत्रिय=बाहुज, खड्ग०—निश्चयेन खड्ग दर्शयति, अवश्य युध्यति इत्यर्थ। सर्वस्वम्=सर्वसम्पदम्, ग्रसते=गिरति, गृह्णातीति यावत्, बन्धु=भ्रात्रादिबान्धव, ज्ञातिभावत=जातित्वात् ॥

यदि क्षत्रिय को अर्थ का अधिकार दे दिया जाय तो वह बात बात में तलवार ही उठाएगा और भाई-बंधु तो मौका पाकर उसपर आक्रमण करके सभी कुछ हडप जायेंगे ॥

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—नियोगी चिरसेवक अपराधे अपि निःशङ्क (भवति) स स्वामिनम् अवज्ञाय निरवग्रह चरेत् ॥ ९८ ॥

अपराधे=दोषे, निश्शङ्क=निर्भय, नियोगी=प्रजात करादाने नियुक्त, चिरसेवक=पुरातनभृत्य, अवज्ञाय=तिरस्कृत्य, निरवग्रह=बन्धनहीन, स्वच्छन्द इति भाव ॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निडर भाव से स्वामी का अपमान करता हुआ मनमानी [illegible]रने लगता है ॥ ९८ ॥

उपकर्ताधिकारस्थः स्वापराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य सर्वमेवावलुम्पति ॥ ९९ ॥

अन्वयः—अधिकारस्थः उपकर्ता स्वापराधम् न मन्यते । उपकारम् ध्वजीकृत्य सर्वं एव अवलुम्पति ॥ ९९ ॥

उपकर्ता=उपकारी अधिकारस्थः=प्रधान कार्यरूपाधिकारे नियुक्तः स्वापराधम्=स्वदोषम्, न मन्यते = न स्वीकरोति । ध्वजीकृत्य=सर्वोपरि कृत्वा अव-लुम्पति=नष्टं करोति आच्छे वा ॥

स्वामी का उपकार करनेवाला सेवक किसी अधिकार पर स्थित होकर अपने अपराधों को नहीं समझता और उपकार का झंडा फहराता हुआ सभी कुछ निगल जाता है ॥ ९९ ॥

उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद् ध्रुवम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—उपांशुक्रीडितः अमात्यः यतः स्वयम् राजायते तेन सदा परिचयात् ध्रुवम् अवज्ञा क्रियते ॥ १   ॥

उपांशु=एकान्ते क्रीडितः=कृतविलासः राजायते=राजेवाचरति ॥

राजा के साथ खेलनेवाला सेवक मंत्री बनकर यदि धन का भी अधिकार पा जाता है तो वह अपने को राजा ही मान बैठता है और पहले के परिचय के नाते पद पद पर राजा का अपमान करता रहता है ॥ १   ॥

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।
शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते ॥ १०१ ॥

अन्वयः—अन्तर्दुष्टः (बहिः) क्षमायुक्तः (अमात्यः) सर्वानर्थकरः (भवति) किल । भूपते ! अत्र शकुनिः च शकटारः दृष्टान्तौ (स्तः) ॥ १ १ ॥

अन्तर्दुष्टः=अन्तर्मनसि दुर्जनः क्षमायुक्तः=क्षमासहितः (बहिरिति शेषः) सर्वानर्थकरः=सकलानर्थकारकः किल=इति प्रसिद्धौ । शकुनिः=दुर्योधनस्य मातुलः, ... शकटारः=नन्दस्यामात्यः दृष्टान्तौ=उदाहरणस्वरूपौ ॥

मन का खोटा किन्तु ऊपर से क्षमाशील होता है वह सभी प्रकार ... सकता है राजन् ! इस विषय में शकुनि (दुर्योधन का मामा) (नन्द का मन्त्री) प्रमाण हैं ॥ १ १ ॥

सदामात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
सिद्धानामयमादेशः ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०२ ॥

अन्वयः—समृद्ध सर्वं एव अमात्य सदा साध्य न हि (भवति), ऋद्धि-श्चित्तविकारिणी (भवति), अयम् आदेश सिद्धानाम् (अस्ति) ॥ १०२ ॥

साध्य =वशीकरणयोग्य , समृद्ध =समृद्धियुक्त , सिद्धानाम्=सिद्धपुरुषाणाम्, आदेश =आज्ञा, ऋद्धि =समृद्धि , उन्नतिरिति भाव , चित्तविकारिणी=मनोविकारिणी ॥

वैभवशाली मंत्री कभी भी वश मे नही किया जा सकता है, क्योकि वह तो अपने ही को सब कुछ समझता है । इसीलिए नीतिज्ञ पुरुषो का यह कहना है कि धन तो अवश्य ही मन मे विकार उत्पन्न करता है ॥ १०२ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम् ।
उपेक्षा बुद्धिहीनत्व भोगोऽमात्यस्य दूषणम् ॥ १०३ ॥

अन्वयः—प्राप्तार्थग्रहणम्, द्रव्यपरीवर्त अनुरोधनम् उपेक्षा बुद्धिहीनत्वम् भोग (इत्येतत्सर्वम्) अमात्यस्य दूषणम् (अस्ति) ॥ १०३ ॥

प्राप्तार्थग्रहणम्=लब्धधनस्य स्वयमादानम्, द्रव्यपरीवर्त =बहुमूल्य वस्तु स्वयमादाय तत्स्थाने स्वल्पमूल्यवतो वस्तुन स्थापनम्, अनुरोधनम्= स्वाभिलषितसिद्धयं राजान प्रत्याग्रह , उपेक्षा=नृपादेशस्य नृपकार्यस्य वा उपेक्षणम् बुद्धिहीनत्वम्=मूढत्वम्, भोग =विषयासक्ति राजद्रव्यस्य स्वकार्ये उपयोगो वा, इद सर्वम् अमात्यस्य=मन्त्रिण , दूषणम्=दोष , अस्तीति शेष ॥

प्राप्त धन को ले लेना, कोष के धन को व्याज पर देना, किसी बात के लिए राजा पर दबाव डालना, उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखना और भोगविलास में लगा रहना—ये मन्त्री के दोष हैं ॥ १०३ ॥

नियोग्यर्थग्रहोपायो राज्ञा नित्यपरीक्षणम् ।
प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्यय. ॥ १०४ ॥

अन्वयः—राज्ञा नित्यम् परीक्षणम्, च प्रतिपत्तिप्रदानम् तथा कर्मविपर्यय (एतत् त्रयम्) नियोग्यर्थग्रहोपाय (अस्ति) ॥ १०४ ॥

नियोग्यर्थग्रहोपाय —नियोगिन =नियुक्तादधिकारिपुरुषात्, अर्थस्य = द्रव्यस्य, ग्रह =ग्रहणम् तस्य उपाय =यत्न (नियुक्त पुरुषोसे धन लेनेका उपाय) राज्ञा०—अधिकारिपुरुषस्य कार्यपरीक्षा, प्रतिपत्तिप्रदानम्=पुरस्कारादिप्रदानस्य वेतनवृद्धयादेर्वा विश्वासदानम्, कर्मविपर्यय = अधिकारिणा कार्यस्य परिवर्तनम्, तत्क्रियमाणकार्यादन्यकार्ये नियुक्ति ॥

राजसेवको से धन ग्रहण करने का यही उपाय है कि राजा अपने सभी

विभागों की देख रेख में लगा रहे विभागीय कर्मचारियों को धन देने का विश्वास देता रहे तथा उनके काम को परखता रहे ॥ १०४ ॥

निष्पीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपतेः ।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—निष्पीडिताः (नियोगिनः) महीपतेः अन्तःसारम् उच्चैः वमन्ति हि नियोगिनः प्रायः दुष्टव्रणा इव भवन्ति ॥ १०५ ॥

निष्पीडिताः = दण्डादिना पीडिताः अन्तःसारम् = गुप्तधनादिकम् उच्चैः वमन्ति = स्पष्टतया प्रकटयन्ति । दुष्टव्रणाः = महाविस्फोटाः (बड़े घाव) नियोगिनः = राज्ञा अधिकारे नियुक्ताः पुरुषाः । यथा महाव्रणाः पीडिताः पूयमुच्चैर्वमन्ति तथैव कठिनदण्डादिना पीडिताः राजाधिकारिणोऽपि राज्ञो गुप्तवार्ताः प्रकटीकुर्वन्ति ।

हे राजन्! राज्यकार्य में लगे हुए बहुत से ऐसे सेवक होते हैं जो दबाव पड़ने पर राजा के सभी भेदों को साफ-साफ उसी प्रकार मुँह से बाहर कर देते हैं जैसे पका हुआ फोड़ा दबाने से बह जाता है ॥ १०५ ॥

मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपते ।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्घृतं पयः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—हे महीपते! वसुधाराः नियोगिनः मुहुः बाध्याः सकृत् पीडितम् स्नानवस्त्रम् किम् घृतम् पयः मुञ्चति ॥ १०६ ॥

मुहुः = पुनः पुनः नियोगिनः = अधिकृताः जनाः बाध्याः = दबाव डालने योग्य । वसुधाराः = धनधारकाः, पीडितम् = मर्दितम् (निचोड़ा गया) स्नानवस्त्रम् = स्नानार्थे आर्द्रीभूतं वस्त्रम् मुञ्चेत् = त्यजेत् घृतम् = स्निग्धम् तैलादिकम् (घृतमिति पाठे तोयमित्यर्थः) पयः = जलम् ॥

हे राजन् बार-बार दबाव देने से ही कर्मचारी राजा को धन देता रहता है । इसलिए उसे बराबर दबाते रहना चाहिए । क्या पानी में भीगा हुआ कपड़ा एक ही बार निचोड़ने से सारा पानी छोड़ देता है? ॥ १०६ ॥

एतत्सर्वं यथावसरं ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम् । सिंहो ब्रूते—'अस्ति तावदेवम् । किन्त्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ ।' दमनको ब्रूते—'एतदप्यनुचितं सर्वथा । यतः—

यथावसरम् = अवसर के अनुसार व्यवहर्तव्यम् = व्यवहार करना चाहिए वचनकारिणौ = आज्ञाकारिणौ ॥

यह सब समझ कर अवसर के अनुकूल ही काम करना चाहिए। सिंह ने कहा—यह तो ठीक ही है। किन्तु यह दोनो मेरी बात ही नहीं मानते। स्तब्धकर्ण ने कहा—यह सब तो बहुत अनुचित है। क्योंकि—

आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि।
विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च॥ १०७॥

अन्वयः—राजा आज्ञाभङ्गकरान् स्वसुतान् अपि न क्षमेत्। (अन्यथा) राज्ञः चित्रगतस्य राज्ञः च कः विशेषः नु॥ १०७॥

आज्ञाभङ्गकरान्=आदेशोल्लङ्घिनः, क्षमेत्=क्षमां कुर्यात्। विशेषः = भेदः राज्ञः=सिंहासनारूढनृपस्य, राज्ञश्चित्र०=चित्रस्थस्य नृपस्य। यदि राजा निर्देशोल्लङ्घिनः भृत्यान् न दण्डयति, तदा स चित्रगतनृप इव व्यर्थ इति भावः॥

राजा को चाहिए कि वह अपनी आज्ञा न माननेवाले अपने लड़कों को भी न क्षमा करे। जो राजा ऐसा नहीं करता, उसमें तथा चित्र में लिखे हुए राजा में अन्तर ही क्या है?॥ १०७॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य॥ १०८॥

अन्वयः—स्तब्धस्य (पुरुषस्य, इदं पादत्रयेऽपि योज्यम्) यशः, विषमस्य मैत्री नष्टेन्द्रियस्य कुलम्, अर्थपरस्य धर्मः, व्यसनिनः विद्याफलम्, कृपणस्य सौख्यम् (च) प्रमत्तसचिवस्य राज्यम् नश्यति॥ १०८॥

स्तब्धस्य=जडस्य, विषमस्य=अस्थिरप्रकृतेः, मैत्री=मित्रता, नष्टेन्द्रियस्य=अजितेन्द्रियस्य, कुलम्=वंशः, अर्थपरस्य = धनसंग्रहमात्रतत्परस्य, व्यसनिनः = मद्यद्यूताद्यासक्तचेतसः, प्रमत्तसचिवस्य=प्रमादवदमात्यस्य। नश्यतीत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धो बोध्यः॥

आलसी व्यक्ति का यश, अविश्वासी की मित्रता, इन्द्रियों को वश में न रखनेवाले की वंशमर्यादा, धन के लोभी का धर्म, व्यसनी व्यक्ति की विद्या, कंजूस का सुख और उन्मत्त मंत्रीवाले राजा का राज्य अवश्य नष्ट हो जाता है॥१०८॥

अपरं च—तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितेव हि॥ १०९॥

अन्वयः—नृपतिः तस्करेभ्यः नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यः नृपवल्लभात् च निजलोभात् प्रजाः पिता इव रक्षेत् हि ॥ १०९ ॥

तस्करेभ्य=चौरेभ्यः नियुक्तेभ्यः=राज्याधिकृतेभ्यः नृपवल्लभात्=राजः स्नेहभाजनात्, निजलोभात्=आत्मलोभात् ॥

और भी—चोरों, कर्मचारियों, शत्रुओं, अपने प्रियजनों तथा अपने लोभ से राजा को पिता के समान सर्वथा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए ॥ १०९ ॥

आर्य ! सर्वथास्मद्वचनं क्रियताम् । व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव । अयं सञ्जीवकः सस्यभक्षकोऽर्थाधिकारे नियुज्यताम् । एवं दमनकवचनादनुष्ठिते सति तदारभ्य पिङ्गलकसञ्जीवकयोः सर्वबन्धुपरित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्तते । ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद् दमनककरटकावन्योन्यं चिन्तयतः । तदाह दमनकः करटकम्— मित्र किं कर्तव्यम् । आत्मकृतोऽयं दोषः । स्वयं कृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम् । यथा चोक्तम्—

व्यवहारः=निर्णयः सस्यभक्षकः=तृणभक्षणशीलः अर्थाधिकारे=द्रव्याधिकारे नियुज्यताम्=नियुक्तः क्रियताम् अनुष्ठिते सति=सञ्जीवके धनाधिकारे नियुक्ते सति सर्वबन्धुपरित्यागेन=समस्तपरिवारत्यागेन अतिवर्तते=गच्छति । अनुजीविनाम्=भृत्यानाम् शैथिल्यदर्शनात्=अनादरावलोकनात्, अन्योन्यम्=परस्परम्, परिदेवनम्=परितापः अत्याप व्यर्थं ॥

[illegible] आप सभी प्रकार हमारे कहने के अनुसार ही काम करें। इस [illegible] सञ्जीवक को ही धन का अधिकार प्रदान करें। [illegible] के कहने [illegible] को सञ्जीवक [illegible] समय से ही पिङ्गलक और [illegible] अपने बन्धुओं द्वारा छोड़ दिए जाने पर भी बड़े प्रेम के साथ [illegible] बिताने लगा। इसके पश्चात् सेवकों के भोजन देने में भी उपेक्षा [illegible] विचार किया। तब दमनक ने करटक [illegible] अपना ही किया हुआ पाप है। [illegible] अनुचित है। जैसा कि कहा भी है—

स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा बद्ध्वात्मानं च दूतिका ।
आदित्सुश्च मणिं साधुः स्वदोषाद् दुःखिता इमे ॥ ११० ॥

[illegible] स्पृष्ट्वा च दूतिका आत्मानम् बद्ध्वा च [illegible] स्वदोषात् दुःखिताः (अभूवन्) ॥ ११० ॥

आदित्सु =आदातुमिच्छु, स्वदोषात्=स्वकृतापराधाद्धेतो ॥
मैं सोने की रेखा छूकर, दूती अपने आप को बांध कर तथा साधु रत्न लेने की अभिलाषा करके—ये तीनो ही अपने ही दोषों से दुखी हुए ॥ ११० ॥

करटको ब्रूते—'कथमेतत् ।' दमनकः कथयति—
करटक ने कहा—यह कैसे ?' दमनक ने कहा—

कथा ९

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा। तस्य धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कदर्पकेतुनाम्ना परिव्राजकेन साधुद्वितीयकेन 'नायं हन्तव्य' इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः। राजपुरुषा ऊचुः—'किमिति नायं वध्यः।' स आह—'श्रूयताम् ।' 'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि पठति। त आहुः—'कथमेतत् ।' परिव्राजकः कथयति—'अहं सिंहलद्वीपस्य भूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः कंदर्पकेतुर्नाम। एकदा केलिकाननावस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं 'यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकर्वुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालंकारभूषिता लक्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या काचिद् दृश्यते' इति। ततोऽहं पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः। अनन्तरं तत्र गत्वा पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव साऽवलोकिता। ततस्तल्लावण्यगुणाकृष्टेन मयापि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः। तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना मयालोकिता। तयाप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं सभाषितः। तत्सख्या च मया पृष्टया समाख्यातम्—'एषा कदर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रतिज्ञापिता विद्यते। यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषागत्य पश्यति, स एव पितुरगोचरोऽपि मां परिणेष्यतीति मनसः संकल्पः। तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान् ।'

धर्माधिकारिणा=न्यायाधीशेन, नापित =क्षौरकर्ता (नाई), परिव्राजकेन=सन्यासिना, वस्त्राञ्चले = स्ववस्त्रप्रान्ते, केलिकाननावस्थितेन = क्रीडोद्यानस्थेन, पोतवणिङ्मुखात्=जलयानव्यापारिमुखात् (समुद्री व्यापारीके मुखसे), आविर्भूतकल्पतरुतले=प्रकटितकल्पवृक्षस्याधोभागे, रत्नावलीकर्वुरितपर्यङ्के = रत्नसमूह-

खचितत्वया विचित्रितपर्याणाम् । पोतम्=जलयानम् । तथैव=पर्यङ्कसुप्तोत्थिता लक्ष्मीरिव एव सा=कन्या अवलोकिता=दृष्टा । तल्लावण्यगुणाकृष्टेन=तस्याः कन्यायाः लावण्यम्=सौन्दर्यम् एव गुणः=रज्जुः तेनाकृष्टः=इताकृष्टः तेन तस्याः सौन्दर्यवशीभूतेनेत्यर्थः । झम्पो दत्तः=जले कूर्दितम् । कनकपत्तनम्=स्वर्णनगरम् तथैव=पर्यङ्कसुप्तैव विद्याधरीभिः=विद्याधरस्त्रीभिः उपास्यमाना=सेव्यमाना । प्रस्ताप्य=सम्प्रेष्य सम्भाषित=उक्तः । तथाख्यातम्=कथितम् । प्रतिज्ञा विता=कृतप्रतिज्ञा स्वचक्षुषा=स्वनेत्रेण पितुः=जनकस्य समीपतः=अप्रस्तुत माम् परिणेष्यति=मया सह विवाहं करिष्यति । गान्धर्वविवाहेन=कन्यावरयोरेव परस्परं प्रीत्या जायमानेन विवाहेन परिणयतु=विवाहं करोतु ॥

कांचनपुर नाम के नगर में वीरविक्रम नाम का एक राजा था। उसके धर्माधिकारी एक नाई को पकड़ कर फाँसी देने के स्थान पर ले जा रहे थे कि उसी समय एक साधु के साथ कंदर्पकेतु नाम के एक संन्यासी ने उसे अपने हाथों से छिपाते हुए कहा कि यह मारने योग्य नहीं है। तब सिपाहियों ने कहा—'क्यों नहीं मारने योग्य है?' उसने कहा—सुनो और 'स्वर्णरेखा को छूकर मैं' आदि पढ़ने लगा। उन्होंने कहा—यह कैसे? संन्यासी ने कहा—'मैं सिंहलद्वीप के राजा जीमूतकेतु का पुत्र कन्दर्पकेतु हूँ। एक बार मैं अपने विहार-उपवन में बैठा हुआ था कि उसी समय मैंने नाव द्वारा व्यापार करनेवाले एक व्यवसायी से सुना कि इस समुद्र के बीच में चतुर्दशी के दिन दिखाई पड़ने वाले कल्पवृक्ष के नीचे रत्नों की किरणों से जगमगाते हुए पर्यंक पर बैठी हुई, सभी गहनों से सुशोभित एवं लक्ष्मी के समान वीणा बजाती हुई कोई कन्या दिखाई पड़ती है। तब मैं उस नाविक व्यापारी को साथ लेकर नाव द्वारा वहाँ गया। वहाँ जाने पर मैंने पलंग पर आधी बैठी हुई उसी प्रकार की कन्या देखी। उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर मैं भी समुद्र में कूद पड़ा। इसके पश्चात् मैंने सोने की नगरी में पहुँच कर सोने के महल में उसी प्रकार पलंग पर बैठी हुई तथा विद्याधरियों द्वारा सेवित उस कन्या को देखा। उसने भी मुझे दूर ही से देख कर सखी भेज उसके द्वारा मुझसे बड़े आदर के साथ बातचीत की। मैंने उसकी सखी से पूछा तो उसने बताया कि यह विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा कन्दर्पकेलि की पुत्री है। इसका नाम रत्नप्रभा है और इसने प्रतिज्ञा करके यहाँ निवास किया है। इसके मन का संकल्प है कि जो पुरुष इस सोने की नगरी में आकर स्वयम् अपनी आँखों से इसे देखेगा वही पिता की आज्ञा न होते हुए भी मेरे साथ विवाह करेगा। इसलिए आप इसके साथ गान्धर्व विवाह करें।

अथ तत्र वृत्ते गन्धर्वविवाहे तया सह रममाणस्तत्राहं तिष्ठामि। तत एकदा रहसि तयोक्तम्—'स्वामिन्, स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम्। एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित् स्प्रष्टव्या। पश्चादुपजातकौतुकेन मया स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा। तया चित्रगतयाप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः। अथ दुःखितोऽहं परिव्रजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम्।' प्रदोषसमये पशूनां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत्। ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः। ततोऽर्धरात्रे एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्यावदत्—'तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते। तथा चोक्तम्—

वृत्ते=सजाते। रहसि=एकान्ते। चित्रगता=चित्रस्था, स्वर्णरेखा=तन्नाम्नी, स्प्रष्टव्या=स्पर्शनीया। उपजातकौतुकेन = एतस्याः स्पर्शनेन किं भविष्यति इत्येवमुत्पन्नकौतूहलेन, चरणपद्मेन=पादपङ्कजेन, स्वराष्ट्रे = आत्मनो राज्ये। दुःखार्तः = तद्वियोगकष्टेन पीडितः, परिव्रजितः = गृहीतसन्यासः। अतिक्रान्ते = अतीते, दिवसे = दिने, प्रदोषसमये = सायकाले, पशूनाम् = गवादिजन्तूनाम्, पालनं कृत्वा=तेभ्यो यवसादि दत्वा, मन्त्रयन्तीम् = परामर्शं कुर्वन्तीम् (सलाह करती हुई)। तव=गोप्याः, विरहानलदग्धः=वियोगाग्निज्वलितः, स्मरशरजर्जरितः=कामबाणेन जर्जरीभूतः, मुमूर्षुरिव=आसन्नमृत्युरिव ॥

इसके बाद गान्धर्व विवाह करके मैं उसके साथ रमण करता हुआ वहीं उसी के साथ रहने लगा। एक बार उसने एकान्त मे मुझसे कहा कि—स्वामी! आप अपनी इच्छा के अनुसार इन सभी वस्तुओं का उपयोग करें' किन्तु इस चित्र मे बनी हुई स्वर्णरेखा नाम की विद्याधरी को कभी मत छूवें। इससे मुझे कुछ कुतूहल हुआ और मैंने उसे छू लिया। उस चित्र में बनी हुई स्वर्णरेखा ने मुझे अपने चरणकमलों से इस प्रकार झटका दिया कि मैं आकर अपने राज्य में गिरा। मैंने दुःखी होकर संन्यास ले लिया और पृथ्वी पर घूमता हुआ अब मैं इस नगरी में पहुँचा हूँ। यहाँ कल एक ग्वाले के घर सोते समय मैंने देखा कि ग्वाला पशुओं को चराकर सायंकाल अपने घर आया और उसने अपनी पत्नी को किसी दूती के साथ बातचीत करते हुए देखा। तब वह पत्नी को मार कर तथा

उसे पति ने बाँध कर सो गया। इसके बाद आधी रात के समय उस नाई की दूती स्त्री फिर उस अहीरिन के पास आई और बोली—'तुम्हारे विरह की अग्नि में जलता हुआ वह कामबाणों से घायल होकर मरा हुआ-सा पड़ा है। जैसा कि कहा भी है—

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि।
यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः॥ १११॥

अन्वयः—रजनीचरनाथेन निशि तिमिरे खण्डिते (सति) मनोभवः यूनाम् मनांसि दृष्ट्वा दृष्ट्वा विव्याध॥ १११॥

रजनीचरनाथेन = चन्द्रेण खण्डिते—नष्टे अन्धकारे दूरीकृते यूनाम् = युवकानाम्, विव्याध=अपीडयत्॥

चन्द्रमा ने उदय होकर रात्रि के अन्धकार को दूर कर दिया जिससे अब कामदेव देख देख कर युवकों के मन को बेध रहा है॥ १११॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिचिन्तितमनास्तस्यामनुवर्तितुमागता। तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि। त्वं तत्र गत्वा तं सम्बोध्य त्वरितमागमिष्यसि। तथानुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्—इदानीं त्वां पापिष्ठां जारान्तिकं नयामि। ततो यदासौ न किञ्चिदपि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः 'दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्तरिकामादायास्या नासिका छिन्ना। तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः। अथागत्य गोपी दूतीमपृच्छत्—'का वार्ता'। दूत्योक्तम्—'पश्य माम्। मुखमेव वार्तां कथयति। अनन्तरं सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्वा स्थिता। इयं च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता। ततः प्रातरेवानेन नापितेन स्वभार्या क्षुरभाण्डं याचिता सती क्षुरमेकं प्राददात्। ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान्। अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे नासिकानेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती। सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—अरे पाप को मां महासतीं विरूपयितुं समर्थः। मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति। यतः—

तस्य = [illegible] तादृशीमवस्थाम् = [illegible], परिचिन्तितमना = दुःखितचित्ता अनुवर्तितुम् = अनुकूलयितुम्। तथानुष्ठिते—बोधयां

स्वय स्तम्भे वद्‌ध्वा स्थिताया सत्याम्, प्रवुद्ध =त्यक्तनिद्र । पापिष्ठाम्=महापापाम्, जारान्तिकम्=उपपतिसमीपम्, नयामि=प्रापयामि । दर्पात्=अभिमानात्, प्रत्युत्तरम् = प्रतिवचनम्, कर्तरिकाम्=छुरिकाम्, छिन्ना=कर्तिता । मुखमेव०—'मम मुखदर्शनेनैव का वार्ताऽस्ति' इति ज्ञास्यसि । क्षुरभाण्डम्=क्षुरस्याधारपात्रम् (लोखर), याचिता = प्रार्थिता असमग्र-भाण्डे=असम्पूर्णक्षुरभाजने, समुपजातकोप = क्रुद्ध , क्षिप्तवान् = चिक्षेप । कृता-र्तराया = कृतरोदनस्वरा, इयम् = नापितवधू , विनापराधेन=दोष विना, धर्मा-धिकारिसमीपम्=न्यायाधीशनिकटम्, एनम् = नापितम् । पाप = पापिन् !, महासतीम् = अतिशयेन पतिव्रताम्, विरूपयितुम्=विरूपा कर्तुम् । अकल्म-षम्=निर्दुष्टम्, अष्टौ=अष्टसङ्ख्यका ।

उसकी इस प्रकार की अवस्था देख मैं अत्यन्त दुखी होकर एक वार फिर तुम्हे मनाने आई हूँ । मैं अपने को यही वांध कर रहती हूँ और तुम वहां जाकर उसे सतुष्ट करके जल्दी आ जाओ । ऐसा हो जाने पर उसी समय ग्वाले की नीद खुली और उसने कहा—पापिनि ! अब क्यो नही अपने जार के पास जा रही हो । जब उसने कुछ नही कहा तो ग्वाले ने क्रोध मे आकर कहा कि यह मारे घमड के मेरी वातो का उत्तर भी नही देती है और उसने कैंची लेकर उसकी नाक काट दी । ऐसा करके ग्वाला फिर सो गया ।

तब अहिरिन ने आकर दूती से पूछा—'क्या बात ?' दूती ने कहा—'मुझे देखो, मेरा मुँह ही सारी बात बताएगा ।' इसके बाद गोपी ने फिर अपने को वही वांध लिया । और अपनी कटी हुई नाक लेकर वह दूती अपने घर चली गई । प्रात काल ही नाई ने अपनी बहू से छुरो का थैला मागा, किंतु उसने केवल एक ही छुरा दिया । फिर पूरा थैला न पाने से क्रुद्ध होकर नाई ने दूर ही से छुरे को घर से फेंका । तब नाइन रोती हुई एव 'बिना अपराध के ही इसने मेरी नाक काट ली है'–ऐसा कहती हुई इसे धर्माधिकारियो के पास लाई । जब उस ग्वाले ने ग्वालिन से फिर पूछा तो उसने कहा—'अरे पापी, मेरी जैसी सती के सौन्दर्य को कौन नष्ट कर सकता है ? मेरे पवित्र आचरण को आठो लोकपाल जानते हैं । क्योंकि—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥११२॥

अन्वयः—आदित्यचन्द्रौ अनिल च अनल द्यौ भूमि आप हृदयम् च यम च अह च रात्रि च उभे सन्ध्ये च धर्मं नरस्य वृत्तम् जानाति (अस्य वचन-विपरिणामेन प्रत्येक सम्बन्ध कार्यं) ॥ ११२ ॥

आदित्यचन्द्रौ = सूर्यचन्द्रमसौ अनिलः = वायुः अनलः = अग्निः, द्यौः = आकाशम् आपः = जलानि हृदयस्थितो यमः अहः = दिनम् उभे सन्ध्ये = सन्ध्याद्वयम् वृत्तम् = आचरणम् ॥

सूर्य चन्द्रमा वायु अग्नि आकाश पृथ्वी जल हृदय यम रात दिन और दोनों सन्ध्या तथा धर्म ही मनुष्य के अच्छे बुरे आचरण को जानते हैं ॥११२॥

यद्यहं परमसती स्याम् त्वां विहायान्यं न जाने, पुरुषान्तरं स्वप्नेऽपि नहि भजे तेन धर्मेण छिन्नापि मम नासिकाऽच्छिन्ना ऽस्तु। मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे। किन्तु स्वामी त्वम्। लोकभया दुपेक्षे। पश्य मे मुखम्। यावदसौ गोपो दीपं प्रज्वाल्य तन्मुख मवलोकते तावदुन्नसं मुखमवलोक्य तच्चरणयोः पतितः—'धन्योऽहं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इति।

परमसती=महापतिव्रता पुरुषान्तरम्=अन्यं पुरुषम् भजे = सेवनं करोमि। भस्म कर्तुम्=भस्मयितुम् स्वामी = पतिः लोकभयात् = जनापवादभयात्। उन्नसम् =उन्नतनासिकमुखम् अच्छिन्ननासिकम् परमसाध्वी = महासती।

अगर मैं सती हूँ तो तुम्हें छोड़ कर दूसरे का ध्यान नहीं करती हूँ तो स्वप्न में भी पर पुरुष को न देखती हूँ तो मेरे इस धर्म के द्वारा मेरी नाक ठीक से हो जावेगी। मैं तुम्हें भस्म कर सकती हूँ किन्तु तुम मेरे स्वामी हो। लोकभय से ऐसा नहीं करती हूँ। मेरा मुँह देखो। जब ग्वाले ने दीपक जला कर उसका मुँह देखा तो नाक सहित मुँह को देखकर उसके पैरों पर गिर पड़ा और कहा— मैं धन्य हूँ जिसे ऐसी सती स्त्री मिली है।

योऽयमास्ते साधुस्तद्वृत्तान्तमपि कथयामि। अयं स्वगृहान्नि र्गतो द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः अत्र वेश्या गृहे सुप्तः। तस्याः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितकाष्ठघटितवेता लस्य मूर्ध्नि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते। तच्च लुब्धेनानेन साधुना रात्रा वुत्थाय रत्नं ग्रहीतुं यत्नः कृतः। तदा तेन वेतालेन सूत्रसञ्चारित बाहुभ्यां पीडितः सन्नार्तनादमयं चकार। पश्चादुत्थाय कुट्टन्यो क्तम्—'पुत्र! मलयोपकण्ठादागतोऽसि। तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छा स्मै। नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि। इत्थमेवायं चेटकः। ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि अधुनायमपहृतसर्वस्वोऽस्मासु समागत्य मि लितः। एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुत्रैर्न्याय धर्माधिकारी प्रवर्तितः। अथ

न्तरं नेन सा दूती गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारिते नापितश्च गृहं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि। अथ स्वय कृतोऽयं दोषः। अत्र चिलपनं नोचितम्। (क्षणं विमृश्य) मित्र! यथानयोः सौहार्दं मया कारितं तथा मित्रभेदोऽपि मया कार्यः। यतः—

साधु =वणिक्। मलयोपकण्ठात्=मलयपर्वतनिकटस्यप्रदेशात्, इमा नगरीम्=एतत्काञ्चनपुरीम्, स्थापितकाष्ठघटितवेतालस्य = स्थापितायाः दारुमय्याः वेतालमूर्त्याः, मूर्धनि = मस्तके, उत्कृष्टम् = श्रेष्ठम्, बहुमूल्यमित्यर्थं, सूत्रसञ्चारितबाहुभ्याम् = तन्त्रोप्रेरितहस्ताभ्याम् (यन्त्रद्वारा चलाये गये दोनो हाथोंसे), आर्तनादम् = दीनतयोच्चै शब्दम्। प्रयच्छ = देहि। नो चेद०—अन्यथाय त्वा न त्यक्ष्यति। चेटक =भृत्य, अपहृतसर्वस्व —अपहृतम्=आच्छिन्नम्, सवस्वम् = सर्वसम्पत्तियस्य स। विलपनम् = विलाप। सौहार्दम्= मित्रता, मित्रभेद =सुहृद्भेद, अनयोर्मित्रयो परस्पर विरोध इत्यर्थं॥

और जो यह साधु है उसका भी वृत्तात कह रहा हूँ। सुनो—बारह वर्ष तक मलय पहाड पर रहकर यह इस नगर मे आया है। यहाँ एक दिन यह वेश्या के घर मे सो रहा था। उस कुट्टनी वेश्या के दरवाजे पर काठ के बने हुए वेताल की मूर्ति के सिर पर एक मूल्यवान् रत्न जडा हुआ था। लालच मे आकर इस साधु ने रात मे उठ कर उस रत्न को ले लेने का प्रयत्न किया। तत्काल वेताल ने डोरे मे चलाई गई अपनी बाहों से इसे जकड लिया, जिससे यह चिल्लाने लगा। कुटनी ने उठकर कहा—पुत्र, तुम मलय पहाड के पास से आ रहे हो, अत इसे सभी रत्न दे दो, नहीं तो यह तुम्हे नहीं छोडेगी। यही इसका व्यवहार ही है। तब इसने अपने सभी रत्नों को उसे दे दिया और सब कुछ चले जाने से अब हम लोगो से आ मिला है। यह सब सुनकर राजपुरुषो ने इसे न्यायालय में धर्माधिकारी के पास भेज दिया। धर्माधिकारी ने इस अहिरिन और दूती को गाँव से बाहर निकाल दिया। नाई अपने घर चला गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि 'मैं स्वर्णरेखा को छूकर' इत्यादि। यह तो अपना ही किया हुआ पाप है। फिर इस विषय मे रोना व्यर्थ है। (थोडी देर विचार कर) मित्र! जैसे मैंने इन दोनों में मित्रता कराई है उसी प्रकार मैं इनकी मित्रता मे फूट भी डाल दूँगा। क्योंकि—

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥ ११३॥

अन्वयः—अतिपेशलाः जनाः असत्यानि अपि चित्रकर्मविदः जनाः समे (चित्रपटे) निम्नोन्नतानि इव सत्यानि दर्शयन्ति ॥ ११३ ॥

असत्यानि=अवर्तमानानि सत्यानि = वर्तमानानि दर्शयन्ति = प्रदर्शयन्ति अतिपेशलाः =अतिशयेन चतुराः समे = समतले धरातले निम्नोन्नतानि = निम्नानि उन्नतानि च चित्रकर्मविदः=चित्रकाराः ॥

नीतिज्ञ लोग झूठ को भी सच सिद्ध कर देते हैं जिस तरह कुशल चित्रकार समान भूमि को भी ऊँची नीची करके दिखा देता है ॥ ११३ ॥

अपरं च—उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।
स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा ॥ ११४ ॥

अन्वयः—कार्येषु उत्पन्नेषु अपि यस्य मतिः न हीयते सः, गोपी जारद्वयम् यथा दुर्गाणि निस्तरति ॥ ११४ ॥

उत्पन्नेषु = समुपस्थितेषु हीयते = क्षीणा भवति निस्तरति = तरति = पारयति जारद्वयम्=दो उपपती यथा=इव ॥

और भी—कार्य के उपस्थित हो जाने पर भी जिसकी बुद्धि क्षीण नहीं होती वह कठिनाई से उसी प्रकार बच जाता है जैसे उस अहीरिन ने दोनों जारों को बचा लिया था ॥ ११४ ॥

करटकः पृच्छति—कथमेतत् ? दमनकः कथयति ।

करटक ने पूछा—यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ६

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद्गोपस्य वधूर्बन्धकी । सा ग्रामस्य दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च समं रमते । तथा चोक्तम्—

द्वारवत्याम् = द्वारकायाम् बन्धकी = व्यभिचारिणी । दण्डनायकेन=दण्डाध्यक्षेण (कोतवाल के साथ) समम्=सह रमते=व्यभिचारं करोति ॥

द्वारवती नगरी में किसी ग्वाले की पत्नी कुलटा थी । वह उस गाँव के मुखिया और उसके पुत्र—दोनों के साथ सम्भोग करती थी । जैसा कि कहा भी है—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ११५ ॥

अन्वयः—अग्नि काष्ठानाम्, महोदधि आपगानाम्, अन्तक सर्वभूतानाम्, (च) वामलोचना पुंसाम् न तृप्यति ॥ ११५ ॥

काष्ठानाम्=इन्धनानाम्, आपगानाम्—अपां समूह आपम्, तेन गच्छन्ति इति आपगास्तासाम्=नदीनाम्, अन्तक=यमराज, सर्वभूतानाम्=समस्तजीवानाम्, वामलोचना=युवतयो नार्य ॥

अग्नि लकड़ियों से, समुद्र नदियों से, यमराज सभी प्राणियों से और नारी पुरुषों से कभी भी तृप्त नहीं होती ॥ ११५ ॥

अन्यच्च—न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—स्त्रिय दानेन न, मानेन न, आर्जवेन न, सेवया न, शस्त्रेण न, शास्त्रेण न, (वशगामिन्य भवन्ति, यत) स्त्रिय सर्वथा विषमा (भवन्ति) ॥

मानेन=आदरेण, आर्जवेन—सरलतया, शस्त्रेण=आयुधादिताडनेन, शास्त्रेण=शास्त्रोपदेशेन, विषमा=कठिना ॥

और भी—स्त्रियाँ न तो दान से, न सन्मान से, न खुशामद से, न सेवा से, न हथियार से और न तो शास्त्र ही से सुधारी जा सकती हैं। इसीलिए वे बड़ी भयानक होती हैं ॥

यत —गुणाश्रयं कीर्तियुतं च कान्तं पतिं रतिज्ञं सधनं युवानम्।
विहाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति नरान्तरं शीलगुणादिहीनम् ॥

अन्वयः—वनिता गुणाश्रयम् कीर्तियुतम् कान्तम् रतिज्ञम् सधनम् युवानम् पतिम् विहाय शीलगुणादिहीनम् नरान्तरम् शीघ्रम् व्रजन्ति ॥ ११७ ॥

गुणाश्रयम् = शौर्यादिगुणवन्तम्, कीर्तियुतम् = यशस्विनम्, कान्तम् = रम्यम्, रतिज्ञम् = कामशास्त्रज्ञम्, युवानम् = युवकम्, वनिता = स्त्रिय, नरान्तरम्=अन्यं नरम्, जारमित्यर्थ ॥

क्योंकि—गुणी, यशस्वी, सुन्दर, रतिकला के ज्ञाता, धनी तथा नवयुवक पति को भी छोड़कर स्त्रियाँ अन्य दुराचारी तथा दुष्ट मनुष्य के पास शीघ्र चली जाती है ॥ ११७ ॥

अपरं च—

न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी विचित्रशय्या शयितापि कामम्।
यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥११८॥

अन्वयः—नारी कामम् विचित्रशय्याम् शयिता अपि तादृशीम् प्रीतिम् न व्रजति यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ परकान्तप्रसङ्गात् सौख्यम् प्रयाति ॥ ११८ ॥

विचित्रशय्याम् = उज्ज्वलप्रच्छदपटादिना विचित्रपर्यङ्कम्, शयिता—सुप्ता कामम् = यथेष्टम् दूर्वादिविकीर्णभूमौ = दूर्वादितृणाच्छन्नभूतले परकान्त-प्रसङ्गात्—अन्यपतिसहवासात् ॥

और भी—नारी सुन्दर शय्या पर सोती हुई भी उतना प्रसन्न नहीं होती है जितना दूसरे पुरुष के साथ घासफूस आदि से भरी भूमि पर सो कर सुखी होती है ॥ ११८ ॥

अथ कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति। अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः। तमायान्तं दृष्ट्वा तत्पुत्रं कुसूले निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडति। अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात्समागतः। तमवलोक्य गोप्योक्तम्—'दण्डनायक त्वं लगुडं गृहीत्वा कोपं दर्शयन्सत्वरं गच्छ'। तथा तेनानुष्ठिते गोपेन गृहमागत्य भार्या पृष्टा—'केन कार्येण दण्डनायकः समागत्यात्र स्थितः'। सा ब्रूते—'अयं केनापि कार्येण पुत्रस्योपरि क्रुद्धः। स च मार्यमाणोऽप्यत्रागत्य प्रविष्टो मया कुसूले निक्षिप्य रक्षितः। तत्पित्रा चान्विष्यात्र न दृष्टः। अत एवायं दण्डनायकः क्रुद्ध एव गच्छति'। ततः सा तत्पुत्रं कुसूलाद्बहिष्कृत्य दर्शितवती। तथा चोक्तम्—

सा = गोपी दण्डनायकपुत्रेण = दण्डाध्यक्षसुतेन रममाणा=रमणं कुर्वन्ती रन्तुम् = रमणं कर्तुम्। कुसूले = धान्यागारे (कोठिला या बखार) तदा = ग्रामस्य, गोष्ठात् = गोस्थानात्। लगुडम् = दण्डखण्डम् (लाठी) कोपं दर्शयन्= कोपप्रदर्शनं कुर्वन् न तु वस्तुतः कुपित तत्कारणाभावादित्यर्थः। अनुष्ठिते=कृते केनापि कार्येण=कस्मैचित् प्रयोजनाय अयम्=दण्डनायकः पलायमानः=पलायनं कुर्वन्, अन्विष्यता=अन्वेषणं कुर्वता।

एक बार वह मुखिया के बेटे के साथ सम्भोग कर रही थी कि उसी बीच मुखिया भी उसके साथ सम्भोग करने के लिए आ पहुँचा। उसे आया हुआ देख कर उसने उसके बेटे को बखार में छिपा दिया और मुखिया के साथ आनन्द लेने लगी। इसी बीच उसका पति ग्वाला गोशाला से आ पहुँचा। तब ग्वालिन ने उसे देखकर मुखिया से कहा—तुम डंडा लेकर क्रोध करते हुए बाहर निकलो। उसके ऐसा करने पर ग्वाले ने घर में आकर पूछा कि मुखिया यहाँ

किस लिए आया था ?' उसने कहा—यह किसी कारण से अपने पुत्र पर क्रुद्ध हुआ था। वह भगा हुआ मेरे घर में घुस आया, मैंने उसे बखार में छिपा कर बचा लिया। इसका पिता यहाँ आया किन्तु नहीं देखा। इसीलिए वह क्रुद्ध होकर गया है। तब उसने बखार से निकाल कर उसके पुत्र का दिखा दिया। जैसा कि कहा भी है—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—स्त्रीणाम् आहार द्विगुण तासाम् बुद्धि चतुर्गुणा, च व्यवसाय षड्गुण च काम च अष्टगुण स्मृत ॥ ११९ ॥

आहार =भोजनम्, द्विगुण = द्विगुणित, व्यवसाय = परिश्रमादिव्यापार, काम =कामवासना, सम्भोगाभिलाप इत्यय, स्मृत =कथित ॥

स्त्रियो का भोजन पुरुष की अपेक्षा दूना, उनकी बुद्धि चौगुनी, प्रयत्नशीलता छ गुनी और कामुकता आठगुनी होती ह ॥ ११९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु' इत्यादि।

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'काय पडने पर।' आदि।

करटको ब्रूते—'अस्त्वेवम्। किंत्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः।' दमनको ब्रूते—'उपायः क्रियताम्।' तथा चोक्तम्—

अनयो =सिंहवृषभयो, अन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेह = स्वभावेन परस्परमुत्पन्न प्रेम, भेदयितुम्=नाशयितुम्।

करटक ने कहा—यह तो ठीक है। किन्तु इन दोनो मे अत्यन्त महान् और स्वाभाविक प्रेम हो गया है, अत तुम उनमें कैसे फूट डाल सकते हो। दमनक ने कहा—उपाय करो—जैसा कि कहा भी गया है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातित ॥ १२० ॥

अन्वयः—यत् (कार्यम्) उपायेन शक्यम् (भवति), तत् पराक्रमै न शक्यम् (अस्ति) हि काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्प निपातित ॥ ११० ॥

यत्=कार्यम्, शक्यम् = साध्यम्, पराक्रमै = बलै। काक्या = काकस्त्रिया, कनकसूत्रेण (सोनेकी जंजीरसे), कृष्णसर्प (करैत साँप) निपातित =मारित ॥

उपाय से जो हो सकता है वह बल द्वारा नहीं हो सकता है। कौवी ने सोने की जंजीर के माध्यम से काले सर्प को मार डाला ॥ १२० ॥

करटकः पृच्छति—कथमेतत्? दमनकः कथयति।

करटक ने पूछा—यह कैसे? दमनक ने कहा—

कथा ७

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदम्पती निवसतः। तयोश्चापत्यानि तत्कोटरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि। ततः पुनर्गर्भवती वायसी वायसमाह—'नाथ! त्यज्यतामयं वृक्षः। अत्रावस्थितकृष्णसर्पेणावयोः संततिः सततं भक्ष्यते। यतः—

तरौ=वृक्षोपरि वायसदम्पती = काक काकी च (कौवेकी जोड़ी) अपत्यानि=सन्तानानि तत्कोटरावस्थितेन—तस्य=वृक्षस्य कोटरे=खोडरे (खोखले) अवस्थितेन=स्थितेन। सततम्=सर्वदा॥

किसी वृक्ष पर कौवों का एक जोड़ा रहता था। उसके बच्चों को उसी पेड़ के खोखले में रहने वाला काला साँप खा जाया करता था। इसके बाद जब कौवी फिर गर्भवती हुई तो उसने कौवे से कहा—स्वामी! इस वृक्ष को छोड़ दो। यहाँ रहने वाला काला साँप हम लोगों की सन्तानों को बराबर खा लिया करता है। क्योंकि—

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः' ॥ १२१ ॥

अन्वयः—दुष्टा भार्या शठम् मित्रम् च उत्तरदायकः भृत्यः च ससर्पे गृहे वास (इत्येतत्सर्वम्) मृत्युः एव (अस्ति अस्मिन्) संशयः न (अस्ति) ॥ १२१ ॥

दुष्टा=बुरी शठम्=कपटयुक्तम्, उत्तरदायकः=प्रत्युत्तरदाता ससर्पे=सर्पसहिते वास = निवास ॥

बुरी स्त्री, धूर्त मित्र, जवाब देने वाला नौकर तथा साँप वाले घर में रहना हमेशा मृत्यु का कारण बनता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं ॥ १२१ ॥

वायसो ब्रूते—प्रिये! न भेतव्यम्। वारंवारं मयैतस्य महापराधः सोढः। इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः। वायस्याह—'कथमनेन बलवता सार्धं भवान् विग्रहीतुं समर्थः। वायसो ब्रूते—अलमनया शङ्कया। यतः—

वायस =काक । भेतव्यम्=भय कर्तव्यम् । महापराध =महान् दोष , सोढ =सहन कृतम् । इदानीम्=अधुना, क्षन्तव्य =क्षमार्हं । वलवता = वलिना, विग्रहीतुम्=योद्धुम्, अलमनया शङ्कया=एव शङ्का न कर्तव्या ॥

कौवे ने कहा—प्रिये डरो मत । वरावर मैंने इसके अपराध को क्षमा किया है अव मैं इसे क्षमा नही करूँगा । कौवी ने कहा—आप इस वलवान के साथ कैसे झगडा कर सकेंगे । कौवे ने कहा—ऐसी शका न करो । क्योंकि—

बुद्धिर्यस्य वलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो वलम् ।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः' ॥ १२२ ॥

यस्य वुद्धि (अस्ति), तस्य वलम् (अस्ति), निर्वुद्धे तु कुत वलम् (अस्ति), पश्य, मदोन्मत्त सिंह शशकेन निपातित ॥ १२२ ॥

निर्वुद्धे =वुद्धिहीनस्य । मदोन्मत्त =मदोद्धत ॥

जिसके पास वुद्धि है उसी के पास वल है, जो वुद्धिहीन है उसके पास कहाँ वल होता है । देखो, मतवाले सिंह को खरगोश ने मार डाला ॥ १२२ ॥

वायसी विहस्याह—'कथमेतत् ।' वायसः कथयति—

कौवी ने हँसकर कहा—'यह कैसे ?' कौवे ने कहा—

कथा ८

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः । स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते । ततः सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्तः—'मृगेन्द्र ! किमर्थमेकदा वहुपशुघातः क्रियते । यदि प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाहाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः ।' ततः सिंहेनोक्तम्—'यद्येतदभिमतं भवतां तर्हि भवतु तत् ।' ततः प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते । अथ कदाचिद् वृद्धशशकस्य वारः समायातः । सोऽचिन्तयत्—

मन्दरनाम्नि=मन्दरनामके, विज्ञप्त = निवेदित । वहुपशुघात. = अनेकपशुवध , प्रसाद = प्रसन्नता, प्रत्यहम् = प्रतिदिनम्, उपढौकयाम = प्रापयाम । अभिमतम् = अभीष्टम्, तत प्रभृति = तस्मात् दिनादारभ्य, उपकल्पितम् = वन्यपशुभिर्नियतम्, वृद्धशशकस्य=प्रवयस शशकस्य (बूढे खरहे की) ॥

मन्दर नाम के पहाड पर दुर्दान्त नाम का सिंह रहता था । वह सर्वदा जानवरो को मारा करता था । तव सभी जानवरो ने मिलकर सिंह से कहा—

"हे मृगेन्द्र ! क्यों एक ही साथ बहुत से जानवरों को मारते हैं। यदि आप कृपा करें तो हम लोग ही आपके भोजन के लिए प्रतिदिन एक-एक जानवर सेवा में भेज दिया करें। सिंह ने कहा—'यदि आप लोगों की यही इच्छा है तो ऐसा ही होना चाहिए।' उसी समय से प्रतिदिन एक-एक भेजे गए जानवर को खाकर वह रहने लगा। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आई। उसने विचार किया—

'प्राणहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताशया।
पञ्चत्वं चेद्गमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे ॥ १२१ ॥

अन्वयः—प्राणहेतोः विनीतिः तु जीविताशया क्रियते चेद् (अहम्) पञ्चत्वम् गमिष्यामि (तर्हि) सिंहानुनयेन मे किम् (अस्ति) ? ॥ १२१ ॥

प्राणहेतोः = प्राणकारणीभूतात् उपायात् विनीतिः = विनयः जीविताशया = अहमस्यानुनयेन जीविष्यामि इत्याशया पञ्चत्वं = यदि मरिष्यामि सिंहानुनयेन = सिंहप्रार्थनया ॥

जीवन की आशा से ही भयभीत करने वाले की प्रार्थना की जाती है। यदि मुझे मरना ही है तो क्यों सिंह से प्रार्थना करूँ ॥ १२१ ॥

तन्मन्दं मन्दं गच्छामि। ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात् तमुवाच—कुतस्त्वं विलम्ब्य समागतोऽसि। शशकोऽब्रवीत्—देव ! नाहमपराधी। आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण बलाद्धृतः। तस्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्रागतोऽस्मि। सिंहः सकोपमाह—'सत्वरं गत्वा दुरात्मानं दर्शय क्व स दुरात्मा तिष्ठति। ततः शशकस्तं गृहीत्वा गभीरकूपं दर्शयितुं गतः। तत्रागत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी' इत्युक्त्वा तस्मिन् कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान्। ततोऽसौ क्रोधाध्मातो दर्पात् तस्योपर्यात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि— बुद्धिर्यस्य इत्यादि।

मन्दं मन्दम्—धीरे धीरे। कुतः—कस्मात् कारणात्, विलम्ब्य—विलम्बं कृत्वा। सिंहान्तरेण = अन्यसिंहेन बलाद्धृतः = बलपूर्वकं धृतः। शपथम् = समयम् (सौगन्ध) सकोपम्—कोपपूर्वकम्, दुरात्मानम् —दुष्टम्। गभीरकूपम्—गंभीरकूपम् (गहरे कूँएको) गतः = कूपसमीपं गतवान्। प्रतिबिम्बम् = प्रतिच्छायाम्। क्रोधाध्मातः = क्रोधपूर्णः दर्पात् = गर्वात्, तस्योपरि —प्रतिबिम्बोपरि कूर्दित्वा मृतः। सम्प्रति = इदानीम्।

इसलिए धीरे धीरे चलूं। तब सिंह ने भूख से व्याकुल होकर क्रोध के साथ

हा कि—'तुम क्यों इतनी देरी से आए हो।' खरगोश ने कहा—'इसमे मेरा
प नहीं है। रास्ते मे आते समय एक दूसरे बलवान सिंह ने मुझे पकड लिया।
मके सामने फिर आने की कसम खाकर स्वामी को सूचना देने यहाँ आया हूँ।'
सिंह ने क्रुद्ध होकर कहा कि—शीघ्र ही चलकर उस दुष्ट को दिखाओ कि वह
कहाँ रहता है।' तब खरगोश उसे लेकर एक गहरा कुआँ दिखाने के लिए गया।
हाँ जाकर उसने कहा कि 'स्वामी, आप स्वय देख लें। ऐसा कह कर उस
कुएँ के जल मे उसी सिंह की छाया दिखला दी। इसके बाद वह क्रोध तथा
घमड मे आकर कुएँ मे कूद पडा और मर गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि—
'जिसके पास बुद्धि है' आदि।

वायस्याह—'श्रुतं मया सर्वम्। संप्रति यथा कर्तव्यं तद् ब्रूहि।' वायसोऽवदत्—'अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति। स्नानसमये मदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्यानीयास्मिन् कोटरे धारयिष्यसि।' अथ कदाचित्स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम्। अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तै राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि। करटको ब्रूते—'यद्येवं तर्हि गच्छ। शिवास्ते सन्तु पन्थानः।' ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच—'देव! आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि। यतः—

आसन्ने=निकटवर्तिनि, सरसि = तडागे, स्नाति=स्नान करोति। तदङ्गादवतारितम् = राजपुत्रशरीरान्निस्सारितम्, तीर्थशिलानिहितम् = तीरस्थप्रस्तरे स्थापितम्, चञ्च्वा=त्रोटया, धारयिष्यसि=पातयिष्यसि, पातयेत्यर्थ। तदनुष्ठितम्= कनकसूत्र तरुकोटरे पातितवती। कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तैः = स्वर्णसूत्रप्राप्तय काकीमुद्दिश्यानुधावद्भिः, व्यापादित =हत। आत्ययिकम् = हानिकारकम्, महाभयकारि = अतिशयेन भयप्रदम्, मन्यमान = मन्वान ॥

कौवी ने कहा—'मैंने सब कुछ सुन लिया। इस समय जो करना है उसे बताओ।' कौवे ने कहा—इस निकट के तालाब मे राजकुमार प्रतिदिन आकर स्नान करता है। तुम स्नान के समय, उतार कर शिला पर रखे हुए स्वर्णसूत्र को चोंच से पकड कर लाओ और इस खोखले मे रख दो। एक बार जब राजपुत्र जल मे स्नान करने के लिए उतर पडा तो कौवी ने वैसा ही किया। इसके बाद उस सुवर्णसूत्र की खोज करने वाले सिपाहियो ने खोखले में काले साँप को देखा और उसे मार डाला। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'उपाय से

जो हो सकता है" इत्यादि । करटक ने कहा— यदि ऐसा है तो जाओ तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो । तब दमनक ने पिंगलक के समीप जाकर प्रणाम करके कहा—देव आप पर आने वाली एक महान विपत्ति को जानकर यहाँ आया हूँ । क्योंकि—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—आपदि उन्मार्गगमने च कार्यकालात्ययेषु हितः नरः अपृष्टः अपि कल्याणवचनम् ब्रूयात् ॥ १२४ ॥

आपदि = आपत्काले उन्मार्गगमने = कुमार्गगमने कार्यकालात्ययेषु—कार्यस्य कालः तस्य अत्ययेषु = उचितसमयविनाशेषु कल्याणवचनम् = हितकारकवचनम्, अपृष्ट = अननुयुक्त हित = हितेच्छुकः ॥

कल्याण चाहने वाले पुरुष को आपत्ति के समय कार्य का समय बीतते समय तथा बुरे मार्ग में जाते समय स्वामी को देखकर बिना पूछे ही सारी बातें बता देनी चाहिए ॥

अन्यच्च—भोगस्य भाजनं राजा न राजा कार्यभाजनम् ।
राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२५ ॥

अन्वयः—राजा भोगस्य भाजनम् (अस्ति) राजा कार्यभाजनं न (अस्ति) राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२५ ॥

भोगस्य=भोगकरणस्य भाजनम् = पात्रम् कार्यभाजनम् = कार्यकर्ता । राजकार्यपरिध्वंसी=राजकर्मनाशक दोषेण लिप्यते = दोषी भवति ॥

और भी—राजा केवल भोग का पात्र होता है अर्थात् भोग करने वाला होता है वह कार्य करने वाला नहीं होता । राजा के काम को बिगाड़ने वाला मन्त्री ही दोषी होता है ॥ १२५ ॥

तथा हि पश्य । अमात्यानामेष क्रमः—

और देखिए मन्त्रियों का यह नियम है—

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वाऽपि कर्तनम् ।
न तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम् ॥ १२६ ॥

अन्वयः—प्राणपरित्यागः वा शिरसः अपि कर्तनम् वरम् (अस्ति) तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोः उपेक्षणम् न वरम् (अस्ति) ॥ १२६ ॥

प्राणपरित्यागः = मरणम्, शिरसः कर्तनम् = शिरश्छेदनं वा स्वामि

पदावाप्तिपातकेच्छो —स्वामिन पदस्य=स्थानस्य राज्यस्येत्यर्थः, अवाप्ति लाभः एव पातक तस्येच्छु तस्य = राज्यलाभरूपपातक कर्तुमिच्छुकस्य, उपेक्षणम्= उपेक्षा ॥

प्राणो का परित्याग करना अच्छा है अथवा सिर भी कटा देना उत्तम है किन्तु स्वामी के पद को हडपने की इच्छा करने वाले को उपेक्षा करना ठीक नही है ॥ १२६ ॥

पिङ्गलकः सादरमाह—'अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति।' दमनको ब्रूते—'देव ! सजीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते। तथा चास्मत्सनिधाने श्रीमद्देवपादाना शक्तित्रयनिन्दा कृत्वा राज्यमेवाभिलषति।' एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभय साश्चर्यं मत्वा तूष्णीं स्थित.' दमनकः पुनराह—'देव ! सर्वामात्यपरित्याग कृत्वैक एवायं यत्त्वां सर्वाधिकारी कृतः, स एव दोषः। यतः—

असदृशव्यवहारी इव=अनुचितव्यवहारकर्तेव, लक्ष्यते=प्रतीयते। अस्मत्सन्निधाने अस्माक निकटे, श्रीमद्देवपादानाम् = भवताम्, शक्तित्रयनिन्दाम् = प्रभुमन्त्रोत्साहरूपाणां तिसृणा शक्तिना निन्दनम्। तूष्णीं स्थित = मौनो जात। सर्वामात्यपरित्याग कृत्वा=सर्वान्मन्त्रिण सन्त्यज्य ॥

पिंगलक ने आदर के साथ कहा—'आप क्या कहना चाहते हैं।' दमनक ने कहा—'संजीवक आप के प्रतिकूल कार्य करता हुआ दिखाई पड रहा है। उसने हमारे सामने आप की तीनों शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, तथा उत्साहशक्ति) की निन्दा करते हुए राज्य ले लेने की इच्छा व्यक्त की है। यह सुनकर पिंगलक भय और आश्चर्य के साथ थोडी देर के लिए सन्न हो गया। दमनक ने फिर कहा—आपने सभी मन्त्रियों को छोडकर इसी को सर्वाधिकारी बना दिया, आप से यही गलती हुई। क्योंकि—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्री।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १२७ ॥

अन्वयः—लक्ष्मी अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि च पार्थिवे पादौ विष्टभ्य उपतिष्ठते, सा स्त्रीस्वभावात् भरस्य असहा (सती) तयो द्वयो एकतरम् जहाति ॥ १२७ ॥

अत्युच्छ्रिते=अत्युन्नते संमानयुक्ते च पार्थिवे=नृपे विष्टभ्य = स्थिरौ कृत्वा उपतिष्ठते=तिष्ठति समाश्रयति च । असहा=सोढुमसमर्था भरस्य=भारस्य तयोर्द्वयोः=पार्थिवमन्त्रिणोः एकतरम् = अन्यतमम् जहाति = त्यजति ॥

अत्यन्त उन्नत मंत्री अथवा राजा के चरणों का अवलम्बन लेकर ही लक्ष्मी टिकती है किन्तु स्त्रीस्वभाव के कारण वह अधिक भार नहीं सहन कर सकती इसलिए वह उन दोनों में से एक का परित्याग कर देती है ॥ १२७ ॥

अपरं च—एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्भिद्यते ।
निर्भिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुह्यति ॥

अन्वयः—यदा भूमिपतिः एकम् सचिवम् राज्ये प्रमाणं करोति मोहात् तम् मदः श्रयते स च मदालस्येन निर्भिद्यते निर्भिन्नस्य तस्य हृदये स्वतन्त्रस्पृहा पदम् करोति ततः स स्वतन्त्रस्पृहया नृपतेः प्राणान्तिकम् द्रुह्यति ॥ १२८ ॥

सचिवम् = मन्त्रिणम् प्रमाणम् = प्रधानत्वेनाभिमतम्, तम् = सचिवम् मोहात्=अभिमानात् मदः = गर्वः, आलस्येन=अलसतया निर्भिद्यते=भिद्यते पदम् = स्थानम् स्वतन्त्रस्पृहा = स्वातन्त्र्येच्छा प्राणान्तिकम् = प्राणघातपर्यन्तम् द्रुह्यति = द्रोहं करोति ॥

और भी—जब राजा एक ही मंत्री को राज्य का सारा अधिकार दे देता है तो अज्ञान वश उसे अभिमान हो जाता है और अभिमान तथा आलस्य उसके हृदय में भेदभाव उत्पन्न कर देते हैं। भेद आ जाने के कारण उसके हृदय में स्वतन्त्र हो जाने की इच्छा आ जाती है और इसी स्वतंत्रता की इच्छा से वह राजा से प्राणघातक द्रोह करने लगता है ॥ १२८ ॥

अन्यच्च—विषदग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—विषदग्धस्य भक्तस्य च चलितस्य दन्तस्य च दुष्टस्य अमात्यस्य मूलात् उद्धरणम् सुखम् (भवति) ॥ १२९ ॥

विषदग्धस्य=विषाक्तस्य भक्तस्य=ओदनस्य (भात का) चलितस्य=दोलमानस्य अमात्यस्य=मन्त्रिणः मूलादुद्धरणम्=समूलोत्पाटनं सुखकरं भवति ॥

और भी—विष भरे भोजन हिलते हुए दाँत और दुष्ट मन्त्री को जड़ से उखाड़ फेंकने से ही सुख होता है ॥ १२९ ॥

किञ्च—यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ।
सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्सञ्चारकैर्विना ॥ १३० ॥

अन्वयः—य (जगतीपाल) श्रियम् सचिवायत्ताम् कुर्यात्; स जगतीपाल तद्व्यसने सति सचारकै विना अन्धवत् सीदति ॥ १३० ॥

सचिवायत्ताम्=सचिवाधीनाम्, तद्व्यसने = सचिवव्यसने, अन्धवत् = अन्धेन तुल्यम्, जगतीपाल =भूपति , सीदेत्=दु खितो भवेत्, सञ्चारकैर्विना=सेवकैर्विना ॥

और भी जो राजा अपनी राजलक्ष्मी को अपने मन्त्री के अधीन कर देता है तो वह विपत्ति के समय उसी अंधे के समान कष्ट पाता है जिसे कोई मार्ग बताने वाला नहीं होता ॥ १३० ॥

सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते । तदत्र प्रमाणं स्वामी । एतच्च जानाति—

स्वेच्छात =स्वेच्छया, प्रवर्तते=कार्ये प्रवृत्तो भवति ।

वह मंत्री सभी काम अपनी इच्छा के अनुसार करने लगता है । अब आप जैसा चाहें वैसा करें । आप यह तो जानते ही हैं कि—

न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
परस्य युवतिं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—लोके स पुरुष न अस्ति, य श्रियम् न कामयते । परस्य रम्याम् युवतीम् अत्र क सादरम् न ईक्षते ? ॥ १३१ ॥

कामयते = अभिलषति, श्रियम् = राजलक्ष्मीम्, पक्षे धनम्, सादरम्= आदरपूर्वकम्, भोगेच्छयेति शेष , ईक्षते = पश्यति ॥

ससार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं होता जो लक्ष्मी की कामना न रखता हो । भला दूसरे की सुन्दरी स्त्री को आदर के साथ कौन नही देखता ? ॥१३१॥

सिंहो विमृश्याह—'भद्र ! यद्यप्येवं तथापि सञ्जीवकेन सह मम महान् स्नेहः । पश्य—

विमृश्य=विचार्य, एवम्=त्वदुक्त्यनुरूपम् ।

सिंह ने विचार करके कहा—भाई, आप का कहना तो ठीक है लेकिन संजीवक के साथ मेरा बहुत स्नेह है । देखो—

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—यः प्रियः (अस्ति) सः व्यलीकानि कुर्वन्नपि प्रियः एव (अस्ति) अनेकदोषदुष्टः अपि कायः कस्य (जनस्य) वल्लभः न (भवति) ? ॥ ११२ ॥

व्यलीकानि=अपराधान् । अनेकदोषदुष्टः=अनेकदोषयुक्तस्तथा दुष्टोऽपि कायः=शरीरम् वल्लभः=प्रियतमः । अनेकदोषयुक्तदेहवत् अभिमुखाचरन् प्रियो जन सदा प्रिय एव जायते ॥

कितना ही अपराध करने पर भी प्रिय व्यक्ति सर्वदा प्रिय ही रहेगा । जैसे इस शरीर में सभी प्रकार के दोष होते हैं फिर भी वह किसे प्रिय नहीं होता ॥

अन्यच्च—अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—यः प्रियः (अस्ति) सः अप्रियाणि अपि कुर्वाणः प्रियः एव (अस्ति) दग्धमन्दिरसारे अपि वह्नौ कस्य (जनस्य) अनादरः भवति ॥११३॥

अप्रियाणि=अनिष्टानि कुर्वाणः=कुर्वन्, दग्धमन्दिरसारे—दग्धः = भस्मीकृतः मन्दिरस्य=गृहस्य सारः = सारभूतं वस्तु येन सः तस्मिन्, वह्नौ=अग्नौ अनादरः=तिरस्कारः, त्यागः उपेक्षा वैमत्यं । न कस्यापीति भावः ॥

और भी—अप्रिय कार्य करने पर भी प्रिय व्यक्ति प्रिय ही रहेगा । आग जिससे घर जल जाता है फिर भी कौन उसका अनादर करता है ? ॥११३॥

दमनकः पुनराह—'देव ! स एवातिदोषः । यतः—
देव !=श्रीमन् ! अतिदोषः=महान् अगुणः ।
दमनक ने फिर कहा—'राजन्, यही तो सबसे बड़ा दोष है । क्योंकि—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोहयति पार्थिवः ।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याश्रीयते जनः ॥ ११४ ॥

अन्वयः—पार्थिवः यस्मिन् एव सुते अमात्ये उदासीने अपि चक्षुः अधिकम् आरोहयति स जनः लक्ष्म्या आश्रीयते ॥ ११४ ॥

तस्मिन्=तत्र जने चक्षुरारोहयति=चक्षुरारोपयति स्नेहेन अनेन वर्ग परम् दीयते । सुते=पुत्रे उदासीने=मध्यस्थे शत्रुमित्रराज्यरहिते लक्ष्म्याश्रीयते=धनवान् भवति ॥

पुत्र, मन्त्री तथा अपने प्रति उपेक्षाभाव रखनेवाले जिस किसी व्यक्ति पर भी जब राजा अधिक स्नेह दिखाने लगता है तो वह लक्ष्मीपात्र बन हो जाता है ॥

शृणु देव—अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र सम्पदः ॥ १३५ ॥

अन्वयः—पथ्यस्य अप्रियस्य अपि परिणाम सुखावह (भवति) यत्र वक्ता च श्रोता अस्ति, तत्र सम्पद रमन्ते ॥ १३५ ॥

पथ्यस्य=हितकरस्य, वचनस्येति शेष, परिणाम =फलम्, सुखावह = सुखद (भवति), वक्ता=स्वामिने सत्परामर्शप्रद, श्रोता = अमात्यसत्परामर्शस्य श्रोता, यत्र=राज्ये स्थाने वा, रमन्ते=सानन्द चिर तिष्ठन्ति ॥

सुनिए राजन्—पथ्य (रोग के समय लिया जाने वाला भोजन) भले ही अच्छा न लगने वाला हो, किन्तु उसका अंतिम फल सुखदायक होता है । और अप्रिय पथ्य के बताने तथा सुनने वाले जहाँ रहते हैं वहाँ सभी प्रकार की सम्पत्ति विराजमान रहती है ॥

त्वया च मूलभृत्यानपास्यायमागन्तुकः पुरस्कृतः । एतच्चानुचितं कृतम् । यतः—

त्वया = भवता, पिङ्गलकेन, मूलभृत्यान् = प्रधानसेवकान्, अपास्य = दूरीकृत्य, आगन्तुक = बहिर्देशादागत, पुरस्कृत = अग्रे कृत, प्रधानत्वेन अभिमत इत्यर्थ, एतत्=आगन्तुकस्य पुरस्करणम् ॥

आपने अपने पुराने सेवकों को छोड़ दिया और इस नये आनेवाले को आगे बढ़ा दिया । यह आपने अनुचित किया । क्योंकि—

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रतिमानयेत् ।
नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—(नृप) मूलभृत्यान् परित्यज्य आगन्तून् न प्रतिमानयेत्, यत अत परतर राज्यभेदकर दोष न (अस्ति) ॥ १३६ ॥

मूलभृत्यान्=वंशपरम्परागतप्रधानसेवकान्, आगन्तून्—आगन्तुकान्, न प्रतिमानयेत्=नाद्रियात् । परतर =महत्तर, राज्यभेदकर =राज्यनाशक ॥

पुराने सेवकों को छोड़कर नये आनेवालों का सम्मान नहीं करना चाहिए । क्योंकि राज्य में भेद उत्पन्न करनेवाला इससे बड़ा और कोई भी दोष नहीं होता ॥

सिंहो ब्रूते—'किमाश्चर्यम् । मया यदभयवाचं दत्त्वाऽऽनीतः संवर्धितश्च तत्कथं मह्यं द्रुह्यति ।' दमनको ब्रूते—'देव

अभयवाचम् = अभयवचनम्, मह्यं द्रुह्यति = मां प्रति द्रोहं करोति 'क्रुधद्रुहेर्ष्या—' इति द्रुहधातोर्योगे मह्यमित्यत्र चतुर्थीविभक्तिः ॥

सिंह ने कहा—कितने आश्चर्य की बात है ? मैंने ही इसे अभयदान दिया, अपने पास बुलाया और इसे आगे बढ़ाया फिर वह मुझसे द्रोह क्यों करेगा ? दमनक ने कहा—

> दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
> स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् ॥ ११७ ॥

अन्वयः—दुर्जनः स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः नामितम् श्वपुच्छम् इव नित्यशः सेव्यमानः अपि आर्जवम् न याति ॥ ११७ ॥

आर्जवम्=सरलताम्, स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः—स्वेदनम्=वस्तुस्वेदकारिणा सिक्तीकरणम्, अभ्यञ्जनम्=तैलमर्दनम्, उपायम्=पुटादिस्थापनादि संस्थाप्य नमनादिकम् तैः नामितम्=ऋजुत्वार्थं नम्रीकृतम् ॥

दुष्ट नित्य सेवा करते रहने पर भी कुछ सीधा नहीं हो सकता। कुत्ते की टेढ़ी पूंछ को सेंक कर कितना ही तेल लगाया जाय लेकिन वह सीधी नहीं होती ॥

अपरञ्च—स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः ।

> मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—स्वेदितः च मर्दितः एव रज्जुभिः परिवेष्टितः, श्वपुच्छः द्वादशभिः वर्षैः मुक्तः (सन्) प्रकृतिं गतः (भवति) ॥ ११८ ॥

स्वेदितः=उष्णतैलादिना स्वेदवत्कृतः—यथा श्वपुच्छमपि ऋजुं कर्तुं तैलादिना सम्मर्दं कृतो लापयित्वा ऋजु करोति तथा कृत इति भावः । मर्दितः=तैलादिना हस्तमर्दनम् रज्जुभिः=गुणैः परिवेष्टितः=संवेष्टितः (ऋजुत्वार्थे अपेक्षा यथा) मुक्तः=त्यक्तः, श्वपुच्छः=कुक्कुरस्य पुच्छम् प्रकृतिं गतः=पूर्ववत् एव स्थितः ॥

और भी—कुत्ते की पूंछ सेंकी गई, अच्छी भाँति मली गई और बारह वर्षों तक सीधी करके बंधी रही किन्तु खोलने पर वह फिर टेढ़ी ही रह गयी ॥११८॥

अन्यच्च—वर्धनं वाथ सम्मानं खलानां प्रीतये कुतः ।

> फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—वर्धनम् सम्मानम् वा खलानाम् प्रीतये कुतः (भवति) अमृतसेके अपि विषद्रुमाः पथ्यानि न फलन्ति ॥ ११९ ॥

वर्धनम्=सवर्धनम्, सम्मानम्=आदर., प्रीतये=प्रसन्नतायै, कुत. = कस्मा-त्कारणात् भवति । अमृतसेके=सुधया सेचने, पथ्यानि=मधुरफलानि, विषद्रुमा =विषवृक्षा ॥

और भी—उन्नति या सम्मान भला दुष्ट स्वभाववालो को प्रसन्न कर सकता है ? अमृत से सींचे जाने पर भी विष के वृक्ष सुखदायक फल नहीं दे सकते ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ।
एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥१४०॥

अन्वयः—(सत्सेवक) यस्य पराभवम् न इच्छेत् (तेन) अपृष्ट' अपि हितम् ब्रूयात्, एष एव सताम् धर्म (अस्ति), अत विपरीतम् अन्यथा (अस्ति) ॥ १४० ॥

हितम् = हितकर वचनम्, यस्य—स्वाम्यादे , पराभवम्=पराजयम्, एष एव=अपृष्टेऽपि हितकृद्वाक्यकथनमेव । विपरीतमतो०—अस्मात्प्रतिकूलं कथनं सतामधर्मोऽस्तीत्यर्थ ॥

इसीलिए मैं कहता हूँ—

अगर कोई व्यक्ति किसी की हानि नहीं चाहता तो उसे उसके बिना पूछे ही हित की बातें बता देनी चाहिएँ । यही सज्जनों का मार्ग होता है । इसके विपरीत काम करना दुष्टों का काम है ॥ १४० ॥

तथा चोक्तम्—

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं
सा स्त्री यानुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।
सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते
तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥१४१॥

अन्वयः—य अकुशलात् निवारयति, स स्निग्ध , यत् निर्मलम्, तत् एव कर्म, या अनुविधायिनी, सा स्त्री, य सद्भि अभ्यर्च्यते, स मतिमान्, या मद न करोति, सा श्री , य तृष्णया मुच्यते, स सुखी, यत् अकृत्रिमत् तत् मित्रम्, य इन्द्रियै न खिद्यते, स पुरुष (अस्ति, अस्य यथायथ सर्वत्र अन्वय) ॥ १४१ ॥

अकुशलात्=अमङ्गलात्, निवारयति=निवारणं करोति, निर्मलम्=निर्दुष्टम्, अनुविधायिनी=अनुवर्तिनी, अभ्यर्च्यते=आद्रियते, मदम्=गर्वम्, तृष्णया= लोभेन, अकृत्रिमम्, न [illegible]—इन्द्रियवशगो न भवति ॥

जैसा कि कहा भी गया है—

वही सच्चा प्रेमी है जो हानि से बचावे कर्म वही है जो पवित्र हो स्त्री वही है जो आज्ञा मानने वाली हो बुद्धिमान वही है जो सज्जनों से पूजित हो लक्ष्मी वही है जो घमंड न उत्पन्न होने दे सुखी वही है जो लालच से मुक्त हो मित्र वही है जो स्वाभाविक हो और पुरुष वही है जो इन्द्रियों द्वारा दुःखी न बनाया जा सके ॥ १४१ ॥

यदि सञ्जीवकव्यसनरतो विज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्तते तदीदृशे भृत्ये न दोषः । तथा च—

सञ्जीवकव्यसनात् = सञ्जीवकोपरस्नेहव्यसनात्, रतः = मग्नः, विज्ञापितः = निवेदितः, न निवर्तते = सञ्जीवकसंसर्गं न त्यजति, ईदृशे — एवंविधव्यसने ।

मेरे इतना निवेदन करने पर भी यदि स्वामी सञ्जीवक के प्रेम से विरत नहीं हुए तो इसमें सेवक का कोई भी दोष नहीं है । और भी—

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव ।
ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने
तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम् ॥१४२॥

अन्वयः—कामासक्तः नृपः कार्यम् न गणयति च हितम् न पश्यति (किन्तु) मत्तः गजः इव यथेष्टम् स्वच्छन्दः विचरति ततः मानध्मातः सः यदा शोकगहने पतति तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति निजम् अविनयम् न वेत्ति ॥१४२॥

कामासक्तः = कामवशीभूतः, कार्यम् — कर्तव्यम्, यथेष्टम् — इच्छानुसारम्, स्वच्छन्दः — स्वतन्त्रः, मान [illegible] गहने — दुर्गमे, महाशोकवत्सौ पतति भृत्ये दोषान् क्षिपति = भृत्यान् दोषान् ददाति, निजम् — स्वकीयम्, अविनयम् — औद्धत्यम् ॥

कामासक्त राजा न तो कार्य की ओर ध्यान देता है न अपना हित ही समझ पाता है वह स्वच्छन्द मतवाले हाथी के समान मनमाने ढंग से विचरण करता है (जो मन चाहता है वह करता है) किन्तु घमंड में चूर होकर शोकरूपी गड्ढे में गिरने पर सारा दोष सेवकों के मत्थे मढ़ देता है अपने दोषों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता । अर्थात् राजाओं के पतन का कारण उनका अपना स्वच्छन्द व्यवहार ही है ॥ १४२ ॥

पिङ्गलकः (स्वगतम्)—

स्वगतम् = स्वमनसि अन्यमश्रावयन्नित्यर्थः ।

न परस्यापराधेन परेषां दण्डमाचरेत्।
आत्मनाऽवगतं कृत्वा बध्नीयात्पूजयेच्च वा ॥ १४३ ॥

अन्वयः—(राजा) परस्य अपराधेन परेषाम् दण्डम् न आचरेत्, आत्मना अवगतम् कृत्वा (नरम्) बध्नीयात् वा पूजयेत् ॥ १४३ ॥

परस्य=अन्यस्य, अपराधेन=दोषेण, परेषा ' आचरेत्=परान्न दण्डयेत्। आत्मना=स्वयम्, अवगत कृत्वा = ज्ञात्वा, बध्नीयात् = बन्धन कुर्यात्, दण्डयेदित्यर्थ, पूजयेत् = आद्रियेत वा ॥

पिंगलक ने—(मन ही मन कहा) किसी दूसरे के अपराध से दूसरों को दंड नहीं देना चाहिए। पहले अपने आप उसे भली भाँति समझ कर ही दंडित या सम्मानित करना चाहिए ॥ १४३ ॥

तथा चोक्तम्—गुणदोषावनिश्चित्य विधिर्न ग्रहनिग्रहे।
स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः ॥१४४॥

अन्वयः—गुणदोषौ अनिश्चित्य दोषाय ग्रहनिग्रहे न विधि '(कर्तव्य), यथा दर्पात् सर्पमुखे न्यस्त कर एव नाशाय (भवति) ॥ १४४ ॥

गुणदोषौ = गुणापराधौ, अनिश्चित्य = अनिर्णीय, गुणापराधयोर्निर्णयमकृत्वेत्यर्थ., ग्रहनिग्रहे = सग्रहणम् (समादर) दण्डश्च। स्वनाशाय=आत्मनो मरणाय, न्यस्त =स्थापित ॥

जैसा कहा भी गया है—गुण या दोष का निश्चय किए बिना अनुगृहीत या दंडित करना उचित नहीं है। ऐसा करना तो अभिमान मे आकर अपना ही विनाश करने के लिए साँप के मुँह में हाथ डालने के समान है ॥ १४४ ॥

प्रकाशं ब्रूते—'तदा संजीवकः किं प्रत्यादिश्यताम्।' दमनकः ससम्भ्रममाह—'देव, मा मैवम्। एतावता मन्त्रभेदो जायते। तथा ह्युक्तम्—

प्रत्यादिश्यताम्=बहिष्क्रियताम्, मयेति शेष, ससम्भ्रमम्=भयपूर्वकम्। मन्त्रभेद =मन्त्रणाया प्रकाश, जायते=भवति, मन्त्रणा प्रकाशं गच्छति। इत्यर्थ ॥

प्रकट रूप से कहा—तो क्या संजीवक को सेवा से अलग कर दिया जाय? दमनक ने घबड़ा कर कहा—'देव, ऐसा न करें, इससे मन्त्रभेद हो जायगा। जैसा कि कहा भी है—

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा ।
मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥ १८५ ॥

अन्वयः—गुप्तम् इदम् मन्त्रबीजम् (गुप्तेन) तथा रक्षणीयम् यथा मनाग् अपि न भिद्येत (यतः) भिन्नम् तत् न प्ररोहति ॥ १८५ ॥

मन्त्रबीजम्—मन्त्ररूपं बीजम् गुप्तम् = अप्रकाशितम् मनाक् = स्वल्पम् तत् = मन्त्रबीजम्, भिन्नम् = प्रकाशं गतम् स्फुटितञ्च । यथाऽस्फुटितं भूगर्भे गुप्तमेव बीजमङ्कुरितं भूत्वा यथाकालमफलं भवति तथैव सुरक्षितं मन्त्रमपि अन्यैः तस्य तत् फलप्रदं भवतीत्याशयः ॥

मन्त्र (मंत्री एवं राजा के बीच होने वाली राय बात) रूपी बीज को जैसे भी हो सके वैसे गुप्त ही रखना चाहिए। वह जरा भी फूटने न पाए, क्योंकि फूट जाने से वह फिर उग नहीं सकता ॥ १८५ ॥

किं च—आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ १८६ ॥

अन्वयः—क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य आदेयस्य प्रदेयस्य च कर्तव्यस्य कर्मणः रसम् कालः पिबति ॥ १८६ ॥

आदेयस्य—ग्रहणीयस्य प्रदेयस्य—दानयोग्यस्य रसम् = फलम्, कालः = समयः । क्षिप्रमक्रियमाणानामादेयादीनां परिणामः न भवतीति तात्पर्यम् ॥

और भी—लेन देन तथा कर्तव्य कार्य को शीघ्र ही न कर डालने से उनके रस को समय पी जाता है अर्थात् फिर उनके करने से कोई अच्छा परिणाम नहीं होता ॥ १८६ ॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन सम्पादनीयम् । किञ्च—

समारब्धम् = प्रारब्धं कार्यम्, सम्पादनीयम् = कर्तव्यम् ॥

इसलिए प्रारंभ किए गये कार्य को अत्यन्त परिश्रम के साथ पूरा करना चाहिए। और भी—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ १८७ ॥

अन्वयः—संवृतैः अपि सर्वाङ्गैः उपलक्षितः अधीरः योधः इव (संवृतैः अपि सर्वाङ्गैः उपलक्षितः) मन्त्रः परेभ्यः भेदशङ्कया चिरं स्थातुम् न सहते ॥१८७॥

मन्त्रः = रहसि द्वाभ्यां कृतो गुप्तविचारः योधः = योद्धा अधीरः = भीरुः सर्वाङ्गैः = कवचशिरस्त्राणादिरक्षितैः स्वाङ्गैः पक्षे अमात्यादिराज्यप्रकृतिभिः राज्याङ्गैः

सवृत = कवचादिनाच्छादिते , पक्षे तृतीयेन जनेनाज्ञाततया सुरक्षिते , परेभ्य = अन्येभ्य , शत्रुभ्यश्च, भेदशङ्कया=आघातभीत्या, पक्षे प्रकाशनभीत्या । यथा कवचादिनाच्छादितशरीरोऽपि भीरुर्योद्धा स्वाङ्गाघातभयाद् युद्धे चिर न तिष्ठति, तथैव अमात्यादिद्वादशभो राज्याङ्गैः सुरक्षितोऽपि गुप्तपरामर्शः 'रिपव ज्ञास्यन्ति' इति भयेन चिरकाल न तिष्ठति । अत शीघ्रं तदनुसारं कार्यं करणीयमिति भाव ॥

सभी अगो से ढके होने पर जिस प्रकार कायर योद्धा शत्रुओ से छिद जाने के भय से देर तक युद्धभूमि मे टिक नहीं सकता, उसी प्रकार भली भाँति गुप्त होने पर भी 'मन्त्र' फूट जाने के भय से अधिक समय तक टिक नहीं सकता ॥१४७॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य सधातव्यस्तदतीवानुचितम् यतः—

यदि इसके दोषों को जान कर भी आप उन दोनों का ध्यान न करके इससे सधि करना चाहते हों तो यह तो अत्यन्त अनुचित है । क्योंकि—

सकृद्दुष्टं तु यो मित्र पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युरेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १४८ ॥

अन्वयः—य तु सकृद् दुष्टम् मित्रम् पुन सन्धातुम् इच्छति, स अश्वतरी गर्भम् यथा मृत्युम् इव गृह्णाति ॥ १४८ ॥

सकृद्दुष्टम् = एकवारविरुद्धम्, सन्धातुम् = सन्धि कर्तुम्, अश्वतरी=वेसरी, खच्चरी इति यावत्, यथा = इव ॥

एक वार भी दुष्टता किए हुए मित्र से जो फिर मेल करना चाहता है वह मृत्यु ही को ग्रहण करता है जैसे खच्चरी गर्भ धारण करके मर जाती है ॥

सिहो ब्रूते—'ज्ञायता तावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः ।' दमनक आह—'देव !—

सिह ने कहा—'पहले यह मालूम करो कि यह हमारा क्या कर सकता है ?' दमनक ने कहा—'देव !

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथ सामर्थ्यनिर्णयः ।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृत.' ॥ १४९ ॥

अन्वयः—अङ्गाङ्गिभावम् अज्ञात्वा सामर्थ्यनिर्णय कथम् (कर्तुं शक्यते) पश्य, टिट्टिभमात्रेण समुद्र व्याकुलीकृत ॥ १४९ ॥

अङ्गाङ्गिभावम्=अङ्गाङ्गिनो सम्बन्धम्, सामर्थ्यनिर्णय = शक्ते निश्चय , टिट्टिभमात्रेण=केवल साधारणेन टिट्टिभ (टिटहरी) पक्षिणैव ॥

परस्पर संबन्ध आदि (सहाय्य और सहायक) का ज्ञान किए बिना शक्ति का निर्णय कैसे हो सकता है ? देखो केवल एक टिटिहिरी ने ही समुद्र को व्याकुल कर दिया ॥ १४९ ॥

सिंहः पृच्छति—'कथमेतत् ।' दमनकः कथयति—

सिंह ने पूछा—यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ९

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदम्पती निवसतः। तत्र चासन्नप्रसवा टिट्टिभी भर्तारमाह—'नाथ प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसन्धीयताम्।' टिट्टिभोऽवदत्—'भार्ये नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम्।' सा ब्रूते—'समुद्रवेलया व्याप्यते स्थानमेतत्।' टिट्टिभोऽवदत्—'किमहं निर्बलः समुद्रेण निग्रहीतव्यः।' टिट्टिभी विहस्याह—'स्वामिन् त्वया समुद्रेण च महदन्तरम्। अथवा—

टिट्टिभदम्पती=जायापती टिट्टिभी दम्पती जम्पती जायापती इत्यमरः। आसन्नप्रसवा = सन्निकटप्रसवसमया भर्तारम् = टिट्टिभम् प्रसवयोग्यस्थानम्= प्रसूत्यर्हं स्थानम् निभृतम् = एकान्तम् सुरक्षितमित्यर्थः अनुसन्धीयताम्= अन्विष्यताम् त्वयेति शेषः। समुद्रवेलया=समुद्रतटपयसा (ज्वार भाटा से) व्याप्यते=व्याप्तं भवति प्लाव्यते इत्यर्थः। निग्रहीतव्यः=पीडितव्यः॥

दक्षिण समुद्र के किनारे टिटिहिरी का एक जोड़ा रहता था। वहाँ टिटिहिरी ने बच्चा पैदा करने का समय निकट आने पर अपने पति से कहा—स्वामी बच्चा पैदा करने योग्य एकान्त स्थान की खोज कीजिए। टिट्टिभ ने कहा—प्रिये यही स्थान बच्चा पैदा करने योग्य है। उसने कहा—यह स्थान समुद्र की लहरोंसे भर जाता है। टिटिहरे ने कहा—क्या मैं कमजोर हूँ जो समुद्र मुझे दब देगा। टिटिहिरी ने हँसकर कहा—स्वामी आप और समुद्र में महान अन्तर है।

> पराभवं परिच्छेत्तुं योग्यायोग्यं च वेत्ति यः।
> अस्तीह यस्य विज्ञानं कृच्छ्रेणापि न सीदति ॥ १५० ॥

अन्वयः—य (नर) पराभवं परिच्छेत्तुम् च योग्यायोग्यम् वेत्ति इह यस्य विज्ञानम् (अस्ति स नरः) कृच्छ्रेण अपि न सीदति ॥ १५ ॥

पराभवम् = पराभवकारणम् परिच्छेत्तुम्=बुद्धिकर्तुम् योग्यायोग्यम् = योग्य अयोग्यो वा इति निर्णयम् वेत्ति=जानाति विज्ञानम् = विशिष्टज्ञानम्, कृच्छ्रेण=महाकष्टेन सीदति=दुःखितो भवति ॥

पराजय बचाने के लिए जो योग्य, अयोग्य का ज्ञान रखता है और जिसे अपने बल का ज्ञान होता है वह विपत्तियों से भी दुखी नहीं होता ॥ १५० ॥

अपि च—अनुचितकार्यारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्धा ।
प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि ॥ १५१ ॥

अन्वयः—अनुचितकार्यारम्भ स्वजनविरोध बलीयसा स्पर्धा प्रमदाजनविश्वास (इति एतानि) चत्वारि मृत्यो द्वाराणि (सन्ति) ॥ १५१ ॥

अनुचितकार्यारम्भ —अनुचितस्य = अयोग्यस्य, कार्यस्य=कर्मण ; आरम्भ = प्रारम्भ , स्वजनविरोध = स्वबान्धवादिना वैरम्, बलीयसा = अधिकबलवता, स्पर्धा=सघर्ष , प्रमदाजनविश्वास.=स्त्रीजनेषु विश्वास ॥

और भी—अनुचित कार्य का आरम्भ, अपने लोगो से शत्रुता, बलवानों से स्पर्धा, और स्त्री का विश्वास—ये चारो मृत्यु के द्वार हैं ॥ १५१ ॥

ततः कृच्छ्रेण स्वामिवचनात्सा तत्रैव प्रसूता। एतत्सर्वं श्रुत्वा समुद्रेणापि तच्छक्तिज्ञानार्थं तदण्डान्यपहृतानि । ततष्टिट्टिभी शोकार्ता भर्तारमाह—'नाथ, कष्टमापतितम् । तान्यण्डानि मे नष्टानि ।' टिट्टिभोऽवदत्—'प्रिये, मा भैषीः ।' इत्युक्त्वा पक्षिणां मेलकं कृत्वा पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः । तत्र गत्वा सकल वृत्तान्त टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्—'देव, समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनापराधेनैव निगृहीतः ।' ततस्तद्वचनमाकर्ण्य गरुत्मता प्रभुर्भगवान्नारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुर्विज्ञप्तः । स समुद्रमण्डदानायादिदेश । ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—'अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा' इत्यादि । राजाह—'कथमसौ ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति ।' दमनको ब्रूते—'यदासौ सदर्पः शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकितमिवागच्छति तदा ज्ञास्यति स्वामी ।' एवमुक्त्वा सञ्जीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन् विस्मितमिवात्मानमदर्शयत् । सञ्जीवकेन सादरमुक्तम्—'भद्र कुशल ते ।' दमनको ब्रूते—अनुजीविनां कुतः कुशलम् । यतः—

कृच्छ्रेण=अतिशयप्रबोधनादिना, प्रसूता = प्रसव कृतवती । तच्छक्तिज्ञानार्थम्=टिट्टिभसामर्थ्यज्ञानाय, तदण्डानि = टिट्टिभ्यण्डानि, अपहृतानि=जलतरङ्गप्लावनेन गृहीतानि । शोकार्ता = शोकपीडिता । कष्टमापतितम्=सहसा दुःखं

समागमनम् । पक्षिणां मेलकम् = पक्षिसम्मेलनम् गरुडस्य = विष्णुवाहनस्य पक्षि-राजस्य । सकलवृत्तान्तम्—समस्तवृत्तम् पुरतः=अग्रे । स्वगृहावस्थ = आत्मनो गृहे स्थित विनापराधेन = अपराधं विनैवायम् निगृहीत = पीडित । तदाक्र-न्दनम्—टिट्टिभक्रन्दनम्, आकर्ण्य = श्रुत्वा गरुत्मता—गरुडो = पक्षी स्व बल इति यस्मात् तेन=गरुडेन प्रभु=स्वामी नारायण = विष्णु सृष्टिस्थितिप्रलय हेतु—सृष्टि=सर्जन स्थिति=पालनम्, प्रलय=नाशश्चेति सृष्टिस्थितिप्रलया-स्तेषां हेतु=कारणम् = सृष्टिपालनप्रलयकारक इत्यर्थः विज्ञप्त=निवेदित । अण्ड दानाय = अण्डानि दातुम् आदिदेश = आदिष्टवान्, मौलौ = मस्तके निधाय= गृहीत्वा विष्णोराज्ञां शिरोनमनपूर्वकं स्वीकृत्येत्यर्थः अब्धि=समुद्रः द्रोहबुद्धि = विद्रोही सदर्पः=दर्पेण सहित भृत्याभावमुपगताभिमुख —भृत्याप्रेष प्रहर्तुमुद्य-तमिव=समर्थ । मर्म मर्मम् = मर्म कर्म उपसर्पन् = निकट गच्छन् विस्मि-तम्=भीतम्, आत्मविस्मृतम् पर्याकुलितम् = पर्याकुलितवान् । अनुजीविनाम् = सेवकानाम् कुत = कस्मात् हेतो कुशलम् = क्षेमम् ॥

इसके पश्चात् स्वामी के कहे अनुसार बड़ी कठिनाई से उसने वहीं अण्डा वैसा किया । यह सब सुनकर समुद्र ने भी उसकी शक्ति जानने की इच्छा से उसके अंडों को चुरा लिया अर्थात् लहरों से बहा दिया । तब टिटिहिरी ने शोक से व्याकुल होकर पति से कहा—नाथ अब तो विपत्ति आ गई मेरे बच्चे नष्ट हो गए । टिटिहरे ने कहा—प्रिये मत डरो ऐसा कहकर वह पक्षियों को इकट्ठा करके उनके राजा गरुड़ के पास पहुँचा । वहाँ उसने भगवान गरुड़ के सामने सारा समाचार कह सुनाया—देव समुद्र ने बिना अपराध ही अपने घर में रहने वाले मुझको दुःखी किया है । उसकी बात सुनकर गरुड़ ने सृष्टि पालन तथा विनाश करने वाले भगवान नारायण से निवेदन किया । उन्होंने समुद्र को अंडा देने का आदेश दिया । भगवान की आज्ञा मानकर समुद्र ने सभी अंडे टिटिहरे को दे दिये । इसी लिए मैं कह रहा हूँ—'परस्पर संबंध आदि जाने बिना'—इत्यादि । राजा ने कहा—'वह कैसे जाना जाय कि वह मुझसे द्रोह करता है ? दमनक ने कहा—जब वह अभिमान के साथ सींग की नोक से मारने के लिये तैयार-जैसा डरावना होकर आप के सामने आएगा तो स्वामी समझ जायेंगे । यह कह कर वह संजीवक के पास गया वहाँ पहुँच कर धीरे धीरे चलते हुए उसने अपने को कुछ चकित रूप में प्रदर्शित किया । संजीवक ने आदर के साथ कहा कि—भद्र कुशल तो है न । दमनक ने कहा—सेवकों का कुशल कहाँ है ? क्योंकि—

सम्पत्तयः पराधीनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥ १५२ ॥

अन्वयः—ये (नरा) राजसेवका सन्ति, तेषाम् (नराणाम्) सम्पत्तय पराधीना, चित्तम् सदा अनिवृतम्, स्वजीविते अपि अविश्वास (भवति) ॥१५२॥

सम्पत्तय =धनानि, पराधीना =राजाधीना, अनिवृंतम्=सुखहीनम् ॥

राजसेवकों का धन सदा दूसरे के हाथ मे होता है, चित्त चिन्ता मे पडा रहता है और उन्हे अपने जीवन का भी विश्वास नही होता है ॥ १५२ ॥

अन्यच्च—

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को वास्ति राज्ञां प्रिय ।
कः कालस्य भुजान्तर न च गतः कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५३ ॥

अन्वयः—क अर्थान् प्राप्य न गर्वित ? कस्य विषयिण आपद अस्तं गता ? भुवि स्त्रीभि कस्य मन न खण्डितम् ? वा राज्ञाम् प्रिय क अस्ति ? च क कालस्य भुजान्तरम् न गत ? क अर्थी गौरव गत ? दुर्जनवागुरासु पतित क पुमान् क्षेमेण यात ? ॥ १५३ ॥

अर्थान्=धनानि, गर्वित = दर्पित, विषयिण = विषयासक्तस्य, आपदो०= विपदो नष्टा, विपत्तयो न भवन्ति, खण्डितम् = वशीकृतम्, कालस्य = मृत्यो भुजान्तर गत = आलिङ्गित, कालेन मृत इति यावत्, अर्थी = याचक, गौरवम् =महत्त्वम् दुर्जनवागुरासु = दुजनजालेषु, क्षेमेण यात =कुशली स्थित, न कोऽपि इत्यर्थ ॥

और भी ऐसा कौन व्यक्ति है जो धन को पाकर अभिमानी न बने, ऐसा कौन विषयी है जिसकी आपत्तियाँ दूर हुई हो, इस ससार में ऐसा कौन है जिसका मन स्त्रियो से खण्डित न हुआ हो, कौन ऐसा है जो राजा को प्रिय हो, कौन मृत्यु के हाथो नहीं पडा, किस मागने वाले ने बडप्पन प्राप्त किया, और ऐसा कौन है, जो दुष्टो के जाल में फँसकर सुख से रहा हो ॥ १५३ ॥

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सखे, ब्रूहि किमेतत् ।' दमनक आह—'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः । पश्य—

सजीवक ने कहा—'मित्र, बताओ यह क्या है ?' दमनक ने कहा—'मैं अभागा क्या बताऊँ ? देखो—

मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।
न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति ॥ १५४ ॥

अन्वयः—(यथा कश्चिन्नरः) पयोराशौ मज्जन् अपि सर्पावलम्बनम् लब्ध्वा न मुञ्चति च न आदत्ते (अहम्) सम्प्रति तथा मुग्धः अस्मि ॥ १५४ ॥

मज्जन् = डूबन् मग्नो भवन् (डूबता हुआ) पयोराशौ = समुद्रे सर्पावलम्बनं लब्ध्वा=सर्पं गृहीत्वा मुञ्चति = त्यजति आदत्ते = धारयति मुग्धः=मूढ ॥

जैसे समुद्र में डूबता हुआ मनुष्य साँप का सहारा पाकर न तो उसे छोड़ ही पाता है और न पकड़ ही पाता है वैसे ही इस समय मैं भी किंकर्तव्य विमूढ बन गया हूँ ॥ १५४ ॥

यतः—एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवाः ।
किं करोमि क्व गच्छामि पतितो दुःखसागरे ॥ १५५ ॥

अन्वयः—एकत्र राजविश्वासः नश्यति अन्यत्र बान्धवाः नश्यन्ति दुःखसागरे पतितः किम् करोमि क्व गच्छामि ? ॥ १५५ ॥

एकत्र=एकस्मिन् पार्श्वे (एक तरफ) राजविश्वासः=नृपविश्वासः नश्यति= विनष्टः भवति (अन्यत्रापि बान्धवाः) बान्धवाः=बन्धुः सम्बन्धी स्वजनाः ॥

क्योंकि—एक ओर राजा का विश्वास नष्ट हो रहा है दूसरी ओर भाई का विनाश आ पहुँचा है। क्या करूँ कहाँ जाऊँ ? मैं तो दुःख के सागर में पड़ गया हूँ ॥ १५५ ॥

इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः । सञ्जीवको ब्रूते—'मित्र, तथापि सविस्तरं मनोगतमुच्यताम्। दमनकः सुनिभृतमाह—'यद्यपि राजविश्वासो न कथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययादागतः। मया परलोकार्थिनावश्यं तव हितमाख्येयम्। शृणु, अयं स्वामी तवोपरि विकृतबुद्धी रहस्युक्तवान्—'सञ्जीवकमेव हत्वा स्वपरिवारं तर्पयामि। एतच्छ्रुत्वा सञ्जीवकः परं विषादमगमत्। दमनकः पुनराह—अलं विषादेन। प्राप्तकालकार्यमनुष्ठीयताम्। सञ्जीवकः क्षणं विमृश्याह स्वगतम्—'सुष्ठु खल्विदमुच्यते। किं वा दुर्जनचेष्टितं न वेत्येतद् व्यवहारान्निर्णेतुं न शक्यते। यतः—

सविस्तरम् = विस्तरेण सहितम्, मनोगतम् = हृदयस्थं भावम्, सुनिभृतम् = पूर्णं गुप्तम् अस्मदीयप्रत्ययात् = मदीयविश्वासात्, परलोकार्थिना= स्वर्गाभिलाषुकेन हितम् = हितवचनम् आख्येयम् = कथनीयम्। विकृतबुद्धिः= दुष्टबुद्धिः रहसि—एकान्ते। स्वपरिवारम् = आत्मनो बन्धुवर्गम्, तर्पयामि= तृप्तं करिष्यामि। परम्=अधिकम् विषादम् = खेदम्। अलं विषादेन = विषादं

मा कुरु । प्राप्तकालकार्यम् = समयानुकूल कार्यम् । क्षणम्=क्षणमात्रम्, विमृश्य=विचार्य । सुष्ठु = समुचितम् । दुर्जनचेष्टितम् = दुष्टचेष्टा ॥

ऐसा कहकर लम्बी साँस खींचते हुए बैठ गया । सञ्जीवक ने कहा—'फिर भी विस्तार के साथ अपने मन की सारी बातें बताओ ।' दमनक ने बड़ी नम्रता से कहा—यद्यपि राजा के भेद की बात नहीं कहनी चाहिये, फिर भी आप हमारे विश्वास पर आए हैं । परलोक की अभिलाषा रखने वाला मैं आपके कल्याण की बात अवश्य बताऊँगा । सुनो, हमारे स्वामी इस पिंगलक की नीयत आप के प्रति खराब हो गई है । उन्होंने एकान्त में कहा है कि—'संजीवक को ही मार कर अपने कुटुम्बियों को सन्तुष्ट करूँगा ।' यह सुनकर संजीवक बहुत दुःखी हुआ । दमनक ने फिर कहा—'आप दुःखी न हों । समय के अनुसार कार्य करें ।' संजीवक ने कुछ देर तक विचार करके मन ही मन कहा—यह बहुत ठीक कह रहा है, अथवा यह दुष्टों की चाल है या नहीं, यह तो व्यवहार से नहीं समझा जा सकता है । क्योंकि—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा ।
कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च ॥ १५६ ॥

अन्वयः—प्रायेण नार्यः दुर्जनगम्याः, राजा अपात्रभृत्, धनम् कृपणानुसारि च देवः गिरिजलधिवर्षी भवति । (अस्य क्रियापदस्य पूर्वस्मिन् वाक्ये 'भवन्ति' इति वचनविपरिणामेनान्वयः) ॥ १५६ ॥

दुर्जनगम्याः=दुष्टैर्भोग्याः, नार्यः=स्त्रियः, अपात्रभृत्=कुपात्रपालकः, कृपणानुसारि=कृपणजनगतम्, देवः=मेघः, गिरिजलधिवर्षी=पर्वतसमुद्रयोः वृष्टिकारकः ॥

स्त्रियाँ प्रायः दुर्जनों के पास ही पहुँचती हैं, राजा दुष्टों ही का पालन करने वाला होता है, धन कंजूसों के ही पास रहता है और बादल पहाड़ों पर तथा समुद्र में ही अधिक पानी बरसाते हैं ॥ १५६ ॥

कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः ।
प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १५७ ॥

अन्वयः—कश्चित् असज्जनः आश्रयसौन्दर्यात् प्रमदालोचनन्यस्तम् मलीमसम् अञ्जनम् इव शोभाम् धत्ते ॥ १७७ ॥

आश्रयसौन्दर्यात्—आश्रयस्य = नृपादेः, पक्षे नेत्रयोश्च, सौन्दर्यात् = सरलस्वभावत्वात्, पक्षे लावण्यात्, धत्ते=धारयति, शोभाम् = कान्तिम्, प्रमदालोचनन्यस्तम्=युवतिनेत्रार्पितम्, मलीमसम्=अतिशयेन मलिनम्, अञ्जनम्=कज्जलम् ॥

जैसे स्त्रियों की आँख में लगा हुआ काला भी अञ्जन आँख के सहारे ही शोभा पाता है उसी प्रकार कभी कभी दुष्ट भी अच्छा सहारा पाकर सुशोभित हो उठता है ॥ १५७ ॥

तत चिरं विचिन्त्योक्तम् । कथं किमिदमापतितम् । यतः—

इस प्रकार देर तक सोचकर उसने कहा—इतनी बड़ी विपत्ति कैसे आ पड़ी । क्योंकि—

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्नान्न तोषमायाति किमत्र चित्रम् ।
अयं त्वपूर्वप्रतिमाविशेषो यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १५८ ॥

अन्वयः—प्रयत्नात् आराध्यमानः नृपतिः तोषम् न आयाति अत्र चित्रं किम् (अस्ति) ? अयम् तु अपूर्वः प्रतिमाविशेषः (अस्ति) यः सेव्यमानः अपि रिपुताम् उपैति ॥ १५८ ॥

आराध्यमानः=सेव्यमानः प्रयत्नात्=प्रयत्नेन तोषमायाति=प्रसन्नो भवति अपूर्वप्रतिमाविशेषः=अद्भुतमूर्तिविशेषः रिपुताम्=शत्रुताम् अयमाशयः—सेव्यमाना अन्या देवादिप्रतिमा प्रसन्ना भवति किन्तु सेवयापि शत्रुतया राजरूपेयं प्रतिमा अदृष्टपूर्वेति भावः ॥

अत्यन्त परिश्रम के साथ आराधना करने पर भी यदि राजा संतुष्ट नहीं होता तो इसमें आश्चर्य ही क्या है । यह उसमें एक विचित्र विशेषता है कि सेवा करने पर भी वह शत्रुता मानता है ॥ १५८ ॥

तदयमशक्यार्थः प्रमेयः । यतः—

तत्=तस्मात्कारणात्, सेवनेऽपि शत्रुतागमहेतोः अशक्यार्थः = कर्तुमशक्यः प्रमेयः = विषयः ॥

अब इस बात का अनुमान लगाना भी शक्ति से बाहर है । क्योंकि—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति ।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ॥ १५९ ॥

अन्वयः—हि यः निमित्तम् उद्दिश्य प्रकुप्यति सः तस्य अपगमे ध्रुवम् प्रसीदति तु यस्य मनः अकारणद्वेषि (भवति) जनः तम् कथम् परितोषयिष्यति ? ॥

निमित्तम्=कारणविशेषम् उद्दिश्य=अभिलक्ष्य प्रकुप्यति=कुप्यति ध्रुवम्=अवश्यम्, तस्य=निमित्तस्य अपगमे=नाशे प्रसीदति = प्रसन्नो भवति अकारणद्वेषि=कारणं विना द्वेषयुक्तम्, परितोषयिष्यति—सन्तुष्टं करिष्यति न सन्तुष्टं करिष्यति इत्यर्थः ॥

जो व्यक्ति किसी कारण से नाराज होता है, वह उस कारण के दूर हो जाने पर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु जिसका मन अकारण ही शत्रु बन जाता है, उसे भला कोई कैसे सन्तुष्ट कर सकता है ॥ १५९ ॥

किं मयापकृतं राज्ञः। अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः।' दमनको ब्रूते—'एवमेतत्। शृणु—

अपकृतम्=अपकार कृत, निर्निमित्तापकारिण=निष्कारणमपकारका ॥

मैंने राजा का क्या बिगाड़ा? अथवा राजा लोग अकारण ही बुराइ करने वाले होते हैं।' दमनक ने कहा—'ऐसा ही है। सुनो—

विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कैश्चित्
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति।
चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १६० ॥

अन्वयः—कश्चित् विज्ञै स्निग्धैः उपकृतम् अपि (अगणयित्वा) द्वेष्यताम् एति अन्यै साक्षात् अपकृतम् अपि (विस्मृत्य) प्रीतिम् एव उपयाति, अथ नैकभावाश्रयाणाम् चरितम् चित्रं चित्रम् (अस्ति), परमगहन सेवाधर्मं योगिनामप्यगम्य (भवति) ॥ १६० ॥

विज्ञै=चतुरै, स्निग्धै=स्नेहयुक्तै, उपकृतम्=उपकारम्, द्वेष्यतामेति=द्विष्यति, द्वेषं करोति। साक्षात्=प्रत्यक्षम्, अपकृतम्=अपकारम्, चित्र चित्रम्=अतिशयेन विचित्रम्, सम्भ्रमे द्विर्वचनम्, अथ = अथवा, नैकभावाश्रयाणाम्—अत्र 'नैकधे'त्यादिवत् 'न' शब्देन समास, न तु नञा, अन्यथाऽनेकभावाश्रयाणामित्येवमुच्येत=विविधभाववताम्, सेवाधर्म=सेवनम्, परमगहन=अतिकठिन, योगिनाम्=अतीन्द्रियपदार्थानपि प्रत्यक्ष कुर्वताम्, अगम्य=ज्ञातुमशक्य ॥

राजा बुद्धिमान तथा प्रेमी सेवक द्वारा उपकृत होने पर भी उससे शत्रुता करने लगता है और अन्य दूसरो द्वारा प्रत्यक्ष अपकार करने पर भी उससे प्रेम करता है, चञ्चल चित्तवालो के कार्य इसी प्रकार निश्चित होते हैं। इसीलिए सेवाधर्म बहुत ही जटिल होता है, जिसका पार पाना योगियों के लिए भी कठिन है ॥ १६० ॥

अन्यच्च—कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम् ॥ १६१ ॥

अन्वयः—असत्सु कृतशतम् नष्टम् (भवति) अबुधेषु सुभाषितशतम् नष्टम् (भवति) अवचनकरे वचनशतम् च अचेतने बुद्धिशतम् नष्टम् भवति ॥

कृतशतम् = शतशः कृता अनेकोपकाराः असत्सु = असज्जनेषु सुभाषितशतम् = शतशः सूक्तानि सुभाषितानि अबुधेषु = मूर्खेषु, वचनशतम् = शतानि वचनानि अवचनकरे=आज्ञाया अपालके बुद्धिशतम्—शतं बुद्धयः अचेतने—चेतनाहीने नष्टम्—निष्फलम् । 'कृतशतमसत्सुनष्टम्' इति नियमेन सर्वत्र 'शत'शब्दस्यासङ्ख्यवाचके प्रयोगो बोध्यः ॥

और भी—दुष्ट के प्रति किए गए सैकड़ों उपकार व्यर्थ हैं, मूर्खों के प्रति कहे गए सैकड़ों उपदेश व्यर्थ हैं, बात न मानने वालों के प्रति कही गई सैकड़ों बातें निष्फल हैं और अज्ञानी के प्रति सैकड़ों युक्ति व्यर्थ ॥ १५१ ॥

किञ्च—चन्दनतरुषु भुजङ्गा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च भोगे खला न च सुखान्यविघ्नानि ॥ १५२ ॥

अन्वयः—चन्दनतरुषु भुजङ्गाः जलेषु कमलानि च तत्र ग्राहाः च भोगे गुणघातिनः खलाः (निवसन्ति अत एव) सुखानि अविघ्नानि न (सन्ति) ॥१५२॥

भुजङ्गाः—सर्पाः ग्राहाः—मकरादयो जलजन्तवः भोगे—विषयोपभोगे गुणघातिनः—गुणनाशकाः गुणद्वेषिण इत्यर्थः खलाः—दुष्टाः सन्ति सुखानि—सर्वाणि सर्वविधसुखानि च इत्येवम् । अविघ्नानि—निर्विघ्नानि । न सन्तीति शेषः ॥

और भी—चन्दन में साँप लिपटा रहता है, जल में कमल के साथ घड़ियाल भी होता है, भोगों में गुण को नाश करने वाले दुष्ट भी हैं। अतः सुख कभी विघ्नों से रहित होता ही नहीं है ॥ १५२ ॥

मूलं भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः ।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य
यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः ॥ १५३ ॥

अन्वयः—चन्दनपादपस्य मूलम् भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः (आश्रितानि) चन्दनपादपस्य तत् न अस्ति एव यत् दुष्टतरैः च हिंस्रैः न आश्रितम् (अस्ति) ॥ १५३ ॥

मूलम्=अधोभागाश, भुजङ्गैः=सर्पैः, कुसुमानि=पुष्पाणि, भृङ्गैः=भ्रमरैः, शाखा=लता, डाली, प्लवङ्गैः=वानरैः, शिखराणि=अग्रभागा, भल्लैः=भल्लुकैः, दुष्टतरैः=अतिशयेन दुष्टैः, हिंस्रैः=हिंसकैः। सर्वत्र सज्जनानां निकटे दुष्टा न सन्तीति, तत्र सज्जनस्थितिरसम्भवेति भाव ॥

चंदन वृक्ष का ऐसा कोई भी अङ्ग नही जिसमे दुष्टो का निवास न हो। उसकी जड में सांप, फूलों में भौंरे, डालियों पर बंदर तथा चोटियों पर भालू निवास करते हैं ॥ १६३ ॥

अयं तावत्स्वामी वाचि मधुरो विषहृदयो ज्ञातः। यतः—

स्वामी=पिङ्गलक, वाचि मधुर=मधुरभाषी, विषहृदय=विषवद्दुष्टहृदय ॥

यह स्वामी बात मे मधुर किन्तु हृदय से विष भरा हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि—

> **दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनो**
> **गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः।**
> **अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायापटुः**
> **को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः ॥१६४॥**

अन्वयः—(आगच्छन्त दृष्ट्वा) दूरात् उच्छ्रितपाणि आर्द्रनयन प्रोत्सारितार्धासन गाढालिङ्गनतत्पर प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादर, अन्तर्भूतविष बहि॰ मधुमय च अतीव मायापटु अयम् क अपूर्वनाटकविधि दुर्जनै शिक्षित नाम? ॥१६४॥

दूरात्=दूरत आगच्छन्त विलोक्य, उच्छ्रितपाणि=(आह्वानाय) उन्नतकर. प्रोत्सारितार्धासन=(तदुपवेशनाय) त्यक्तार्धासनभाग, गाढालिङ्गनतत्पर=निर्भराऽऽश्लेषयोद्यत, प्रियकथाप्रश्नेषु=प्रियचर्चावसरेषु, दत्तादर=आदरेण कथाया श्रोता, अन्तर्भूतविष=हृदि विषयुक्त, बहि=बाह्यप्रदेशे, मधुमय=मधुरतापूर्ण, मायापटु=मायावी, अपूर्वनाटकविधि=अदृष्टपूर्वनाटकाभिनय ॥

आगत व्यक्ति का दूर ही से हाथ फैला कर स्वागत करना, आँखो मे प्रेमाश्रु भर लेना, अपना आधा आसन बैठने के लिए खाली कर देना, प्रगाढ आलिङ्गन के लिए तत्पर हो जाना, आदर के साथ मधुर बातचीत तथा कुशल प्रश्न करना, भीतर से विषमय किन्तु बाहर से मधुरता दिखाना आदि कपट से भरा हुआ नाटक का कितना विचित्र रूप है जो दुर्जनों द्वारा बराबर खेला जाता है ॥

> **तथाहि—पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे**
> **निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः।**

इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः ॥१६५॥

अन्वयः—दुस्तरवारिराशितरणे पोतः अन्धकारागमे दीपः निर्वाते व्यजनम् मदान्धकरिणाम् दर्पोपशान्त्यै सृणिः (ब्रह्मणा रचिता) इत्थम् भुवि तद् न अस्ति यस्य उपायचिन्ता विधिना न कृता (किन्तु) धाता अपि दुर्जनचित्तहरणे भग्नोद्यमः जातः (इति) मन्ये ॥ १६५ ॥

दुस्तरवारिराशितरणे=दुस्तरसमुद्रपारगमने पोतः=जलयानम् (जहाज) अन्धकारागमे = अन्धकारे आगते दीपः = दीपकः निर्वाते = वायोरभावे व्यजनम्=तालवृन्तादिकम् (पंखा) मदान्धकरिणाम् = मदान्धगजानाम् दर्पोपशान्त्यै=दर्पनाशाय सृणिः—अङ्कुशः विधिना = ब्रह्मणा उपायचिन्ता= प्रतीकारचिन्ता मन्ये=अहं जानामि दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे—दुर्जनानाम्=दुष्टानाम् चित्तस्य=मनसः वृत्तिः=व्यापारः=दुष्टस्वभावः तस्याः हरणे विनाशने भग्नोद्यमः = नष्टोद्योगः ॥

जैसा कि—इस पृथ्वी पर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसका उपाय विधाता ने न किया हो। उन्होंने गहरे समुद्र को पार करने के लिए जहाज, अंधकार आने पर दीपक, हवा न चलने पर पंखा, मद से मतवाले हाथियों को वश में रखने के लिए अंकुश आदि का तो निर्माण कर दिया, किन्तु मैं ऐसा समझता हूँ कि दुष्टों का हृदय-परिवर्तन करने में उनका भी साहस टूट चुका है ॥ १६५ ॥

संजीवकः पुनर्निःश्वस्य—'कष्टं भोः, कथमहं सस्यभक्षकः सिंहेन निपातयितव्यः। यतः—

निःश्वस्य=दीर्घश्वासं गृहीत्वा सस्यभक्षकः = तृणभक्षकः निपातयितव्यः = हन्तव्यः ॥

संजीवक ने फिर साँस लेकर कहा—'मैं तृणभोजी होकर भी क्या सिंह द्वारा मार ही डाला जाऊँगा ?

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम्।
तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥ १६६ ॥

अन्वयः—ययो एव समम् वित्तम् (भवति) ययो एव समम् बलम् (भवति) तयो (एव) विवादः मन्तव्यः (भवति) उत्तमाधमयोः (विवादः) क्वचित् न (मन्तव्यः भवति) ॥ १६६ ॥

समम्=तुल्यम् वित्तम् = धनम्, विवादः = विरोधः, मन्तव्यः = माननीयः उचित इति भावः उत्तमाधमयोः =श्रेष्ठनीचयोः क्वचित् = कुत्रचित् ॥

जिनके धन मे समानता है अथवा जिनके बल भी समान हैं, उन्ही दोनों मे मित्रता या शत्रुता होती है। बडे और छोटे के बीच न तो मित्रता ही होती है न शत्रुता ही ॥ १६६ ॥

(पुनर्विचिन्त्य) केनाय राजा ममोपरि विकारितः न जाने । भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम् । यतः—

विकारित =विकारयुक्त कृत , भेदमुपगतात् = दुर्मन्त्रणया भिन्नात् (फोडे गये) ॥

फिर विचार करके—नही मालूम किसने इस राजा को मेरे विरुद्ध कर दिया ? फूटे हुए राजा से सर्वदा डरना चाहिए । क्योकि—

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।
वलयं स्फटिकस्येव को हि संधातुमीश्वरः ॥ १६७ ॥

अन्वयः—मन्त्रिणा क्वचित् विघटितम् पृथिवीपालचित्तम् स्फटिकस्य वलयम् इव क सन्धातुम् ईश्वर (अस्ति) ॥ १६७ ॥

मन्त्रिणा = यद्वा गुप्तमन्त्रणाकारकेन जनेन, पृथिवीपालचित्तम् = नृपतिमानसम्, विघटितम्=भिन्नं कृतम्, पक्षे स्फुटितम्, वलयम्=कङ्कणम्, स्फटिकस्य= स्फटिकमणे , सन्धातुम्=योजयितुम्, ईश्वर = समर्थ , केनापि स्फुटित स्फटिकमणिकङ्कणमिव मन्त्रणाकर्त्रा भिन्नं भूपतिचित्त पुनर्योजयितुं कोऽपि समर्थो नास्तीत्याशय ॥

जैसे स्फटिक मणि से बने हुए कंकण के टूट जाने पर उसे जोड नहीं जा सकता, उसी प्रकार मन्त्री द्वारा तोडे गये राजा के चित्त को फिर मिलाया नहीं जा सकता ॥ १६७ ॥

अन्यच्च—वज्रं च राजतेजश्च द्वयमेवातिभीषणम् ।
एकमेकत्र पतति पतत्यन्यत्समन्ततः ॥ १६८ ॥

अन्वयः—वज्रम् च राजतेज च (एतत्) द्वयम् एव अतिभीषणम् (अस्ति, किन्तु) एकम् एकत्र पतति, अन्यत् समन्तत पतति ॥ १६८ ॥

वज्रम्=कुलिशम्, 'ह्लादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पवि ।' इत्यमर , राजतेज = नृपतितेज , द्वयम् = उभयम्, अतिभीषणम् = अतिशयेन भयङ्करम्, एकम् = वज्रम्, एकत्र=एकस्मिन् स्थाने, अन्यत्=राजतेज , समन्तत = समन्तात्, सर्वत्र इत्यर्थ ॥

और भी—वज्र और राजा का तेज दोनो ही बडे भयंकर होते हैं, किन्तु इनमें से एक अर्थात् वज्र तो एक ही जगह गिरता है किन्तु दूसरा तो सब जगह गिरता है ॥ १६८ ॥

ततः संग्रामे मृत्युरेव वरम्। इदानीं तदाज्ञानुवर्तनमनुचितम्। यतः—

तत =तस्मात्कारणात् तदाज्ञानुवर्तनम् = पिङ्गलकादेशानुरूपाचरणम् अनुचितम्=अयोग्यम् ॥

इसलिए युद्ध में मरना ही श्रेष्ठ है। इस समय उसकी आज्ञा पालन करना उचित नहीं है। क्योंकि—

मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शत्रुं हत्वा सुखानि वा ।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ १६९ ॥

अन्वयः—वा मृतः स्वर्गम् प्राप्नोति वा शत्रुम् हत्वा सुखानि प्राप्नोति हि शूराणाम् एतौ उभौ अपि गुणौ सुदुर्लभौ (स्तः) ॥ १६९ ॥

मृतः=युद्धे हतः। उभौ अपि = द्वावपि शूराणाम् = वीराणाम्, सुदुर्लभौ = अतिशयेन दुष्प्राप्यौ ॥

वीर या तो युद्ध में मर कर स्वर्ग पाता है अथवा शत्रु को मार कर सुख पाता है। वीरों के ये दोनों गुण अत्यन्त दुर्लभ होते हैं ॥ १६९ ॥

युद्धकालश्चायम्।

अब तो युद्ध का समय है—

यत्रायुद्धे ध्रुवं मृत्युर्युद्धे जीवितसंशयः ।
तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १७० ॥

अन्वयः—यत्र अयुद्धे ध्रुवम् मृत्युः (भवति) युद्धे जीवितसंशयः (भवति) मनीषिणः युद्धस्य तम् एव कालम् प्रवदन्ति ॥ १७० ॥

अयुद्धे=युद्धाभावे ध्रुवम्=निश्चितम्, जीवितसंशयः = जीवने सन्देहः यद् युद्ध्वा पराजितस्य वा जीविताशा भवेत्, मनीषिणः = विद्वांसः ॥

जब लड़ाई न करने में मृत्यु निश्चित हो तथा युद्ध में जीवन के प्रति सन्देह हो, तब बुद्धिमान् लोग उसे ही युद्ध-काल कहते हैं ॥ १७० ॥

यतः—अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किञ्चिद्धितमात्मनः ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १७१ ॥

अन्वयः—यदा प्राज्ञः अयुद्धे आत्मनः किञ्चित् हितम् न पश्येत्, तदा रिपुणा सह युध्यमानः म्रियते ॥ १७१ ॥

अयुद्धे = युद्धकरणे हितम् = कल्याणम्, युध्यमानः—युद्धं कुर्वन्, प्राज्ञः = बुद्धिमान्, रिपुणा = शत्रुणा ॥

क्योंकि—बुद्धिमान् जब न लडने मे कोई भी भलाई नहीं देखता तो वह शत्रु के साथ लडते हुए मर जाता है ॥ १७१ ॥

जये च लभते लक्ष्मीं मृते चापि सुराङ्गनाम् ।
क्षणविध्वंसिनः कायाः का चिन्ता मरणे रणे ॥ १७२ ॥

अन्वयः—(यदा योद्धा युद्धे) जये लक्ष्मीम्, मृतेन अपि सुराङ्गनाम् लभते, (यदा च) काया क्षणविध्वंसिन (एव सन्ति, तदा) रणे मरणे का चिन्ता (अस्ति) ? ॥ १७२ ॥

जये=विजये, लभते = प्राप्नोति, सुराङ्गनाम् = देवाङ्गनाम्, अप्सरस लभत इत्यर्थं , क्षणविध्वसिन =क्षणभङ्गुरा , काया = देहा ॥

जीतने पर लक्ष्मी प्राप्त करता है और मरने पर स्वर्ग में अप्सराएँ मिलती हैं। शरीर तो क्षण भर मे ही नष्ट हो जाने वाला है - फिर युद्ध में मरने की चिन्ता ही क्या ? ॥ १७२ ॥

एतच्चिन्तयित्वा संजीवक आह—'भो मित्र, कथमसौ मां जिघांसुर्ज्ञातव्यः। दमनको ब्रूते—'यदासौ पिङ्गलकः समुन्नत-लाङ्गूल उन्नतचरणो विवृतास्यस्त्वां पश्यति, तदा त्वमपि स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि। यतः—

जिघांसु =हन्तुमिच्छु , ज्ञातव्य =बोद्धव्य । समुन्नतलाङ्गूल =उपरिकृतपुच्छ , उन्नतचरणः=उत्थापितपाद , विवृतास्य =व्यात्तानन (मुख बाया हुआ), स्वविक्रमम् = स्वसामर्थ्यम् ॥

यह सोचकर सजीवक ने कहा—'मित्र यह कैसे मालूम होगा कि वह मुझे मार डालना चाहता है ?' दमनक ने कहा—जब पिंगलक पूँछ ऊँचा करके पैरों को उठाकर अपना मुँह खोले हुए तुम्हें देखे तो तुम्हें भी अपना बल दिखाना चाहिए। क्योंकि—

बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाभिभवास्पदम् ।
निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम् ॥ १७३ ॥

अन्वयः—निस्तेजा बलवान् अपि कस्य अभिभवास्पदम् न (भवति) ? पश्य, लोकै भस्मचये नि शङ्कम् पदम् दीयते ॥ १७३ ॥

बलवान्=शूर , निस्तेजा =तेजोहीन , अभिभवास्पदम् = अनादरस्थानम्, लोकै = जनै , 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमर , भस्मचये = क्षारराशौ ।

बलवान् होते हुए भी तेजहीन व्यक्ति अनादर के पात्र बन जाते हैं। देखो, राख के ढेर में लोग निडर होकर पैर रखते हैं ॥ १७३ ॥

किन्तु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् । नो चेन्न त्वं नाहम्' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम्?' दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽयमन्योन्यभेदः' ।

सुगुप्तम्—अतिगुप्तभावेन अनुष्ठातव्यम् = कर्तव्यम्, नो चेत्—अन्यथा गुप्तमननुष्ठाने सति न त्वं नाहम्—त्वमहञ्च परित्याज्यौ । निष्पन्नम् = सिद्धम् । [illegible]—अयम् अन्योन्यभेदः—परस्परविरोधः ।

किन्तु यह सभी छिपकर करना चाहिए । नहीं तो न तुम बचोगे और न मैं ही । ऐसा कह कर दमनक करटक के समीप गया । करटक ने कहा—'क्या किया?' दमनक ने कहा—'दोनों के बीच परस्पर भेद उत्पन्न कर दिया ।'

करटको ब्रूते—'कोऽत्र सन्देहः । यतः—

करटक ने कहा—'इसमें क्या सन्देह ! क्योंकि—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—दुष्टानाम् कः बन्धुः (अस्ति)? याचितः (सन्) कः न कुप्यते? वित्तेन कः न दृप्यति, कुकृत्ये कः न पण्डितः (भवति)? ॥ १०४ ॥

बन्धुः = बान्धवः । कुप्यते = कुप्यति । याचितः = अभ्यर्थितः धनादिकमर्थं प्रार्थितः । दृप्यति—दर्पं करोति । कुकृत्ये—कुत्सितकर्मणि ॥

दुष्ट का भाई कौन होता है? मांगने पर क्रुद्ध कौन नहीं होता? धन से कौन अभिमान नहीं करता और कुकर्म में कौन पण्डित नहीं होता? ॥ १०४ ॥

अन्यच्च—दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—धूर्तैः आत्मविवृद्धये श्रीमान् दुर्वृत्तः क्रियते । खलसंसर्गः आश्रयाशवत् किम् न कुरुते नाम? ॥ १०५ ॥

दुर्वृत्तः—दुराचारी । धूर्तैः—वञ्चकैः (दुष्टैः), श्रीमान् = धनवान् । खलसंसर्गः—दुर्जनसङ्गतिः । आश्रयाशवत्—आश्रयम् = स्थानमाश्रयं वा, अश्नाति—व्याप्नोति भस्मीकरोति इति आश्रयाशः—अग्निः तेन तुल्यमिति आश्रयाशवत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः ॥

और भी—धूर्त अपनी भलाई के लिए धनी को भी दुराचारी बना देते हैं । दुष्टों का संग अग्नि के समान क्या नहीं कर सकता ॥ १०५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव, समागतोऽसौ पापाशयः। ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास। सञ्जीवकोऽप्यागत्य तथाविधं विकृताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार। ततस्तयोर्युद्धे सञ्जीवकः सिंहेन व्यापादितः।

असौ=सञ्जीवकः, पापाशयः=दुराशयः। ततः = तस्मात्, सज्जीभूय = तन्मारणाय सज्जो भूत्वा, पूर्वोक्ताकारम् = उपरिकृतलाङ्गुलपादव्यानमुखम्, विकृताकारम् = दूषिताकृतिम्, योद्धुं दूषितेनाननेन स्थितम्, स्वानुरूपम् = स्वानुकूलम्, विक्रमम् = पराक्रमम्। व्यापादितः = हतः॥

तब दमनक ने पिंगलक के पास जाकर कहा—'देव, वह पापी आया है। अतः आप तैयार हो जायें। ऐसा कहकर उसने सिंह का वही रूप करा दिया, जैसा उसने सजीवक को बताया था। सञ्जीवकने भी आकर उस प्रकार के बिगडे रूप वाले सिंह को देखकर अपनी शक्ति के अनुसार बल दिखाया। इसके बाद उन दोनों की लडाई में सञ्जीवक सिंह द्वारा मार डाला गया।

अथ सञ्जीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव तिष्ठति। ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम्। यतः—

व्यापाद्य=हत्वा, विश्रान्तः=विशेषेण श्रान्तः, सशोकः=शोकयुक्तः। दारुणम्=क्रूरम्॥

इसके बाद पिंगलक अपने सेवक सजीवक को मार कर थके एवं दुखी भाव से बैठ गया और उसने कहा—'मैंने यह कितना भयंकर कार्य कर डाला। क्योंकि—

परैः समुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम्।
धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव॥ १७६॥

अन्वयः—राज्यम् परैः समुज्यते, धर्मातिक्रमतः राजा हस्तिवधात् सिंहः इव स्वयम् पापस्य भाजनम् (भवति)॥ १७६॥

परैः=अन्यैजनैः, समुज्यते=भोगः क्रियते, भाजनम् = पात्रम्, धर्मातिक्रमतः =धर्मोल्लङ्घनात्, यथा सिंहेन हतस्य हस्तिनो मांसमन्ये शृगालादयो भुञ्जते सिंहस्तु हस्तिवधजन्यपापभाङ्मात्रं भवति, तथैव राज्यभोगकर्तारः अमात्यादयः सन्ति अधर्मेण राज्यपालने तु राजैव पापभाग्भवति, नान्य इत्यर्थः॥

राजा धर्म का उल्लंघन करने के कारण स्वयं वैसे पाप का भागी बनता है जैसे सिंह हाथी को मार कर, किन्तु राज्य का सुख-भोग तो दूसरे ही करते

किन्तु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् । नो चेन्न त्वं नाहम् ।' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः । करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम् ?' दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः' ।

सुगुप्तम्—अतिगुप्तभावेन अनुष्ठातव्यम् = कर्तव्यम् नो चेत्—अन्यथा सुगुप्तमननुष्ठाने सति न त्वं नाहम्—त्वमहञ्च मरिष्यावः । निष्पन्नम् = सिद्धम् । असौ—अयम् अन्योन्यभेदः—परस्परविरोधः ।

किन्तु यह सभी छिपकर करना चाहिए । नहीं तो न तुम बचोगे और न मैं ही । ऐसा कह कर दमनक करटक के समीप गया । करटक ने कहा—'क्या किया ?' दमनक ने कहा—'दोनों के बीच परस्पर भेद उत्पन्न कर दिया ।'

करटको ब्रूते—'कोऽत्र संदेहः । यतः—
करटक ने कहा—'इसमें क्या सन्देह । क्योंकि—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः ॥ १७४ ॥

अन्वयः—दुष्टानां कः बन्धुः (अस्ति) ? याचितः (सन्) कः न कुप्यते ? वित्तेन कः न दृप्यति कुकृत्ये कः न पण्डितः (भवति) ? ॥ १७४ ॥

बन्धु = बान्धव कुप्यते = कुप्यति याचित = अभ्यर्थितः धनादिदानार्थं प्रार्थित दृप्यति—दर्पं करोति कुकृत्ये—कुत्सितकर्मणि ॥

दुष्ट का भाई कौन होता है ? माँगने पर क्रुद्ध कौन नहीं होता ? धन से कौन अभिमान नहीं करता और कुकर्म में कौन पंडित नहीं होता ? ॥ १७४ ॥

अन्यच्च—दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥ १७५ ॥

अन्वयः—धूर्तैः आत्मविवृद्धये श्रीमान् दुर्वृत्तः क्रियते खलसंसर्गः आश्रयाशवत् किम् न कुरुते नाम ? ॥ १७५ ॥

दुर्वृत्त = दुराचारी धूर्तैः—वञ्चकैः श्रीमान् = धनवान् गुणादि. खलसंसर्ग = दुर्जनसङ्गति आश्रयाशवत्—आश्रयम् = स्थानसम्पर्कं काष्ठादिकम्, अश्नाति=खादति भस्मीकरोति इति आश्रयाशः—अग्निः, तेन तुल्यमिति आश्रयाशवत् तेन तुल्यं क्रिया चेदिति इति वतिप्रत्ययः ॥

और भी—धूर्त अपनी भलाई के लिए धनी को भी दुराचारी बना देते हैं । दुष्टों का सङ्ग अग्नि के समान क्या नहीं कर सकता ॥ १७५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव, समागतोऽसौ पापाशयः। ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामासः। सञ्जीवकोऽप्यागत्य तथाविध विकृताकारंसिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रम चकार। ततस्तयोर्युद्धे सञ्जीवकः सिंहेन व्यापादितः।

असौ=सञ्जीवक, पापाशय=दुराशय। तत = तस्मात्, सज्जीभूय = तन्मारणाय सज्जो भूत्वा, पूर्वोक्ताकारम् = उपरिकृतलाङ्गुलपादव्यानमुखम्, विकृताकारम् = दूषिताकृतिम्, योद्धु दूषितेनामनेन स्थितम्, स्वानुरूपम् = स्वानुकूलम्, विक्रमम् = पराक्रमम्। व्यापादित = हत ॥

तब दमनक ने पिंगलक के पास जाकर कहा—'देव, वह पापी आया है। अत आप तैयार हो जायँ। ऐसा कहकर उसने सिंह का वही रूप करा दिया, जैसा उसने सजीवक को वताया था। सञ्जीवकने भी आकर उस प्रकार के विगडे रूप वाले सिंह को देखकर अपनी शक्ति के अनुसार वल दिखाया। इसके वाद उन दोनो की लडाई मे सञ्जीवक सिंह द्वारा मार डाला गया।

अथ सजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव तिष्ठति। ब्रूते च—'किं मया दारुण कर्म कृतम्। यतः—

व्यापाद्य=हत्वा, विश्रान्त=विशेषेण श्रान्त, सशोक=शोकयुक्त। दारुणम्=क्रूरम् ॥

इसके वाद पिंगलक अपने सेवक सजीवक को मार कर थके एव दुखी भाव से वैठ गया और उसने कहा—'मैंने यह कितना भयकर कार्य कर डाला। क्योंकि—

परैः संभुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम्।
धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव ॥ १७६ ॥

अन्वयः—राज्यम् परै सभुज्यते, धर्मातिक्रमत राजा हस्तिवधात् सिंह इव स्वयम् पापस्य भाजनम (भवति) ॥ १७६ ॥

परै=अन्यैर्जनै, संभुज्यते=भोग क्रियते, भाजनम् = पात्रम्, धर्मातिक्रमत =धर्मोल्लङ्घनात्, तथा सिंहेन हतस्य हस्तिनो मांसमन्ये शृगालादयो भुञ्जते सिंहस्तु हस्तिवधजन्यपापभाङ्मात्र भवति, तथैव राज्यभोगकर्तार अमात्यादय सन्ति अधर्मेण राज्यपालने तु राजैव पापभाग्भवति, नान्य इत्यर्थ ॥

राजा धर्म का उल्लघन करने के कारण स्वय वैसे पाप का भागी वनता है जैसे सिंह हाथी का मार कर, किन्तु राज्य का सुख-भोग तो दूसरे ही करते हैं ॥

अपरं च—भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः ।
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां
नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥ १७७ ॥

अन्वयः—गुणान्वितस्य भूम्येकदेशस्य वा बुद्धिमतः सेवकस्य प्रणाशे भृत्यप्रणाशः नृपाणाम् मरणम् (अस्ति यतः) नष्टा अपि भूमिः सुलभा (भवति) (नष्टाः) भृत्याः सुलभाः (न भवन्ति) ॥ १७७ ॥

गुणान्वितस्य=उर्वरस्य भूम्येकदेशस्य=भूम्येकभागस्य बुद्धिमतः = बुद्धियुक्तस्य प्रणाशे=विनाशे सत्युत्तमे इति शेषः भृत्यप्रणाशः=सेवकमरणम् ॥

और भी—राज्य की उपजाऊ भूमि के किसी एक भाग तथा बुद्धिमान् सेवक के विनाश से बुद्धिमान् सेवक का विनाश राजा की मृत्यु के समान है। क्योंकि नष्ट हुई भूमि तो पुनः सुलभ हो सकती है लेकिन मरा हुआ सेवक नहीं मिल सकता ॥ १७७ ॥

दमनको ब्रूते—'स्वामिन्, कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा संतापः क्रियते। तथा चोक्तम्—

नूतनः=नवीन अरातिम्=शत्रुम् संतापः क्रियते=संतप्यते ॥

दमनक ने कहा—स्वामी यह कौन नई राजनीति है जो शत्रु को मारकर दुःखी हो रहे हैं। जैसा कि कहा भी है—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृद् ।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ १७८ ॥

अन्वयः—यदि पिता वा भ्राता वा यदि पुत्रो वा सुहृद् (भवेत् किन्तु) प्राणच्छेदकराः (भवेयुः) भूतिम् इच्छता राज्ञा हन्तव्याः (सन्ति) ॥ १७८ ॥

प्राणच्छेदकराः=प्राणघातकाः हन्तव्याः = वध्याः, भूतिम् = सम्पदम् "भूति र्भस्मनि सम्पदि" इति विश्वः। इच्छता=अभिलषता ॥

यदि पिता भाई पुत्र या मित्र कोई भी राजा के प्राणों का घात करने वाला बन जाय तो कल्याण चाहने वाले राजा को चाहिए कि वह उसे मार डाले ॥ १७८ ॥

अपि च—धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत् ।
नहि हस्तस्थमप्यन्नं क्षमावान् भक्षितुं क्षमः ॥ १७९ ॥

अन्वयः—धर्मार्थकामतत्त्वज्ञ (जन) एकान्तकरुण न भवेत्, हि क्षमावान् (जन) हस्तस्थम् अन्नम् अपि भक्षितु क्षम न (भवति) ॥ १७९ ॥

धर्मार्थकामतत्त्वज्ञ —धर्मार्थकामाना सारस्य ज्ञाता, एकान्तकरुण = केवलं दयालु, हस्तस्थम्=स्वकरस्थितम्, अन्नम्=भोज्यद्रव्यम्, क्षमावान्=क्षमाशील ॥

और भी—धर्म, अर्थ तथा काम के तत्वज्ञ को सर्वथा दयालु नही बनना चाहिए। क्योंकि अधिक क्षमाशील हाथ मे रखा हुआ भी भोजन नही खा सकता ॥

किं च—क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ १८० ॥

अन्वयः—शत्रौ च मित्रे च क्षमा यतीनाम् एव भूषणम् (भवति); अपराधिषु सत्त्वेषु सा एव क्षमा नृपाणाम् दूषणम् (भवति) ॥ १८० ॥

क्षमा=क्षान्ति, 'क्षान्ति क्षमा तितिक्षा च' इत्यमर । यतीनाम्=श्रवणानाम्, सन्यासिनामित्यर्थ, भूषणम्=अलङ्कार । अपराधिषु = अपराधयुक्तेषु, सत्त्वेषु=जीवेषु, सा=क्षमा, दूषणम्=दोष ॥

और भी—शत्रु तथा मित्र को क्षमा करना योगियों का ही आभूषण है। किन्तु अपराधी प्राणियों को क्षमा करना राजा का दोष है ॥ १८० ॥

अपरं च—राज्यलोभादहंकारादिच्छतः स्वामिनः पदम्।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम् ॥ १८१ ॥

अन्वयः—राज्यलोभात् अहंकारात् स्वामिन पदम् इच्छत। तस्य तु एकं प्रायश्चित्तम् जीवोत्सर्ग (अस्ति), अपरम् न (अस्ति) ॥ १८१ ॥

राज्यलोभात्=राज्यतृष्णया, अहकारात्=दर्पात्, इच्छत =अभिलषत, स्वामिन =प्रभो, पदम्=स्थानम्, 'पद व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः, प्रायश्चित्तम्=तारकम्, एकम्=केवलम्, जीवोत्सर्ग =प्राणत्याग, मृत्युरित्यर्थ:, अपरम्=अन्यत् ॥

और भी—राज्य-लोभ अथवा अभिमान से स्वामी के पद की अभिलाषा करने वाले को मर जाना ही एकमात्र प्रायश्चित्त है ॥ १८१ ॥

अन्यच्च—राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी
स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः।

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी
स्त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति ॥ १८२ ॥

अन्वयः—घृणी राजा सर्वभक्षी ब्राह्मणः च अवशा स्त्री दुष्प्रकृतिः सहायः प्रतीपः प्रेष्यः प्रमादी अधिकृतः (एते) च यः कृतम् न वेत्ति इमे त्याज्याः (सन्ति) ॥ १८२ ॥

घृणी=दयालु सर्वभक्षी=सर्वभक्षक अवशा=अवशंवदा दुष्प्रकृतिः=दुष्ट स्वभाव सहायः=सहायक प्रेष्य=भृत्य प्रतीपः=प्रतिकूल प्रमादी=प्रमादयुक्त अधिकृतः=अधिकारी कृतम्—उपकारम् साधितं कार्यं वा ॥

और भी—दयालु राजा सर्वभक्षी ब्राह्मण स्वैरिणी स्त्री दुष्ट सहायक प्रतिकूल सेवक भूल करने वाले अधिकारी और उपकार न मानने वाले व्यक्ति त्याज्य हैं ॥ १८२ ॥

विशेषतश्च—सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ १८३ ॥

अन्वयः—नृपनीतिः सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च हिंस्रा दयालुः अपि च अर्थपरा वदान्या च नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा वाराङ्गना इव अनेकरूपा (भवति) ॥ १८३ ॥

सत्यानृता=सत्या असत्या च परुषा=कठिना प्रियवादिनी=मधुरभाषिणी हिंस्रा=घातुका दयालुः=करुणावती अर्थपरा=धनसंग्रहतत्परा वदान्या=दानवीरा वाराङ्गना=वेश्या नृपनीतिः=राजनीतिः अनेकरूपा=विविधस्वरूपा ॥

विशेष करके—कहीं झूठ कहीं सच तथा कहीं मधुर और कहीं कठोर बोलने वाली कहीं हिंसक कहीं दयालु कहीं स्वार्थी कहीं दानी कहीं नित्य खर्चीली और कहीं अत्यधिक धन जोड़ने वाली वेश्या के समान राजनीति भी अनेक रूपों वाली होती है ॥ १८३ ॥

इति दमनकेन संतोषितः पिङ्गलकः स्वां प्रकृतिमापन्नः सिंहासने समुपविष्टः । दमनकः प्रहृष्टमनाः 'विजयतां महाराजः । शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ।

इति=पूर्वोक्त (१८१-१८३ श्लोकोक्त) प्रकारेण स्वाम्=स्वकीयाम् प्रकृतिम्=स्वभावम्, आपन्नः=प्राप्तः स्वस्थ इत्यर्थः प्रहृष्टमनाः=प्रसन्नचित्त

विजयताम्—'विपराभ्यां जेः' इति विपूर्वकात् 'जि'धातोरात्मनेपदम् = विजयं करोतु, महाराज =श्रीमान् पिङ्गलक, शुभम्=कल्याणम्, सर्वजगताम्=सर्वलोकानाम्, यथासुखम्=सुखपूर्वकम्, अवस्थित =स्थितमान् ॥

इस प्रकार दमनक द्वारा समझाने पर पिंगलक स्वस्थ होकर सिंहासन पर बैठा दमनक प्रसन्न होकर 'महाराज की जय हो, सारे संसार का कल्याण हो' ऐसा कहकर सुख के साथ बैठ गया।

विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः। राजपुत्रा ऊचुः—'भवत्प्रसादाच्छ्रुतः। सुखिनो भूता वयम्।' विष्णुशर्माब्रवीत्—'अपरमपीदमस्तु—

भवत्प्रसादात्=भवत कृपया, सुखिन =कल्याणिन, भूता = जाता, वयम् = राजपुत्रा। अपरम् = अन्यत्, इदम् = वक्ष्यमाणम् ॥

विष्णुशर्मा ने कहा—'आप लोगों ने सुहृद्भेद सुन लिया न।' राजकुमारों ने कहा—'आपकी कृपा से सुन लिया। हम सभी सुखी हुए।' विष्णुशर्मा ने कहा—'तो उसके अतिरिक्त यह भी हो—

सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये
खलः कालाकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरहः।
जनो नित्यं भूयात्सकलसुखसंपत्तिवसतिः
कथारम्भे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम्' ॥१८४॥

इति हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीयः
कथासंग्रहः समाप्तः।

—०—

अन्वयः—सुहृद्भेद तावत् भवताम् शत्रुनिलये भवतु, कालाकृष्ट खल अहरह प्रलयम् उपसर्पतु, जन नित्यम् सकलसुखसम्पत्तिवसति भूयात्, इह रम्ये कथारम्भे बाल अपि सततम् रमताम् ॥ १८४ ॥

सुहृद्भेद =मित्रेषु परस्पर विरोध, भवताम्=युष्माकम्, शत्रुनिलये=रिपुभवने। कालाकृष्ट—कालेन = मृत्युना, आकृष्ट = वशीकृत, प्रलयम् = नाशम्, उपसर्पतु = गच्छतु अहरह =प्रतिदिनम्, मृत्युवशगो दुष्टो जन नश्यतु इति भाव.। जन = लोक, सकलसुखसम्पत्तिवसति=सकलानाम्=

सर्वेषाम् सुखानाम्—सर्वेषाम् 'सर्वेषाम्सुखानि च' इत्यमरः सम्पत्तीनाम्—सम्पदाम् वसतिः—आश्रय लोकः, यथा सकलसुखसम्पत्तीनामाश्रयो भवति तथा। कथारम्भे—कथायाः रम्ये—रमणीये सततम्—सदा बाल—शिशु अपि—किं पुनर्वयस्को इत्यर्थः, रमताम्—रमणं करोतु आनन्दतु इति तात्पर्यम् ॥

मङ्गलगुणावधि (२ १९) वर्षेऽस्मिन्निर्मैकादशीदिने।
सुहृद्भेदस्य सद्व्याख्या पूर्णा जाता 'मणिप्रभा' ॥ १ ॥
अनया 'हरगोविन्दशास्त्रि हृदयैकनिवासक'।
मधुसूदनो नित्यं विश्वनाथ प्रसीदतु ॥ २ ॥

इति मिश्रोपाह्व'हरगोविन्दशास्त्रि'कृता हितोपदेशीयकथाकरस्य
सुहृद्भेदस्य मणिप्रभा व्याख्या समाप्ता ॥

॥ ॐ तत्सत् शिवार्पणमस्तु ॥

सुहृद्भेद आप लोगों के शत्रुओं के घर में हो, काल के वशीभूत हो दुष्ट प्रतिदिन नष्ट होते रहें, आप नित्य सभी सुख सम्पत्ति के घर बनें और मेरे इस रमणीय कथा के आरम्भ में बच्चे भी रमण करते रहें ॥ १८४ ॥

हितोपदेश में सुहृद्भेद नाम का दूसरा कथासंग्रह समाप्त हुआ।

श्लोकानुक्रमणिका

(सुहृद्भेदः)

॥ श्री ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७७

श्रीमन्नारायणपण्डितसगृहीतः

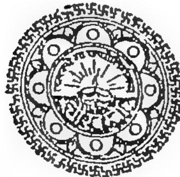
हितोपदेशः

(विग्रह-सन्धि-रूपात्मको भागः)

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार

पण्डित प्रद्युम्नपाण्डेयः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९८३

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस वाराणसी
संस्करण : चतुर्थ वि० सं० २०४० (सन् १९८३ ई०)
मूल्य रू० : १०-०

K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 8 Varanasi-221001 (India)
Phone : 63145

प्रधान वितरक
कृष्णदास अकादमी
पो० बा० नं० ११८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग) वाराणसी-२२१००१
(भारत)

सम्पादकीय

'विग्रह तथा सधि' व्यावहारिक, लौकिक और राजनैतिक उपदेशों से पूर्ण छोटी-छोटी कथाओं से युक्त 'हितोपदेश' के अतिम दो अश हैं जिनमें दो राजाओं में होने वाले युद्ध एवं संधि का पूर्णतः विवेचन किया गया है। 'विग्रह' में युद्ध के कारणों, उपकरणों, सैनिकों, नियमों तथा उसके औचित्य पर बड़े विस्तार के साथ छोटी-छोटी कहानियों का दृष्टान्त देकर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार 'सधि' में संधि की आवश्यकताओं, प्रसगों, अधिकारियों और उसके ढगों का विस्तृत विवेचन करके सभी प्रकार के संघर्षों को सधि द्वारा बचा लेने का उपदेश दिया गया है। मूल कथाओं के बीच में अवान्तर कथाओं द्वारा अनेक व्यावहारिक तथा लौकिक प्रसंगों को लाकर राजनीति को सामान्य जीवन के स्तर पर मनोरम बना देने की कला ही इस 'हितोपदेश' की अपनी अनोखी विशेषता है और इसी कारण जहाँ यह एक ओर राजनीति-विशारदों का पथ-प्रदर्शन करता है वहीं दूसरी ओर बालकों तथा साधारण लोगों को मनोरंजन की सामग्री भी प्रस्तुत करता है।



विग्रह

कथासार

मूलकथा

कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नाम का एक तालाब था। उसमें हिरण्यगर्भ नाम का राजहंस रहता था। वह सभी पक्षियों द्वारा राजा बना दिया गया था। एक दिन एक बगुले ने आकर उससे कहा कि हे राजन् जम्बू द्वीप में विन्ध्याचल पर पक्षियों का राजा चित्रवर्ण मयूर रहता है। मैं जिस समय दग्धारण्य में भ्रमण कर रहा था उसी समय चित्रवर्ण के सेवकों ने मुझे वहाँ देखकर पूछा कि तुम कौन हो और कहाँ से आए हो। मैंने कहा कि मैं चक्रवर्ती सम्राट् राजहंस का सेवक हूँ और देशाटन करने आया हूँ। इस पर उन्होंने कहा कि इन दोनों देशों में कौन देश और किस देश का राजा अच्छा है। मैंने कहा कि कर्पूर देश स्वर्ग है और वहाँ का राजा दूसरा इन्द्र। भला उस देश और उस राजा के समान और कोई देश और राजा हो भी सकता है। मेरी इस बात पर वे क्रुद्ध हो गए, बात ही बात में मुझे मारने के लिए झपटे। तब मैंने भी बलप्रयोग किया। इस पर राजहंस ने कई प्रकार से प्रमाण देते हुए बगुले से कहा कि शत्रु के बलाबल का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर ही बलप्रयोग उचित होता है। तब बगुले ने कहा कि राजन् मैं करता ही क्या! वे सब तो मुझे चोंचों से मार-मार कर मूर्च्छित बनाने लगे। अन्त में वे सब मुझे पकड़ कर राजा चित्रवर्ण के पास ले गए और उनका मेरा परिचय किया। तब उनके मंत्री गृध्र ने मुझ से पूछा कि तुम्हारे देश का मुख्य मंत्री कौन है? मैंने कहा कि सर्वज्ञ नाम के चक्रवाक हैं। इसी बीच वहाँ उपस्थित शुक ने कहा कि राजन् कर्पूर द्वीप आदि तो जम्बू द्वीप के अन्तर्गत ही हैं इसलिए वहाँ भी तो आप ही का स्वामित्व होना चाहिए। राजा ने कहा हो सकता है। तब मैंने कहा कि केवल कहने ही से यदि स्वामित्व मिल जाए तो जम्बूद्वीप पर हमारे राजा का स्वामित्व है।

इस पर शुक ने कहा कि इसका निर्णय कैसे हो ? मैंने कहा कि युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा। इस पर राजा ने कहा कि जाकर तुम अपने राजा को युद्ध के लिए तैयार करो। मैंने कहा कि आप अपना दूत भी भेज दें। उन्होंने शुक को दूत बना कर भेजा है। वह आता ही होगा। अब श्रीमान् जैसा उचित समझें वैसा करें।

यह सुन कर मन्त्री चक्रवाक ने कहा कि राजन्, इस दुष्ट बगुले ने विदेश में जाकर अपनी दुष्टता से राज्य को युद्ध में फँसा दिया है। अकारण लड़ाई मोल लेना तो मूर्खता है। राजा ने कहा कि खैर ! जो हुआ सो हुआ अब जो सामने है उस पर विचार करो। चक्रवाक ने कहा कि मन्त्रणा एकान्त ही में उचित है। तब राजा और मन्त्री वहीं बैठे रहे और दूसरे लोग दूसरी जगह चले गए। चक्रवाक ने कहा—राजन् मुझे तो ऐसा लगता है कि किसी राज्य-कर्मचारी के उकसाने में ही बगुले ने ऐसा किया है। राजा ने कहा—जो हो, इस समय तो कर्तव्य का निश्चय करो। चक्रवाक ने कहा—पहिले गुप्तचर भेज कर शत्रु की अभिलाषा और बलाबल का ज्ञान प्राप्त कीजिए। राजा ने कहा कि हमें तो बहुत ही अच्छा गुप्तचर मिल गया है। इसी बीच द्वारपाल ने शुक के आने की सूचना दी। चक्रवाक ने कहा कि उसे अतिथिशाला में ठहरा दो। इसके बाद मन्त्री और राजा में बहुत देर तक युद्ध न करने और करने के विषय में विचार-विमर्श होता रहा। चक्रवाक ने कहा कि पहिले अपने किले को सुदृढ़ बनाना है तथा और भी तैयारियाँ करनी हैं इसलिये शुक को समझा बुझा कर अभी यहीं रोके रहना चाहिये। राजा ने मन्त्री से कहा कि ठीक है। जैसा उचित समझो वैसा करो। इसी बीच द्वारपाल ने कौवे के आने की सूचना दी। राजा ने उसकी चतुराई का वर्णन करते हुये उसको आश्रय देने का प्रस्ताव किया। यद्यपि मन्त्री ने शत्रु पक्ष होने के कारण उसे आश्रय देने का विरोध किया किन्तु राजा ने उस पर ध्यान न देकर उसे आश्रय दे ही दिया।

चक्रवाक ने आकर कहा कि राजन्, दुर्ग आदि सभी की व्यवस्था पूरी हो चुकी है अतः अब शुक को बुला कर उससे बात हो जानी चाहिये। राजा ने सभा में शुक को बुला भेजा। अभिमान से सिर उठाये हुये शुक ने आसन

पर बैठ कर कहा—हिरण्यगर्भ महाराजाधिराज चित्रवर्ण ने आपको आदेश दिया है कि यदि आप इसी तरह कुशल-पूर्वक रहना चाहते हैं तो आकर मुझे प्रणाम करें अन्यथा दूसरे स्थान में रहने की बात सोचें। यह सुन कर राजा ने क्रोध के साथ उसे सामने से हटा देने का आदेश दिया। चक्रवाक ने समझा बुझा कर राजा को शान्त किया और उपहारादि देकर शुक को विदा कर दिया।

शुक ने लौट कर चित्रवर्ण को नाना प्रकार का क्षोभ दिलाते हुये युद्ध के लिये तैयार हो जाने का आग्रह किया। चित्रवर्ण ने अपने सभी सभासदों को बुलाकर विचार किया। यद्यपि मंत्री गृध्र ने समय और परिस्थितियों का वर्णन करते हुए युद्ध न करने का दृढ़ विचार प्रकट किया किन्तु चित्रवर्ण ने बिल्कुल ध्यान न देकर ज्योतिषी को बुला कर शुभ मुहूर्त निश्चित करा कर कर्पूर द्वीप पर चढ़ाई कर दी।

इसके पश्चात् प्रधान गुप्तचर द्वारा भेजे गए दूत ने आकर हिरण्यगर्भ से कहा—राजन् अब चित्रवर्ण आना ही चाहते हैं। आप अपने दुर्ग का हर समय निरीक्षण परीक्षण कराते रहें क्योंकि बातचीत के प्रसंग में उसके मंत्री गृध्र से मुझे ऐसा संकेत मिला है कि उसने गुप्त रूप से किसी को आपके किले में प्रविष्ट कर दिया है। यह सुनकर मंत्री चक्रवाक ने कहा—वह गुप्त दूत कौआ ही हो सकता है? राजा ने कहा नहीं ऐसा नहीं हो सकता। वह तो बड़ा ही स्वामिभक्त है। अतः अब उपस्थित विषय पर विचार करो। चित्रवर्ण मलय चोटी पर डेरा डाले पड़ा है अब क्या करना चाहिए। मंत्री चक्रवाक ने कहा—राजन् मैंने दूत के मुँह से सुना है कि चित्रवर्ण ने अपने मंत्री गृध्र के उपदेशों का तिरस्कार कर दिया है अतः वह जीता जा सकता है। इसलिये जब तक वह हमारे किले के द्वार को न घेर ले तब तक जंगलों नदियों और पहाड़ों के रास्तों में उसकी सेना का विनाश करने के लिये सारस आदि सेनापतियों को नियुक्त कर दीजिये। चक्रवाक की इस व्यवस्था से चित्रवर्ण के बहुत से सेनापति तथा सैनिक मार डाले गये। तब दुःखी होकर चित्रवर्ण ने मंत्री गृध्र से कहा कि तात! यह क्या हो रहा है? गृध्र ने कहा कि आपने अपनी सेना और उमंग को देखकर केवल साहस का सहारा लिया और मेरी शुभ नीतिकी उपेक्षा की।

इसीलिये यह फल भोगना पड़ा है। चित्रवर्ण ने कहा कि जो हुआ सो हुआ किन्तु अब तो कोई उपाय कीजिए। गृध्र ने कहा राजन् आप डरें न, धैर्य धारण करें और उपहारादि से सेनापतियो और सैनिकों को तुष्ट कर दें। गृध्र ने इस प्रकार सैनिकों और सेनापतियों को तुष्ट करके राजा हिरण्यगर्भ के किले पर घेरा डाल दिया।

इसी बीच चित्रवर्ण के कपट दूत कौवे ने हिरण्यगर्भ से कहा कि राजन् मैं अब अपना पौरुष दिखाना चाहता हूँ। चक्रवाक ने कहा कि किले के बाहर होकर युद्ध करना ठीक नहीं। किन्तु हिरण्यगर्भ कौवे की बात मे आकर सबको साथ लेकर दुर्ग द्वार पर महान् युद्ध मे संलग्न हो गए। दूसरे दिन चित्रवर्ण ने कहा कि मंत्री अब आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। मंत्री गृध्र ने कहा कि राजन्, आप शान्त रहे। सभी कुछ हो रहा है और उसने राजा के कान मे कुछ कहा। दूसरे दिन सूर्य निकला भी नही था कि किले के चारो द्वारो पर भयंकर युद्ध होने लगा। इसी बीच कौवे ने किले के भीतर आग लगा दी। तब शत्रुसेना का कोलाहल सुनकर और किले की आग देख कर राजहंस के सभी सैनिक शीघ्र ही तालाब मे घुस गये। स्वभाव से धीरे-धीरे चलने वाला हिरण्यगर्भ अपने सेनापति सारस के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे के द्वारा घेर लिया गया और उस पर प्रहार कर दिया। किन्तु सारस ने स्वामी को जल मे प्रविष्ट करा दिया और स्वयं मुर्गे से लड़ता हुआ मारा गया।

इसके पश्चात् चित्रवर्ण ससैन्य किले मे प्रविष्ट हुआ और वहाँ की बची हुई सभी सामग्री लेकर पड़ाव पर लौट गया। इस प्रकार दूरदर्शी मंत्री चक्रवाक की बात न मान कर शत्रु के कपटदूत कौवे को आश्रय देने तथा किले मे बाहर जाकर युद्ध करने के कारण राजहंस पराजित हो गया।

प्रासंगिक कथाएँ

१ वानर पक्षी कथा

नर्मदा के किनारे पहाड़ की तलहटी मे एक सेमल का पेड़ था। वहाँ घोसले बनाकर बहुत से पक्षी रहते थे। एक दिन गहरी वर्षा से भींग कर काँपते हुए उसी पेड़ के नीचे बैठे हुए वानरों को देख कर पक्षियो ने कहा कि भाइयों

तुम लोग अपने लिये घर क्यों नहीं बना लेते ? इस पर सारे बन्दर क्रुद्ध हो गए और उन्होंने सभी घोंसलों को नष्ट कर दिया ।

२ रजक गर्दभ कथा

हस्तिनापुर में विलास नाम का धोबी था । उसका गधा बोझ ढोते-ढोते दुबला हो गया था । इसलिये धोबी ने उस गधे को बाघ की चमड़ी से ढक कर धान्य के पास खेत में छोड़ दिया । गदहा खा-पीकर खूब मोटा हो गया । उसे दूर से देख कर बाघ समझ कर खेत के मालिक भागने लगे । एक दिन एक खेत का रखवाला मटमैला कम्बल ओढ़ कर धनुष चढ़ाकर तथा शरीर को झुका कर एकान्त में बैठ गया । उसे देख कर गदहा उसको भी गदहा समझ कर रेंकने लगा और रखवाले के द्वारा मार डाला गया ।

३ गजयूथ शशक कथा

एक बार पानी न बरसने से सभी हाथी प्यास से व्याकुल हो स्वामी से किसी जलमय स्थान में ले चलने की प्रार्थना करने लगे । स्वामी ने उन्हें एक तालाब दिखा दिया । वहाँ बहुत से खरगोश रहते थे जो हाथियों के पैरों तले कुचल कुचल कर मरने लगे । यह देख एक दिन विजय नामक बूढ़े खरगोश ने हाथियों के स्वामी से जाकर कहा कि मेरे स्वामी चन्द्रदेव ने मुझे आपके पास यह कहने के लिए भेजा है कि खरगोशों का इस प्रकार विनाश करना ठीक नहीं है । हाथियों के स्वामी ने कहा कि बड़ी भूल हुई अब हम लोग यहाँ नहीं आयेंगे । इसके बाद उसने खरगोश के साथ तालाब के किनारे जाकर चन्द्रबिम्ब को प्रणाम किया और माफी माँग ली ।

४ हंस काक-पथिक कथा

उज्जयिनी में पाकड़ का एक पेड़ था । उस पर हंस और कौआ रहते थे । एक दिन एक राही ने गर्मी से थककर उसी पेड़ के नीचे आकर धनुष रख दिया और सो गया । कुछ देर बाद छाया हट जाने से उसके मुँह पर धूप पड़ने लगी । तब हंस ने अपने पंखों को फैला कर उसके मुँह पर छाया कर दी । इधर राही ने सोते ही ज्यों ही मुँह खोला त्यों ही कौआ उसमें बीट कर के उड़ गया और बेचारा हंस राही के द्वारा मार डाला गया ।

५ काक-वत्तक कथा

एक पेड पर कौवा और वत्तक साथ-साथ रहते थे। एक ग्वाला सिर पर दही का वर्तन रखे जा रहा था। कौवा वार वार दही खा लिया करता था। जव ग्वाले मे दही का वर्तन नीचे रखकर ऊपर देखा तो कौवा तो भाग गया और वेचारा वत्तक पकड लिया गया और मार डाला गया।

६ रथकार कथा

श्रीनगर मे एक वढ़ई रहता था। वह अपनी पत्नी को कुलटा तो समझता था किन्तु उसने कभी उसे जार के साथ देखा नही था। एक दिन वह घर मे चारपाई के नीचे छिप गया। जिस समय जार उसी चारपाई पर सोकर उसकी पत्नी के साथ सभोग करने लगा उस समय उस स्त्री का कोई अग वढई से छू गया। वह यह जानकर उदास हो गई। जार ने जव उसकी उदासी का कारण पूछा तो वह अपने पति की प्रशसा और उसके वियोग मे दु खी होने की वात कहने लगी जिसे सुनकर वढई प्रसन्न हो गया और चारपाई को सिर पर उठा कर नाचने लगा।

७ नीलवर्ण श्रृगाल कथा

एक गीदड नगर के किनारे घूमता हुआ नील के माँड मे गिर पडा। दूसरे दिन जव वह वन मे गया तो अपने वदले हुए रग को देखकर उसने गीदडों को वुलाकर कहा कि वनदेवियों ने अपने हाथ से मेरा रसौषधियों मे अभिषेक किया है। गीदडो ने उसकी वात को सत्य मानकर उसे राजा मान लिया। धीरे-धीरे वह सभी जगली पशुओ का राजा वन गया। वह व्याघ्र, सिंह आदि उत्तम सेवकों को पाकर अपनी जाति वालो का तिरस्कार करने लगा। इससे सभी दुखी गीदडों ने सध्या समय इकठ्ठा होकर वोलना प्रारभ किया। उस शब्द को सुनकर जाति स्वभाव से वह भी वोलने लगा और वाघ के द्वारा मार डाला गया।

८ वीरवर कथा

एक दिन राजा शूद्रक के दरवार मे वीरवर नाम के राजकुमार ने आकर प्रतिदिन पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा वेतन लेकर सेवा करने की प्रार्थना की। राजा ने मन्त्रियों के कहने से उसे सेवा में नियुक्त कर लिया। एक दिन राजा को सोते

समय रोने की ध्वनि सुनाई पड़ी। उसने वीरवर को पता लगाने के लिए भेजा किन्तु स्वयं भी चुपचाप उसके पीछे चल पड़ा। वीरवर ने नगर के बाहर एक स्त्री को रोते हुए देखा जो सुद्रक की राज्यलक्ष्मी थी। उसने वीरवर से कहा कि मैं जा रही हूँ इसलिए रो रही हूँ। यदि तुम मुझे रोकना चाहते हो तो अपने पुत्र की बलि चढ़ा दो। वीरवर चुपचाप अपने घर गया और वहाँ से पुत्र तथा स्त्री के साथ देवी के मंदिर में पहुँचा। वहाँ उसने अपने पुत्र की बलि दे दी। इसके बाद उसने अपना भी सिर काट लिया। पति और पुत्र को इस प्रकार मरा देख उसकी स्त्री ने भी वैसा ही किया। राजा यह सब छिपकर देख रहा था। उसने भी अपना सिर काटने के लिए ज्यों ही तलवार हाथ में ली त्यों ही देवी ने प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया और राज्यलक्ष्मी के स्थिर होने का वरदान देकर वीरवर को भी स्त्री-पुत्र के साथ जीवित कर दिया। राजा चुपके से अपने महल में चला आया और जब दूसरे दिन उसने वीरवर से पूछा तो उसने कहा कि एक स्त्री रो रही थी और मुझे देखकर चुप हो गई। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और सभा करके उसने सारी बातें कहकर वीरवर को कर्णाटक देश का राजा बना दिया।

९. लिप्सार्थी नापित कथा

अयोध्या में चूड़ामणि नाम का एक क्षत्रिय रहता था। उसने धन के लिए शंकर जी की बड़ी आराधना की। भगवान शंकर ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि आज प्रातःकाल बाल बनवाकर तुम डंडा लेकर अपने दरवाजे पर बैठे रहना और जब कोई भिक्षुक तुम्हारे द्वार पर आए तो तुम डंडे से उसे पीटना जिससे वह भिक्षुक सोने का घड़ा बन जायगा। उस क्षत्रिय ने वैसा ही किया और भिक्षुक सोने का घड़ा बन गया। वहाँ बाल बनाने के लिए आए हुए नाई ने जब यह देखा तो उसने भी दूसरे दिन अपने घर आए हुए भिक्षुक को डंडे से मार डाला और इस अपराध में वह भी राजपुरुषों द्वारा मार डाला गया।



सन्धि

कथासार

मूलकथा

राजा हिरण्यगर्भ ने अपने मन्त्री से पूछा कि मेरे किले मे आग किसने लगाई थी। मन्त्री चक्रवाक ने कहा कि उसी अकारण बन्धु बने हुए कौवे ने, जिसे आपने मेरे मना करने पर भी आश्रय दिया था। राजा ने कहा कि यह हमारा दुर्भाग्य था जो आपकी बात हमने नही सुनी। इसी बीच गुप्तचर ने आकर कहा कि 'वह कौवा आग लगा कर चित्रवर्ण के पास गया और उसने सारी बात कह सुनाई तो चित्रवण ने उसे कपूर द्वीप का राजा बना देने का प्रस्ताव किया। तब मंत्री गृध्र ने दृष्टान्त देते हुए उसका विरोध किया और कहा कि राजा राजहंस से सन्धि कर लेनी चाहिये। इस पर राजा चित्रवर्ण ने कहा कि आपने पहिले ही क्यो नही कहा। तब गृध्र ने कहा कि आपने मेरी बात ही कहाँ सुनी। मैं तो पहिले ही सन्धि के पक्ष मे था। आपने ही अपने मद मे आकर लड़ाई ठानी। फिर भी जो हुआ सो हुआ, अब भी आपको राजहस जैसे राजा के साथ सन्धि कर लेनी चाहिये। किन्तु हे राजन्, मन्त्री गृध्र के कहने पर भी प्राप्त विजय के अभिमान मे चित्रवर्ण सन्धि नही करना चाहता इसलिये अपने मित्र सिंहलद्वीप के राजा सारस को उसके प्रति भड़का देना चाहिये।' राजा हिरण्यगर्भ ने उसकी बात मानकर विचित्र नामक बगुले को गुप्त पत्र के साथ सिंहलद्वीप भेज दिया।

इसके बाद गुप्तचर ने आकर फिर कहा कि राजन् इस समय शत्रु पक्ष मे जो हो रहा है उसे सुनिये। राजा चित्रवर्ण ने जब कौवे से आपके विषय मे पूछा तो उसने आप की बड़ी प्रशसा की। इस पर मन्त्री गृध्र ने फिर कहा कि राजन् राजा राजहस से सन्धि कर लेनी चाहिये। इस पर चित्रवर्ण ने कहा कि यह कैसे हो सकता है? हम विजयी हैं और वह पराजित है। इसी बीच चित्रवर्ण

के गुप्तचर शुक ने आकर[1] कहा कि महाबली सारस ने जम्बूद्वीप पर घेरा डाल दिया है। यह सुनते ही चित्रवर्ण क्रुद्ध हो गया और उससे लड़ने के लिये जाने को तैयार हो गया। इस पर मंत्री गृध्र ने समझाया कि एक ही साथ शत्रुता करने वाले बहुत से शत्रुओं के साथ राजा को कभी नहीं लड़ना चाहिये इसलिये यहाँ से बिना संधि किये जाना उचित नहीं है क्योंकि वह पीछे से हम लोगों पर आक्रमण कर देगा। इसलिये इस समय मेरी बात मानकर संधि करके ही यहाँ से चलना ठीक होगा। इस पर राजा चित्रवर्ण ने कहा कि अब यह कैसे होगा? मंत्री गृध्र ने कहा—बहुत शीघ्र हो जायगा। राजा हिरण्यगर्भ धर्मात्मा और उसका मंत्री चक्रवाक सर्वज्ञ है अतः वह दोनों आसानी से प्रसन्न हो जायेंगे। तब राजा चित्रवर्ण ने कहा कि जैसा उचित समझो वैसा ही करो।

दूसरे दिन फिर गुप्तचर ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से कहा कि राजन् संधि करने के लिए महामन्त्री गृध्र आ रहे हैं। राजा हिरण्यगर्भ ने मन्त्री चक्रवाक से कहा—मंत्री क्या इसमें कोई रहस्य है? यह सुन कर मंत्री ने कहा—राजन् डरने की बात नहीं है। उसके सत्कार के लिये रत्नादि उपहार सजा लेना चाहिये। ऐसा कहकर मंत्री चक्रवाक ने दुर्गद्वार पर जाकर मन्त्री गृध्र का सत्कार किया और उन्हें आदर के साथ राजा के पास लाकर आसन पर बिठाया। कुछ इधर-उधर की बातें होने के बाद गृध्र ने कहा कि मैं आप से संधि करके यहाँ से जाना चाहता हूँ। तब मंत्री चक्रवाक ने कहा कि आप किस प्रकार की संधि करना चाहते हैं। गृध्र ने सभी प्रकार की संधियों का वर्णन करते हुए कहा कि मैंने सभी प्रकार की संधियाँ बता दी हैं अब आप जिस प्रकार की संधि चाहें कर लें। अंत में यह निश्चय हुआ कि काञ्चनाभिधान संधि कर ली जाय।

इसके पश्चात् राजा हिरण्यगर्भ ने वस्त्रालंकार से गृध्र को प्रसन्न किया। वह चक्रवाक को साथ लेकर अपने राजा चित्रवर्ण के पास गया। वहाँ राजा चित्रवर्ण ने गृध्र तथा चक्रवाक द्वारा बताई गई संधि को स्वीकार कर लिया और चक्रवाक को विदा किया। तब गृध्र ने अपने राजा चित्रवर्ण से कहा कि राजन् अब आप की अभिलाषा पूरी हो गई। अब हमें अपने देश को लौट चलना चाहिए

प्रासंगिक कथाएँ

१ कूर्मकथा

मगध देश मे एक तालाव था वहाँ सकट-विकट नाम के हस रहते थे। वही उनका मित्र कम्वुग्रीव कछुआ भी रहता था। एक दिन वहाँ कछुओ ने आकर कहा कि कल प्रात काल मछलियो और कछुओ का शिकार किया जायगा। यह सुनकर कछुवे ने हंसो से कहा कि अब क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा कि प्रात काल देखा जायगा। कछुवे ने कहा कि यह ठीक नहीं है, मैं एक उपाय वताता हूँ। उसी सहारे तुम दोनो मुझे दूसरे तालाव मे पहुँचा दो। मैं एक काठ अपने मुँह मे दबा लूँगा और तुम दोनों उसे लेकर उड चलना। हसों ने कहा कि वोलना मत नही तो गिर पडोगे। कछुवे ने कहा कि मैं इतना मूर्ख नही हूँ। किन्तु जिस समय ये दोनो हस एक नगर से उडे जा रहे थे उस समय कछुवे को लटकता हुआ देखकर लोगो ने कोलाहल करना शुरू किया जिसे सुनकर कछुवा वोल पडा और जमीन पर गिर पडा।

२ त्रिमत्स्य कथा

एक तालाव मे तीन मछलियाँ रहती थीं। एक दिन मछुओ को वहाँ आया हुआ देख कर एक मछली ने कहा कि मैं तो अव दूसरे तालाव मे जा रही हूँ। दूसरी ने कहा कि जव कोई वाधा होगी तो देखा जायगा। तीसरी ने कहा कि जो होगा वह होगा ही फिर डरने की क्या वात। प्रात काल दूसरी और तीसरी मछलियाँ जाल में फँस गई। दूसरी मछली ने तो अपने को मरा हुआ सा दिखाया जिससे मछुवे ने उसे फेंक दिया और वह कूद कर पानी मे चली गई किन्तु तीसरी मछुवो द्वारा मार डाली गई।

३ वणिग्भार्या कथा

त्रिविक्रमपुर में समुद्रदत्त नाम का एक वनिया था। उसकी स्त्री रत्नप्रभा अपने सेवक के साथ भोग करती थी। एक वार वह सेवक को चुम्वन दे रही थी कि समुद्रदत्त ने देख लिया। तव वह वनिये के पास जाकर वोली कि यह सेवक कपूर चुराकर खाता है। मैंने इसका मुँह सूँघ कर देखा है। सेवक ने कहा कि जिस घर में ऐसी औरत हो वहाँ कोई सेवक कैसे रह सकता है। यह

अन्त पर वह चल पड़ा। तब बनिये ने उसे किसी प्रकार मना कर लौटाया और वह फिर सुख से रहने लगा।

४ बक-नकुल कथा

एक पाकड़ के पेड़ पर बहुत से बगुले रहते थे। उस पेड़ के नीचे बिल में एक साँप रहता था। वह बगुलों के बच्चों को खा जाया करता था। यह देख कर एक बूढ़े बगुले ने कहा कि साँप के बिल से नेवले के बिल तक मछलियाँ बिखेर दो जिससे नेवला आकर साँप को मार डालेगा। बगुलों ने वैसा ही किया जिससे नेवले ने साँप को मार डाला किन्तु पेड़ पर चढ़ कर वह बगुलों के बच्चों को खाने लगा।

५ मूषक मुनि कथा

एक तपोवन में गौतम नाम के मुनि थे। उन्होंने कौवे के मुँह से गिरे हुए एक चूहे के बच्चे को पाया और उसे पाल-पोस कर बड़ा किया। जब वह बिल्ली से डरने लगा तो उसे मुनि ने बिल्ली बना दिया फिर जब वह कुत्ते से डरने लगा तो उसे कुत्ता बना दिया और जब वह बाघ से डरने लगा तो उसे बाघ बना दिया। लेकिन मुनि उसे चूहा ही समझते थे और दूसरे लोग भी उसके इस रूप परिवर्तन की चर्चा किया करते थे। इसलिए वह मुनि को मार डालने के लिए झपटा जिससे मुनि ने फिर उसे चूहा बना दिया।

६. बक-कर्कट कथा

मालव देश के एक तालाब के किनारे एक बगुला उदास होकर बैठा था। एक बूढ़े केकड़े ने उसे देखकर पूछा कि आप इस तरह खाना-पीना छोड़ कर यहाँ क्यों पड़े हैं? बगुले ने कहा कि मछलियाँ मेरा जीवन हैं और उन्हें मछुए पकड़ ले जायेंगे इसीलिए मैंने आज ही से खाना-पीना छोड़ दिया है। मछलियों ने यह सुन कर कहा कि हमारी रक्षा कैसे हो सकती है। बगुले ने कहा कि मैं एक एक करके तुम लोगों को दूसरे तालाब में पहुँचा दूँगा। इस प्रकार वह एक-एक को ले जाकर खाने लगा। एक दिन उसने केकड़े को खाना चाहा कि उसने बगुले का गला पकड़ लिया जिससे वह मर गया।

७ भग्नभाड ब्राह्मण कथा

देवकोट नगर मे देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण था। उसे सतुवा सक्रान्ति के दिन सतुवे से भरा एक घडा मिला। उसे लेकर वह कुम्हार के मडप मे सो गया जहाँ बहुत से वर्तन रखे हुए थे। ब्राह्मण हाथ मे एक डडा लेकर सोचने लगा कि इस सतुवे को बेंचकर दश कौडी प्राप्त करूँगा, उससे घडा आदि खरीद वेंच कर धन इकठठा करके फिर सुपारी वस्त्र आदि का व्यापार करके धनी वन जाऊँगा और चार स्त्रियो से विवाह करूँगा। जब वह झगडने लगेंगी तो इसी डडे से मारूँगा। ऐसा कह कर उसने डडा चला दिया जिससे कुम्हार के वहुत से वर्तन टूट गए जिसे देख कर कुम्हारने उसे अपने मडप से वाहर निकाल दिया।

८ सुन्दोपसुन्द कथा

प्राचीन काल मे सुन्द उपसुन्द नाम के दो सगे भाइयो ने तीनों लोकों के राज्य की कामना से शकर जी की आराधना की। जब शकर जी ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा तो उन दोनो ने राज्य माँगने के वदले पार्वती को माँगा। शकर ने क्रुद्ध होकर पार्वती को दे दिया। लेकिन दोनो उन्हें अपना-अपना बनाने के लिए आपस में लड मरे।

९ धूर्त एवं ब्राह्मण कथा

गौतमारण्य मे एक ब्राह्मण रहता था। वह यज्ञ करने के लिए एक वकरा कधे पर रखे लिए आ रहा था। रास्ते मे तीनो धूर्तो ने उसे देखा और वकरा किसी प्रकार ले-लेने का षड्यत्र किया। तीनो थोडी-थोडी दूर पर खडे हो गए। एक ने कहा कि ब्राह्मण देवता कुत्ता कधे पर रखे क्यो जा रहे हो। ब्राह्मण ने कहा यह कुत्ता नहीं यह तो यज्ञ का वकरा है। फिर थोडी दूर पर जाने पर दूसरे ने भी वही कहा तब ब्राह्मण ने वकरे को उतार कर भली भाँति देखा और फिर कधे पर रख कर चल दिया किंतु जब थोडी दूर जाने पर तीसरे ने भी उसे कुत्ता कहा तो ब्राह्मण ने उसे यहीं छोड दिया और स्वयं अपनी कुटी में चला गया।

१०. सिंह-व्याघ्र-काक-जम्बुक कथा

एक जगल में एक सिंह था। उसके कौवा, वाघ और गीदड तीन सेवक थे। उन्होंने जगल में भटका हुआ एक ऊँट देखा और उसे सिंह के पास पहुँचा दिया। सिंह ने उसे अभयदान देकर अपनी शरण में रख लिया। एक वार

सिंह बीमारी तथा वर्षा के कारण भोजन न मिलने से बड़ा दुःखी हो गया। तब उन्होंने आपस में विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे स्वामी ऊँट को मार खावें। इसके बाद सब सिंह के पास गये और काग ने कहा कि आप मुझे मार कर खा जायँ फिर इसी प्रकार कौवे और गीदड़ ने भी कहा किन्तु सिंह ने किसी को नहीं मारा। तब ऊँट ने भी यही कहा। इस पर बाघ ने उसे मार डाला और सब ने खूब पेट भर मांस खाया।

११ वृद्ध सर्प मण्डूक कथा

एक पुराने बगीचे में मन्दविष नाम का एक साँप रहता था। वह बुढ़ापे के कारण बाहर खोजने में असमर्थ होकर तालाब के किनारे पड़ा था। उसे देख कर एक मेढक ने पूछा कि आप भोजन क्यों नहीं ढूँढते। साँप ने कहा कि मैंने ब्रह्मपुर के एक ब्राह्मण के गुणवान लड़के को काट लिया और वह मर गया। तब उसके पिता ने अभिशाप दे दिया और मुझे मेढक ढोने का शाप दिया इसी लिए मैं यहाँ मेढकों के लिए आया हूँ। मेढक ने जब अपने स्वामी से यह चर्चा की तो वह साँप की पीठ पर चढ़ गया लेकिन जब दूसरे दिन उसने साँप से पूछा कि तुम चल क्यों नहीं पा रहे हो तो उसने कहा कि भोजन न मिलने से मेरी यह दशा हो गई है। तब मेढकों के स्वामी ने मरे मेढकों को खाने का आदेश दे दिया। जब सारे मेढक खतम हो गए तो उसने मेढकों के स्वामी को भी खा डाला।

१२ ब्राह्मण-नकुल कथा

उज्जैनी में माधव नामका एक ब्राह्मण था। एक दिन उसकी पत्नी अपने बच्चे को ब्राह्मण को सौंप कर स्नान करने गई। इसी बीच राजा ने ब्राह्मण को श्राद्ध कराने के लिए बुला भेजा ब्राह्मण ने अपने पालतू नेवले को बालक की रखवाली के लिए नियुक्त कर दिया और स्वयं राजा के यहाँ चला गया। बालक के पास आने वाले साँप को नेवले ने मार डाला और ब्राह्मण को आता देख खून भरे मुँह से उसके पास पहुँचा ब्राह्मण ने समझा कि इसने लड़के को ही खा लिया है जिससे उसने क्रुद्ध होकर नेवले को मार डाला। लेकिन जब उसने घर में आकर बालक को सोता देखा तो वह अपने क्रोध पर पश्चाताप करने लगा।

॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

सान्वय 'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

— ० —

विग्रहः

अथ पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः-'आर्य ! राजपुत्रा वयम् । तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति ।' विष्णुशर्मणोक्तम्-'यदेवं भवद्भ्यो रोचते तत् कथयामि । विग्रहः श्रूयतां, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

कथारम्भकाले=कथाप्रारम्भसमये । राजपुत्रा =राजकुमारा । ऊचु =उक्तवन्त । विग्रहम्=युद्धम् । श्रोतुम्=आकर्णयितुम् । न =अस्माकम् । कुतूहलम्=औत्सुक्यम् । श्रूयताम्=आकर्ण्यताम् । यस्य = विग्रहप्रसगस्य । आद्य =प्रथम । श्लोक =पद्यम् ।

फिर कथा आरम होने के समय राजकुमारो ने कहा—आर्य ! हमलोग राजकुमार हैं, अत हमलोगो मे विग्रह (युद्ध) सुनने की उत्सुकता हो रही है । विष्णुशर्मा ने कहा—'यदि आपलोगों को ऐसी रुचि है तो कह रहा हूं । 'विग्रह' सुनिए, जिसका पहला श्लोक यह है—

'हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।
विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वारिमन्दिरे' ॥१॥

अन्वयः—हसै. सह मयूराणाम् तुल्यविक्रमे विग्रहे अरिमन्दिरे स्थित्वा (हसान्) विश्वास्य काकै हसा॰ वञ्चिता ॥ १ ॥

हसै =मरालै । सह=साकम् । मयूराणाम्=वर्हिणाम् । तुल्यविक्रमे=समानवले । विग्रहे=युद्धे । अरिमन्दिरे=शत्रुगृहे, हसमवने इत्यर्थं । स्थित्वा=निवासम् कृत्वा । विश्वास्य=विश्वास विधाय । काकै =वायसै॰ । वञ्चिता =प्रवञ्चनां प्रापिता ॥१॥

समान वलवाले हसों के साथ मोरों के युद्ध मे कौवो ने शत्रु (हंसों) के घर में रहकर और उन्हें विश्वास दिलाकर धोखा दे दिया अर्थात् उन्हें पराजित कर दिया ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत् ? विष्णुशर्मा कथयति—

'अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः । तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति । स च सर्वैर्जलचरैः पक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्येऽभिषिक्तः । यतः—

कर्पूरद्वीपे=तन्नामकद्वीपे । पद्मकेलिनामधेयम्=पद्मकेलिनाम । सरः=तालाब । तत्र=तस्मिन् सरसि । राजहंस=हंसानां राजा । प्रतिवसति=निवसति । सर्वे = समर्थे । जलचरपक्षिभिः—जलचारिभिः पक्षिभिः । पक्षिराज्ये=पक्षिणां राज्यपदे । अभिषिक्तः = प्रतिष्ठापितः ।

राजकुमारों ने कहा—'यह कैसे' । विष्णुशर्मा ने कहा—

कर्पूरद्वीप में पद्मकेलि नाम का एक तालाब है, वहाँ हिरण्यगर्भ नाम का राजहंस रहता था । वह सभी जलचारी पक्षियों द्वारा राजा बना दिया गया था । क्योंकि—

'यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव' ॥ २ ॥

अन्वयः—यदि सम्यक् नेता नरपतिः न स्यात्, ततः प्रजा जलधौ अकर्णधारा नौः इव इह विप्लवेत ॥ २ ॥

यदि=चेत् । सम्यक्=सर्वप्रकारेण । नेता=नायकः रक्षकः स्वामी । नराणां पतिः नरपतिः=राजा । ततः=तदा । प्रजा=लोकः । जलधौ=समुद्रे । न कर्णधारः यस्याः सा अकर्णधारा=नाविकरहिता । नौः=तरणिः । इव=सदृशम् । इह=जगति । विप्लवेत=निमज्जेत्, विनश्येत् ॥ २ ॥

यदि कोई राजा प्रजा का अच्छा नेता न हो तो प्रजा उसी प्रकार दुःखों में डूब जाती है जैसे बिना मल्लाह की नाव समुद्र में डूब जाती है ॥ २ ॥

अपरञ्च— प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्धयति पार्थिवम् ।
वर्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत्' ॥ ३ ॥

अन्वयः—नृपः प्रजाम् संरक्षति सा पार्थिवम् वर्धयति (किन्तु) वर्धनात् रक्षणम् श्रेयः (यतः) तदभावे सत् अपि असत् (भवति) ॥ ३ ॥

नृपः = राजा । प्रजाम् = लोकम् । संरक्षति=रक्षाम् करोति । सा=प्रजा । पार्थिवम् = नृपम् । वर्धयति=करदानादिना धनधान्यपूर्णं करोति । वर्धनात्=वर्धनम् । रक्षणम् = पालनम् । श्रेयः = श्रेष्ठम् । तदभावे=रक्षणाभावे ।

और भी—राजा प्रजा की रक्षा करता है और प्रजा (धन धान्य से) राजा को समृद्धिशाली बनाती है। किन्तु किसी वस्तु को बढाने से उसकी रक्षा करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि रक्षाके अभाव मे विद्यमान वस्तु भी नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

एकदासौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यंके सुखासीनः परिचारपरिवृतस्तिष्ठति। ततः कुतश्चिद्देशादागत्य दीर्घमुखो नाम बकः प्रणम्योपविष्टः। राजोवाच—'दीर्घमुख! देशान्तरादागतोऽसि, वार्त्तां कथय।' स ब्रूते-'देव! अस्ति महती वार्त्ता। तामाख्यातुकाम एव सत्वरमागतोऽहम्। श्रूयताम्—

एकदा=एकस्मिन्काले। सुविस्तीर्णम्=अतिप्रफुल्लितम् यत् कमलम् = नीरजम् तदेव पर्यङ्कः=शय्या तस्मिन्। सुखेन=आनन्देन आसीनः=अधिष्ठितः। परिचारेण=स्वजनवर्गेण। परिवृतः=परिवेष्टितः। तिष्ठति=स्थितः अस्ति। कुतश्चिद्देशात्=कुतोऽपि विषयात्। प्रणम्य=नमस्कारं कृत्वा। उपविष्टः= आसनस्थो बभूव। देशान्तरात्=अन्यदेशात्। आगतोऽसि=आयातोऽसि। ब्रूते=उवाच। महती वार्ता=नितान्तगुर्वी वार्ता। ताम्=वार्ताम्। आख्यातुकामः=वक्तुकामः। सत्वरम्=शीघ्रम्।

एक बार वह राजहस कमलो की विस्तृत शय्या पर आनन्द से बैठा हुआ था कि उसी समय किसी अन्य देश से आकर एक बगुला प्रणाम करके बैठ गया। राजाने कहा—'दीर्घमुख, तुम दूसरे देश मे आ रहे हो। अतः वहाँ की बातें बताओ।' उसने कहा—'राजन् बहुत बडी बात है। उसी को सुनाने के लिए ही मै शीघ्रता से आया हूँ। सुनिए—

'अस्ति जम्बूद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः। तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति। तस्यानुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं दग्धारण्यमध्ये चरन्नवलोकितः, पृष्टश्च—'कस्त्वम्? कुतः समागतोऽसि?।' तदा मयोक्तम्—कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्त्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्यानुचरोऽहं, कौतुकाद् देशाऽन्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि। एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्-'अनयोर्देशयोः को देशो भद्रतरो,राजा च?'।

गिरिः=पर्वतः। अनुचरैः=सेवकैः। चरद्भिः=भ्रमद्भिः। दग्धारण्यमध्ये=दग्धनामककाननान्तरे। चरन्=भ्रमन्। अवलोकितः=दृष्टः। कुतः=कस्मात् स्थानात्। समागतोऽसि=समायातोऽसि। राजचक्रवर्तिनः=मण्डलेश्वरस्य। अनुचरः=सेवकः। कौतुकात्=औत्सुक्यात्। द्रष्टुम्=अवलोकनाय। एतत् श्रुत्वा=मद्वचनमाकर्ण्य। अनयोर्देशयोः=अनयोः द्वयोः देशयोः मध्ये। भद्रतरः=श्रेष्ठतरः।

जम्बूद्वीप में विन्ध्य नाम का पहाड़ है। वहाँ पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम वाला मोर रहता है। मैं दग्धारण्य में भ्रमण कर रहा था कि उसके घूमने वाले सेवक पक्षियों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मुझसे पूछा—'तुम कौन हो? और कहाँ से आए हो? तब मैंने कहा—मैं कर्पूर द्वीपके चक्रवर्ती सम्राट् राजहंस हिरण्यगर्भ का सेवक हूँ। कुतूहलवश अन्यदेशों को देखने के लिए आया हूँ। यह सुनकर उन पक्षियों ने कहा—'इन दोनों देशों में कौन देश और कौन राजा अच्छा है।

ततो मयोक्तम्—'अहो किमेवमुच्यते महदन्तरम्। यतः कर्पूर द्वीपः स्वर्ग एव, राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः, कथं वर्णयितुं शक्यते। अत्र मरुस्थले पतिताः यूयं किं कुरुथ अस्मद्देशे गम्यताम्। ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे पक्षिणः सकोपा बभूवुः। तथा चोक्तम्—

किम्=कथम्। एवम्=अनेन प्रकारेण। उच्यते=कथ्यते। महदन्तरम्=महद् भिन्नम्। द्वितीयः=अन्यः। स्वर्गपतिः=इन्द्रः। कथं=केन प्रकारेण। वर्णयितुम्=कथयितुम्। शक्यते=पार्यते। अत्र मरुस्थले=अस्मिन् वालुकामये प्रान्ते नीरसे देशे इत्यर्थः। सकोपाः=सक्रोधाः।

मैंने कहा क्या ऐसा कह रहे हो। बहुत अन्तर है। कर्पूर देश स्वर्ग है और राजहंस दूसरे इन्द्र हैं। इस मरुभूमि में पड़े हुए तुम लोग क्या कर रहे हो। हमारे देश में चलो। तब मेरी बातें सुनकर सभी क्रुद्ध हो गए। जैसा कि कहा भी है—

'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ॥ ४ ॥

अन्वयः—भुजङ्गानाम् पयःपानम् केवलम् विषवर्धनम् (एव यथा भवति तथैव) मूर्खाणाम् उपदेशः हि प्रकोपाय (एव भवति) न शान्तये (भवति) ॥ ४ ॥

भुजङ्गानाम्=सर्पाणाम्। पयःपानम्=दुग्धपानम्। विषवर्धनम्=विषवृद्धेः एव पथ। मूर्खाणाम्=अज्ञानाम्। उपदेशः=शिक्षा। प्रकोपाय=क्रोधोत्पत्त्यै ॥४॥

जैसे साँपों को दूध पिलाना केवल उनके विष को बढ़ाना ही है उसी प्रकार मूर्खों को उपदेश देना क्रोध को बढ़ाना है न कि शान्त करना ॥ ४ ॥

अन्यच्च—'विद्वानेवोपदेष्टव्यो, नाविद्वांस्तु कदाचन।
वानरानुपदिश्याऽथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्' ? दीर्घमुखः कथयति—

अन्वयः—विद्वान् एव उपदेष्टव्य , अविद्वान् तु कदाचन न (उपदेष्टव्य)। अथ खगा वानरान् उपदिश्य स्थानभ्रष्टा ययु ॥ ५ ॥

विद्वान्=प्राज्ञ । एव । उपदेष्टव्य.=उपदेशयोग्य । अविद्वान्=अज्ञ । तु । कदाचन=कदापि । न । खगा =पक्षिण । वानरान्=कपीन् । उपदिश्य=उपदेशं कृत्वा । स्थानभ्रष्टा.=गृहरहिता । ययु =जग्मु' ॥ ५ ॥

और भी समझदार को ही उपदेश देना चाहिए, मूर्ख को तो कभी उपदेश नहीं देना चाहिए। पक्षियों ने वानरो को उपदेश दिया जिससे उन्हें बेघरबार का होना पडा ॥ ५ ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे ?' दीर्घमुखने कहा—

कथा १

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति। अथैकदा वर्षासु नील-पटैरिव जलधरपटलैरावृते नभस्तले, धारासारैर्महती वृष्टि-र्बभूव। ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्छीताकुलान्कम्पमाना-नवलोक्य, कृपया पक्षिभिरुक्तम्—'भो भो वानराः ! शृणुत—

नर्मदातीरे=नर्मदायास्तटे। पर्वतोपत्यकायाम् = अचलासन्नभूम्याम् (तराई मे)। विशाल = महान्। शाल्मलीवृक्ष = शाल्मलीतरु (सेमल का पेड)। निर्मितनीडक्रोडे=रचितकुलायोत्सगे (घोसले मे)। सुखेन=आनन्देन। निवसन्ति=निवासं कुर्वन्ति। एकदा=एकस्मिन् काले। वर्षासु=वर्षाकाले 'प्रावृषि'। जलधर-पटले=मेघवृन्दे । आवृते=आच्छादिते। नभस्तले=आकाशतले। धारासारै.=सवेगवातवर्षे । महती वृष्टि =अत्यन्तजलपात । तरुतले=वृक्षतले । अवस्थितान्=स्थितान्। शीतेन=शैत्येन। आकुलान्=व्यग्रान्। कम्पमानान्=कम्पनं कुर्वाणान्। वानरान्=मर्कटान्। अवलोक्य=दृष्ट्वा। कृपया = करुणया। पक्षिभि = खगै.। उक्तम्=कथितम्।

नर्मदा के किनारे पहाड की तलहटी में सेमल का एक बहुत बड़ा पेड है। वहाँ घोसले बनाकर बहुत से पक्षी सुख से रहा करते थे। एक बार वर्षा ऋतु में आकाश बादलो से ढँक गया और मूसलाधार वर्षा होने लगी तब वृक्ष के नीचे बैठे हुए बन्दरों को ठंढ से व्याकुल एवं काँपते हुए देखकर पक्षियों को दया आगई। उन्होंने कहा—अरे बन्दरों सुनो—

'अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः।
हस्तपादादिसंयुक्ता यूयं किमवसीदथ ?' ॥ ६ ॥

अन्वयः—चञ्चुमात्राहृततृणैः अस्माभिः नीडाः निर्मिताः हस्तपादादि संयुक्ताः (यूयं) दुःखम् किम् अवसीदथ ॥ १ ॥

चञ्चुमात्रेण—केवलं चञ्च्वा एव । आहृतैः = आनीतैः तृणैः । अस्माभिः = वयं । नीडाः = कुलायाः । निर्मिताः = रचिताः । हस्तपादादिसंयुक्ताः = करचरणादियुक्ताः = करचरणादियुक्ताः समर्थाः इत्यर्थः । यूयं । दुःखं = कष्टम् । किम् = कस्मात् । अवसीदथ = कष्टम् प्राप्नुथ ॥ १ ॥

'हम लोगों ने केवल चोंच से तिनकों को ला-लाकर घोंसले बना लिए और तुम लोग हाथ-पाँव रखते हुए भी क्यों दुःख झेल रहे हो ? ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैर्ज्ञातम्—'अहो ! निर्वातनीडगर्भावस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति' । तद् भवतु तावद् वृष्टेरुपशमः । अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे, तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य सर्वे नीडा भग्नाः तेषामण्डानि चाऽधः पातितानि । अतोऽहं ब्रवीमि 'विद्वानेवोपदेष्टव्यः' इत्यादि ॥

राजोवाच—'ततस्तैः पक्षिभिः किं कृतम् ?' ।

बकः कथयति—'ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तम्—'केनासौ राजहंसो राजा कृतः ?' । ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्—'अयं युष्मदीयो मयूरः केन राजा कृतः ?' एतच्छ्रुत्वा ते पक्षिणो मां हन्तुमुद्यताः । ततो मयापि स्वविक्रमो दर्शितः । यतः—

तच्छ्रुत्वा=तदाकर्ण्य । ज्ञातम्=आलोचितम् । निर्वातनीडगर्भावस्थिताः=वायुरहितकुलायस्य । गर्भे = मध्ये अवस्थिताः = स्थिताः । निन्दन्ति=निन्दां कुर्वन्ति । वृष्टेः उपशमः=वृष्टिनिवृत्तिः । अनन्तरम्=पश्चात् । शान्ते=निवृत्ते । पानीयवर्षे=जलवृष्टौ । वृक्षमारुह्य=वृक्षोपरि आरोहणं कृत्वा । भग्नाः=नष्टाः । अधः पातितानि=भूमौ क्षिप्तानि ।

किं कृतम्=किमाचरितम् । कोपात्=रोषात् । उपजातकोपेन=उत्पन्नक्रोधेन मया । युष्मदीयः = युष्माकम् । हन्तुमुद्यताः = मारयितुम् उद्यताः । स्वविक्रमः = निज पराक्रमः । दर्शितः = प्रदर्शितः ।

यह सुनकर उन बन्दरों ने मन ही मन विचार किया "वायुरहित घोंसले में सुख से बैठे हुए ये पक्षी हमलोगों की निन्दा कर रहे हैं । अच्छा ! पानी बन्द होने दो ।' इसके बाद पानी बरसना बन्द होने पर वे सभी बन्दर वृक्ष पर चढ़ गए उन्होंने घोंसलों को तोड़ दिया और अण्डों को नीचे गिरा दिया । इस लिए मैं कह रहा हूँ—'विद्वान् का ही उपदेश देना चाहिए' इत्यादि ।

राजाने कहा—'तब उन्होने क्या किया।' बगुले ने कहा—तब उन क्रुद्ध पक्षियो ने कहा—किसने राजहंस को राजा बनाया है? तब मैंने भी क्रुद्ध होकर कहा—तुम्हारे मयूर को किसने राजा बनाया है। यह सुनकर वे सब मुझे मारने के लिए तैयार हो गए तब मैंने भी अपना बल दिखाया। क्योंकि—

'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे, वैयात्यं सुरतेष्विव' ॥ ७ ॥

अन्वयः—अन्यदा योषित (भूषणम्) लज्जा इव, पुंस भूषणम् क्षमा (अस्ति, तु) सुरतेषु वैयात्यम् इव परिभवे पराक्रम (भूषणम् अस्ति) ॥ ७ ॥

अन्यदा = पराभवातिरिक्तकाले, सुरतातिरिक्तसमये। योषित = नार्या। लज्जा इव=त्रपा इव। पुंस =पुरुषस्य। भूषणम्=अलङ्कार। क्षमा=क्षान्ति। सुरतेषु=रतिक्रीडायाम्। वैयात्यम्=धृष्टता इव। परिभवे=पराजयकाले। पराक्रम =बलप्रदर्शनम् एव ॥ ७ ॥

अन्य समय मे जैसे लज्जा स्त्रियो का आभूषण है उसी प्रकार क्षमा पुरुषो का आभूषण है। किन्तु रतिकाल मे धृष्टता जैसे स्त्रियो की शोभा है उसी प्रकार अपमान के समय पराक्रम पुरुषो की शोभा है ॥ ७ ॥

राजा विहस्याऽऽह—

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाऽबलम्।
अन्तरं नैव जानाति, स तिरस्क्रियतेऽरिभिः' ॥ ८ ॥

अन्वयः—आत्मन परेषाम् च बलाबलम् समीक्ष्य य अन्तरम् नैव जानाति स अरिभि तिरस्क्रियते ॥ ८ ॥

आत्मन =स्वस्य च। परेषाम् च=शत्रूणाम् च। बलाबलम् = सामर्थ्यमसामर्थ्यञ्च। समीक्ष्य = दृष्ट्वा य। अन्तरम् = प्रभेदम्। नैव, जानाति = वेत्ति। अरिभि =शत्रुभि। स, तिरस्क्रियते=पराजितो भवति ॥ ८ ॥

राजा ने हँसकर कहा—

अपने और शत्रु के बलाबल को देखकर भी जो उनके अन्तर को नही समझता वह शत्रुओं से अपमानित होता है ॥ ८ ॥

'सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान्।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो, वाग्दोषाद् गर्दभो हतः' ॥ ९ ॥

चक. पृच्छति—कथमेतत्? राजा कथयति—

अन्वयः—क्षेत्रे सुचिरम् नित्यम् चरन् हि द्वीपिचर्मपरिच्छन्न. अबुद्धिमान् गर्दभ वाग्दोषात् हत ॥ ९ ॥

क्षेत्रे = सस्योत्पत्तिस्थले। सुचिरम् = बहुकालपर्यन्तम्। नित्यम् = प्रतिदिनम्। चरन् = भुञ्जन् सस्यम्। द्वीपिचर्मपरिच्छन्नः = व्याघ्रचर्माच्छादितः। अबुद्धिमान् = मूर्खः। गर्दभः = खरः। वाग्दोषात् = शब्ददोषात्। हतः = मृतः ॥ १ ॥

और भी—बहुत दिनों तक नित्य ही खेत में चरने वाला व्याघ्र चर्म से ढँका हुआ गदहा केवल अपने बोलने के दोष से ही मारा गया ॥ १ ॥

बगुले ने पूछा—'यह कैसे'। राजा ने कहा—

कथा २

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः। तस्य गर्दभोऽतिभारवहनाद् दुर्बलो मुमूर्षुरिवाऽभवत्। ततस्तेन रजकेनासौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्यारण्यकसमीपे सस्यक्षेत्रे विमुक्तः। ततो दूरात्तमवलोक्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वरं पलायन्ते।

हस्तिनापुरे = तन्नामनगरे। विलासो नाम = विलासाख्यः। रजकः = वस्त्रनिर्णेजकः। अस्ति = विद्यते। तस्य गर्दभः = तस्य खरः। अतिभारवहनात् = अत्यन्तभारधारणात्। दुर्बलः = शरीरेण क्षीणः। मुमूर्षुः इव = मृतकल्पः। असौ = गर्दभः। व्याघ्रचर्मणा = व्याघ्रत्वचा। प्रच्छाद्य = आच्छाद्य। अरण्यसमीपे = वनस्य निकटे। सस्यक्षेत्रे = धान्यक्षेत्रे। विमुक्तः = नियोजितः। अवलोक्य = दृष्ट्वा। व्याघ्रबुद्ध्या = व्याघ्रमत्या 'व्याघ्रोऽयम्' इति मत्वा इत्यर्थः। क्षेत्रपतयः = क्षेत्रस्वामिनः। सत्वरम् = शीघ्रम्। पलायन्ते = पलायनं चक्रुः।

हस्तिनापुर में विलास नाम का एक धोबी था। उसका गदहा बोझा से दुबला हो मरने-मरने को हो गया। तब धोबी ने उसे बाघ के चमड़े से ढँक कर जंगल के पास धान के खेत में छोड़ दिया। [redacted] के रखवालों ने उसे दूर ही से देखकर बाघ समझ लिया और वे वहाँ से शीघ्र ही भाग खड़े हुए।

अथैकदा केनापि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुष्काण्डं सज्जीकृत्यानतकायेनैकान्ते स्थितम्। तं च दूराद् दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो यथेष्टसस्यभक्षणजातबलो 'गर्दभोऽय'मिति मत्वोच्चैः शब्दं कुर्वाणस्तदभिमुखं धावितः। ततस्तेन सस्यरक्षकेण चीत्कारशब्दाद् गर्दभोऽयमिति निश्चित्य लीलयैव व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुचिरं हि चरन्नित्यम्'—इत्यादि ॥

सस्यरक्षकेण = धान्यरक्षकेण क्षेत्रस्वामिना। धूसरं धूम्रवर्णं यत् कम्बलम् तेन कृतम् विरचितम् तनुत्राणम् देहावगुण्ठनं येन तेन। धनुष्काण्डम् = चाप

दण्डम् । सज्जीकृत्य=व्यायुक्तं कृत्वा । आनतकायेन=संकुचितशरीरेण । एकान्ते=रहसि । स्थितम्=अधिष्ठितम् । तं च=क्षेत्ररक्षकम् च । पुष्टाग =परिपुष्टदेह । यथेष्टसस्यभक्षणात्=यथेच्छधान्यचर्वणात् । उपजातबल =उत्पन्नपराक्रम. । मत्वा=परिज्ञाय । तदभिमुखम् = क्षेत्ररक्षक प्रति । धावित = वेगेन चलित । निश्चित्य = निश्चयम् कृत्वा । लीलया एव = अप्रयासेनैव, सारल्येन इत्यर्थ. । व्यापादित =मृत्युं प्रापित ।

एक दिन खेत का एक रखवाला मटमैले कम्बल को ओढ़कर और धनुष पर डोरी चढाकर एकान्त में सिकुड कर बैठ गया उसे दूर ही से देखकर गदहे ने उसे भी गदहा समझ लिया । और वह इच्छानुसार धान चरने से बली और मोटा ताजा गदहा उसकी ओर चिल्लाते हुए दौड पडा । खेत के रखवाले उसके शब्द से उसे गदहा जानकर बडी आसानी से मार डाले । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'बहुत दिनों तक नित्य चरता हुआ' आदि ।

दीर्घमुखो ब्रूते—ततः पश्चात् तैः पक्षिभिरुक्तम्—'अरे पाप दुष्ट-बक ! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि ! । तन्न क्षन्तव्यमिदानीम्' । इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा, सकोपा ऊचुः—'पश्य रे मूर्ख ! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः । तस्य राज्याधिकारो नास्ति । यत एकान्तमृदु· करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः । स कथं पृथिवीं शास्ति ? राज्यं वा तस्य किम् ? । त्वं च कूपमण्डूक , तेन तदाश्रयमुपदिशसि' । शृणु—

पाप=पापात्मन् । अस्माकम् भूमौ=पृथिव्याम् । चरन्=विचरन् । स्वामिनम्=राजानम् । अधिक्षिपसि=निन्दसि । इदानीम्=अस्मिन् काले । चञ्चुभि =तुण्डै । हत्वा=प्रहार कृत्वा । सर्वथा=सर्वप्रकारेण । मृदु = कोमल , पराक्रमहीन इत्यर्थं । तस्य=हंसस्य । एकान्तमृदु =अत्यन्तकोमल , तेजोहीन इत्यर्थं । करतलस्थम्=हस्तगतम् । अर्थम्=धनम् । रक्षितुमक्षम =रक्षणे अशक्त । शास्ति=रक्षति । कूपमण्डूक =कूपमण्डूकतुल्य , स्वदेशातिरिक्तान्यदेशज्ञानरहित । तदाश्रयम्=राजहंसस्य आश्रयणम् ।

दीर्घमुख ने कहा—इसके बाद उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि 'अरे पापी दुष्ट बगुले तुम हमारी ही भूमि में चरते हो और हमारे राजा की निन्दा करते हो । इसलिए अब हमलोग तुम्हें क्षमा नहीं करेंगे ।' ऐसा कहकर सभी मुझे चोंचों से मारने लगे और कहने लगे कि अरे दुष्ट तुम्हारा वह हंस अत्यन्त निर्बल है इसलिए वह राज्य का अधिकार नहीं पा सकता, क्योंकि अत्यन्त निर्बल व्यक्ति

हाथ में आई हुई वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता फिर वह पृथ्वी का पालन कैसे करेगा ? और उसका राज्य ही कैसा ? तुम कुएँ के मेढक की तरह अपने देश को छोड़कर दूसरे देशों के बारे में कुछ जानते ही नहीं हो। इसीलिए अपने राजा के आश्रय में रहने का उपदेश दे रहे हो। सुनो—

'सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात्फलं नास्ति छाया केन निवार्यते ॥ १० ॥

अन्वयः—फलच्छायासमन्वितः महावृक्षः सेवितव्यः यदि दैवात् फलम् नास्ति (तर्हि) छाया केन निवार्यते ॥ १० ॥

फलच्छायासमन्वितः=फलच्छायायुक्तः। महावृक्षः = महातरुः। सेवितव्यः= सेव्यः। दैवात्=भाग्यात्। फलम् नास्ति = तस्मिन् फलागमो न भवेत्। छाया= अनातपम् केन निवार्यते = निषिध्यते ॥ १० ॥

'फल और छाया से युक्त बड़े वृक्ष की ही सेवा करनी चाहिए। यदि दैववश उससे फल नहीं मिला तो छाया कौन रोक सकता है ? ॥ १० ॥

अन्यच्च—'हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते 'वारुणी'त्यभिधीयते ॥ ११ ॥

अन्वयः—हीनसेवा न कर्तव्या महदाश्रयः कर्तव्यः। शौण्डिकीहस्ते पयः अपि वारुणी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

हीनसेवा=क्षुद्रस्य सेवा। न कर्तव्या = न करणीया। महदाश्रयः = श्रीमत् सेवा। शौण्डिकीहस्ते=कल्पपालिकाकरे। पयः अपि=क्षीरमपि। वारुणी इति=मद्यम् इति। अभिधीयते = कथ्यते ॥ ११ ॥

और भी— नीच की सेवा नहीं करनी चाहिए, बड़ों का ही आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि कलवारिन के हाथ में दूध भी शराब ही समझा जाता है' ॥

अन्यच्च—'महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः।
आधाराधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ॥ १२ ॥

अन्वयः—निर्गुणे (स्थितः) महान् गुणविस्तरः अपि आधाराधेयभावेन दर्पणे गजेन्द्र इव अल्पताम् याति ॥ १२ ॥

निर्गुणे = गुणहीने स्थितम्। महान् अपि = अत्युत्कटोऽपि। गुणविस्तरः= गुणप्रकरः। आधाराधेयभावेन=आश्रयाश्रयिभावेन आश्रयस्य क्षुद्रतया। अल्पताम् = स्वल्पाकारत्वम् इव धारि वर्ण। याति = गच्छति। दर्पणे = आदर्शे। गजेन्द्र इव = करिराजस्य ॥ १२ ॥

और भी—'निर्गुणों में रहने वाला महान् गुण भी आधार के प्रभाव से तुच्छ बन जाता है जैसे गजराज भी शीशे में उसके प्रभाव से छोटा दिखाई पड़ता है' ॥

किन्तु—'अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम्।
रामामासाद्य लङ्कायां लेभे राज्यं विभीषणः' ॥ १३ ॥

अन्वयः—सिंहप्रसादेन अजा वने निर्भयम् चरति। विभीषण रामम् आसाद्य लङ्कायाम् राज्यम् लेभे ॥ १३ ॥

सिंहप्रसादेन = सिंहस्य कृपया। अजा = छागी। वने = अरण्ये। निर्भयम्=निःशङ्कम्। चरति=विचरति। विभीषण =रावणस्य अनुज। राम=सीतापतिम्। आसाद्य=शरणं प्राप्य। लङ्कायां=तन्नामकपुर्याम्। राज्य = राजपदम्। लेभे=प्राप्तवान् ॥ १३ ॥

किंतु—'सिंह की कृपा से बकरी भी जंगल में निर्भय होकर चरती है। विभीषण ने राम का आश्रय लेकर ही लंका में राज्य प्राप्त किया था' ॥ १३ ॥

विशेषतश्च—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे।
शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते' ॥ १४ ॥

मयोक्त—कथमेतत् ? पक्षिणः कथयन्ति—

अन्वयः—अतिशक्ते नराधिपे व्यपदेशे अपि सिद्धि स्यात्। शशकाः शशिन-व्यपदेशेन् सुखमासते ॥ १४ ॥

अतिशक्ते = बलशालिनि। नराधिपे = नृपे सति। व्यपदेशेऽपि=तस्य नाम-ग्रहणे अपि। सिद्धि =कार्यपूर्ति। शशका =तन्नामका जन्तुविशेषा (खरगोश)। शशिन = चन्द्रस्य। व्यपदेशेन=व्याजेन नाम्ना। सुखं = सानन्दम्। आसते = निवसन्ति ॥ १४ ॥

प्राय —'कभी-कभी अत्यन्त शक्तिशाली राजा के नाम से ही कार्य सिद्ध हो जाता है। जैसे खरगोशों ने चंद्रमा का नाम लेकर सुख प्राप्त किया था' ॥१४॥

कथा ३

कदाचिद्वर्षास्वपि वृष्टेरभावात्तृषार्त्तो गजयूथो यूथपतिमाह—'नाथ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ? नाऽस्ति क्षुद्रजन्तूनाम् (अपि) निमज्जनस्थानम्। वयं च निमज्जनस्थानाभावान्मृताः, अन्धा इव किं कुर्मः ?, क यामः ?' ततो हस्तिराजो नातिदूरं गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान्।

कदाचिद्=कस्मिंश्चित् काले । वर्षास्वपि=प्रावृषि । वृष्टेरभावात्=जलवर्षणाभावात् । तृषार्तः = पिपासाकुलः । गजयूथः = हस्तिसमूहः । यूथपतिम् = यूथनायकम् । आह=उक्तवान् । नाथ = स्वामिन् । अभ्युपायः = युक्तिः । जीवनाय= प्राणधारणाय । क्षुद्रजन्तूनाम्=लघुतराणाम् जीवानाम् । निमज्जनस्थानम् = स्नानयोग्यं सरोवरं किं पुनः अस्मदादृशानां विशालकायानाम् इति भाव । निमज्जनस्थानाभावात् = सरोवरं विना । मृताः = मृततुल्याः । हस्तिराजः = गजाधिपः । नातिदूरं = समीपम् । निर्मलम् = अतिस्वच्छम् । ह्रदम् = सरोवरम् ।

एक बार वर्षा ऋतु में भी पानी न बरसने के कारण प्यास से आकुल हाथियों के झुण्ड ने अपने स्वामी से कहा—'स्वामी ! हम लोगों के जीवन का कोई उपाय है ? छोटे-छोटे जन्तुओं के स्नान करने योग्य भी कोई जगह नहीं है। हमलोग तो स्नान करने की जगह के बिना मृतक तुल्य हो गए हैं। अब हम अन्धों की तरह क्या करें ? कहाँ जायें ?' तब हाथियों के राजा ने थोड़ी दूर जाकर उन्हें एक निर्मल तालाब दिखाया।

ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिताः क्षुद्रशशका गजपादाहतिभिश्चूर्णिताः । अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयामास—अनेन गजयूथेन पिपासाकुलितेन प्रत्यहमत्रागन्तव्यम् । ततो विनष्टमस्मत्कुलम् ।

ततो विजयो नाम वृद्धशशकोऽवदत्—'मा विषीदत, मयात्र प्रतीकारः कर्तव्यः । ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः । गच्छता च तेनालोचितम्—'कथं मया गजयूथनाथसमीपे स्थित्वा वक्तव्यम् ?'।

दिनेषु गच्छत्सु = कालपरिमितेऽतिक्रान्तेषु । तत्तीरावस्थिताः = सरोवरतट निवासिनः । क्षुद्रशशकाः = स्वल्पदेहाः शशकाः । गजपादाहतिभिः = हस्तिचरणेन हतैः । चूर्णिताः = मृताः । अनन्तरम् = तत्पश्चात् । चिन्तयामास = विचारयामास । पिपासाकुलितेन = तृषार्तेन । प्रत्यहम् = प्रतिदिनम् । कुलम् = वंशः । अवदत् = उक्तवान् । मा विषीदत = विषादं न कुरुत । प्रतीकारः = रक्षायाः उपायः । प्रतिज्ञाय = प्रतिज्ञां कृत्वा । चलितः = प्रस्थितः । आलोचितम् = विचारितम् । गजयूथनाथसमीपे = हस्तियूथाधिपनिकटे ।

कुछ समय बाद तालाब के किनारे रहने वाले छोटे खरगोश हाथियों के पैरों से दबकर कुचल गए । इसके पश्चात् शिलीमुख नाम के खरगोश ने विचार

किया-'प्यास से व्याकुल हाथियों का झुण्ड तो यहाँ प्रतिदिन आयेगा। इससे तो हमारा सारा वंश ही नष्ट हो जायगा' तब विजय नाम के एक बूढे खरगोश ने कहा—'डरो मत, मैं विपत्ति को दूर करने का उपाय करूगा।' तब वह प्रतिज्ञा करके चला। चलते-चलते उसने विचार किया कि मैं हाथियों के झुण्ड के स्वामी के पास खडा होकर कैसे बातचीत करूगा? क्योंकि—

यतः—'स्पृशन्नपि गजो हन्ति, जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
पालयन्नपि भूपालः, प्रहसन्नपि दुर्जनः' ॥ १५ ॥

अन्वयः—गज स्पृशन् अपि हन्ति, भुजङ्गम जिघ्रन् अपि (हन्ति) भूपालः पालयन् अपि (हन्ति) दुर्जन प्रहसन् अपि (हन्ति) ॥ १५ ॥

गज =करी। स्पृशन् अपि = स्पर्शमात्रेणापि। हन्ति = प्राणान्त करोति। भुजङ्गम =सर्प। जिघ्रन् अपि=आघ्राण कुर्वन्नपि (सूघते ही)। भूपाल =नृपति। पालयन् अपि=पोषयन् अपि। दुर्जन =दुष्ट। प्रहसन् अपि = हसन् अपि। स्वप्रसन्नता प्रकटीकुर्वन् अपि (हन्ति) ॥ १५ ॥

छूने मात्र से हाथी, सूघने मात्र से सर्प, पालन करते हुए भी राजा, और हँसते हुए भी दुर्जन प्राणों का घातक बन जाता है ॥ १५ ॥

अतोहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथं संवादयामि।' तथानुष्ठिते सति यूथनाथ उवाच-'कस्त्वम्? कुतः समायातः?'।

स ब्रूते—'शशकोहम्, भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः।' यूथपतिराह-'कार्यमुच्यताम्'। विजयो ब्रूते—

आरुह्य=आरोहण कृत्वा। संवादयामि=वार्तालाप करोमि। तथाऽनुष्ठिते= पूर्वोक्तप्रकारेण कृते सति। समायात =आगतोऽसि। भवदन्तिकम् = त्वत्पार्श्वम्, विजय = वृद्धशशक।

इसलिए मैं पहाड की चोटी पर चढकर हाथियों के स्वामी से बातचीत करूँगा।, ऐसा करने के बाद गजस्वामी ने कहा-'तुम कौन हो? कहाँ से आए हो।' उसने कहा—'मैं खरगोश हूँ। भगवान चन्द्रदेव ने मुझे आप के पास भेजा है।' गजपति ने कहा 'बताओ, किस काम के लिए भेजा है।' तब विजय ने कहा—

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा।
सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः' ॥ १६ ॥

अन्वय.—शस्त्रेषु उद्यतेषु अपि दूत अन्यथा न वदति। हि अवध्यभावेन (निर्भय स) सदैव यथार्थस्य वाचक (भवति) ॥ १६ ॥

तब मंत्री गृध्र ने मुझसे पूछा—'वहाँ मुख्य मंत्री कौन है ? मैंने कहा—'सभी शास्त्रों में कुशल सर्वज्ञ नाम का चकवा है।

गृध्र ने कहा बिल्कुल ठीक। वह राजहंस के देश में ही पैदा हुआ है। क्योंकि—

'स्वदेशजं, कुलाचारविशुद्धमुपधाशुचिम्।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥
अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं, विपश्चितम्।
अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः ॥ १८ ॥

अन्वयः—नृपः स्वदेशजम् कुलाचारविशुद्धम् उपधाशुचिम्, मन्त्रज्ञम् अव्यसनिनम् व्यभिचारविवर्जितम् अधीतव्यवहारार्थम् मौलम् ख्यातम्, विपश्चितम् अर्थस्योत्पादकम् च एव मन्त्रिणम् विदध्यात् ॥ १७–१८ ॥

स्वदेशजम्=स्वदेशोत्पन्नम्। कुलाचारविशुद्धम् = कुलाचारेण=कुलव्यवहारेण विशुद्धम्, उत्तमकुलोत्पन्नम् इत्यर्थः। उपधाशुचिम् = धर्मपरीक्षासु पवित्रम् लोभादिप्रलोभनेषु अनुत्तीर्णम् अपरिवर्तनीयम् इत्यर्थः। मन्त्रज्ञम्=मन्त्रणायाः वेत्तारम्। अव्यसनिनम्=मद्यद्यूतादिव्यसनरहितम्। व्यभिचारविवर्जितम् = परधन दारादिविषये अनभिलाषुकम्। अधीतव्यवहारार्थम्=धर्मशास्त्रोक्तव्यवहारेषु च निष्णातम्। मौलम्=वंशपरम्परागतम्। ख्यातम् = स्वगुणैः लोकमध्ये प्रसिद्धम्। विपश्चितम् = पण्डितम्। अर्थस्योत्पादकम् = वित्तोपार्जकम्। विदध्यात्=नियुक्तं कुर्यात् ॥ १७–१८ ॥

अपने ही राष्ट्र में उत्पन्न होने वाले कुलीन आचरणों से पवित्र धार्मिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण राजनीति के ज्ञाता किसी भी प्रकार के व्यसन (मद्यपानादि) से रहित व्यभिचार से हीन अर्थात् सदाचारी व्यवहारकुशल कुलक्रमागत प्रसिद्ध विद्वान् तथा धनोपार्जन में निपुण व्यक्ति को ही मंत्रीपद पर नियुक्त करना चाहिए ॥ १७–१८ ॥

अत्रान्तरे शुकेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बूद्वीपान्तर्गता एव तत्रापि देवपादानामेवाधिपत्यम्। ततो राज्ञाप्युक्तम्—'एवमेव। यतः—

अत्रान्तरे = अस्मिन्नेव समये। लघुद्वीपा = क्षुद्रद्वीपा। जम्बूद्वीपान्तर्गताः= जम्बूद्वीपस्य मध्ये स्थिता। तत्रापि = लघुद्वीपेऽपि। देवपादानाम्=भवताम्। आधिपत्यम् = स्वामित्वम्।

इसी बीच तोते ने कहा—'राजन् कर्पूर द्वीप आदि छोटे-छोटे द्वीप जम्बू द्वीप के ही अन्तर्गत हैं। इसलिए वहाँ भी आप का ही स्वामित्व है। तब राजा ने कहा—हाँ ऐसा ही है। क्योंकि—

'राजा, मत्तः, शिशुश्चैव, प्रमदा, धनगर्वितः।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्' ॥ १९ ॥

अन्वयः—राजा, मत्त, शिशु, च एव प्रमदा, धनगर्वित, अप्राप्यम् अपि, वाञ्छन्ति, किं पुन यत् लभ्यते अपि ॥ १९ ॥

राजा=नृप। मत्त=उन्मादग्रस्त। शिशु=बालक। प्रमदा=कामोन्मत्ता युवति। धनगर्वित=धनावलेपी। अप्राप्यम् अपि=अलभ्यमपि। वाञ्छन्ति=इच्छन्ति। लभ्यते=प्राप्यते ॥ १९ ॥

राजा, पागल, बालक, मतवाली स्त्री और धन के अभिमानी व्यक्ति अप्राप्य वस्तु की भी अभिलाषा करते रहते हैं, फिर जो वस्तु प्राप्त हो सकती है उसकी तो चर्चा ही क्या है ? अर्थात् उसे तो वह अवश्य ही चाहेंगे ॥ १९ ॥

ततो मयोक्तम्—'यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्य सिद्ध्यति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति।' शुको ब्रूते—'कथमत्र निर्णयः ?'। मयोक्तम्—'सग्राम एव।'

राजा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु।' तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्'। राजोवाच—'कः प्रयास्यति दौत्येन ?। यत एवम्भूतो दूत. कार्यः'—

वचनमात्रेणैव=कथनमात्रेणैव। स्वाम्यम्=आधिपत्यम्। सग्राम=युद्धम्। सज्जीकुरु=युद्धाय सन्नद्ध कुरु। एवम्भूत=एवंविध।

तब मैंने कहा—'यदि केवल कहने से ही स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर भी हमारे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है।' सुग्गे ने कहा—'तो इसका निर्णय कैसे हो ?' मैंने कहा—'युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा।'

राजा ने हँसकर कहा—'तो जाकर अपने राजा को (युद्ध के लिए) तैयार करो।' तब मैंने कहा—'आप अपना दूत भी भेज दें।' राजा ने कहा 'दूत बनकर कौन जाएगा ?' क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए।

'भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्ष, प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी।
ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूतः स्यात्प्रतिभानवान्' ॥ २० ॥

अन्वयः—दूत, भक्त, गुणी, शुचि, दक्ष, प्रगल्भ, अव्यसनी, क्षमी, ब्राह्मण, परमर्मज्ञ, प्रतिभानवान्, स्यात् ॥ २० ॥

भक्त=स्वस्वामिनम् प्रति श्रद्धालु। गुणी=सर्वगुणोपेत। शुचि=व्यवहार-शुद्ध। दक्ष=विचक्षण। प्रगल्भ=वाक्पटु। अव्यसनी=व्यसनरहित। क्षमी=

शस्त्रेषु उद्यतेषु अपि—शस्त्रप्रहारकरणाय उद्यतेषु अपि प्राणनाशेऽपि इत्यर्थः। दूतः=वार्ताहरः। अन्यथा=असत्यम्। न वदति = न कथयति। हि = निश्चयेन। अवध्यभावेन = अहं तु अवध्य इत्यनेन मनसः निश्चयेन। यथार्थस्य = सत्यस्य। वाचकः = वक्ता ॥ १९ ॥

दूत अपने ऊपर हथियारों का प्रहार करने के लिए तैयार होने पर भी झूठ नहीं बोलता क्योंकि अवध्य होने के कारण वह सदा सत्य ही बोलने वाला होता है ॥ १९ ॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि शृणु—यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया निःसारितास्तदनुचितं कृतम्। ते शशकाश्चिरमस्माकं रक्षिताः। अत एव मे 'शशाङ्क' इति प्रसिद्धिः।'

एवमुक्तवति दूते यूथपतिर्भयादिदमाह—'प्रणिधे! इदमज्ञानतः कृतम्, पुनर्न तत्र गमिष्यामि।'

दूत उवाच—'यद्येवं तत्र सरसि कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य प्रसाद्य च गच्छ।'

ततस्तेन रात्रौ यूथपतिं नीत्वा तत्र जले चञ्चलं चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा स यूथपतिः प्रणामं कारितः।

उक्तं च तेन—'देव! अज्ञानादनेनापराधः कृतः ततः क्षम्यताम्, नैवं वारान्तरं विधास्यते।' इत्युक्त्वा प्रस्थापितः। अतो वयं ब्रूमः—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्' इति ॥

तदाज्ञया=स्वामिन आज्ञानुसारेण। ब्रवीमि = कथयामि। चन्द्रसरोरक्षकाः= चन्द्रसरोवरस्य रक्षायाम् नियुक्ताः। निःसारिताः=निष्कासिताः। अनुचितं कृतम्—अकार्यम् विहितम्। चिरम् = बहुकालात्। रक्षिताः =पालिताः। शशाङ्कः =[illegible]। एवमुक्तवति=अनेन प्रकारेण कथितवति। आह = उक्तवान्। प्रणिधे=दूत!। अज्ञानत =अज्ञानभावात्। कोपात्=क्रोधात्। कम्पमानम्=वेपमानम्। भगवन्तम्—[illegible]। प्रणम्य = प्रणामं कृत्वा। प्रसाद्य=प्रसन्नं कृत्वा। चन्द्रबिम्बम् = चन्द्रमण्डलम्। तेन = दूतेन। क्षम्यताम् = क्षमा क्रियताम्। वारान्तरम्=पुनरपि। विधास्यते=करिष्यते।

इसलिए मैं उनकी आज्ञा से कह रहा हूँ। सुनो— यह जो तुमने चन्द्रसरोवर के रक्षक [illegible] का निष्कासन किया है वह बड़ा ही अनुचित किया है। क्योंकि [illegible] मेरे द्वारा रक्षित हैं इसीलिए मैं शशाङ्क (खरगोश है जिसकी [illegible]) नाम से प्रसिद्ध हूँ। दूत के ऐसा कहने पर यूथपति ने भयभीत [illegible]—दूत! मैंने यह काम अनजाने ही किया है। फिर

वहाँ नहीं जाऊँगा।' दूत ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो इस तालाब में क्रोध से काँपते हुए भगवान् चन्द्रदेव को प्रणाम करके और प्रसन्न करके चले जाओ।'

तब दूत ने गजपति को रात मे लेजाकर जल म चन्द्रमा की छाया दिखाई और उसे प्रणाम कराया। उसने कहा—'देव, अनजान मे ही इन्होंने यह अपराध किया है। इसलिए क्षमा करें। अब आगे ऐसा नही करेंगे।' ऐसा कहकर उसे भेज दिया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'बडो के बहाने से सिद्धि हो जाती है' इत्यादि।

ततो मयोक्तम्—'स एवाऽस्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः। त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्—' इति। तदाह तैः पक्षिभिः—'दुष्ट! कथमस्मद्भूमौ चरसि'—इत्यभिधाय, 'राज्ञश्चित्रवर्णस्य समीपं नीत'। ततो राज्ञः पुरो मां प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम् देव! अवधीयताम्, एष दुष्टोऽस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति'।

राजाह—'कोऽयम्?, कुतः समायातः।' ते ऊचुः—'हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः कर्पूरद्वीपादागतः।'

अथाह गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—'कस्तत्र मुख्यो मन्त्रीति?'। मयोक्तम्—'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः।'

गृध्रो ब्रूते—'युज्यते। स्वदेशजोऽसौ'। यत—

मया=बकेन। महाप्रताप=अमिततेजा। अतिसमर्थ=महाशक्त। त्रैलोक्यस्य=त्रिलोक्या। अपि प्रभुत्वम्=स्वामित्वम्। युज्यते=योग्यमस्ति। इत्यभिधाय=इत्युक्त्वा। राज्ञ पुर=नृपस्य समुखे। प्रदर्श्य=उपस्थित कृत्वा। अवधीयताम्=सावधानतया श्रूयताम्। देवपादान्=महाराजान्। अधिक्षिपति=निन्दति। समायात=समागत। तत्र=कर्पूरद्वीपे। सर्वशास्त्रपारग=सर्वशास्त्रकुशल। स्वदेशज=स्वदेशोत्पन्न।

तब मैंने कहा—'यह हमारे स्वामी राजहंस बडे प्रतापी और शक्तिशाली हैं। उनके लिए तीनों लोको का प्रभुत्व उचित है फिर पक्षियो के राजा बनने की तो बात ही क्या!' तब उन पक्षियो ने मुझसे कहा कि 'तुम हमारे राज्य मे क्यों घूम रहे हो?' ऐसा कहकर वे मुझे पकडकर राजा चित्रवर्ण के पास ले गए। उन्होंने मुझे राजा के सामने उपस्थित किया और उन्हे प्रणाम करके कहा—राजन्, सावधानी से सुनिए हमारे ही देश मे विचरण करता हुआ यह बगुला आप की निन्दा करता है।'

राजा ने कहा—'यह कौन है और कहाँ से आया है!' उन्होंने कहा—'यह हिरण्यगर्भ नाम राजहंस का सेवक है और कपूंर द्वीप से आया है।'

तब मंत्री गृध्र ने मुझसे पूछा—'वहाँ मुख्य मंत्री कौन है ?' मैंने कहा—'समस्त शास्त्रों में कुशल सर्वज्ञ नाम का चकवा है।'

गृध्र ने कहा बिल्कुल ठीक। वह राजहंस के देश में ही पैदा हुआ है। क्योंकि—

स्वदेशजं, कुलाचारविशुद्धमुपधाशुचिम् ।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥
अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं, विपश्चितम् ।
अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः ॥ १८ ॥

अन्वयः—नृपः स्वदेशजम् कुलाचारविशुद्धम् उपधाशुचिम्, मन्त्रज्ञम् अव्यसनिनम् व्यभिचारविवर्जितम् अधीतव्यवहारार्थम् मौलम् ख्यातम् विपश्चितम्, अर्थस्योत्पादकम् च एव मन्त्रिणम् विदध्यात् ॥ १७–१८ ॥

स्वदेशजम्=स्वदेशोत्पन्नम् । कुलाचारविशुद्धम् = कुलाचारेण=कुलव्यवहारेण विशुद्धम्, सत्कुलोत्पन्नम् इत्यर्थः । उपधाशुचिम् = धर्मपरीक्षासु पवित्रम् 'लोभादिप्रदर्शनेषु अनुत्तीर्णमानमलोभिनम्' इत्यर्थः । मन्त्रज्ञम्—मन्त्रणाविचार वेत्तारम् । अव्यसनिनम्=मद्यद्यूतादिव्यसनाचारशून्यम् । व्यभिचारविवर्जितम् = परधन दारादिग्रहणे अनभिलाषुकम् । अधीतव्यवहारार्थम्—धर्मशास्त्रोक्तव्यवहारेषु च निष्णातम् । मौलम्=वंशपरम्परागतम् । ख्यातम् = स्वगुणैव लोकमध्ये प्रसिद्धम् । विपश्चितम् = पण्डितम् । अर्थस्योत्पादकम् = वित्तोपार्जकम् । विदध्यात्—नियुक्तं कुर्यात् ॥ १७–१८ ॥

अपने ही राष्ट्र में उत्पन्न होने वाले कुलीन आचरणों से पवित्र धार्मिक परीक्षणों में उत्तीर्ण राजनीति के ज्ञाता किसी भी प्रकार के व्यसन (मद्यपानादि) से रहित व्यभिचार से हीन अर्थात् सदाचारी व्यवहारकुशल कुलक्रमागत प्रसिद्ध विद्वान् तथा धनोपार्जन में निपुण व्यक्ति को ही मंत्रीपद पर नियुक्त करना चाहिए ॥ १७–१८ ॥

अत्रान्तरे शुकेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बूद्वीपान्तर्गता एव तत्रापि देवपादानामेवाधिपत्यम् । ततो राज्ञाप्युक्तम्—'एवमेव । यतः—

अत्रान्तरे = अस्मिन्नेव समये । लघुद्वीपा—क्षुद्रद्वीपा । जम्बूद्वीपान्तर्गता = जम्बूद्वीपस्य मध्ये स्थिता । तत्रापि = लघुद्वीपेऽपि । देवपादानाम्—भवताम् । आधिपत्यम् = स्वामित्वम् ।

इसी बीच तोते ने कहा—'राजन् कर्पूर द्वीप आदि छोटे-छोटे द्वीप जम्बू द्वीप के ही अन्तर्गत हैं । इसलिए वहाँ भी आप का ही स्वामित्व है । तब राजा ने कहा—हाँ ऐसा ही है । क्योंकि—

'राजा, मत्तः, शिशुश्चैव, प्रमदा, धनगर्वितः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्' ॥ १९ ॥

अन्वयः—राजा, मत्त , शिशु , च एव प्रमदा, धनगर्वित , अप्राप्यम् अपि, वाञ्छन्ति, किं पुन यत् लभ्यते अपि ॥ १९ ॥

राजा=नृप । मत्त =उन्मादग्रस्त । शिशु = बालक । प्रमदा = कामोन्मत्ता युवति । धनगर्वित =धनावलेपी । अप्राप्यम् अपि=अलभ्यमपि । वाञ्छन्ति = इच्छन्ति । लभ्यते = प्राप्यते ॥ १९ ॥

राजा, पागल, बालक, मतवाली स्त्री और धन के अभिमानी व्यक्ति अप्राप्य वस्तु की भी अभिलाषा करते रहते हैं, फिर जो वस्तु प्राप्त हो सकती है उसकी तो चर्चा ही क्या है ? अर्थात् उसे तो वह अवश्य ही चाहेंगे ॥ १९ ॥

ततो मयोक्तम्—'यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्यं सिद्ध्यति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।' शुको ब्रूते—'कथमत्र निर्णय. ?' । मयोक्तम्—'सग्राम एव ।'

राज्ञा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु ।' तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्' । राजोवाच—'कः प्रयास्यति दौत्येन ? । यत एवम्भूतो दूत. कार्यः'—

वचनमात्रेणैव=कथनमात्रेणैव । स्वाम्यम् = आधिपत्यम् । सग्राम.=युद्धम् । सज्जीकुरु = युद्धाय सन्नद्ध कुरु । एवम्भूत = एवंविध ।

तब मैंने कहा— यदि केवल कहने से ही स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर भी हमारे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है ।' सुग्गे ने कहा—'तो इसका निर्णय कैसे हो ?' मैंने कहा—'युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा ।'

राजा ने हँसकर कहा—'तो जाकर अपने राजा को (युद्ध के लिए) तैयार करो ।' तब मैंने कहा—'आप अपना दूत भी भेज दें ।' राजा ने कहा 'दूत बनकर कौन जाएगा ?' क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए ।

'भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्ष', प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।
ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूतः स्यात्प्रतिभानवान्' ॥ २० ॥

अन्वयः—दूत , भक्त , गुणी, शुचि , दक्ष , प्रगल्भ , अव्यसनी, क्षमी, ब्राह्मण , परमर्मज्ञ , प्रतिभानवान्, स्यात् ॥ २० ॥

भक्त =स्वस्वामिनम् प्रति श्रद्धालु । गुणी=सर्वगुणोपेत । शुचि =व्यवहार-शुद्ध । दक्ष =विचक्षण । प्रगल्भ =वाक्पटु । अव्यसनी=व्यसनरहित । क्षमी=

समवायी परमर्मज्ञः—परस्य रहस्यवित् । प्रतिभानवान् = प्रतिभाशील । दूतः = सन्देशहर । स्यात्=भवेत् ॥ २० ॥

स्वामी के प्रति श्रद्धालु, गुणवान्, पवित्र, चतुर, निडर, व्यसनरहित, क्षमाशील तथा दूसरों के मर्म को समझने में बुद्धिमान पटु एवं ब्राह्मण (त्यागी तथा निर्लोभी) व्यक्ति को ही दूत बनाना चाहिए ॥ २० ॥

गृध्रो वदति—सन्त्येव दूता बहवः, किन्तु ब्राह्मण एव कर्तव्यः । यतः—

गृध्र ने कहा—'यों तो दूत बहुत से हैं, किन्तु ब्राह्मण को ही दूत बनाना चाहिये । क्योंकि—

'प्रसादं कुरुते पत्युः, सम्पत्तिं नाभिवाञ्छति ।
कालिमा कालकूटस्य नापैतीश्वरसङ्गमात् ॥ २१ ॥

अन्वयः—(ब्राह्मणः) पत्युः प्रसादम् कुरुते (तस्य) सम्पत्तिम् न अभिवाञ्छति (यथा) कालकूटस्य कालिमा ईश्वरसङ्गमात् न अपैति ॥ २१ ॥

पत्युः=स्वामी राज्ञः । प्रसादम् = प्रसन्नताम् । सम्पत्तिम् = ऐश्वर्यम् । न अभिवाञ्छति = अभिलषति । कालकूटस्य कालिमा = विषस्य श्यामत्वम् । ईश्वरसङ्गमात्=शम्भुकण्ठसंसर्गात् । न अपैति=न अपगच्छति । ब्राह्मणः स्वनिर्लोभत्वम् कदापि न जहाति यतः लोभं परिहरति इत्यर्थः ॥ २१ ॥

ब्राह्मण स्वामी को प्रसन्न रखता है और किसी भी प्रकार की सम्पत्ति की अभिलाषा नहीं रखता (निःस्वार्थ भाव से स्वामी की प्रसन्नता का ध्यान रखता है ।) शङ्कर का सहवास पाकर भी विष की कालिमा दूर नहीं होती । अर्थात् ब्राह्मण सम्पत्ति के बीच में रहकर भी अपनी निर्लोभी प्रकृति का परित्याग नहीं करता ॥ २१ ॥

राजाह—'ततः शुक एव व्रजतु । शुक ! त्वमेवानेन सह तत्र गत्वाऽस्मदभिलषितं ब्रूहि । शुको ब्रूते—'यथाज्ञापयति देवः । किन्त्वयं दुर्जनो बकः, तदनेन सह न गच्छामि' । तथा चोक्तम्—

शुक एव=निपुण ब्राह्मण शुक एव । व्रजतु—गच्छतु । अनेन सह=बकेन सार्धम् । अभिलषितम्—अभीष्टम् । दुर्जन = दुष्टस्वभाव ।

राजा ने कहा—'तो यह सुग्गा ही दूत बनकर जाये । सुग्गे इसके साथ जाकर (राजहंस से) हमारी इच्छा कह सुनाओ । सुग्गे ने कहा—'स्वामी की जैसी आज्ञा । किन्तु यह बगुला बड़ा दुष्ट है । इसलिए इसके साथ नहीं जाऊँगा । जैसा कि कहा भी गया है—

'खल. करोति दुर्वृत्तं, नूनं फलति साधुषु।
दशाननोहरत्सीतां, बन्धन स्यान्महोदधेः' ॥ २२ ॥

अन्वयः—खल दुर्वृत्तम् करोति (किन्तु तत्) साधुषु नूनम् फलति। (यथा) दशानन सीताम् अहरत् (किन्तु) महोदधे बन्धनम् स्यात् ॥ २२ ॥

खल =दुर्जन। दुर्वृत्तम्=दुश्चरित्रम्। करोति=आचरति। साधुषु=सद्वृत्तेषु। नूनम्=निश्चयेन। फलति=फलदायक भवति। दुष्टस्य दुराचारेण सज्जनोपि प्रभावितो भवति इत्यथ। दशानन =रावण। सीताम्=जानकीम्। अहरत्=अपहृतवान्। महोदधे =सागरस्य। रावणस्य दुष्कृत्येन सागर अमर्यादितोऽभूत् इत्यर्थ ॥ २२ ॥

दुष्टता तो दुष्ट करता है किन्तु उसका फल सज्जन को भोगना पड़ता है। सीता का हरण रावण ने किया था किन्तु बाँधा गया बेचारा समुद्र ॥ २२ ॥

अपरञ्च—'न स्थातव्य न गन्तव्य दुर्जनेन समं क्वचित्।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्त्तकः' ॥ २३ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्?' शुकः कथयति—

अन्वयः—दुर्जनेन समम् क्वचित् न स्थातव्यम् न गन्तव्यम्, काकसंसर्गात् तिष्ठन् हस गच्छन् च वर्तक हत ॥ २३ ॥

दुर्जनेन=दुष्टेन। समम्=सार्द्धम्। क्वचित्=कदापि। न स्थातव्यम्=न वस्तव्यम्। न गन्तव्यम् = न गमनीयम्। काकसंसर्गात् = काकेन सह संगमात्। तिष्ठन्=वसन्। वर्तक (वत्तक) पक्षिविशेष। हत =व्यापादित ॥ २३ ॥

और भी—'दुष्ट के साथ न तो रहना चाहिए और न तो कहीं जाना ही चाहिए। कौवे के साथ रहने से हंस और साथ जाने से वत्तक मारा गया' ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे हुआ।' सुग्गे ने कहा—

कथा ४

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे प्लक्षतरुः। तत्र हंस काकौ निवसतः। कदाचित् ग्रीष्मसमये परिश्रान्त कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुष्काण्डं सनिधाय सुप्त.। तत्र क्षणान्तरे तन्मुखाद् वृक्षच्छायापगता। ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य, तद्वृक्षस्थितेन पुण्यशीलेन शुचिना [illegible] सेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे

छाया कृता। ततो निर्भरनिद्रासुखिना पथिभ्रमणपरिश्रान्तेन पान्थेन मुखव्यादानं कृतम्।

अथ परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स काकस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः। ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते, तावत्तेनावलोकितो हंसः काण्डेन हतो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'न स्थातव्य'मिति ॥ ॥

'देव ! वर्तककथामपि कथयामि। श्रूयताम्—

उज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे = उज्जयिनीपुरगमनमार्गे। पिप्पलवृक्षः = अश्वत्थवृक्षः। तत्र = तस्मिन्वृक्षे। कदाचित् = कस्मिंश्चित् काले। ग्रीष्मसमये = ग्रीष्मर्तौ। परिश्रान्त=श्रमयुक्तः (थका हुआ) धनुष्काण्डम् = धनुर्बाणम्। संनिधाय = निकटस्थं कृत्वा। सुप्तः = सुप्तवान्। क्षणान्तरे = मुहूर्तान्तरे। तन्मुखात्=पथिकस्य आननात्। अपगता=दूरीभूता। सूर्यतेजसा = रव्यातपेन। व्याप्तम् = परिपूर्णम्। पुण्यशीलेन = पुण्यस्वभावेन। सुजनेन = परोपकाररतेन। कृपया= दयया। पक्षौ प्रसार्य=पक्षप्रसारणं विधाय। तन्मुखे = पथिकानने। निर्भरनिद्रासुखिना (निर्भरा निर्बाधा या निद्रा तस्याम् सुखी च स तेन) = निश्चिन्तनिद्रा सुखमनुभवता। पान्थेन=पथिकेन। मुखव्यादानम् = मुखविवरणम्। परसुखमसहिष्णुः=अन्यानन्दसहने असमर्थः। स्वभावदौर्जन्येन=प्रकृतिदुष्टत्वेन। पुरीषोत्सर्गम्= विष्ठात्यागम्। पलायितः=अपगमनम् कृतवान्। उत्थाय = निद्रां त्यक्त्वा। ऊर्ध्वम्= वृक्षोपरि। निरीक्षते=पश्यति। अवलोकितः=दृष्टः। काण्डेन = बाणेन। हतः = ताडितः। व्यापादितः = मारितः।

उज्जयिनी जाने वाले मार्ग में एक पीपल का वृक्ष है। वहाँ हंस और कौवा एक साथ रहते थे। एकबार गर्मी के मौसम में कोई थका हुआ राही उस वृक्ष के नीचे धनुष को रखकर सो गया। कुछ ही देर में उसके मुख के ऊपर से पेड़ की छाया हट गयी। उसके मुख पर पड़ती हुई सूर्य की धूप को देखकर उसी वृक्ष पर बैठे हुए हंस ने दया करके अपने पंखों को फैलाकर फिर उसके मुँह पर छाया कर दी। नींद में सुख से निश्चिन्त सोए हुए राही ने अपना मुँह खोल दिया। दूसरे के सुख को न सहन कर सकने वाले तथा स्वभाव से ही दुष्ट कौवे ने उसके मुख में बीट कर दिया और वहाँ से उड़ भी गया। जब उस राही ने उठकर ऊपर देखा तो उसने हंस को देखा और उसे धनुष के बाण से मार डाला। इसलिए मैं कह रहा हूँ कि 'नहीं रहना चाहिए' इत्यादि। राजन्, बतख की भी कहानी सुना रहा हूँ। सुनिए—

कथा ८

एकत्र वृक्षे काक-वर्त्तकौ सुखं निवसतः। एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरङ्गताः। ततः काकेन सह वर्त्तकश्चलितः। अथ गच्छतो गोपालस्य मस्तकावस्थितदधि-भाण्डाद्वारं वारं तेन काकेन दधि खाद्यते। ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते, तावत्तेन काकवर्त्तकौ दृष्टौ। ततस्तेन दृष्टः काकः पलायितः। वर्त्तकः स्वभावनिरपराधो, मन्दगतिस्तेन प्राप्तो, व्यापादित.। अतोऽहं ब्रवीमि-'न गन्तव्यम्' इत्यादि ॥ * ॥

ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक! किमेवं ब्रवीषि? मां प्रति यथा श्रीमद्देवपादास्तथा भवानपि।' शुकेनोक्तम्—'अस्त्वेवम्'। किन्तु-

एकदा=एकस्मिन् काले। यात्राप्रसङ्गेन=दर्शनप्रसङ्गेन। पक्षिण =खगा। समुद्रतीरम् = सागरस्य तटम्। गता = प्राप्ता। गोपालस्य=गोपस्य। मस्तकावस्थितदधिमाण्डात्=(मस्तके अवस्थितम् यत् दधिमाण्डम् तस्मात्) शिर स्थित-दधिपात्रात्। असौ=गोप। स्वमावनिरपराध = प्रकृत्या दोषरहित। मन्दगति. (मन्दा गतिर्यस्य स)=मन्द मन्दम् सचरणशील। श्रीमद्देव =अस्मत्प्रभु।

एक वृक्ष पर कौवा और वत्तक एक साथ सुख से रहते थे। एक बार घूमते घामते हुए सारे पक्षी समुद्र के किनारे भगवान् गरुड का दर्शन करने चले। उस समय कौवे के साथ वत्तक भी चला। कौवा रास्ते में जाते हुए ग्वाले के दही के बर्तन से बार-बार दही खा लिया करता था। जब उसने दही का बर्त्तन जमीन पर रखकर ऊपर देखा तब उसे कौवा और वत्तक दोनों दिखाई पड़े। उसने दोनों को दौड़ाया, लेकिन कौवा तो भाग गया और स्वभाव से ही भोला भाला तथा धीरे-धीरे चलने वाला वतक पकड़ा गया और मार डाला गया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—'न चलना चाहिए' इत्यादि। तब मैंने कहा—'भाई सुग्गे, ऐसा क्यों कह रहे हो। मेरे लिए जैसे महाराज हैं वैसे ही तुम भी हो।' सुग्गे ने कहा—'ऐसा हो सकता है' किन्तु—

'दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि, प्रियाण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं सञ्जनयन्ति हि'॥ २४॥

अन्वयः—संमतानि प्रियाणि अपि दुर्जनै उच्यमानानि अकालकुसमानि इव हि भय संजनयन्ति ॥ २४ ॥

[illegible] । [illegible] । दुर्गमे = दुर्गे । [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible] इव । [illegible] । [illegible] = [illegible] ॥ २४ ॥

दुर्जनों की कही हुई मीठी बातें अनुकूल तथा प्रिय होने पर भी अन्त में [illegible] के समान [illegible] उत्पन्न करने वाली होती हैं ॥ २४ ॥

'[illegible] च भवता पापवादस्य काले [illegible] [illegible] निरूपणम्' । यदुक्तम्—

[illegible] । [illegible] । [illegible] = [illegible] [illegible] । [illegible] = दुर्गे । [illegible] = [illegible] ।

[illegible] [illegible] [illegible] है ही [illegible] नहीं है क्योंकि [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ही है । देखो—

'प्रायशः [illegible] [illegible] मूल्यः [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ २५ ॥

[illegible] – [illegible] है [illegible] [illegible]—

अन्वयः—[illegible] [illegible] । ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] = [illegible] [illegible] = [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] [illegible] = [illegible] ॥ २५ ॥

[illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] की [illegible] के [illegible] [illegible] है । [illegible] के [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥

[illegible] के [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] के [illegible]—

एवागतः। पश्चात्तेन जारेण समं तस्मिन् पर्यङ्के निर्भरं क्रीडन्ती, पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किञ्चिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनं विज्ञाय, मनसि सा विषण्णाभवत्।

ततो जारेणोक्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे?। विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम्?।' अथ तयोक्तम्—'अनभिज्ञोऽसि, योऽसौ मम प्राणेश्वरो—येन ममाकौमारं सख्यं, सोऽद्य ग्रामान्तरं गतः। तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवत्प्रतिभाति। किं भावि? तत्र परस्थाने किं खादितवान्?। कथं वा प्रसुप्तः'?—इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते।

जारो ब्रूते—'तव किमेवंविधा स्नेहभूमी रथकारः?।'

बन्धक्यवदत्—'रे बर्बर! किं वदसि?। शृणु—

बन्धकीं=कुलटाम्। जारेण समम्=जारेण सह। स्वचक्षुषा=स्वनेत्रेण। एकस्थाने=एकस्मिन् स्थले, एकान्ते इत्यर्थः। कियद्दूरम्=किञ्चित् मार्गम्। पर्यङ्कतले = शय्यातले। निभृतम् = प्रच्छन्नम्। ग्रामान्तरम्=अन्यग्रामम्। उपजातविश्वासः=विश्वस्तः सन्। आगतः=रथकारस्य गृहे आगतवान्। क्रीडन्ती = विनोदं कुर्वन्ती। पर्यङ्कतलस्थितस्य=शय्यातले उपविष्टस्य। भर्तुः=स्वस्वामिनः। अङ्गस्पर्शात्=अंगसंगात्। मायाविनम्=कपटकारिणम्। विज्ञाय=ज्ञात्वा। विषण्णा= नितान्तम् उदासीना। निर्भरम् = भृशम्, एकचित्तेन इत्यर्थः। विस्मिता इव = चकिता इव। अनभिज्ञः=अज्ञः। आकौमारम् सख्यम् = कौमार्यावस्थाया आरभ्य अद्यावधि प्रीतिः। सकलजनपूर्णः = मनुष्यसंकुलः अपि। अरण्यवत् = काननवत् निर्जनः। प्रतिभाति=ज्ञायते। किं भावि=किं भविष्यति। परस्थाने=अन्यस्थाने। स्नेहभूमिः=स्नेहस्थानम्, प्रिय इत्यर्थः।

यौवनश्रीनगर में मंदमति नाम का एक बढ़ई रहता था, वह अपनी पत्नी को दुराचारिणी तो समझता था किन्तु उसने अपनी आँखों से उसे जार के साथ कभी नहीं देखा था। एक दिन वह—'मैं दूसरे गाँव में जा रहा हूँ' ऐसा कहकर चला गया किन्तु दूर जाकर वह फिर लौट आया और अपने घर ही में चारपाई के नीचे चुपचाप बैठ गया। 'बढ़ई तो दूसरे गाँव में चला गया है'—इस विचार से निश्चिन्त होकर वह जार शाम ही को आ गया। इसके बाद चारपाई पर उसके साथ उपभोग करते समय बढ़ई की स्त्री का कोई अंग चारपाई के नीचे पड़े हुए पति के शरीर से छूता था। उसने छल करने वाले स्वामी को पहिचान लिया और वह उदास हो गई। तब जार ने कहा—'आज तुम निश्चिन्त होकर

मेरे साथ क्यों नहीं रमण कर रही हो। आज तुम मुझे कुछ चकित सी दिखाई पड़ रही हो। तब उसने कहा— क्या तुम नहीं जानते हो कि कुमारावस्था ही से प्रिय मेरे स्वामी आज दूसरे गाँव गए हैं। सभी लोगों से भरा हुआ यह गाँव आज मुझे जंगल जैसा लग रहा है। दूसरी जगह पता नहीं क्या होवे क्या खाये होवे कैसे सोए होवे। यह सोचकर मेरा हृदय फट रहा है। जार ने कहा—'क्या वह बढ़ई तुम्हें इतना प्रिय है। तब कुलटाने कहा—'रे लंपट क्या कह रहा है? सुनो—

'परुषाण्यपि या प्रोक्ता दृष्टा या क्रोधचक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्मभाजनम्' ॥ २६ ॥

अन्वयः—या (नारी परुषा) परुषाणि अपि प्रोक्ता क्रोधचक्षुषा दृष्टा भर्तुः (अग्रे) प्रसन्नमुखी (दृश्यते) सा (नारी) धर्मभाजनम् (भवति) ॥ २६ ॥

परुषाणि=कठोराणि वचनानि। क्रोधचक्षुषा=क्रोधपूर्णनेत्रेण। भर्तुः=स्वामिनः अग्रे। प्रसन्नमुखी=प्रसन्नवदना। धर्मभाजनम्=धर्मभागिनी ॥ २६ ॥

पति द्वारा कठोर बातें कहने पर और क्रोध भरी आँखोंसे देखनेपर भी जो प्रसन्नमुख रहती है वही धर्मभागिनी होती है ॥ २६ ॥

अपरञ्च—'नगरस्थो, वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुचिः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता, तासां लोका महोदयाः' ॥२७॥

अन्वयः—नगरस्थः वनस्थः वा पापः वा यदि वा शुचिः भर्ता यासाम् स्त्रीणाम् प्रियः तासाम् महोदयाः लोकाः (भवन्ति) ॥ २७ ॥

नगरस्थः=नगरे स्थितः। वनस्थः=वने स्थितः। पापः=पापाचारी। शुचिः=पवित्रः। भर्ता=पतिः। प्रियः=प्रियतरः। महोदयाः=सम्पूर्णसुखदाः। लोकाः=स्वर्गादयः ॥ २७ ॥

और भी—चाहे नगरी में रहने वाला हो या जंगल में चाहे पापी हो या पुण्यात्मा फिर भी जो स्त्री अपने पति से प्रेम करती है वह उत्तम लोकों (स्वर्गादि) को प्राप्त करती है ॥ २७ ॥

अन्यच्च—'भर्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना।
एषा विरहिता तेन शोभनापि न शोभते' ॥ २८ ॥

अन्वयः—भूषणैः विना (अपि) भर्ता हि नार्याः परमम् भूषणम् (अस्ति) तेन विरहिता (युवतिः) शोभनापि एषा न शोभते ॥ २८ ॥

भूषणैः विना=अलङ्कारैः रहिता। भर्त्ता=पति। नार्याः=ललनायाः। परमम् भूषणम्=सर्वोत्कृष्टालङ्कार। तेन विरहिता=भर्त्रा हीना। शोभना=सुशोभिता। एषा=नारी। न शोभते=शोभा न धत्ते ॥ २८ ॥

और भी—चाँदी सोने के गहनों से रहित होने पर भी पति ही स्त्री का सबसे श्रेष्ठ आभूषण होता है क्योंकि गहनों से लदी होने पर भी पतिहीना स्त्री सुशोभित नहीं होती है ॥ २८ ॥

त्वञ्च जारः पापमतिः, मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचित् सेव्यसे, कदाचिन्न सेव्यसे च। स च पुनर्मे स्वामी, मां विक्रेतुं, देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो वा दातुमीश्वरः। किं बहुना ? 'तस्मिञ्जीवति जीवामि, तन्मरणे चानुमरणं करिष्यामी'ति प्रतिज्ञा वर्त्तते। यतः—

जारः=परदारोपभोगी। पापमतिः=दुष्टबुद्धिः। मनोलौल्यात्=चित्तचाञ्चल्यात्। पुष्पताम्बूलसदृशः=कुसुमनागवल्लीपत्रसदृशः। सेव्यसे=उपभुज्यसे। ईश्वरः=प्रभुः समर्थश्च। तस्मिन्=पत्यौ। जीवति=प्राणधारणं कुर्वति सति। अनुमरणम्=तस्यानुगमनम्।

तुम जार और पापी हो। मन की चंचलता से फूल-पान की तरह कभी स्त्री का भोग करते कभी नहीं करते हो। वह मेरा पति मुझे बेच भी सकता है तथा देवताओं और ब्राह्मणों को दे भी सकता है। अधिक क्या कहूँ। यह मेरी प्रतिज्ञा है कि 'उसके जीते जी जीती रहूँगी और मरने पर सती हो जाऊँगी।' क्योंकि—

'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्त्तारं योऽनुगच्छति' ॥ २९ ॥

अन्वयः—या (नारी) भर्त्तारम् अनुगच्छति सा, मानवे यानि तिस्रः कोट्यः अर्धकोटी च लोमानि तावत् कालम् स्वर्गे वसेत् ॥ २९ ॥

भर्त्तारम्=स्वामिनम्। अनुगच्छति=अनुसरति। मानवे=मनुष्यदेहे। तिस्रः-कोट्यः अर्धकोटी च=(सार्धकोटित्रयमितानि) साढे तीन करोड। लोमानि=रोमाणि। तावत्कालम्=तावत्कालपर्यन्तम्, सार्धत्रिकोटिवर्षपर्यन्तम् ॥ २९ ॥

जो स्त्री स्वामी के मरने पर सती हो जाती है वह मनुष्य शरीर में जो साढे तीन करोड रोएँ होते हैं उतने ही अर्थात् साढ़े तीन करोड वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है ॥ २९ ॥

अन्यच्च—'व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
तद्वद्भर्त्तारमादाय स्वर्गलोके महीयते' ॥ ३० ॥

अन्वयः—यथा व्यालग्राही बिलात् व्यालम् बलात् उद्धरते तद्वत् (नारी) भर्तारम् । (नरकात्) आदाय स्वर्गलोके महीयते ॥ १ ॥

व्यालग्राही=सर्पग्राही (सँपेरा) । व्यालम्=सर्पम् । बलात्=हठात् । तद्वत्=तेन प्रकारेणैव । आदाय=नरकात् उद्धृत्य । महीयते=पूज्यते ॥ १ ॥

और भी—जैसे सँपेरा बलपूर्वक बिल से साँप को खींचकर अपने साथ ले जाता है उसी प्रकार सती स्त्री भी अपने स्वामी को नरक से खींचकर अपने साथ स्वर्ग ले जाती है ॥ १ ॥

अपरञ्च—'चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं,
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।
कृत्वापि पापं शतलक्षमप्यसौ
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ११ ॥

अन्वयः—या हि प्रिया चितौ विचेतनम् पतिम् परिष्वज्य आत्मनः देहम् मुञ्चति असौ शतलक्षम् पापम् कृत्वापि पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ११ ॥

या हि प्रिया=या स्त्री । चितौ=चितायाम् । विचेतनम्=मृतम् । पतिम्=स्वामिनम् । परिष्वज्य=आलिङ्गनं कृत्वा । आत्मनः=स्वस्य । देहम्=शरीरम् । मुञ्चति=त्यजति । असौ=सती नारी । पतिं गृहीत्वा=भर्तारमादाय । सुरलोकम्=स्वर्गम् । आप्नुयात्=गच्छेत् ॥ ११ ॥

और भी—

इसके अतिरिक्त जो चिता पर मरे हुए पति को छाती से लगाकर जो स्त्री अपने शरीर का परित्याग कर देती है वह सैकड़ों पाप करने पर भी पति को लेकर स्वर्ग चली जाती है ॥ ११ ॥

यतः—'यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्' ॥ १२ ॥

अन्वयः—पिता वा पितुः अनुमते भ्राता यस्मै एनाम् दद्यात् (नारी) जीवन्तम् तं शुश्रूषेत संस्थितम् च न लङ्घयेत् ॥ १२ ॥

पितुः अनुमते=पितुः अनुमोदिते सति । यस्मै=पुरुषाय । एनाम्=कन्याम् । जीवन्तम्=प्राणन्तम् । तम्=पुरुषम् पतिमित्यर्थः । शुश्रूषेत=सेवेत । संस्थितम्=मृतम् च । न लङ्घयेत्=न अतिचरेत् । तमनुम्रियेतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

क्योंकि—

'स्त्री को चाहिए कि उसका पिता या पिता की राय से भाई भी उसे जिस पुरुष को समर्पित कर दे, उसकी वह जीवन भर सेवा करे और उसके मरने पर भी उसका साथ न छोड़े' ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा मन्दमतिः स रथकारः—'धन्योऽहं यस्येदृशी प्रियवादिनी, स्वामिवत्सला च भार्ये'ति मनसि निधाय, तां खट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा, सानन्दं ननर्त। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे'—इत्यादि ॥

अतोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं सम्पूज्य प्रस्थापितः। शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते। एतत्सर्वं परिज्ञाय यथाकर्त्तव्यमनुसन्धीयताम्।

चक्रवाको विहस्याह—'देव! बकेन तावद् देशान्तरमपि गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम्। किन्तु देव! स्वभाव एष मूर्खाणाम्'।

मन्दमति=कुण्ठितबुद्धि। धन्योऽहम् = प्रशस्योऽहम्। प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी। स्वामिवत्सला=पतिप्रेमकारिणी। निधाय = संस्थाप्य, विचार्येत्यर्थ। स्त्रीपुरुषसहिताम् = निजपत्नीजारसंयुक्ताम्। मूर्ध्नि कृत्वा = शिरसि आदाय। सानन्दम्=सहर्षम्। ननर्त=नृत्यं कृतवान्। ततः = तदनन्तरम्। तेन राज्ञा= मयूरनृपेण। यथाव्यवहारम्=यथायोग्यम्। संपूज्य = सम्मान्य। प्रस्थापित = प्राहिणोत्। परिज्ञाय=विमृश्य। यथाकर्तव्यम्=यथाकरणीयम्। अनुसंधीयताम्= विचार्यताम्। देशान्तरमपि गत्वा=अन्यदेशमपि प्राप्य। राजकार्यमनुष्ठितम्=राजकार्यम् कृतम्। अत्र व्यङ्ग्योक्ति स्वदौर्जन्येन भवान् विग्रहे निपातित बकेनेत्यर्थ।

यह सब सुनकर उस बढ़ई ने कहा—'मैं धन्य हूँ। जिससे इतनी मधुरभाषिणी और पतिप्रिया स्त्री प्राप्त हुई है।' वह मन में इस प्रकार सोचते हुए स्त्री पुरुष सहित चारपाई को सिर पर उठाकर नाचने लगा। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'प्रत्यक्ष दोष करने पर भी' इत्यादि।

इसके बाद राजा चित्रवर्ण ने मेरा यथोचित सम्मान करके मुझे बिदा किया। सुग्गा भी मेरे पीछे आ रहा है। यह सब जानकर अब क्या करना चाहिए, इस पर आप विचार करें।

चकवे ने हँसकर कहा—'देव! इस बगुले ने विदेश में जाकर भी यथाशक्ति राज्यकार्य ही किया है। (अपनी दुष्टता से राज्य को युद्ध में फँसा दिया)। किन्तु हे राजन्, मूर्खों का तो स्वभाव ही यही है। क्योंकि—

यतः—'सर्वं दद्यान्न विवदेदिति विदुषां संमतम्।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्॥ १३॥

अन्वयः—सर्वं दद्यात् (किन्तु) न विवदेत् इति विदुषां संमतम्। हेतुं विनापि द्वन्द्वम् एतत् मूर्खस्य लक्षणम् (अस्ति)॥ १३॥

न विवदेत्=विवादं न कुर्यात्। विदुषाम्=विदुषां। संमतम्=सिद्धान्तः अस्ति। हेतुं विनापि=कारणम् विनापि। द्वन्द्वम्=कलह॥ १३॥

नीतिज्ञों का यह सिद्धान्त है कि सब कुछ देकर भी झगड़ा नहीं करना चाहिए और अकारण ही संघर्ष करना तो मूर्खों का काम है॥ १३॥

राजाह— अलमनेनातीतोपालम्भनेन प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्। चक्रवाको ब्रूते— देव! विजने ब्रवीमि। यतः—

अतीतोपालम्भेन=अतीतस्य=व्यतीतस्य उपालम्भेन = निन्दया। प्रस्तुतम्=उपस्थितम्। विजने=एकान्ते। ब्रवीमि=कथयामि।

राजा ने कहा— बीती हुई बात पर किसी को उलाहना देना ठीक नहीं। अब जो सामने है उस पर विचार करो। चक्रवाक ने कहा— देव मैं एकान्त में कहूँगा।' क्योंकि—

'वर्णाकारप्रतिध्वानैर्नेत्रवक्त्रविकारतः।
अप्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्'॥ १४॥

अन्वयः—धीराः वर्णाकारप्रतिध्वानैः नेत्रवक्त्रविकारतः मनः अपि ऊहन्ति तस्मात् रहसि मन्त्रयेत्॥ १४॥

वर्णाकारप्रतिध्वानैः—वर्णैः = रङ्गैः, आकारैः = आकृतिभिः। प्रतिध्वानैः= शब्दैः। नेत्रवक्त्रविकारतः=नयनमुखभङ्गीभेदेन। धीराः=धैर्ययुक्ताः बुद्धिमन्तः। मनः=मनोगतम् भावम्। ऊहन्ति = तर्कयन्ति। रहसि = एकान्ते। मन्त्रयेत्= मन्त्रणाम् कुर्यात्॥ १४॥

रूप रंग आकृति शब्द और आँख-मुँह का बनना-बिगड़ना देखकर गम्भीर व्यक्ति मन की थाह पा जाता है अतः विचार-विमर्श एकान्त में करना चाहिए॥

ततो राजा मन्त्री च तत्र स्थितौ अन्येऽन्यत्र गताः। चक्रवाको ब्रूते—देव! अहमेवं जानामि—'कस्याप्यस्मन्नियोगिनः प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम्। यतः—

अन्ये=अपरजना । एवं जानामि=एव तर्कयामि । अस्मान्नियोगिन = अस्मद्राजकर्मचारिण । प्रेरणया=उत्तेजनया । इदम्=विग्रह । अनुष्ठितम्=कृतम् ।

राजा और मन्त्री वहीं बैठे रहे और दूसरे लोग दूसरी जगह चले गए। चकवे ने कहा—'राजन्, मुझे तो ऐसा लगता है कि किसी राज्य कर्मचारी के उकसाने से ही बगुले ने ऐसा किया है।' क्योंकि—

'वैद्यानामातुरः श्रेयान्, व्यसनी यो नियोगिनाम्।
विदुषां जीवनं मूर्खः, सद्वर्णो जीवनं सताम्' ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वैद्यानाम् आतुर नियोगिनाम् य व्यसनी (स नृप) श्रेयान्। मूर्ख विदुषाम् जीवनम् (अस्ति) सद्वर्ण सताम् जीवनम् (अस्ति) ॥ ३५ ॥

आतुर = रोगी। नियोगिनाम् = राजपुरुषाणाम्। य = नृप । व्यसनी= विपत्तिग्रस्त , मद्यमृगयादिव्यसनेषु आसक्तश्च । श्रेयान् = श्रेष्ठ , जीविकादानेन सुखद इत्यर्थ । विदुषाम्=विद्यावताम्। जीवनम्=वृत्तिप्रदानेन जीवनदायक । सताम्=सज्जनानाम्। सद्वर्ण =ब्राह्मण-क्षत्रियादिवर्ण ॥ ३५ ॥

वैद्यों के लिए रोगी, कर्मचारियों के लिए स्वामी का आपत्तियो मे फँसना, विद्वानों के लिए मूर्ख, सज्जनो के लिए कुलीन ही उनका जीवन होता है ॥३५॥

राजाब्रवीत्—'भवतु, कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्, सम्प्रति यत्कर्त्तव्यं तन्निरूप्यताम्।' चक्रवाको ब्रूते—'देव! प्रणिधिस्तावत्तत्र प्रहीयताम्। ततस्तदनुष्ठानं, बलाबलं च जानीमः'। तथाहि—

अत्र=अस्मिन् उपस्थिते विषये। कारणम्=हेतु , निरूपणीयम् = विचारणीयम्। सम्प्रति=अधुना। यत्कर्तव्यम्=यदाचरणीयम्। निरूप्यताम् = उच्यताम्। प्रणिधि = गुप्तचर । प्रहीयताम्=प्रेष्यताम्। तत् = तस्य शत्रो । अनुष्ठानम्= अभिमतम् कर्तव्यम् वा ।

राजा ने कहा—'अच्छा, जो हो, किंतु कारण पर पीछे विचार करो। इस समय क्या करना चाहिए उसे निश्चय करो।' चकवे ने कहा— राजन् पहले गुप्तचर भेजिए। जिससे शत्रु की अभिलाषा और उसकी सबलता तथा निर्बलता को हम लोग जान लें।' जैसा कि—

'भवेत्स्व-पर-राष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने।
चारश्चक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः' ॥ ३६ ॥

अन्वय.—स्वपरराष्ट्राणाम् कार्याकार्यावलोकने (नृप) चारचक्षु (भवति) यस्य महीभर्तु (तत् चक्षु) नास्ति स अन्ध एव (भवति) ॥ ३६ ॥

स्वचरचक्षुषाम् = निजगुप्तचराणाम्। कार्याकार्यविलोकने = कार्यस्य अनु-चितकर्तव्यस्य अवलोकने=दर्शने। चारचक्षुः = चरनेत्र। महीपतिः = नृपः। अन्धः = नेत्रहीनः। चाररहितो नृपः नेत्रहीनः अन्धः इव लोकस्थितिं न पश्यति इत्यर्थः ॥ १६ ॥

राजा अपने देश तथा अन्य देशों के अच्छे बुरे कार्यों का ज्ञान गुप्तचर रूपी आँख से ही प्राप्त करता है। अतः जिस राजा के पास गुप्तचर नहीं होता वह आँख होते हुए भी अंधा होता है ॥ १६ ॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु। तेनासौ स्वयं तत्रावस्थाय द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य, निगद्य, प्रस्थापयति। तथा चोक्तम्—

द्वितीयम्=अन्यम् गुप्तचरम्। विश्वासपात्रम्=विश्वासयोग्यम्। यातु=गच्छतु। असौ=गुप्तचरः। तत्र=शत्रुराज्ये। अवस्थाय=वसतिं कृत्वा। तत्रत्यमन्त्रकार्यम्=शत्रुनृपस्य मंत्रणादीनि तेन निश्चितानि कार्याणि च। सुनिभृतम् = अतिगोपनेन। निश्चित्य=निश्चयं कृत्वा। निगद्य=कथयित्वा। प्रस्थापयति=प्रेषयति।

वह एक दूसरे विश्वासपात्र गुप्तचर को अपने साथ लेकर जाय। वह तो वहीं स्वयम् है और वहाँ के सभी कामों को छिपकर भली भाँति समझकर दूसरे सहायक को समझा कर यहाँ भेज दे। जैसा कि कहा भी है—

> 'तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना।
> तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवसेत् ॥ १७ ॥

अन्वयः—तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवसेत् ॥ १७ ॥

तीर्थे=पुण्यस्थाने। आश्रमे = तपोवने। सुरस्थाने = देवालये। शास्त्रविज्ञानहेतुना=शास्त्रस्य विविधज्ञानस्य व्याजं कृत्वा। तपस्विव्यञ्जनैः = मुनि-वेशाभिव्यञ्जनैः। उपेतैः=युक्तैः। स्वचरैः = निजगुप्तचरैः। सह = सार्धम्। संवसेत्=निवासं कुर्यात् ॥ १७ ॥

तीर्थ स्थान में किसी साधु के आश्रम में अथवा देवालय में तपस्वियों का वेष धारण करके शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के बहाने प्रधान गुप्तचर को अपने सहायक गुप्तचरों के साथ निवास करना चाहिए ॥ १७ ॥

गूढचारश्च—यो जले स्थले च चरति। ततोऽसावेव बको

नियुज्यताम्। एतादृश एव कश्चिद्बको द्वितीयत्वेन प्रयातु। तद्गृह-लोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु। किन्तु एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्'।

गूढचार = गुप्तदूत। जले स्थले=सर्वत्र समानतया। चरति = गच्छति। नियुज्यताम् = चारकर्मणि नियुक्त क्रियताम्। द्वितीयत्वेन=सहायकरूपेण। प्रयातु=गच्छतु। तद्गृहलोका =तयो स्वजना। राजद्वारे=राजगृहे। तिष्ठन्तु= निवास कुर्वन्तु। एतत् अपि=चरप्रेषणमपि। सुगुप्तम्=सुनिभृतम्। अनुष्ठातव्यम्= कर्तव्यम्।

गुप्तचर वही हो सकता है जो जल और स्थल मे समान रूप से आ जा सके। इसलिए इसी बगुले को ही गुप्तचर नियुक्त करें। ऐसा ही एक दूसरा बगुला भी इसके साथ जाय और इसके घर के लोग राजदरबार मे आकर रहें किन्तु राजन्, यह सभी गुप्त रूप से होना चाहिए। क्योंकि—

यतः—'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्त्तया'।
इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता॥ ३८॥

अन्वयः—षट्कर्ण तथा वार्त्तया प्राप्तश्च मन्त्र भिद्यते (अत) महीभृता आत्मना द्वितीयेन मन्त्र कार्य ॥ ३८॥

षट्कर्ण = त्रिभि जनै कृत। वार्त्तया प्राप्त = पुरुषान्तरेण सदिष्ट। मन्त्र =मन्त्रणा। भिद्यते=भेदमुपयाति। इति = इति हेतो। आत्मना = निजेन, द्वितीयेन येन सह मन्त्र कार्य तेन, द्वाभ्यामेवेति भाव। महीभृता=नृपेण ॥३८॥

छ कानो मे पडी हुई तथा सन्देश रूप से कहलाई गई मन्त्रणा प्रकट हो जाती है। अत राजा को चाहिए कि वह स्वय अपने निजी आदमी के साथ विचार विमर्श करे॥ ३८॥

पश्य—'मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः।
न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम्'[1] ॥ ३९॥

अन्वयः—मन्त्रभेदे (सति) पृथिवीपते ये दोषा भवन्ति ते समाधातुम् न शक्या इति नीतिविदाम् मतम् ॥ ३९॥

मन्त्रभेदे=मन्त्रस्य भेदमुपगते। पृथिवीपते=भूपते ये दोषा = विपत्त्यादय.। समाधातुम्=समाधानम् कर्तुम् न शक्या = न योग्या। नीतिविदाम् = नीतिज्ञ-पुरुषाणाम्। मतम्=विचार ॥ ३९॥

देखो—

नीतिज्ञों का यह दृढ़ विचार है कि मंत्रणा के फूट जाने से जो दोष राजा में आ जाते हैं उनका समाधान किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता ॥ ३९ ॥

राजा विमृश्योवाच—'प्राप्तस्तावदयमुत्तमः प्रणिधिः ।' मन्त्री ब्रूते—'देव ! सङ्ग्रामे विजयोऽपि प्राप्तः ।

विमृश्य = विचार्य । उत्तमः = श्रेष्ठः गुप्तचरः । प्राप्तः = लब्धः पूर्वमेव निश्चितः इत्यर्थः ।

राजा ने विचार करके कहा कि— मुझे अच्छा गुप्तचर मिल गया है।' मंत्री ने कहा—'तो संग्राम में विजय भी प्राप्त होगी ।

अत्रान्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच—'देव ! जम्बूद्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति । राजा चक्रवाकमालोकते ।

चक्रवाकेणोक्तम्— कृतावासे तावद् गत्वा तिष्ठतु, पश्चादानीय द्रष्टव्यः । 'यथाज्ञापयति देवः' इत्यभिधाय प्रतीहारः शुकं गृहीत्वा तमावासस्थानं गतः । राजाह—'विग्रहस्तावत्समुपस्थितः । चक्रवाको ब्रूते—'देव ! तथापि प्रागेव विग्रहो न विधिः । यतः—

अत्रान्तरे=अस्मिन्नेव काले । प्रतीहार = द्वारपाल । प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा । आगत = आयातः । आलोकते = किं विधेयम् इत्यपेक्षया पश्यति । आवासे = अतिथिगृहे तिष्ठतु=आवासं करोतु । विग्रह = युद्धम् । समुपस्थितः = उपस्थितः । प्रागेव=प्रथममेव न विधिः =उचितः ।

इसी बीच द्वारपाल ने आकर राजा को प्रणाम किया और कहा—'महाराज जम्बूद्वीप से आया हुआ तोता द्वार पर खड़ा है । राजा ने चकवे की ओर देखा ।

चकवे ने कहा—'जो आकर अतिथिशाला में ठहरा दो । फिर ले आकर दर्शन कराना ।' 'जैसी श्रीमान् की आज्ञा' यह कहकर द्वारपाल उसे लेकर अतिथिशाला में चला गया । राजा ने कहा—'अब तो युद्ध सामने आ गया ।' चकवे ने कहा— देव पहले ही युद्ध करना उचित नहीं है । क्योंकि—

स किं भृत्यः स किं मन्त्री य आदावेव भूपतिम् ।
युद्धोद्योगं स्वभूत्यागं निर्दिशत्यविचारितम्' ॥ ४० ॥

अन्वयः—यः आदावेव भूपतिम् युद्धोद्योगम् स्वभूत्यागम् निर्दिशति सः किं भृत्यः सः किं मन्त्री (भवति) ॥ ४० ॥

य = भृत्य मन्त्री च। आदावेव = प्रथममेव, अन्योपाये विद्यमाने सति प्रथममेव इत्यर्थं । भूपतिम्=नृपतिम् । अविचारितम् = विचार विनैव । युद्धोद्योगम् = विग्रहाय प्रयत्नम् । स्वभूत्यागम् = स्वदेशात् पलायनम् । निर्दिशति= उपदिशति । किंभृत्यः=कुत्सित सेवक. । किमन्त्री=अयोग्योऽमात्य ॥ ४० ॥

विना सोचे समझे पहले ही राजा को लडाई करने अथवा देश त्याग की राय देने वाला मन्त्री दुष्ट मंत्री और सेवक दुष्ट सेवक होता है ॥ ४० ॥

अपरं च—'विजेतु प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः' ॥ ४१ ॥

अन्वयः—कदाचन युद्धेन अरीन् विजेतुम् न प्रयतेत । यस्मात् युद्धयमानयो विजय अनित्य दृश्यते ॥ ४१ ॥

कदाचन=जातुचित् । युद्धेन = विग्रहेण । अरीन् = शत्रून् । विजेतुम्=विजय कर्तुम् । प्रयतेत=प्रयत्नम् कुर्यात् । यस्मात्=यत । युद्ध्यमानयो =युद्ध कुर्वाणयो । विजय =विजयलाभ । अनित्य =अनियत । दृश्यते=अवलोक्यते ॥ ४१ ॥

इसके अतिरिक्त—युद्ध द्वारा शत्रु को जीतने का प्रयत्न कभी नही करना चाहिए, क्योंकि दोनों लडने वाले की विजय अनिश्चित दिखाई देती है (जीतने वाला भी पीछे हार सकता है अत विजय अनिश्चित होती है) ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—'साम्ना, दानेन, भेदेन, समस्तैरथवा पृथक्।
साधितु प्रयतेतारीन्, न युद्धेन कदाचन' ॥ ४२ ॥

अन्वयः—साम्ना दानेन भेदेन समस्तै अथवा पृथक् अरीन् साधयितुम् प्रयतेत, किन्तु युद्धेन कदाचन न ॥ ४२ ॥

साम्ना=सान्त्वेन । दानेन = धनादिप्रदानेन । भेदेन=शत्रुसहायकेषु भेदोत्पादनेन । एभि त्रिभि उपायै, समस्तै =सर्वोपायै । अथवा पृथक्= एकैकेनोपायेन । अरीन्=शत्रून् । साधयितुम् = वशीकर्तुम् । प्रयतेत = प्रयत्नम् कुर्यात् ॥ ४२ ॥

और भी—

शत्रु को युद्ध द्वारा नहीं वल्कि साम, दान, भेद–तीनो अथवा अलग अलग उपायो से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ ४२ ॥

अपरञ्च— सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः ।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि ? ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अनासादितविग्रहः सर्वः एव जनः शूरः (भवति)। अदृष्टपरसामर्थ्यः हि कः सदर्पः न भवेत् ॥ ४३ ॥

अनासादितविग्रहः=अप्राप्तयुद्धः । सर्वः एव जनः=सर्वः एव लोकः । शूरः=वीरः । अदृष्टपरसामर्थ्यः=अनवलोकितशत्रुबलः । सदर्पः=सगर्वः ॥ ४३ ॥

जब तक युद्ध सिर पर नहीं आ जाता तब तक सभी अपने को बहादुर समझते हैं । दूसरे की शक्ति को बिना देखे कौन अभिमानी नहीं होता है ॥४३॥

किञ्च—'न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा ।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—यथा प्राणिभिः दारुणा ग्रावा उत्थाप्यते तथा (तेन दारुणा विना) न (उत्थाप्यते एवमेव) अल्पोपायात् महासिद्धिः (भवेत्)। एतत् महत् मन्त्रफलम् (अस्ति) ॥ ४४ ॥

यथा=येन प्रकारेण दारुसाधनेनेत्यर्थः । प्राणिभिः=जनैः । दारुणा=काष्ठखण्डेन । ग्रावा = प्रस्तरः । तथा = तेन प्रकारेण । न उत्थापयितुं शक्यते । अल्पोपायात् = स्तोकोद्यमात् । महासिद्धिः = महाकार्यस्य सफलता । महत्= श्रेष्ठम् । मन्त्रफलम्=मन्त्रस्य परिणामः ॥ ४४ ॥

इसके अतिरिक्त और भी—

पत्थर को मजबूत लकड़ी द्वारा जितनी सरलता से उठाई जा सकती है उतनी अन्य किसी भी साधन से नहीं । इसलिए थोड़े प्रयत्न से बड़ी सफलता ही मन्त्रणा का महान फल है ॥ ४४ ॥

किन्तु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम् । यतः—

विग्रहम्=युद्धम् । उपस्थितम् = सम्मुखागतम् । विलोक्य = दृष्ट्वा । व्यवह्रियताम्=उपायः क्रियताम् ।

किन्तु युद्ध सामने आया हुआ जान कर उपाय ढूँढ़ो । क्योंकि—

'यथा कालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत् ।
तद्वन्नीतिरियं देव ! चिरात्फलति न क्षणात्' ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे देव, यथा कृषि कालकृतोद्योगात् फलवती भवेत् तद्वत् इयं नीति रक्षणात् चिरात्फलति ॥ ४५ ॥

देव=राजन् । काले=समये । कृत =विहित । यः उद्योग = प्रयत्न । तस्मात् । फलवती=सफला । तद्वत् = एवमेव । इय नीति = इय राजनीति । रक्षणात्=सम्यक् रूपेण पालनात् । चिरात्=कियता कालेन । फलति = सफला भवति ॥ ४५ ॥

जैसे समय पर किए गए प्रयत्न से खेती कुछ समय बाद होती है, उसी प्रकार नीति की समय पर उचित रक्षा करने से वह दूर मे फल देती है न कि तत्काल ही ॥ ४५ ॥

अपरं च—'दूरे भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।
विपत्तौ हि महाँल्लोके धीरत्वमधिगच्छति' ॥ ४६ ॥

अन्वयः—दूरे भीरुत्वम् (किन्तु) आसन्ने शूरता महत गुण । लोके विपत्तौ च महान् धीरत्वम् अनुगच्छति ॥ ४६ ॥

दूरे भीरुत्वम्=भये दूरे सति भीरुता । आसन्ने=निकटे सति । शूरता=शौर्यम् । महत =महापुरुषस्य । गुण =विशेषता । लोके=जगति । विपत्तौ=विपदि । महान्=महापुरुष । धीरत्वम् = धैर्यम् । अनुगच्छति = अनुव्रजति ॥ ४६ ॥

और भी—

विपत्तियों को दूर देख कर डरना किन्तु निकट आ जाने पर पराक्रम दिखाना बड़े लोगो का गुण होता है। इसीलिए बड़े लोग ससार मे विपत्ति के समय धैर्य का आश्रय लेते हैं ॥ ४६ ॥

अन्यच्च—'प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल ।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः ?' ॥ ४७ ॥

विशेषतश्च देव ! महाबलोऽसौ चित्रवर्णो राजा । यतः—

अन्वयः—उत्ताप सर्वसिद्धीनाम् प्रथम प्रत्यूह । अतिशीतलमपि अम्भ किं भूभृत न भिनत्ति ॥ ४७ ॥

उत्ताप =क्रोध । सर्वसिद्धीनाम्=सर्वकार्यसफलतानाम् । प्रथम =मुख्य । प्रत्यूह = विघ्न । अतिशीतलमपि = अत्यन्तहिममपि । अम्भ = जलम् । भूभृत =पर्वतान् । न भिनत्ति=न विदारयति, विदारयति एवेत्यर्थ ॥ ४७ ॥

और भी—

प्रारंभ में ही नरम हो जाना (नम्र हो जाना) सभी प्रकार की सफलताओं की बहुत बड़ी माता है। क्या अत्यन्त ठंढा पानी पहाड़ को नहीं तोड़ देता है? अर्थात् क्रोध के स्थान पर शान्ति से भी सफलता मिल सकती है॥ ४७॥

विशेषकर यह राजा चित्रवर्ण महान बली है। क्योंकि—

'बलिना सह योद्धव्यमिति नाऽस्ति निदर्शनम्।
तद्युद्धं हस्तिना सार्धं नराणां मृत्युमावहेत्॥ ४८॥

अन्वयः—बलिना सह योद्धव्यम् इति निदर्शनम् नास्ति। हस्तिना सार्धम् नराणाम् युद्धम् मृत्युम् आवहेत्॥ ४८॥

बलिना सह = बलवानों के साथ। योद्धव्यम् = विग्रह करनीय। इति एवम्। निदर्शनम् = प्रमाणम्। हस्तिना सार्धम् = गजेन सह। नराणाम् = मनुष्याणाम्। युद्धम् = विग्रह। मृत्युम् = मरणम्। आवहेत् = आरभेत्॥ ४८॥

बलवान के साथ युद्ध करना नीति नहीं है क्योंकि मनुष्य का हाथी के साथ लड़ना अपनी मौत को बुलाना है। ४८॥

अन्यच्च— स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्तरि वर्तते।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्गमो यथा'॥ ४९॥

अन्वयः—यः कालमप्राप्य अपकर्तरि वर्तते स मूर्खः बलवता सार्धम् कलिः कीटपक्षोद्गम यथा (भवति)॥ ४९॥

यः = पुरुषः। कालमप्राप्य = अवसरं विनैव। अपकर्तरि = शत्रौ। वर्तते = विग्रहं कुर्यात् सह कलहं करोति इत्यर्थः। सः मूर्खः = मूढः। बलवता सार्धम् = बलशालिना सह। कलिः = कलहः। कीटपक्षोद्गम = कीटानाम् पक्षोद्गम (कीड़ों के पंख आना)। यथा = इव॥ ४९॥

और भी—

जो उपयुक्त समय देखे बिना ही शत्रु पर चढ़ाई करता है वह मूर्ख होता है। और बलवान से लड़ना तो चींटियों के पर निकलने के समान है॥ ४९॥

किञ्च—'कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत्।
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत्॥ ५०॥

अन्वयः—नीतिज्ञः कौर्मम् संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् (किन्तु) प्राप्तकाले तु क्रूरसर्पवत् उत्तिष्ठेत्॥ ५०॥

नीतिज्ञ.=नीतिकुशल । कौर्मम्=कच्छपसम्बन्धिनम् । सकोचम् = अगसङ्कोचनम्, क्रोधसङ्कोचञ्च । आस्थाय=आश्रित्य । प्रहारमपि=शत्रुणा कृतम् आघातमपि । मर्षयेत् = क्षमेत । प्राप्तकाले = उद्योगावसरे । क्रूरसर्पवत्=दुष्टसर्पतुल्य । उत्तिष्ठेत्=उत्थानम् कुर्यात् ॥ ५० ॥

अत —

जिस प्रकार कछुआ (समय पर) अपने अंगों को समेट कर अपने ऊपर होने वाली चोट को भी सहन कर लेता है उसी प्रकार नीतिज्ञ को समयानुसार सब सहन करना चाहिए । और समय पाकर ही क्रुद्ध सर्प के समान उठ खड़ा होना चाहिए ॥ ५० ॥

'महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।
समुन्मूलयितु वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः' ॥ ५१ ॥

अन्वयः—उपायज्ञ महति अल्पे (शत्रौ) अपि समम् एव क्षम भवेत् । वृक्षास्तृणानि, समुन्मूलयितु नदीरय इव ॥ ५१ ॥

उपायज्ञ =विधिज्ञ । महति = बलशालिनि शत्रौ । अल्पे = अल्पबले शत्रौ । सममेव = तुल्यमेव । वृक्षास्तृणानि = महत वृक्षान् अल्पानि तृणानि । समुन्मूलयितुम्=उत्पाटयितुम् । नदीरय =सरिद्वेग । इव=तुल्य । क्षम =समर्थ. भवेत् ॥

उपाय का जानने वाला बड़ी छोटी सभी प्रकार की कठिनाइयों (बड़े छोटे शत्रुओं) को दूर करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जैसे नदी की धारा वृक्षों और तृणों को समान रूप से उखाड़ने में समर्थ होती है ॥ ५१ ॥

अतो दूतोऽय शुकोऽत्राश्वास्य तावद्ध्रियतां यावद्दुर्गं सज्जीक्रियते । यतः—

अत =अस्मात्कारणात् । दूत =मयूरेण प्रेषित शुक । आश्वास्य = सामवचनै आश्वासनम् विधाय । ध्रियताम्=अत्रैव स्थाप्यताम् ।

इसलिए जब तक किले की तैयारी हो तब तक दूत को समझा बुझा कर रोके रहें । क्योंकि—

'एक. शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि, तस्माद् दुर्गं विशिष्यते' ॥ ५२ ॥

अन्वयः—एक प्राकारस्थ धनुर्धर शतम् योधयति (एवम्) शत शतसहस्राणि (योधयन्ति) तस्मात् दुर्गम् विशिष्यते ॥ ५२ ॥

प्राकारस्थ =दुर्गस्य समन्तात् प्राचीरस्तस्यान्तरे स्थित । एक धनुर्धर =

एक' भटः । शतम्=शतसंख्यकान् भटान् । योधयति = योद्धुं शक्नोति । यतं एव दुर्गमादि=दुर्गादि । विशिष्यते=प्रशस्यते ॥ ५२ ॥

किले की दीवारों के भीतर रहने वाला एक ही धनुषधारी वीर सैकड़ों वीरों तथा सौ वीर हजारों वीरों के साथ युद्ध कर सकता है । इसीलिए युद्ध में किले का विशेष महत्त्व है ॥ ५२ ॥

किञ्च—'अदुर्गविषयः कस्य नारेः परिभवास्पदम् ।
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत्' ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अदुर्गविषयः (नृपः) कस्य अरेः परिभवास्पदम् न (भवति) अदुर्गः अनाश्रयः राजा पोतच्युतमनुष्यवत् (भवति) ॥ ५३ ॥

अदुर्गविषयः=दुर्गरहितराज्यः । कस्य अरेः=कस्य शत्रोः । परिभवास्पदम्= पराभवस्थानम्, पराजेय इत्यर्थः । न भवति=भवत्येवेत्यर्थः । अदुर्गः=दुर्गरहितः । अनाश्रयः=अतएव आश्रयहीनः । राजा=नृपः । पोतच्युतमनुष्यवत्=जलयानादपि पतितमनुष्यवत्, यथा पोतच्युतः सामान्यो जनो निमज्जति तथैव राजापि विपत्तिसागरे निमग्नो भवति ॥ ५३ ॥

किला रहित किस राजा का देश शत्रु द्वारा विजित नहीं हो जाता ? दुर्ग तथा आश्रय के बिना राजा जहाज से गिरे हुये मनुष्य के समान डूब जाता है ॥

'दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम् ।
सयन्त्रं सजलं शैल-सरिन्मरु-वनाश्रयम्' ॥ ५४ ॥

अन्वयः—महाखातम् उच्चप्राकारसंयुतम् सयन्त्रम् सजलम् शैल-सरिन्-मरु-वनाश्रयम्, दुर्गम् कुर्यात् ॥ ५४ ॥

महाखातम्=महापरिखोपेतम् । उच्चप्राकारसंयुतम्=उच्चप्राचीरैः समन्वितम् । सयन्त्रम्=युद्धोपयोगिभिः यन्त्रैः युतम् । सजलम्=जलाशययुतम् । शैल-सरिन्मरुवनाश्रयम्=पर्वतनदीमरुभूमिकाननादिदुर्गमभूमिषु स्थितम् । दुर्गं कुर्यात्= दुर्गस्य निर्माणं कारयेत् ॥ ५४ ॥

किला बहुत बड़ी खाई से घिरा हुआ ऊँची चहार दीवारी युक्त यन्त्रों एवं जल (कुआँ बावली आदि) से युक्त तथा पहाड़ नदी मरुभूमि अथवा वन के किनारे बनवाना चाहिए ॥ ५४ ॥

'विस्तीर्णतातिवैषम्यं, रसधान्येध्मसंग्रहः ।
प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसम्पदः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—विस्तीर्णता, अतिवैषम्यम्, रसधान्येध्मसंग्रह , प्रवेश , अपसारश्च एता सप्त दुर्गसम्पद (सन्ति) ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णता=आयाम विशालता च । अतिवैषम्यम् = अत्यन्तदुर्गमत्वम् । रसधान्येध्मसग्रह = जलान्नेन्धनसग्रह । प्रवेश =निगूढनानाप्रवेशपथ । अपसार =निगूढनिर्गमनमार्ग । दुर्गसम्पद =दुर्गसम्पत्तय ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णता (काफी लम्बाई चौडाई) अत्यन्त दुर्गमता (पहुँचने की कठिनाई), रस, अन्न और लकडी का सग्रह तथा आने-जाने के गुप्त मार्ग—किले की यह सात विशेषताएँ होती हैं ॥ ५५ ॥

राजाह—'दुर्गानुसन्धाने को नियुज्यताम्' ? चक्रवाको ब्रूते—

दुर्गानुसन्धाने=दुर्गपरीक्षणे । नियुज्यताम्=नियुक्त क्रियताम् ।

राजा ने कहा—'दुर्ग का अन्वेषण करने के लिए किसे नियुक्त करना चाहिए' ? चकवे ने कहा—

'यो यत्र कुशलः कार्ये त तत्र विनियोजयेत् ।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति' ॥ ५६ ॥

अन्वयः—य यत्र कार्ये कुशल त तत्र विनियोजयेत् (यत) कर्मसु य अदृष्टकर्मा (भवति स) शास्त्रज्ञ अपि विमुह्यति ॥ ५६ ॥

य =पुरुष । यत्र कार्ये=यस्मिन्कर्मणि । कुशल =चतुर । तं=पुरुषम् । तत्र = तस्मिन् कार्ये । विनियोजयेत्=नियुक्त कुर्यात् । कर्मसु=कर्तव्यकार्येषु । अदृष्टकर्मा=अनवलोकितकार्य । शास्त्रज्ञ =शास्त्रेषु कुशल । विमुह्यति=मोह गच्छति, व्याकुलो भवतीत्यर्थ ॥ ५६ ॥

जो व्यक्ति जिस कार्य मे कुशल हो उसे वहीं नियुक्त करना चाहिए क्योंकि शास्त्र का ज्ञाता होने पर भी किसी कार्य मे अनुभव न होने से वह उस कार्य मे मूर्ख बन जाता है ॥

'तदाहूयता सारस'। तथानुष्ठिते सति समागतं सारसमव लोक्य राजोवाच—'भो सारस ! त्व सत्वर दुर्गमनुसन्धेहि ।'

सारसं प्रणम्योवाच—'देव ! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपितमास्ते महत्सर. । किन्त्वेतन्मध्यद्वीपे द्रव्यसग्रहः क्रियताम् ।' यतः—

सत्वरम्=शीघ्रम् । अनुसधेहि = अनुसधानम् कुरु, 'कुत्र दुर्गम् निर्मेयम्' इति परीक्षणम् कुरु इति भाव । चिरात्=बहुकालात् । सुनिरूपितम्=सुपरीक्षितम् । महत्सर = महान् सरोवर । मध्यवर्तिद्वीपे = मध्यमागे स्थिते भूप्रान्ते । द्रव्य सग्रह =वस्तुसग्रह , धान्येन्धनादिसग्रह ।

इसलिए सारस को बुलाइए। ऐसा करने पर आए हुए सारस को देख कर राजा ने कहा—'सारस तुम शीघ्र ही किले की छान-बीन कर आओ।

सारस ने प्रणाम करके कहा—राजन् बहुत दिनों से देखा भाला हुआ यह तालाब ही हम लोगों का किला है। किन्तु इसके बीच के टापू पर सभी द्रव्यों (अन्न लकड़ी आदि) को इकट्ठा कर लेना चाहिए। क्योंकि—

'धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात्।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे राजन्! धान्यानाम् संग्रहः सर्वसंग्रहात् उत्तमः (अस्ति) हि मुखे निक्षिप्तम् रत्नम् प्राणधारणम् न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

धान्यानाम्=अन्नानाम्। संग्रहः=एकत्रकरणम्। सर्वसंग्रहात्=संपूर्णवस्तुसंग्रहात्। उत्तमः=श्रेष्ठः। मुखे निक्षिप्तम्=आस्ये स्थापितम्। प्राणधारणम्=उदरपूर्त्या प्राणरक्षणम् ॥

हे राजन्, सभी वस्तुओं के संग्रह से अन्न का संग्रह करना उत्तम है क्योंकि मुख में रखा हुआ रत्न भी प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥

किञ्च— ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।
गृहीतञ्च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सर्वरसानाम् लवणः उत्तमः ख्यातः। तेन विना गृहीतं व्यञ्जनम् गोमयायते ॥ ५८ ॥

सर्वरसानाम्=षड्रसानाम्। उत्तमः=श्रेष्ठः। ख्यातः=प्रसिद्धः। तेन विना=लवणम् विना। व्यञ्जनम्=भोज्यवस्तु। गोमयायते=गोमयः (गोबर) इव आचरितम् भवति ॥

और भी—

सभी रसों में नमक सबसे प्रसिद्ध और उत्तम रस कहा जाता है। अतः उसका संग्रह अवश्य करना चाहिए। क्योंकि उसके बिना बने हुए भोजन भी गोबर के समान लगता है ॥ ५८ ॥

राजाह—'सारस! गत्वा सत्वरमनुष्ठीयताम्।' पुनः प्रविश्य प्रतीहारो ब्रूते—'देव! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो द्वारि वर्तते। स च देवपादान् द्रष्टुमिच्छति।'
राजाह—'काकः प्राज्ञो बहुदृश्वा च तत्संग्राह्यः।

चक्रवाको ब्रूते—'देव ! अस्त्येवं, किन्तु अस्मद्विपक्षः काकः स्थलचरः । तेनास्मद्विपक्षपक्षे नियुक्तः कथं सङ्गृह्यते ? तथा चोक्तम्—

सर्वमनुष्ठीयताम्=सर्वम् क्रियताम् । आगत = आयात । वायस = काक । देवपादान् = श्रीमत । द्रष्टुमिच्छति=दर्शनमभिवाञ्छति । प्राज्ञ =पण्डित । बहुदृश्वा=बहुश्रुत । सग्राह्य =स्वाश्रये रक्षणीय । स्थलचर = स्थलवासी । विपक्षपक्षे नियुक्त =शत्रुपक्षे अनुरक्त ।

राजा ने कहा—'तो शीघ्र ही जाकर सभी आवश्यक कार्य करो ।' फिर द्वारपाल ने आकर कहा–राजन् सिंहल द्वीप मे आया हुआ मेघवर्ण नाम का एक कौवा अपने परिवार के साथ द्वार पर खड़ा है । वह आप का दर्शन करना चाहता है । राजा ने कहा—'कौवे एक तो सभी बातों को जानने वाले, दूसरे बहुत सी वस्तुओ को देखने वाले होते हैं । इसलिए मेरी राय है कि उसे रख लेना चाहिए ।'

चकवे ने कहा—'राजन्, यह तो ठीक है किन्तु कौवा भूमि का पक्षी है । इसलिए वह हमारे शत्रु के पक्ष का है अत उसे किस प्रकार रखा जाये ? कहा भी है—

'आत्मपक्ष परित्यज्य, परपक्षेषु यो रतः ।
स परैर्हन्यते मूढो, नीलवर्णश्रृगालवत्' ॥ ५९ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति—

अन्वयः—य आत्मपक्षम् परित्यज्य परपक्षेषु रत स मूढ नीलवर्णश्रृगालवत् परै हन्यते ॥ ५९ ॥

आत्मपक्षम्=स्वपक्षम् । परित्यज्य=त्यक्त्वा । परपक्षेषु=शत्रुपक्षेषु । रत = अनुरक्त । मूढ =मूर्ख । परै =शत्रुभि । हन्यते=म्रियते ॥ ५९ ॥

अपने पक्ष को छोड कर जो दूसरे पक्ष वालों से अनुराग करता है वह मूर्ख नीलवर्ण गीदड के समान दूसरो (शत्रुओ) से अवश्य मारा जाता है ॥ ५९ ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे ?' मन्त्री ने कहा—

कथा ७

[अस्त्यरण्ये] कश्चिच्छृगालः स्वेच्छया नगरोपान्ते भ्राम्यन्नीलीभाण्डे निपतितः । पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः, प्रातरात्मानं मृतवत्सन्दर्श्य स्थितः । अथ नीलीभाण्डस्वामिना 'मृत' इति ज्ञात्वा, तस्मात्समुत्थाप्य, दूरे नीत्वासौ परित्यक्तः, तस्मात्पलायितः ।

अरण्ये = कानने। स्वेच्छया = यदृच्छया। नगरोपान्ते = नगरस्य सन्निकटे। भ्राम्यन् = विचरन्। नीलीभाण्डे = नीलीरागनिर्माणपात्रे। तत = तस्मात् भाण्डात्। उत्थातुम् = बहिरागन्तुम्। असमर्थः = अशक्तः। आत्मानम् = स्वम्। मृतवत् संदर्श्य = मृतवत्तुल्यम् प्रदर्श्य। ज्ञात्वा = अवगम्य। समुत्थाप्य = बहिःकृत्वा। परित्यक्तः = अपसारितः।

एक जंगल में एक गीदड़ था। वह नगर के किनारे इच्छानुसार घूम रहा था कि एक नील के बर्तन में गिर पड़ा। वहाँ से निकलने में असमर्थ होने के कारण वह प्रातःकाल मरा हुआ सा उसी में पड़ा रहा। उस नील के बर्तन के स्वामी ने उसे मरा हुआ समझ कर दूर ले जाकर फेंक दिया। तब वह वहाँ से भाग गया।

ततोऽसौ वने गत्वा आत्मानं नीलवर्णमवलोक्याचिन्तयत्—'अहमिदानीमुत्तमवर्णः तदहं स्वकीयोत्कर्षं किं न साधयामि'—इत्यालोच्य शृगालानाहूय तेनोक्तम्—'अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनारण्यराज्ये सर्वौषधिरसेनाभिषिक्तः। [पश्यन्तु मम वर्णम्]। तदद्यारभ्यास्मदाज्ञयास्मिन्नरण्ये व्यवहारः कार्यः।

शृगालाश्च तं विशिष्टवर्णमवलोक्य साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः—'यथाज्ञापयति देवः' इति। अनेनैव क्रमेण सर्वेष्वरण्यवासिष्वाधिपत्यं तस्य बभूव। ततस्तेन स्वज्ञातिभिरावृतेनाधिक्यं साधितम्। ततस्तेन व्याघ्रसिंहादीनुत्तमपरिजनान् प्राप्य, सदसि शृगालानवलोक्य लज्जमानेनावज्ञया स्वज्ञातयः सर्वे दूरीकृताः। ततो विषण्णान् शृगालानवलोक्य केनचिद् वृद्धशृगालेनैतत्प्रतिज्ञातं—'मा विषीदत यदनेनानीतिज्ञेन वयं मर्मज्ञाः। [स्वसमीपात्] परिभूतास्तद्यथायं नश्यति तथा विधेयम्। यतोऽमी व्याघ्रादयो वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा राजानमिमं मन्यन्ते। तद्यथायं परिचीयते तथा कुरुत। तत्र चैवमनुष्ठेयं यथा वदामि—सर्वे सन्ध्यासमये तत्सन्निधाने महारावमेकदैव करिष्यथ। ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्तव्यः। यतः—

असौ=शृगालः। नीलवर्णम्=नीलरङ्गम्। इदानीम्=साम्प्रतम्। उत्तमवर्णः=श्रेष्ठरङ्गः। स्वकीयोत्कर्षम्=स्वोन्नतिम्। आलोच्य=विचार्य। वनदेवता=वनदेव्या। स्वहस्तेन=स्वकरेण। अरण्यराज्ये=काननराज्ये। अभिषिक्तः=राज्ये स्थापितः। व्यवहारः=विवाद निर्णयः (व्यवस्था)। साष्टाङ्गपातम्=साष्टाङ्गनमा-

मम् । अरण्यवासिषु = काननचारिषु जीवेषु । आधिपत्यम् = प्रभुत्वम् । स्वज्ञातिभि = स्वपरिवारै । आवृतेन=परिवेष्टितेन । आधिक्यम्=स्वजातिश्रेष्ठत्वम् । साधितम्=अधिगतम् । उत्तमपरिजनान्=जात्या श्रेष्ठान् अनुचरान् । तेन=शृगालेन । सदसि=सभायाम् । लज्जमानेन = लज्जामनुभवता । अवज्ञया = अपमानेन । दूरीकृता =निष्कासिता । विषण्णान् = दु खितान् । प्रतिज्ञातम् = प्रतिज्ञा कृता । अनीतिज्ञेन=अज्ञेन । ममज्ञा =स्वरहस्यविद । परिभूता =अपमानिता । विधेयम्=करणीयम् । वर्णमात्रविप्रलब्धा = वर्णपरिवर्तनमात्रेण वञ्चिता । इमम्=नीलवर्णम्, शृगालम् । परिचीयते=व्याघ्रादिभि स्वशृगालरूपत. ज्ञायते । तत्-सन्निधाने=तत्समीपे । महारावम्=महान्त शब्दम् । जाति-स्वभावात्=जातिप्रकृत्या ॥

इसके बाद जंगल मे जाकर उसने अपने नीले रग को देखकर विचार किया—'मैं अब उत्तम वर्ण का हो गया हूँ। इसलिए मैं इसमे अपनी उन्नति क्यो न कर लूँ।' ऐसा सोचकर उसने गीदडो को बुला कर कहा—मुझे भगवती वनदेवी ने अपने हाथ मे सभी ओषधियो एव रसो से नहला कर मेरा राज्याभिषेक किया है। इसलिए आज से इस जगल मे मेरी आज्ञा के अनुसार ही सभी काम किए जायँ।'

गीदडो ने उसके विशेष रग को देखकर प्रणाम करते हुए कहा—'राजन् आप की आज्ञा शिरोधार्य है।' इस प्रकार धीरे-धीरे वह सभी जगली जानवरो का राजा बन गया। इसके पश्चात् वह अपने को अपनी जाति वालो के बीच मे उत्तम समझने लगा। और सिंह, व्याघ्र आदि उत्तम कुल के परिजनो को पाकर तथा अपनी सभा मे गीदडो को देख कर वह लज्जित हो गया। तब उसने अपनी जाति के सभी लोगो को अपमानित करके वहाँ से निकाल दिया। इस पर गीदडो को दुखी देख कर एक बुड्ढे गीदड ने कहा—तुम लोग दुखी मत बनो। इस मूर्ख ने हम ममज्ञो को अपने पास से अपमानित करके हटा दिया है इसलिए मैं वही करूगा जिससे इसका विनाश हो। क्योकि ये बाघ आदि इसके रग के धोखे मे आकर इसे गीदड नही समझ रहे हैं इसीलिए इसे राजा मानते हैं।' इसलिए ऐसा काम करो जिससे यह परिचित हो जाय (इसे सब गीदड जान जायँ)। तुम लोग अब ऐसा करो कि सध्या के समय सभी लोग इसके पास इकट्ठे होकर एक ही साथ चिल्लाना शुरू करो। जिससे उस शब्द को सुन कर जाति स्वभाव से यह भी चिल्लाने लगेगा। ऐसा होने पर इसे सभी पहचान लेंगे। क्योकि—

'यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्य दुरतिक्रमः ।
श्वा यदि क्रियते राजा, तत्किं नाश्नात्युपानहम्' ॥ ६० ॥

अन्वयः—यस्य यः स्वभावः अस्ति सः नित्यम् दुरतिक्रमः (भवति) श्वा यदि राजा क्रियते तर्हि किम् उपानहम् न अश्नाति ॥ १ ॥

यस्य=पुरुषस्य। यः स्वभावः=या प्रकृतिः। दुरतिक्रमः=दुर्लङ्घ्यः। श्वा=कुक्कुरः। उपानहम्=चर्मणा निर्मितम् पादत्राणम्। न अश्नाति=न भक्षयति ? ॥

जिसका जो स्वभाव है वह सर्वदा रहने वाला तथा कठिन होता है। यदि कुत्ते को राजा बना दिया जाय तो क्या वह जूता नहीं चबाएगा ? ॥ १ ॥

ततः शब्दादभिज्ञाय स व्याघ्रेण हन्तव्यः। ततस्तथानुष्ठिते सति तद् वृत्तम्। तथा चोक्तम्—

शब्दात्=तस्य नादात्। अभिज्ञाय=शृगालः अयम् इति परिज्ञाय। हन्तव्यः=व्यापादितव्यः।

इसके बाद शब्द द्वारा पहचाने जाने पर बाघ उसे मार डालेगा। जैसा कि कहा भी गया है—

छिद्रं, मर्म च वीर्यं च सर्वं वेत्ति निजो रिपुः।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवानलः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—(यः) निजः रिपुः छिद्रम् मर्म वीर्यम्, च सर्वम् वेत्ति (सः) अन्तर्गतश्च शुष्कम् वृक्षम् अनलः इव दहति ॥ ६१ ॥

निजः=स्वजनः। रिपुः=शत्रुः। छिद्रम्=रन्ध्रम् दौर्बल्यम्। मर्म=रहस्यम्। वीर्यम्=पराक्रमम्। सर्वम् वेत्ति = सर्वम् जानाति। अन्तर्गतः = अन्तः स्थितः। अनलः=अग्निः। इव=यथा। यथा वृक्षमध्ये स्थितः अग्निः वृक्षम् दहति तथैव राज्ञः स्वजनो भूत्वा शत्रुरपि राजानम् नाशयति ॥

जो व्यक्ति अपनी दुर्बलता अपने रहस्य बल और मित्र तथा शत्रु सभी को भलीभाँति समझ लेता है वह शत्रु के भीतर प्रवेश करके उसे उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे काठ के भीतर रहने वाली आग उसे जला देती है ॥ ६१ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि— आत्मपक्षं परित्यज्य इत्यादि ॥ [illegible] ॥

राजाह—'यद्येवं तथापि दृश्यतां तावदयं दूरादागतः। तत्सङ्ग्रहे विचारः कार्यः'। चक्रो ब्रूते—देव! प्रणिधिस्तावत् प्रहितो दुर्गश्च सज्जीकृतम्। अतः शुकोऽप्यानीय प्रस्थाप्यताम्। किन्तु पोषबलसमन्वितो भूत्वा दूरादेव तमवलोकय'। यतः—

दृश्यताम्=विलोक्यताम्। दूरादागतः=दूरेणागतः। तस्यातिथ्यं करणीयम् यस्मात् तत्सङ्ग्रहविषये विचारणीयम् इत्यर्थः। प्रणिधिः=गुप्तचरः। प्रहितः=प्रेषितः। सज्जीकृतम्=आवश्यकवस्तुभिः पूरितम्। आनीय=समानीय अत्रानीय। पोषबल-समन्वितः=रक्षकैर्युक्तः। तम्=शुकम् ॥

इसलिए मैं कह रहा हूँ—'अपने पक्ष को छोडकर' इत्यादि। राजा ने कहा—यद्यपि यह ठीक है फिर भी यह दूर से आ रहा है, अत इससे मिलना आवश्यक है और इसे अपने पास रखने का विचार भी जरूरी है। चकव ने कहा—राजन्, दूत भेज दिया गया और किला भी तैयार हो गया अत सुग्गे को भी अब यहाँ बुला लेना चाहिए। किन्तु अपने सैनिक आदि दल बल के साथ आप उससे दूर ही से बात करें। क्योंकि—

'नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगतः।
तद् दूरान्तरितं दूतं पश्येद्वीरसमन्वित.' ॥ ६२ ॥

अन्वयः—चाणक्य तीक्ष्णदूतप्रयोगत नन्द जघान तत् (नृप) वीर-समन्वित दूरान्तरितम् दूतम् पश्येत् ॥ ६२ ॥

चाणक्य = कौटिल्य । तीक्ष्णदूतप्रयोगत =कपटवेशधारिवलिष्ठच्छद्मदूत-प्रयोगेण। नन्दम्=तन्नामान नृपम्। जघान=मारयति स्म। तत्=तस्मात् कारणात्। वीरसमन्वित =वीरैः परिवेष्टित सन्। दूरान्तरितम्=दूरेस्थितम् ॥६२॥

चाणक्य ने तीक्ष्ण कपट दूत के द्वारा नद को मार डाला था अत आप उसे दूर ही रख कर मन्त्रियो से युक्त होकर उसे देखें ॥ ६२ ॥

ततः सभा कृत्वाहूतः शुकः, काकश्च। शुकः किञ्चिदुन्नतशिरा दत्तासने उपविश्य ब्रूते—'भो हिरण्यगर्भ ! त्वा महाराजाधिराजः श्रीमच्चित्रवर्ण. समाज्ञापयति—'यदि जीवितेन, श्रिया वा प्रयोजन-मस्ति, तदा सत्वरमागत्यास्मच्चरणौ प्रणम। नो चेदवस्थातुं स्थानान्तर परिचिन्तय'। राजा सकोपमाह—'आः, सभायामस्माक न कोऽपि विद्यते य एन गलहस्तयति ?।' तत उत्थाय मेघवर्णो ब्रूते—'देव ! आज्ञापय, हन्मि चैन दुष्टशुकम्।' सर्वज्ञो राजानं, काक च सान्त्वयन् ब्रूते—'भद्र ! मा मैवं। शृणु तावत्—

उन्नतशिरा =गर्वोन्नतमस्तक । दत्तासने=दत्तलघुविष्टरे। समाज्ञापयति=समादिशति। जीवितेन=प्राणैः। श्रिया=राजलक्ष्म्या। प्रयोजनम्=कार्यम्। सत्वरम्=शीघ्रमेव। अवस्थातुम्=निवासार्थम्। स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानम्। परिचिन्तय=विचारय। एनम्=दूतम्, शुकम्। गलहस्तयति=बहि निष्कासयति। आज्ञापय=आदेशय। सर्वज्ञ =तन्नामा चक्रवाक ।

इसके पश्चात् राजहस ने सभा करके सुग्गे और कौवे को वहाँ बुलवाया। अभिमान से सिर उठाये हुए, सुग्गे ने दिए हुए आसन पर बैठकर कहा—'हे हिरण्यगर्भ, महाराजाधिराज श्रीमान चित्रवर्ण ने आप को आदेश दिया है-कि

यदि प्राणों और राज्यलक्ष्मी से आपको मतलब हो तो शीघ्र ही आकर तुम मेरे चरणों में प्रणाम करो। नहीं तो दूसरे स्थान पर रहने की बात सोचो। राजा ने क्रुद्ध होकर कहा—'अरे यहाँ ऐसा कोई नहीं है जो इसके गर्दन में हाथ लगा कर मेरे सामने से इसे हटा दे। मेघवर्ण ने उठकर कहा—'राजन्, आज्ञा दीजिए। मैं इस दुष्ट सुग्गे को मारूँगा। सर्वज्ञ नामके मन्त्री ने राजा और कौवे को शान्त करते हुए कहा—थोड़ा सुनिए तो सही।

'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—यत्र वृद्धा न सन्ति सा सभा न ये धर्मम् न वदन्ति ते वृद्धा न यत्र सत्यम् न अस्ति स धर्मः न यत् छलमभ्युपैति तत् सत्यं न (भवति) ॥ ५३ ॥

यत्र=यस्याम् सभायाम्। सा सभा न=सा सभा शोभते। धर्मम्=धर्मवचनम्। न वदन्ति=न कथयन्ति। यत्र सत्यम्=यस्मिन् धर्मे सत्यम्। छलमभ्युपैति=कपटेन युक्तः भवति ॥ ५३ ॥

वह सभा सभा नहीं है जिसमें वृद्ध न हों वह वृद्ध वृद्ध नहीं जो धर्म की बातें न कहता हो वह धर्म-धर्म भी नहीं जिसमें सत्य न हो और वह सत्य सत्य भी नहीं जो कपट से भरा हुआ हो ॥ ५३ ॥

यतो राजधर्मश्चैषः—

'दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ॥ ५४ ॥

अन्वयः—म्लेच्छः अपि दूतः अवध्यः यतः राजा दूतमुखः स्यात्। शस्त्रेषु उद्यतेषु अपि दूतः अन्यथा न वदति ॥ ५४ ॥

म्लेच्छः=हीनजातिः अस्पृश्यः अपि। अवध्यः=हन्तुमयोग्यः। दूतमुखः=दूतेन स्वार्थाभिलापकः। उद्यतेषु=उत्थापितेषु। शस्त्रेषु, अन्यथा=असत्यम्। न वदति=नाचारयति ॥ ५४ ॥

क्योंकि यही राजधर्म है—

दूत के म्लेच्छ (नीच वर्ण का) होने पर भी दूत अवध्य होता है। क्योंकि राजा दूतमुख (दूत द्वारा अपनी बातें कहलाने वाला) होता है। इसीलिए उठे हुए हथियारों के बीच भी दूत झूठी बातें नहीं कहता है। ५४॥

अन्यच्च—'स्वापकर्षं, परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ?।

सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति' ॥ ६५ ॥

अन्वयः—दूतोक्तै. स्वापकर्षम्, परोत्कर्षम् तु क मन्यते । दूत सदैव अवध्यभावेन सर्वं जल्पति ॥ ६५ ॥

दूतोक्तै = दूतवचनै । स्वापकर्षम् = निजावनतिम् । परोत्कर्षम = अन्यस्य शत्रोश्चोन्नतिम् । क मन्यते = क कल्पयति । अवध्यभावेन = निर्भय सन् । सर्वम्=उत्कर्षापकर्षञ्च निन्दास्तुतिम् वा । जल्पति=कथयति ॥ ६५ ॥

और भी—दूत के मुँह से अपनी तुच्छता और शत्रु की उच्चता सुन कर भला कौन राजा उस पर ध्यान देता है ? क्योंकि अवध्य होने के नाते निर्भय होकर दूत अच्छी बुरी सभी बातें कहता है ॥ ६५ ॥

ततो राजा, काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ । शुकोऽप्युत्थाय चलितः । पश्चाच्चक्रवाकेणानीय, प्रबोध्य, कनकालङ्कारादिकं दत्त्वा, सम्प्रेषितः स्वदेशं ययौ । शुकोऽपि विन्ध्याचलं गत्वा, स्वस्य राजानं चित्रवर्णं प्रणतवान् ।

तं विलोक्य राजोवाच—'शुक ! का वार्त्ता ?, कीदृशोऽसौ देशः ?' ।

शुको ब्रूते—'देव ! सक्षेपादियं वार्त्ता,-सम्प्रति युद्धोद्योगः क्रियताम् । देशश्चासौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशो, राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते ।' ततः सर्वाञ्छिष्टानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः । आह च तान्—'सम्प्रति कर्त्तव्ये विग्रहे यथा-कर्त्तव्यमुपदेशं ब्रूत । विग्रहः पुनरवश्य कर्त्तव्यः' । तथा चोक्तम्—

प्रकृतिमापन्नौ=शान्ति प्राप्तौ । प्रबोध्य=सान्त्ववचनै आश्वास्य । सप्रेषित = सप्रहित । ययौ=गतवान् । विन्ध्याचल=विन्ध्यदेशम् । प्रणतवान्=नमश्चक्रे ।

सप्रति = इदानीम् । युद्धोद्योग = युद्धाय प्रयत्न । स्वर्गैकदेश = स्वर्गस्य एकाश । द्वितीय =अपर । स्वर्गपति =इन्द्र । शिष्टान्=सभ्यान् । मन्त्रयितुम्= मन्त्रणा कर्तुम् । कर्तव्यविग्रहे = करणीययुद्धे । यथाकर्तव्यम् = यथाकरणीयम् । उपदेशम=उपायवचनम् ।

तब राजा और कौआ शान्त हुए । सुग्गा भी उठकर चला । किन्तु चकवे ने उसे बुला कर सोने के आभूषण आदि देकर विदा किया और वह चला गया । सुग्गे ने जाकर विन्ध्याचल के राजा चित्रवर्ण को प्रणाम किया ।

राजा ने उसे देखकर कहा— क्या समाचार है ? वह देश कैसा है ?

शुक ने कहा—राजन् थोड़े में समाचार यह है कि इस समय आप युद्ध की तैयारी करें। कर्पूरद्वीप स्वर्ग का एक टुकड़ा है और राजा दूसरा इन्द्र है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। तब सभी सभासदों को बुलाकर राजा ने विचार करना आरम्भ किया। और उसने कहा—इस समय छिड़ जाने वाले युद्ध में क्या करना चाहिए। उसे आप लोग बतावें। लड़ाई तो अवश्य ही करनी है। जैसा कि कहा भी गया है—

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः, सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—असंतुष्टाः द्विजाः सन्तुष्टाः च महीभुजः, नष्टाः। सलज्जा गणिका निर्लज्जाः कुलाङ्गनाः च नष्टाः ॥ ६६ ॥

असंतुष्टाः = संतोषरहिताः। द्विजाः = ब्राह्मणाः। संतुष्टाः = स्वल्पेन तुष्टिं गताः। महीभुजः = नृपाः। नष्टाः = नष्टप्रायाः। सलज्जा = लज्जासहिता। गणिका = वेश्या। निर्लज्जाः = लज्जाहीनाः। कुलाङ्गनाः = कुलस्त्रियः ॥ ६६ ॥

असंतुष्ट ब्राह्मण, संतुष्ट (जितना है उतना बहुत है ऐसा सोचने वाला) राजा, लज्जा करने वाली वेश्या तथा निर्लज्ज कुलीन स्त्री अवश्य नष्ट हो जाती हैं ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो मन्त्री ब्रूते—'देव ! व्यसनितया विग्रहो न विधिः'। यतः—

व्यसनितया = प्रजापरिजनादिविरक्तत्वात् आपद्ग्रस्ततया। विग्रहः = युद्धं। न विधिः = नोचितः।

दूरदर्शी नाम के गृध्र ने कहा—राजन्, व्यसन के समय—(जिस प्रजा मंत्री तथा अधिकारी आदि के अनुकूल न होने पर) युद्ध करना ठीक नहीं है क्योंकि—

मित्रामात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः।
शत्रूणां विपरीताश्च कर्तव्यो विग्रहस्तदा ॥ ६७ ॥

अन्वयः—यदा मित्रामात्यसुहृद्वर्गाः दृढभक्तयः शत्रूणाम् विपरीताश्च स्युः तदा विग्रहः कर्तव्यः ॥ ६७ ॥

यदा = यस्मिन्काले। मित्रामात्यसुहृद्वर्गाः = मित्रमन्त्रिस्वजनवर्गाः। दृढभक्तयः = स्वराज्ये नृपे च दृढानुरक्ताः। विपरीताः = विरुद्धाः। तदा = तस्मिन्काले। विग्रहः = युद्धं। कर्तव्यः = करणीयः ॥ ६७ ॥

मित्र मंत्री स्वजन लोग जब राजा के प्रति दृढ़ भाव से भक्ति करते हों और शत्रु के विपरीत हों उस समय युद्ध करना चाहिए ॥ ६७ ॥

अन्यच्च—'भूमिर्मित्रं, हिरण्यं च, विग्रहस्य फल त्रयम्।
यदैतन्निश्चितं भावि, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६८ ॥

अन्वयः—भूमि मित्र हिरण्य च विग्रहस्य त्रयम् फलम्। यदा एतत् निश्चितम् भावि तदा विग्रह कर्तव्य ॥ ६८ ॥

भूमि =भूभाग । मित्रम्=सुहृत् । हिरण्यम्=सुवर्णम् । विग्रहस्य=युद्धस्य । एतत्=भूम्यादि त्रयम् । निश्चितम्=अवश्यमेव प्राप्तव्यम् । भावि=स्यात् ॥ ६८ ॥

भूमि प्राप्त करना, मित्र प्राप्त करना तथा धन प्राप्त करना यही तीन लडाई के फल होते हैं—जब इन तीनो की प्राप्ति निश्चित हो तभी युद्ध करना चाहिए॥

राजाह—'मद्बलं तावदवलोकयतु मन्त्री । तदैतेषामुपयोगो ज्ञायताम्। एवमाहूयतां मौहूर्त्तिकः। स यात्रार्थं शुभलग्नं निर्णीय ददातु'। मन्त्री ब्रूते—'देव ! तथापि सहसा यात्राकरणमनुचितम्'। यतः—

मद्बलम्=मत्सैन्यम् । अवलोकयतु=निरीक्षणम् करोतु । तदा=तत्पश्चात् । उपयोग = युद्धप्रयोगविधि । मौहूर्तिक = ज्योतिषिक । निर्णीय = शास्त्रदृष्ट्या निर्णय कृत्वा । शुभलग्नम्=मंगलकालम् । यात्राकरणम्=युद्धाय प्रस्थानम् ।

राजा ने कहा—'मंत्री, पहले आप मेरी सेना का निरीक्षण कर लें और उसके उपयोग की व्यवस्था भी जान लें। फिर शुभ दिन का निश्चय करने वाले ज्योतिषी को बुलावें। वह निर्णय करके शुभ मुहूर्त बता दे' मंत्री ने कहा—'फिर भी जल्दी में यात्रा करना अनुचित है'। क्योंकि—

'विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्बलम्।
खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम्' ॥ ६९ ॥

अन्वयः—ये मूढा द्विषद्बलम् अविचार्य सहसा विशन्ति ते सुनिश्चितम् खड्गधारापरिष्वङ्गम् लभन्ते ॥ ६९ ॥

ये मूढा =विचारशून्या । द्विषद्बलम्=शत्रुपराक्रमम् । अविचार्य = अनालोच्य । विशन्ति = शत्रुदेशे, सेनायाम् विग्रहे वा प्रविशन्ति । ते = मूढा । सुनिश्चितम्=ध्रुवम् । खड्गधारापरिष्वङ्गम्=कृपाणधारालिङ्गनम् मृत्युमित्यर्थ । लभन्ते=प्राप्नुवन्ति ॥ ६९ ॥

'जो मूर्ख शत्रु की सेना अथवा बल का विचार किए बिना ही उसके देश में घुस जाते हैं वे निश्चय ही तलवार की धार का आलिंगन पाते हैं अर्थात् तलवार से काट दिए जाते हैं' ॥ ६९ ॥

राजाह—'मन्त्रिन् ! ममोत्साहभङ्गं सर्वथा मा कृथाः । विजिगीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति तथा कथय । गृध्रो ब्रूते—'देव ! तत्कथयामि । किन्तु तदनुष्ठितमेव फलप्रदम्' । तथा चोक्तम्—

ममोत्साहभङ्गः=ममोत्साहस्य विरोधः । सर्वथा=केनापि हेतुना । मा कृथाः=मा कार्षीः । विजिगीषुः = विजयाभिलाषी । यथा = येन प्रकारेण । परभूमिम्=शत्रुदेशम् । आक्रामति = स्वाधीनताम् नयति । तदनुष्ठितम् = तदनुसारेण कृतम् एव । फलप्रदम्=सफलम् ।

राजा ने कहा—'मन्त्री अब किसी भी प्रकार से मेरे उत्साह को भङ्ग न करो । विजय चाहनेवाला जिन उपायों से शत्रुदेश को प्राप्त करता है उन्हें बताओ । गृध्र ने कहा— मैं कह रहा हूँ । किन्तु उसके अनुसार काम करने से ही लाभ होगा । जैसा कि कहा भी गया है—

किं मन्त्रेणाननुष्ठाने शास्त्रवित्पृथिवीपतेः ।
न ह्यौषधपरिज्ञानाद्व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत् ॥ ७० ॥

अन्वयः—शास्त्रवित्पृथिवीपतेः अननुष्ठाने मन्त्रेण किम् (प्रयोजनम्) हि औषधपरिज्ञानात् क्वचित् व्याधेः शान्तिः न भवेत् ॥ ७० ॥

शास्त्रवित्पृथिवीपतेः=शास्त्रज्ञस्य राज्ञः अपि । अननुष्ठानेन=यथाचरितेन । मन्त्रेण=परामर्शेन । किम् = किम् फलम् किमपि नैरर्थ्यं । औषधपरिज्ञानात्=औषधस्य ज्ञानात् । व्याधेः = रोगस्य । शान्तिः = शमनम् ॥ ७० ॥

'यदि शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी राजा मन्त्रणा के अनुसार कार्य न करे तो उससे उसे क्या लाभ होगा । यथा औषधि का ज्ञान होने से ही कहीं रोग दूर हो सकता है ? ॥ ७० ॥

राजादेशश्चानतिक्रमणीयः । —इति यथाश्रुतं निवेदयामि । शृणु— देव !

राजादेशः=राज्ञः आज्ञा । अनतिक्रमणीयः = नोल्लङ्घनीयः । यथाश्रुतं = यथा श्रुतम् । निवेदयामि=कथयामि ।

राजा की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए । इसलिए मैंने जैसा सुना है वैसा कह रहा हूँ । सुनिए—

'नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ! ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे नृप नदी-अद्रि वन दुर्गेषु यत्र यत्र भयम् (अस्ति) तत्र तत्र व्यूहीकृतैः बलैः (सह) सेनानीः यायात् ॥ ७१ ॥

यत्र यत्र=यस्मिन् यस्मिन् स्थाने । नद्यद्रिवनदुर्गेषु = सरित्पर्वतकाननादिदुर्गमस्थलेषु । व्यूहीकृते =आकृतिविशेषेण सज्जिते । बले =सैन्यै सह । सेनानी = सेनापति । यायात्=गच्छेत् ॥ ७१ ॥

'नदी, पहाड, जगल आदि भयकर स्थानों में जहाँ-जहाँ भय का कारण हो, हे राजन्! वहाँ-वहाँ मोर्चेबन्दी से व्यवस्थित सेनाओं के साथ सेनापति चले जायँ' ॥

'बलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषान्वितः ।
मध्ये कलत्र, स्वामी च, कोशः, फल्गु च यद्बलम्' ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रवीरपुरुषान्वित बलाध्यक्ष पुर यायात् मध्ये कलत्र, स्वामी, कोश , यत् फल्गुबलम् च (यायात्) ॥ ७२ ॥

प्रवीरपुरुषान्वित —श्रेष्ठवीरयोद्धृसमन्वित । बलाध्यक्ष =सेनापति । पुर = अग्रे । कलत्रम्=राजान्त पुरम् । स्वामी=राजा । फल्गुबलम्=अल्पबलसैन्यम् ॥७२॥

'बडे बडे योद्धा पुरुषों के साथ प्रधान सेनापति सेना के आगे रहे, बीच मे स्त्रियाँ, राजा, खजाना और अल्प बलशाली सेना रहे' ॥ ७२ ॥

'पार्श्वयोरुभयोरश्वा, अश्वानां, पार्श्वतो रथाः ।
रथानां पार्श्वतो नागा, नागानां च पदातयः' ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उभयो पार्श्वयो अश्वा , अश्वानाम् पार्श्वतो रथा , रथानाम् पार्श्वतो नागा , नागानाम् च पार्श्वतो पदातय ॥ ७३ ॥

उभयो =द्वयो । पार्श्वयो =(बगल मे) । अश्वा =घोटका । नागा =गजा पदातय =पत्तिसैनिका (पैदल सैनिक) ॥ ७३ ॥

'उसके दोनो ओर (दाएँ बाएँ) घोडे, घोडो के बगल मे रथ और रथो के बगल मे हाथी तथा हाथियो के बगल मे पैदल सैनिक रहें' ॥ ७३ ॥

'पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।
मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्त प्रतिगृह्य बलं नृपः'—॥ ७४ ॥

अन्वय'—पश्चात् सेनापति खिन्नान् शनै आश्वासयन् यायात् (तत्पश्चात्) मन्त्रिभि सुभटै युक्त नृप बलम् प्रतिगृह्य (यायात्) ॥ ७४ ॥

खिन्नान्=श्रान्तान् सैनिकान् । शनैराश्वासयन् = मृदुवचनै सान्त्वयन् । यायात्=गच्छेत् । नृप = राजा । मन्त्रिभि =सचिवै । सुभटै =सुशूरै । युक्त = सहित । बलम्=सेनाम् । प्रगृह्य=समादाय ॥ ७४ ॥

'उसके पीछे थके हुए लोगो को मीठी मीठी बातो से धैर्य देते हुए सेनापति चले और उसके पीछे मन्त्रियो और अच्छे अच्छे वीरो से युक्त सेना लिए हुए राजा चले' ॥ ७४ ॥

समेयाद्विषमं नागैर्जलाढ्यं समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः, सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—विषमम्=(स्थलम्) जलाढ्यम् समहीधरम् (स्थलम्) च नागैः समम् (भूमिम्) अश्वैः जलम् नौभिः पदातिभिः सर्वत्रैव समेयात् ॥ ७५ ॥

विषमम्—उच्चावचम् प्रदेशम् । जलाढ्यम्—जलपूर्णम् । समहीधरम्—पर्वतैः सहिताम् भूमिम् । नागैः—हाथी । समम्—समतलम् । अश्वैः—घोड़े । जलम्—जलमयम् नद्यादिप्रदेशम् । पदातिभिः—पैदल । सर्वत्र—समम् विषमम् वा प्रदेशम् ॥ ७५ ॥

'ऊँची नीची जल से भरी हुई तथा पहाड़ियों से घिरी हुई भूमि पर हाथियों से, समतल भूमि पर घोड़ों से, नदी आदि जल प्रदेश में नाव से तथा सभी जगहों में पैदल सैनिकों द्वारा यात्रा करनी चाहिए' ॥ ७५ ॥

'हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदागमे ।
तदन्यत्र तुरङ्गाणां पत्तीनां सर्वदैव हि' ॥ ७६ ॥

अन्वयः—जलदागमे हस्तिनाम् गमनम् प्रशस्तम् प्रोक्तम् तदन्यत्र तुरङ्गाणाम्, सर्वदैव हि पत्तीनाम् (गमनम् प्रशस्तम्) ॥ ७६ ॥

जलदागमे = वर्षाऋतौ । हस्तिनाम् = गजानाम् । गमनम्—यात्राकरणम् । प्रशस्तम्—श्रेष्ठतरम् । प्रोक्तम्—कथितम् । तदन्यत्र—वर्षाकालातिरिक्ते । तुरङ्गाणाम्—अश्वानाम् । पत्तीनाम्—पदातीनाम् । सर्वदैव—सर्वकालेषु एव ॥ ७६ ॥

वर्षा के समय हाथियों से यात्रा करना उत्तम है । और अन्य समय में घोड़ों से तथा पैदल तो हर समय यात्रा अच्छी होती है ॥ ७६ ॥

'शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरक्षणम् ।
स्वयोधै रक्षितस्यापि शयनं योगनिद्रया' ॥ ७७ ॥

अन्वयः—शैलेषु दुर्गमार्गेषु नृपरक्षणम् विधेयम् । स्वयोधैः रक्षितस्यापि (राज्ञः) योगनिद्रया शयनम् (विधेयम्) ॥ ७७ ॥

शैलेषु—पर्वतेषु । दुर्गमार्गेषु—अगम्यमार्गेषु । नृपरक्षणम् — राज्ञः रक्षाकरणम् । विधेयम्—करणीयम् । स्वयोधैः—स्वभटैः । रक्षितस्यापि—पालितस्यापि । योगनिद्रया—अवधानसहितनिद्रया । शयनम्—स्वपनम् उचितम् ॥ ७७ ॥

पर्वतों और दुर्गम मार्गों में राजा की रक्षा करनी चाहिए और राजा को अपने वीरों द्वारा रक्षित होने पर भी योगनिद्रा से (आधी-जगी और आधी सोयी अवस्था में) ही सोना चाहिए ॥ ७७ ॥

नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून् दुर्ग-कण्टक-मर्दनैः ।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—दुर्गकण्टकमर्दनै शत्रून् नाशयेत् कर्षयेत् वा । परदेशप्रवेशी आटविकान् पुर कुर्यात् ॥ ७८ ॥

दुर्गकंटकमर्दनै=दुर्गबाधाविनाशनै । शत्रून् = रिपून् । नाशयेत् = विनाशयेत् । कर्षयेत्=क्लेशयेत् । परदेशप्रवेशी=शत्रुदेशप्रवेशी । आटविकान्=वनेचरान् किरातादीन् इत्यर्थ । पुर =अग्रे ॥ ७८ ॥

किले को तोड फोड कर और रास्ते की रुकावटो को कुचल कर शत्रुओ का विनाश करना चाहिए तथा उन्हें कष्ट पहुँचाना चाहिए और शत्रुदेश मे घुमने के पहिले आगे आगे जगली व्यक्तियो को रास्ता बताने के लिए नियुक्त कर देना चाहिए ॥ ७८ ॥

'यत्र राजा तत्र कोशो, विना कोशं न राजता ।
सुभटेभ्यस्ततो दद्यात्, को हि दातुर्न युध्यते' ॥ ७९ ॥

अन्वयः—यत्र राजा (विद्यते) तत्र कोश (स्थाप्य) कोश विना राजता न । तत सुभटेम्य दद्यात्, दातु को हि न युध्यते ॥ ७९ ॥

यत्र राजा=यस्मिन् स्थाने राजा विद्यते । तत्र=तस्मिन् स्थाने । कोश =कोश सस्थाप्य । राजता = नृपत्वम् । तत = कोशात् । सुभटेम्य = वीरसैनिकेम्य । दातु =दातु. अर्थे । न युध्येत्=युद्ध न करोति ॥ ७९ ॥

जहाँ राजा रहता है वहीं खजाना भी रहता है क्योकि खजाने के बिना राजा का राजत्व व्यर्थ है । राजा को चाहिए कि उस खजाने से सेवकों को खूब धन दे क्योंकि दाता राजा के लिए कौन नहीं लडाई करता अर्थात् सभी करते हैं ॥ ७९ ॥

यतः—'न नरस्य नरो दासो, दासस्त्वर्थस्य भूपते ।
गौरवं लाघवं वापि धनाधननिबन्धनम्' ॥ ८० ॥

अन्वयः— हे भूपते नर नरस्य दास न (अपितु) अर्थस्य दास भवति । गौरवम् लाघवम् वापि धनाधननिबन्धनम् (भवति) ॥ ८० ॥

भूपते=राजन् । नर =मनुष्य । नरस्य=मनुष्यस्य । दास न = सेवक न । अर्थस्य=धनस्य । गौरवम्=महत्वम् । लाघवम्=लघुत्वम् च । धनाधननिबन्धनम्= धनधनाभावहेतुकम् ॥ ८० ॥

क्योंकि हे राजन्, मनुष्य मनुष्य की चाकरी नहीं करता बल्कि वह धन का गुलाम होता है । और बडाई छोटाई भी धन के आधार पर ही निश्चित की जाती है ॥ ८० ॥

'समेतैश्च युध्येत, रक्षेच्चैव परस्परम् ।
फल्गु सैन्यं च यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत्' ॥ ८१ ॥

अन्वयः—परस्परम् समेतैः युध्येत रक्षेत् च यत्किञ्चित् फल्गु सैन्यं च (तत्) व्यूहस्य मध्ये कारयेत् ॥ ८१ ॥

परस्परम्=स्वपक्षतः अन्योन्यम् । समेतैः—मिलित्वा । युध्येत=युद्धं कुर्यात् । रक्षेत्=रक्षणं कुर्यात् । फल्गु=निस्सारम् निर्बलमित्यर्थः । सैन्यम्=बलम् । व्यूहस्य=सैन्यविन्यासस्य (मोर्चाबंदी) । मध्ये—अन्तराले । कारयेत्=स्थापयेत् ॥ ८१ ॥

सैनिकों को परस्पर मिल कर लड़ना तथा एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिए । और निर्बल सेना को व्यूह (मोर्चेबन्दी) के बीच में रखना चाहिए ॥

'पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत् ।
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्' ॥ ८२ ॥

अन्वयः—महीपालः पदातीन् च अनीकस्य पुरः योजयेत् । अरिम् उपरुध्य आसीत अस्य राष्ट्रं च उपपीडयेत् ॥ ८२ ॥

महीपालः=नृपः । पदातीन्—पदचरान् । अनीकस्य=सेनायाः । पुरः=अग्रे । योजयेत् = स्थापयेत् । अरिम्—शत्रुम् । उपरुध्य = समन्तात् अवरोधम् कृत्वा । आसीत=तिष्ठेत् । अस्य=शत्रोः । राष्ट्रम्=राज्यम् । उपपीडयेत्=पीडयेत् ॥८२॥

राजा को चाहिए कि वह पैदल सेना को अन्य सेना के आगे रखे शत्रु को चारों ओर से घेर ले (बैठ जावे) तथा उसके राज्य को (लूट पाट तथा उजाड़ आदि नष्ट करके) पीड़ा पहुँचावे ॥ ८२ ॥

'स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले' ॥ ८३ ॥

अन्वयः—समे स्यन्दनाश्वैः अनूपे नौद्विपैः वृक्षगुल्मावृते चापैः, तथा स्थले असिचर्मायुधैः युध्येत ॥ ८३ ॥

समे—समप्रदेशे । स्यन्दनाश्वैः=रथघोटकैः । अनूपे = जलप्राये । नौद्विपैः = नौकाभिः गजैश्च । वृक्षगुल्मावृते = तरुभिः लताभिः आवृते प्रदेशे । चापैः =धनुर्भिः । स्थले=भूमौ । असिचर्मायुधैः=खड्गचर्मप्रभृतिशस्त्रैः । युध्येत=युद्धं कुर्यात् ॥

समतल भूमि पर रथ और घोड़ों से, जलपूर्ण स्थान में नावों तथा हाथियों से, वृक्ष और झाड़ियों से ढके हुए स्थान पर धनुष तथा स्थल भूमि पर तलवार और ढाल से युद्ध करना चाहिए ॥ ८३ ॥

दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ।
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारान्परिखास्तथा ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अस्य यवसान्नोदकेन्धनम् सततम् दूषयेत् तडागानि तथा प्राकारान् परिखा च भिन्द्यात् एव ॥ ८४ ॥

अस्य = शत्रो । यवसम् = घासम् । अन्नम् = भोज्यपदार्थम् । उदकम् = जलम् । इन्धनम् = इध्मम् । सततम् = निरन्तरम् । दूषयेत् = विषादिप्रयोगेण दूषितम् कुर्यात् । तडागानि = सरांसि । प्राकारान् परिखा = सालान् खेयानि च (किले की चहारदिवारी और खाई) भिन्द्यात् = नष्ट कुर्यात् ॥ ८४ ॥

शत्रु की घास, अन्न तथा जल आदि को (विषादि प्रयोगों से) दूषित कर देना चाहिए, तालावों किले की चहार दीवारो और खाइयो को तोड फोड देना चाहिए ॥ ८४ ॥

'बलेषु प्रमुखो हस्ती, न तथाऽन्यो महीपतेः।
निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः' ॥ ८५ ॥

अन्वयः—महीपते बलेषु (यथा) हस्ती प्रमुख तथा अन्य न (प्रमुख) निजै अवयवै मातङ्ग अष्टायुध स्मृत ॥ ८५ ॥

महीपते = नृपस्य । बलेषु = सैन्येषु । हस्ती = गज । प्रमुख = मुख्य । निजै = स्वकीयै । अवयवै = अङ्गै । मातङ्ग = गज । अष्टायुध = शुण्डपुच्छदन्तद्वयपाद-चतुष्टयै अवयवै युद्ध करोति अत अष्टायुध कथ्यते ॥ ८५ ॥

राजा की सेना मे हाथी जितना प्रधान होता है उतना और कोई नही, क्योंकि अपने अगो (१ सूंड, १ पूंछ, २ दांत तथा ४ पैर) के कारण हाथी आठ हथियारों वाला कहा जाता है ॥ ८५ ॥

'बलमश्वश्च सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे' ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सैन्यानाम् बलम् अश्व यत (स) जगम प्राकार । तस्मात् अश्वाधिक राजा स्थलविग्रहे विजयी (भवति) ॥ ८६ ॥

सैन्यानाम् = सैनिकानाम् । अश्व = घोटक । जगम = गमनशील । प्राकार = साल । अश्वाधिक = अश्वसेनाबहुल । स्थलविग्रहे = स्थलयुद्धे । विजयी = जयम् लभेत ॥ ८६ ॥

घोडा भी सेना का मुख्य बल होता है क्योंकि वह एक चलती फिरती दीवार है। इसलिए स्थल की लडाई मे अधिक घोडो वाला राजा अवश्य विजयी होता है ॥ ८६ ॥

'तथा चोक्त—'युध्यमाना हयारूढा देवानामपि दुर्जयाः।
अपि दूरस्थितास्तेषां वैरिणो हस्तवर्त्तिन.' ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हयारूढाः युध्यमानाः देवानाम् अपि दुर्जयाः (भवन्ति) तेषाम् दूरस्थिताः वैरिणः अपि हस्तवर्तिनः भवन्ति ॥ ८७ ॥

हयारूढाः = अश्वारूढाः । युध्यमानाः = युद्धं कुर्वाणाः । देवानाम् = सुराणाम् । दुर्जयाः = दुःखसाध्याः । तेषाम् = अश्वारूढानाम् । दूरस्थिताः = दूरस्थाः । वैरिणः = शत्रवः । हस्तवर्तिनः = करगताः इव भवन्ति ॥ ८७ ॥

और भी कहा गया है—

घोड़े पर चढ़ कर युद्ध करने वाले राजा को देवता भी नहीं जीत सकते हैं। क्योंकि बहुत दूरी पर रहने वाला शत्रु भी मानो उसके हाथ में ही स्थित होता है॥

'प्रथमं युद्धकारित्वं समस्तबलपालनम् ।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते' ॥ ८८ ॥

अन्वयः—प्रथमम् युद्धकारित्वम्, समस्तबलपालनम् दिङ्-मार्गाणाम् विशोधित्वम् पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८८ ॥

प्रथमम् = अग्रतः । युद्धकारित्वम् = योधनम् । समस्तबलपालनम् = सम्पूर्णसैन्यरक्षणम् । दिङ्मार्गाणाम् = समस्तदिक्पथानाम् । विशोधित्वम् = परिष्करणम् । पत्तिकर्म = पदातिकार्यम् । प्रचक्षते = कथयन्ति ॥ ८८ ॥

सभी सेनाओं के आगे होकर युद्ध करना सारी सेना की रक्षा करना तथा सभी ओर के रास्तों को साफ करना पैदल सेना के काम हैं ॥ ८८ ॥

स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स्वभावशूरम् अस्त्रज्ञम् अविरक्तम् जितश्रमम् प्रसिद्धक्षत्रियप्रायम् बलम् श्रेष्ठतमम् विदुः ॥ ८९ ॥

स्वभावशूरम् = प्रकृत्या वीरम् । अस्त्रज्ञम् = शस्त्रचालनपटुम् । अविरक्तम् = स्वपक्षम् प्रति अनुरक्तम् । जितश्रमम् = श्रमजयिनम् । प्रसिद्धक्षत्रियप्रायम् = ख्यातक्षत्रियबहुलम् । बलम् = सैन्यम् । श्रेष्ठतमम् = उत्तमम् । विदुः = जानन्ति ॥ ८९ ॥

स्वभाव से ही वीर, हथियार चलाने में निपुण, राजा के प्रति श्रद्धा रखने वाली सभी प्रकार के परिश्रम को सहन करने वाली प्रसिद्ध क्षत्रियों से भरी हुई सेना श्रेष्ठ मानी जाती है ॥ ८९ ॥

'यथा प्रभुकृतान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते' ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे भूपते यथा प्रभुकृतात् मानात् भुवि मानवा युध्यन्ते तथा दत्तै. बहुभि द्रविणै अपि न (युध्यते) ॥ ९० ॥

हे भूपते=हे राजन् । यथा = येन प्रकारेण । प्रभुकृतात् = स्वामिकृतात् । मानात्=सम्मानात् । भुवि=जगति । मानवा =मनुष्या । द्रविणै =धनै· ॥९०॥

इस ससार मे मनुष्य राजा से सम्मान पाकर जितना युद्ध करते हैं उतना अत्यधिक धन देने पर भी नहीं करते ॥ ९० ॥

'वरमल्पबलं सार न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम्' ॥ ९१ ॥

अन्वयः—सारम् अल्पबलम् वरम् (अत) मुण्डमण्डलीम् न कुर्यात् (यत) असारभङ्ग सारभङ्गमपि स्फुटम् कुर्यात् ॥ ९१ ॥

सारम्=तत्त्वयुक्तम्, दृढपराक्रमम् । अल्पबलम् = लघुसैन्यम् । वरम्= श्रेष्ठम् । मुण्डमण्डलीम्=निर्बलमनुष्यमुण्डमण्डलम् निर्बलानाम् आधिक्येन संग्रहणम् इत्यर्थ । असारभङ्ग·=निर्बलसैन्यपराजय । सारभङ्गम् = सबलशूरसैन्यपराजयम् । स्फुटम्=निश्चितम् ॥ ९१ ॥

तत्त्वयुक्त (बलवानो से पूर्ण) छोटी सेना अच्छी होती है अत सिर गिनाने के लिए व्यर्थ बहुत से साधारण व्यक्तियो को सेना में नहीं रखना चाहिए। क्योंकि बलहीन सेना के टूट जाने पर (हार कर भाग जाने पर) बलवान सेना भी तितर बितर हो जाती है ॥ ९१ ॥

'अप्रसादोऽनधिष्ठानं, देयांशहरणं च यत् ।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य कारणम् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—अप्रसाद , अनधिष्ठानम्, देयांशहरणम्, कालयाप , अप्रतीकार च तत् वैराग्यस्य कारणम् (भवति) ॥ ९२ ॥

अप्रसाद =सैनिकान् प्रति राज्ञ अकृपा, सुष्ठुकार्यकरणेऽपि पारितोषिकादिभि सम्मानाभाव । अनधिष्ठानम् = योग्यबलाध्यक्षाभाव । देयांशहरणम्= देयवेतनादिसङ्कोच । कालयाप = वेतनादिदाने विलम्ब । अप्रतीकार = सैन्यक्लेशदूरीकरणे अशक्ति । तत्=तं प्रति । वैराग्यकारणम्=सैन्यानाम् उदासीनताया· हेतु ॥ ९२ ॥

१ अप्रसाद (अच्छा कार्य करने पर भी सैनिकों को पुरस्कृत न करना), २ योग्य सेनापति की कमी, ३ दिए हुए धन को पुन छीन लेना, ४ कुछ देने मे समय गवाना (टाल मटोल करना) ५ सैनिको के कष्ट निवारण का उपाय न करना—यही पाँच सैनिको के असतोष के कारण होते हैं ॥ ९२ ॥



'अपीडयन् बलं शत्रून् जिगीषुरभिषेणयेत् ।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम्' ॥ ९३ ॥

अन्वयः—जिगीषुः बलम् अपीडयन् शत्रून् अभिषेणयेत् (यतः) दीर्घयानप्रपीडितम् द्विषाम् सैन्यम् सुखसाध्यम् (भवति) ॥ ९३ ॥

जिगीषुः = विजयेच्छुः । बलम् = सैन्यम् । अपीडयन् = अक्लेशयन् । शत्रून् = अरीन् । अभिषेणयेत् = अभियायात् (आक्रमण करे) दीर्घयानप्रपीडितम् = दीर्घमार्गपरिश्रान्तम् । द्विषाम् = शत्रूणाम् । सैन्यम् = बलम् । सुखसाध्यम् = अनायासेन जेतुं शक्यम् ॥ ९३ ॥

विजय की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि थोड़ी-थोड़ी दूर चलकर वह अपनी सेना को बिना कष्ट पहुँचाए हुए ही शत्रु पर चढ़ाई करे । क्योंकि बहुत दूरी से आने के कारण थकी हुई शत्रु की सेना आसानी से पराजित की जा सकती है ॥ ९३ ॥

'दायादादपरो यस्मान्नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः' ॥ ९४ ॥

अन्वयः—द्विषाम् भेदकरः दायादात् अपरः यस्मात् नास्ति तस्मात् तस्य विद्विषः दायादम् यत्नात् उत्थापयेत् ॥ ९४ ॥

द्विषाम् = शत्रूणाम् । भेदकरः = विघटनकारकः । दायादात् = अंशिभ्यः (पट्टीदार) अपरः अन्यः उपायः । विद्विषः=शत्रोः । दायादम् = भागिनम् । यत्नात्=प्रयत्नात् । उत्थापयेत्=तेन सह विरोधम् कारयेत् ॥ ९४ ॥

शत्रु के हिस्सेदारों के अतिरिक्त उसमें फूट उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा उत्तम उपाय नहीं होता । इसलिए बड़े प्रयत्न से शत्रु के हिस्सेदारों को उसके विपरीत खड़ा कर देना चाहिए ॥ ९४ ॥

'सन्धाय युवराजेन, यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्तःप्रकोपणं कुर्यादभियोक्ता स्थिरात्मनः' ॥ ९५ ॥

अन्वयः—युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा संधाय स्थिरात्मनः अभियोक्तुः अन्तःप्रकोपणम् कार्यम् ॥ ९५ ॥

युवराजेन=राजकुमारेण । यदि वा=अथवा । मुख्यमन्त्रिणा—प्रधानामात्येन । संधाय=कृतसंधिम् विधाय । स्थिरात्मनः—धैर्यशालिनः युद्धस्य । अभियोक्तुः युध्यमानस्य राज्ञो । अन्तःप्रकोपणम् = गृहकलहम् विद्रोहम् वा । कार्यम् = करणीयम् ॥ ९५ ॥

राजकुमार अथवा मन्त्री के साथ गुप्त संधि करके किसी व्यक्ति से इस स्थिति वाले युद्ध में उलझे शत्रु के घर में ही विद्रोह करा देना चाहिए ॥ ९ ॥

'क्रूरामित्र रणे चापि भङ्ग दत्त्वा विघातयेत् ।
अथवा गोग्रहाकृष्ट्या, तन्मुख्याश्रितबन्धनात्' ॥ ९६ ॥

अन्वयः—क्रूरामित्रम् रणे भङ्गम् दत्त्वा विघातयेत् अथवा तन्मुख्याश्रित-बन्धनात् गोग्रहाकृष्ट्या (विघातयेत्) ॥ ९६ ॥

क्रूरामित्रम्=दुष्टशत्रुम् । रणे=युद्धे । गोग्रहाकृष्ट्या=वत्सबन्धनेन गोग्रहण-वत् । तन्मुख्याश्रितबन्धनात्=दारपुत्रादिबन्धनात् । भङ्गम्=पराजयम् । विघात-येत्=हन्यात् ॥ ९६ ॥

दुष्ट शत्रु को युद्ध में पराजित करके मार डालना चाहिए अथवा जैसे बछड़ा पकड लेने से गाय स्वयम् पास आजाने से पकड ली जाती है उसी प्रकार शत्रु के सम्बन्धियों को पकड कर उसे अपने वश मे करके मरवा देना चाहिए ॥ ९६ ॥

'स्वराज्य वासयेद्राजा परदेशापहरणात् ।
अथवा दान मानाभ्यां वासितं धनदं हि तत' ॥ ९७ ॥

अन्वयः—परदेशापहरणात् राजा स्वराज्यम् वासयेत् अथवा दानमानाभ्याम् (वशीकृत्य वासयेत्) । तत् वासितम् धनदम् हि भवति ॥ ९७ ॥

परदेशापहरणात्=शत्रुदेशम् उद्वास्य । स्वराज्यम्=स्वराष्ट्रम् । दानमाना-भ्याम्=शत्रुजनान् अभयदान-सम्मानादिभि । तत् = दानमानाभ्याम् पुरस्कृतम् । धनदम्=लाभकरम् ॥ ९७ ॥

राजा को चाहिए कि शत्रु देश को उजाड कर वहाँ के लोगो को अपने देश मे ले आकर बसाए । अथवा उन्हें धन तथा सम्मान के लोभ से अपने देश मे ले आए । क्योंकि इस प्रकार बसाए गए लोगों से धन की प्राप्ति होती है ॥९७॥

अथवा किं बहुनोदितेन—

बहुनोदितेन=प्रलापाधिकेन ।

अथवा, अधिक कहने मे क्या लाभ ?

'आत्मोदयः, परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ९८ ॥

अन्वयः—आत्मोदय परग्लानि इतीयती द्वयम् नीति तद् ऊरीकृत्य कृतिभि वाचस्पत्यम् प्रतायते ॥ ९८ ॥

आत्मोदय =स्वोन्नति । परग्लानि =शत्रुहानि । इतीयती=(इति + इयती) एतावन्मात्रमेव । नीति = राजनीतिसारम् । तत्=उक्तद्वयम् नीतितत्त्वम् ।

स्फीतस्य=स्फीतस्य । कविभिः=विद्वद्भिः । बाहुल्यम्=व्याप्तिम् । प्रतन्यते=प्रकाश्यते ॥ ९८ ॥

अपनी उन्नति और शत्रु की अवनति—यही दो प्रधान नीति हैं। इन्हीं को ग्रहण करके विद्वान् अपनी निपुणता प्रकट करते हैं ॥ ९८ ॥

राजा विहस्योक्तवान्—'सर्वमेतद्विशेषत उपपद्यते । किन्तु—

उच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियमयन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ? ॥ ९९ ॥

अन्वयः—उच्छृङ्खलं सत्त्वम् अन्यत् शास्त्रनियन्त्रितम् (सत्त्वम् अन्यत्) तेजस्तिमिरयोः सामानाधिकरण्यं हि कुतः (भवेत्) ॥ ९९ ॥

उच्छृङ्खलम्=मर्यादाहीनम् स्वेच्छया प्रवर्तितम् इति भावः । सत्त्वम्=पराक्रमः । अन्यत्=अन्यविधम् । शास्त्रनियन्त्रितम्=शास्त्रविधिना मर्यादितम् । तेजस्तिमिरयोः=प्रकाशान्धकारयोः । सामानाधिकरण्यम्=एकाधारस्थितिः । कुतः=कथम् ॥ ९९ ॥

राजा ने हँस कर कहा—'विशेषतः यह सभी ठीक है। किन्तु—

किसी प्रकार की मर्यादा न रखने वाला पराक्रम और होता है तथा शास्त्र द्वारा नियन्त्रित बल दूसरा होता है। भला प्रकाश और अन्धकार दोनों की एकत्र स्थिति कैसे हो सकती है ? ॥ ९९ ॥

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकावेदितलग्ने प्रस्थितः ।

ततः=तदनन्तरम् । राजा=नृपः । उत्थाय=सभायाः उत्थानम् कृत्वा । मौहूर्तिकावेदितलग्ने=ज्योतिषिकोक्तशुभमुहूर्ते । प्रस्थितः=युद्धाय चलितः ।

इसके बाद राजा ने उठकर ज्योतिषियों के द्वारा बताए गए शुभ लग्न में प्रस्थान किया ।

अथ प्रहितप्रणिधिश्चरो हिरण्यगर्भमागत्य प्रणम्योवाच—'देव ! समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । सम्प्रति मलयपर्वताधित्यकायां समावासितकटको वर्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसन्धातव्यम् । यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किं च केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैतदिङ्गितमवगतं मया, यत्—'अनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः । चक्रवाको ब्रूते—देव ! काक एवासौ सम्भवति ।

प्रहितप्रणिधिः=प्रेषितगुप्तचरः । हिरण्यगर्भम्=तन्नामानम् राजहंसम् । आगत्य=उपेत्य । संप्रति=इदानीम् । मलयपर्वताधित्यकायाम्=मलयाचलस्य ऊर्ध्वप्रदेशे । समावासितकटकः=स्थापितसैन्यः (डेरा डाले हुए) । वर्तते—

विद्यते। दुर्गशोधनम्=दुर्गान्वेषणम्। अनुसंधातव्यम्=अन्वेषणीयम्। महामन्त्री=कूटनीतिज्ञ। विश्वासकथाप्रसंगेन=गुप्तवार्ताप्रकरणेन। तदिङ्गितम्=गृध्रस्य संकेतम्। अवगतम्=ज्ञातम्। प्रागेव=अभियानात्पूर्वमेव। कोऽपि=गुप्तचरः। नियुक्त=वस्तु प्रेषित।

इसके पश्चात् प्रधान गुप्तचर द्वारा भेजे गए दूत ने हिरण्यगर्भ के पास आकर कहा—राजन् राजा चित्रवर्ण अब यहाँ आना ही चाहते हैं। इस समय मलय पहाड़ पर डेरा डाले सेना के साथ पड़े हैं। आप अपने दुर्ग का निरीक्षण हर क्षण कराते रहें। क्योंकि उसका मन्त्री गीध है। उसके किसी गुप्त बातचीत के प्रसंग से मुझे उसका यह संकेत मालूम हुआ है कि उसने हमारे किले में किसी को पहले से ही नियुक्त कर रखा है।' चकवे ने कहा—'राजन्, वह गुप्त दूत यह कौवा ही हो सकता है।'

राजाह—'न कदाचिदेतत्। यद्येवं तदा कथं तेन शुकस्याभिभवोद्योगः कृतः? अपरञ्च शुकस्यागमनात्तस्य विग्रहोत्साहः। स च चिरादत्रास्ते।' मन्त्री ब्रूते—'तथाप्यागन्तुकः शङ्कनीयः।' राजाह—आगन्तुका अपि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते। शृणु—

अभिभवोद्योग=तिरस्करणाय प्रयत्न। विग्रहोत्साह=युद्धोत्साह। स च=काक। चिरात्=बहुकालात्। अत्रास्ते=अत्रैव वर्तते। आगन्तुक=अज्ञातकुलशील आगन्तुक।

राजा ने कहा—'यह कभी नहीं हो सकता है। यदि ऐसा होता तो वह सुग्गे को अपमानित करने का प्रयत्न ही क्यों करता? इसके अतिरिक्त तोते के आने के समय से ही उसमें (राजा चित्रवर्ण में) युद्ध करने का उत्साह हुआ है। यह कौवा तो यहाँ बहुत दिनों से है।' मन्त्री ने कहा—'फिर भी आगन्तुक संदेहास्पद होता है।' राजा ने कहा—'कभी कभी आने वाले बड़े ही लाभदायक होते हैं। सुनो—

'परोऽपि हितवान्बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्' ॥ १०० ॥

अन्वयः—हितवान्परः अपि बन्धुः, अहितः बन्धुः अपि परः (भवति यतः) देहजः व्याधिः अहितः, आरण्यम् औषधम् हितमेव ॥ १०० ॥

हितवान्=शरीरोत्पन्न। व्याधि=रोग। अहित=क्षतिकारक। पर=शत्रु। देहज=शरीरोत्पन्न। व्याधि=रोग। अहित=क्षतिकारक। आरण्यम्=वनोद्भवम्। औषधम्=भेषजम्। हितम्=हितकारकम् ॥ १०० ॥

चम् = अहोरात्रम्। खड्गपाणिः = कृपाणहस्तः। सेवते = राजानम् अनुसरति। समाश्रितः = आश्रयप्राप्तः।

राजा ने पुरस्कार रूप में उस वेतन के खर्च का ब्यौरा भी मालूम किया। वीरवर ने उसका आधा देवताओं तथा ब्राह्मणों के लिए खर्च किया। शेष का आधा दुखियों को दे दिया और उससे बचे हुए धन को भोजन तथा विलास में खर्च किया। इसी प्रकार प्रतिदिन व्यय करके वह रातदिन हाथ में तलवार लिए राजद्वार पर खड़ा रहता था। जब राजा स्वयम् आज्ञा देता था तभी वह अपने घर भी जाता था।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स राजा सकरुणक्रन्दनध्वनिं शुश्राव। ततः श्रुत्वा राजा ब्रूते— 'कः कोऽत्र द्वारि तिष्ठति'?

सकरुणम् = सदयम्। क्रन्दनध्वनिम् = रोदनशब्दम्। शुश्राव = अशृणोत्। कः कः अत्र द्वारि—कः द्वारदेशे अत्र वर्तते।

एक बार कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को आधी रात के समय राजा ने करुण क्रन्दन से भरी रोने की ध्वनि सुनी? सुन के कहा—द्वार पर कौन है?

तदा तेनोक्तं—'देव! अहं वीरवरः।' राजोवाच 'क्रन्दनानुसरणं क्रियताम्।' वीरवरोऽपि—'यथाज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः।

क्रन्दनानुसरणम्=रोदनानुगमनम्।

उसने कहा—'राजन् मैं वीरवर हूँ।' राजा ने कहा—'जाकर रोने का पता लगाओ।' 'आपकी जैसी आज्ञा'—यह कह कर वीरवर चल दिया।

राज्ञा च चिन्तितम्—'अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि प्रहितः। नैतदुचितम्। तदहमपि गत्वा 'किमेतत्' इति निरूपयामि।'

ततो राजापि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। गत्वा च वीरवरेण रुदती रूपयौवनसम्पन्ना सर्वालङ्कारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा पृष्टा च— 'का त्वम्? किमर्थं रोदिषि?' इति। स्त्रियोक्तम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता इदानीमन्यत्र गमिष्यामि।' वीरवरो ब्रूते— यत्रापायः सम्भवति तत्रोपायोऽप्यस्ति तत्कथं स्यात्पुनरिहावासो भवत्याः?'

निरूपयामि = अवलोकयामि। नैतदुचितम् = न च इदम् समुचितम्। सूचीभेद्ये = अतिघने। नगरात् बहिः = ... । अभ्युदितम् ... ।

ीरवरमनुसृत्य । तदनुसरणक्रमेण=वीरवरमनुसरन् । रुदती=रोदनम् कुर्वन्ती । रूपयौवनसपन्ना=सौन्दर्यतारुण्ययुक्ता । सर्वालङ्कारभूषिता=सर्वाभूषणै सुशोभिता । रोदिषि=रोदन करोषि । भुजच्छायायाम्=आश्रये । सुखेन विश्रान्ता=आनन्देनावस्थिता । अपाय: = तत्र निवसने विपत्ति । उपाय = तत्रावस्थातुं साधनम् । इहावास =अत्र स्थिति ।

राजा ने विचार किया—'यह मैंने ठीक नहीं किया जो इस राजकुमार को इस घने अन्धकार मे अकेले ही भेज दिया। इसलिए इसके पीछे पीछे चलकर देखूं कि क्या बात है।'

तब राजा भी हाथ मे तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे चलता हुआ नगर के बाहर पहुँचा। वीरवर ने आगे जाकर सभी गहनो से सुशोभित किसी सुन्दरी युवती स्त्री को रोते हुए देखा और पूछा-'तुम कौन हो? और क्यो रो रही हो?।' स्त्री ने कहा—'मैं इस शूद्रक की राज्यलक्ष्मी हूँ। बहुत दिनों तक इसकी भुजाओ की छाया मे सुख से निवास करती रही। अब दूसरी जगह चली जाऊँगी।' वीरवर ने कहा— जहाँ बाधा होती है, वहीं उसके दूर करने का उपाय भी होता है। तो आप किस उपाय से फिर यहाँ रह सकती हैं?'

लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि'। इत्युक्त्वादृश्याभवत्।

द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतम्=महापुरुषाणाम् द्वात्रिंशल्लक्षणै युक्तम्। सर्वमङ्गलाया = दुर्गाया ।

लक्ष्मी ने कहा—'यदि तुम बत्तीस लक्षणों से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को भगवती दुर्गा के लिए भेंट चढ़ा दो तो मैं फिर यहाँ बहुत दिनो तक रह सकती हूँ।' ऐसा कहकर वह अदृश्य हो गयी।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता, पुत्रश्च। तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ। वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—'धन्योऽहमेवंभूतः, स्वामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः। तात! तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः?। एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः। यतः—

निद्रायमाणा = निद्रालसा । स्ववधू =स्वपत्नी । प्रबोधिता = उत्थापिता । देहस्य=शरीरस्य । विनियोगः = व्यय । श्लाघ्य =प्रशस्य ।

भलाई चाहने वाला शत्रु भी अपना भाई तथा नुकसान चाहने वाला भाई भी शत्रु होता है। शरीर से ही उत्पन्न होने वाला रोग कष्टदायक होता है किन्तु जंगल में पैदा होने वाली दवा लाभदायक होती है ॥ १ ॥

अपरञ्च—'आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः।
सेवकः, स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—महीभृतः शूद्रकस्य वीरवरः नाम सेवकः आसीत् स स्वल्पकालेन आत्मनः सुतम् ददौ ॥ १ १ ॥

महीभृत = राजा। सेवकः = अनुचरः। स्वल्पकालेन = स्वल्पकालपरिच्छेदेन। आत्मनः = स्वस्य। सुतम् = पुत्रम्। ददौ—नृपहिताय बलिं ददात् ॥

और भी—

राजा शूद्रक का वीरवर नामक एक सेवक था जिसने थोड़े ही समय में राजा की भलाई के लिए अपने पुत्र को भी दे दिया था ॥ १ १ ॥

चक्रवाकः पृच्छति—'कथमेतत्?' राजा कथयति—

चकवे ने कहा— यह कैसे? राजा ने कहा—

कथा ८

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राजहंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहानुरागवानभवम्। राजद्वारमुपगम्य नाम [महान्] राजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य, राजद्वारमुपगम्य प्रतीहारमुवाच—'अहं तावद्वर्तनार्थी राजपुत्रः मां राजदर्शनं कारय।' ततस्तेनासौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते—'देव! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति तदास्मद्वर्तनं क्रियताम्।'

क्रीडासरसि = केलिसरोवरे। अनुरागवान्—अनुरक्तः। प्रतीहारम् = द्वाररक्षकम्। वर्तनार्थी=आजीविकार्थी। राजपुत्र=राजकुमार। दर्शनम्=भेंट।

आज से बहुत दिनों पहिले मैं राजा शूद्रक के क्रीडासरोवर में रहने वाले कर्पूरकेलि नाम के राजहंस की पुत्री कर्पूरमञ्जरी से प्रेम करने लगा था। (इसलिए वहीं रहता भी था) एक दिन वीरवर नाम का एक राजकुमार कहीं से आया और राजद्वार पर पहुँच कर उसने द्वारपाल से कहा—मैं जीविका का इच्छुक एक राजकुमार हूँ अतः तुम मुझे राजा का दर्शन करा दो।

द्वारपाल ने उसे राजा का दर्शन करा दिया तब राजकुमार ने कहा—'राजन् यदि आप मुझे अपनी सेवा मे रखना चाहते हो तो मेरा वेतन निश्चित कर दीजिए।'

शूद्रक उवाच—'किं ते वर्त्तनम्?' वीरवरो ब्रूते—'प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि'। राजाह—'का ते सामग्री?' वीरवरो ब्रूते—'द्वौ बाहू, तृतीयश्च खड्गः।' राजाह—'नैतच्छक्यम्।'

प्रत्यहम्=प्रतिदिनम्। सुवर्णपञ्चशतानि=पञ्चशतानि दीनाराणि। सामग्री=सेवासाधनम्। एतत्=एतावत् वेतनम्।

शूद्रक ने कहा—'तुम्हारा वेतन क्या होगा?' वीरवर ने कहा—'प्रतिदिन पाँच सौ मुद्रा दीजिए'। राजा ने कहा—'तुम्हारे पास सेवा के साधन क्या हैं?' वीरवर ने कहा—'दो भुजाएँ तथा तीसरी तलवार।' राजा ने कहा—'इतना वेतन तो नही दिया जा सकता है।'

तच्छ्रुत्वा वीरवरः प्रणम्य चलितः। अथ मन्त्रिभिरुक्तम्—'देव! दिनचतुष्टयस्य वर्त्तनं दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपं, किमुपयुक्तोऽयमेतावद् वर्त्तनं गृह्णाति, अनुपयुक्तो वे'ति?' ततो मन्त्रिवचनादाहूय वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि।

अस्य स्वरूपम्=वीरवरस्य अन्तस्तत्त्वम्, वेतनयोग्यम् गुणमित्यर्थं। उपयुक्त=उचित। ताम्बूलम् दत्त्वा=(पान देकर) तस्य सेवाम्, वर्तनम् च स्वीकृत्य।

यह सुनकर वीरवर प्रणाम करके चल दिया। इसके पश्चात् मन्त्रियो ने कहा—'राजन्, चार दिन का वेतन देकर इसकी वास्तविकता समझिए कि यह इतना वेतन उचित ढग से ले रहा है अथवा अनुचित ढग से।' तब मन्त्रियो की बात मान कर राजा ने वीरवर को बुलवाया और उसे पान देकर पाँच सौ अशर्फियाँ दे दी।

वर्त्तनविनियोगश्च राज्ञा सुनिभृतं निरूपितः। तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। स्थितस्यार्द्धं दुःखितेभ्यः, तदवशिष्टं भोज्यविलासव्ययेन। एतत्सर्वं नित्यकृत्यं कृत्वा, राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते। यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि याति।

तद्विनियोग=गृहीतवेतनव्ययप्रकार। सुनिभृतम्=प्रच्छन्नम्। निरूपित=ज्ञात। तदर्धम्=प्राप्तवेतनार्धम्। स्थितस्यार्धम्=शेषस्यार्धम्। भोज्यव्ययविलासव्ययेन=भोजनामोदादिव्ययेन। नित्यकृत्यम्=नित्याचरणम्। अहर्नि-

तम् — महोत्सवम्। खड्गपाणि = कृपाणहस्त। सेवते — राजानम् अनुसरति। समाविशति — आगच्छति।

राजा ने गुप्त रूप से उस वेतन के खर्च का ब्योरा भी मालूम किया। वीरवर ने उसका आधा देवताओं तथा ब्राह्मणों के लिए खर्च किया। शेष का आधा दुखियों को दे दिया और उससे बचे हुए धन को भोजन तथा विलास में खर्च किया। इसी प्रकार प्रतिदिन व्यय करके वह रातदिन हाथ में तलवार लिए हुए राजद्वार पर खड़ा रहता था। जब राजा स्वयम् आज्ञा देता था तभी वह अपने घर भी जाता था।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स राजा सकरुणक्रन्दनध्वनिं शुश्राव। तच्छ्रुत्वा राजा ब्रूते—'कः कोऽत्र द्वारि तिष्ठति'?

एकदा = कदाचित्। क्रन्दनध्वनिम् = रोदनशब्दम्। शुश्राव = अशृणोत्। कः कः अत्र द्वारि—कः कः द्वाररक्षक अत्र वर्तते।

एक बार कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की आधी रात के समय राजा ने अत्यन्त करुणा से भरी रोने की ध्वनि सुनी? सुनकर ने कहा—'द्वार पर कौन है?

तदा तेनोक्तम्—'देव! अहं वीरवरः।' राजोवाच 'क्रन्दनानुसरणं क्रियताम्।' वीरवरोऽपि—'यथाज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः।

क्रन्दनानुसरणम्=रोदनानुगमनम्।

उसने कहा—'राजन् मैं वीरवर हूँ।' राजा ने कहा—'जाकर रोने का पता लगाओ।' 'श्रीमान् की जैसी आज्ञा'—यह कह कर वीरवर वहाँ से चल पड़ा।

राज्ञा च चिन्तितम्—अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि प्रहितः। नैतदुचितम्। तदहमपि गत्वा 'किमेतदि'ति निरूपयामि।'

ततो राजापि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। गत्वा (च) वीरवरेण रुदती रूपयौवनसम्पन्ना सर्वालङ्कारभूषिता कापि स्त्री दृष्टा पृष्टा च—'का त्वम्? किमर्थं रोदिषि?' इति। स्त्रियोक्तम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता, इदानीमन्यत्र गमिष्यामि।' वीरवरो ब्रूते—'यत्रापायः सम्भवति तत्रोपायोऽप्यस्ति तत्कथं स्यात्पुनरिहावासो भवत्याः?'

चिन्तितम् = मनस्यालोचितम्। नैतद् उचितम् = तस्य प्रेषणम् अनुचितम्। सूचीभेद्ये = गाढे। तमसि—अन्धकारे। प्रहितः—प्रेषितः। तदनु इत्यपि गत्वा—

वीरवरमनुसृत्य । तदनुसरणक्रमेण=वीरवरमनुसरन् । रुदती=रोदनम् कुर्वन्ती । रूपयौवनसपन्ना=सौन्दर्यतारुण्ययुक्ता । सर्वालङ्कारभूषिता=सर्वाभूषणै सुशोभिता । रोदिषि=रोदनं करोषि । भुजच्छायायाम्=आश्रये । सुखेन विश्रान्ता=आनन्देनावस्थिता । अपाय' = तत्र निवसने विपत्ति । उपाय = तत्रावस्यातुं साधनम् । इहावास =अत्र स्थिति ।

राजा ने विचार किया—'यह मैंने ठीक नहीं किया जो इस राजकुमार को इस घने अन्धकार मे अकेले ही भेज दिया। इसलिए इसके पीछे-पीछे चलकर देखूं कि क्या बात है।'

तब राजा भी हाथ में तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे चलता हुआ नगर के बाहर पहुँचा। वीरवर ने आगे जाकर सभी गहनो से सुशोभित किसी सुन्दरी युवती स्त्री को रोते हुए देखा और पूछा-'तुम कौन हो ? और क्यो रो रही हो ?।' स्त्री ने कहा—'मैं इस शूद्रक की राज्यलक्ष्मी हूं। बहुत दिनों तक इसकी भुजाओ की छाया मे सुख से निवास करती रही। अब दूसरी जगह चली जाऊँगी।' वीरवर ने कहा— जहाँ बाधा होती है, वही उसके दूर करने का उपाय भी होता है। तो आप किस उपाय से फिर यहाँ रह सकती हैं ?'

लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्र शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाह पुनरत्र सुचिरं निवसामि'। इत्युक्त्वादृश्याभवत्।

द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतम्=महापुरुषाणाम् द्वात्रिंशल्लक्षणै युक्तम्। सर्वमङ्गलाया.=दुर्गाया ।

लक्ष्मी ने कहा—'यदि तुम बत्तीस लक्षणों से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को भगवती दुर्गा के लिए भेंट चढ़ा दो तो मैं फिर यहाँ बहुत दिनो तक रह सकती हूं।' ऐसा कहकर वह अदृश्य हो गयी।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता, पुत्रश्च। तौ निद्रा परित्यज्योत्थायोपविष्टौ। वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—'धन्योऽहमेवंभूतः, स्वामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः। तात ! तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः ?। एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोग. श्लाघ्यः। यतः—

निद्रायमाणा = निद्रालसा। स्ववधू' =स्वपत्नी। प्रबोधिता = उत्थापिता। देहस्य=शरीरस्य। विनियोग. = व्यय.। श्लाघ्य =प्रशस्य ।

तब वीरवर ने घर जाकर सोते हुए अपने स्त्री-पुत्र को जगाया। वह दोनों नींद छोड़कर उठ बैठे। वीरवर ने लक्ष्मी द्वारा कही गई सारी बातें उन्हें सुना दी। उसे सुनकर आनन्द के साथ शक्तिधर ने कहा—"मैं अत्यन्त धन्य हूँ क्योंकि आज स्वामी के राज्य की रक्षा में मेरे इस शरीर का इतना प्रशंसनीय उपयोग हो रहा है। तो फिर विलम्ब क्यों हो रहा है। इस प्रकार के कार्य में इस शरीर का नष्ट करना अत्यन्त प्रशंसनीय है। क्योंकि—

'धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
तन्निमित्तो वरं त्यागो विनाशे नियते सति' ॥ १०२ ॥

अन्वयः—प्राज्ञः धनानि जीवितं चैव परार्थे उत्सृजेत्, विनाशे नियते सति तन्निमित्तः त्यागः वरम् ॥ १०२ ॥

प्राज्ञः = बुद्धिमान्। धनानि = द्रव्याणि। जीवितम्=प्राणांश्च। परार्थे=पर हिताय। उत्सृजेत् = त्यजेत्। विनाशे नियते = विनाशे निश्चिते। तन्निमित्तः = परहिताय। वरम्=श्रेष्ठम् ॥ १०२ ॥

बुद्धिमान् धन तथा जीवन दोनों ही दूसरों की भलाई के लिए समर्पित कर देते हैं। जब इस शरीर का विनाश निश्चित है ही तो परोपकार के लिए इसे त्याग देना ही श्रेष्ठ है ॥ १०२ ॥

शक्तिधरमातोवाच—'यद्येतन्न कर्तव्यं तत्केनान्येन कर्मणा गृहीतस्य महावर्तनस्य निष्क्रयो भविष्यति।' इत्यालोच्य सर्वे सर्वमङ्गलायाः स्थानं गताः। तत्र सर्वमङ्गलां सम्पूज्य वीरवरो ब्रूते—देवि! प्रसीद विजयतां शूद्रको महाराजः, गृह्यतामयमुपहारः।' इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद। ततो वीरवरश्चिन्तयामास—'गृहीतराजवर्तनस्य निस्तारः कृतः। अधुना निष्पुत्रस्य मे जीवनेनालम्।' इत्यालोच्यात्मनः शिरश्चिच्छेद।

नद् न कर्तव्यम्=स्वामिहिताय पुत्रत्यागं न कार्यं। महावर्तनस्य=बहुमूल्यवेतनस्य। निष्क्रयः=निस्तारः। आलोच्य=विचार्य। प्रसीद=प्रसन्ना भव। उपहारः=दानम्। निस्तारः=आनृण्यम्। निष्पुत्रस्य=पुत्रहीनस्य।

शक्तिधर की माता ने कहा—"यदि यह कार्य नहीं किया जायगा तो फिर और किस कार्य द्वारा इतने बड़े वेतन लेने का बदला चुकाया जा सकेगा?" ऐसा विचार कर सब लोग भगवती दुर्गा के मन्दिर में गये। वहाँ देवी की पूजा करके वीरवर ने कहा—देवि प्रसन्न हो जाओ। महाराज शूद्रक की जय हो।

यह भेंट स्वीकार करें।' ऐसा कहकर उसने पुत्र का सिर काट दिया। इसके बाद वीरवर ने विचार किया कि राजा द्वारा प्राप्त वेतन का ऋण चुका दिया। अब पुत्रहीन जीवन तो व्यर्थ है ऐसा सोचकर उसने अपना सिर भी काट दिया।

ततः स्त्रियापि स्वामि-पुत्रशोकार्त्तया तदनुष्ठितम्। तत्सर्वं दृष्ट्वा राजा साश्चर्यं चिन्तयामास—

स्वामिपुत्रशोकार्तया = पतिपुत्रशोकव्यथया। तदनुष्ठितम् = स्वशिरश्छेदनम् विहितम्। चिन्तयामास=विचारितवान्।

तब उसकी स्त्री ने भी पति-पुत्र के शोक से दुखी होकर वही किया (अपना सिर काट दिया)। यह सब देखकर आश्चर्य मे पड़े हुए राजा ने विचार किया—

'जायन्ते च, म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः।
अनेन सदृशो लोके न भूतो, न भविष्यति' ॥ १०३ ॥

अन्वयः—मद्विधा क्षुद्रजन्तव जायन्ते म्रियन्ते च (किन्तु) अनेन सदृश. लोके न भूत न भविष्यति ॥ १०३ ॥

मद्विधा =मत्सदृशा। जायन्ते=उत्पद्यन्ते। म्रियन्ते=मरणं प्राप्नुवन्ति। क्षुद्रजन्तव =क्षुद्रजीवा। अनेन=वीरवरेण। सदृश =तुल्य ॥ १०३ ॥

'मेरे जैसे तुच्छ प्राणी ही जन्म लेते और मरते रहते हैं किन्तु इसके समान न तो कोई हुआ न होगा' ॥ १०३ ॥

तदेतत्परित्यक्तेन मम राज्येनापि किं प्रयोजनम्।' ततः शूद्रकेणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः। अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया प्रत्यक्षभूतया राजा हस्ते धृत, उक्तश्च—'पुत्र! प्रसन्नोऽस्मि ते, एतावता साहसेनालम्। जीवनान्तेऽपि तव राजभङ्गो नास्ति।'

तदेतेन = तत वीरवरेण। परित्यक्तेन = विरहितेन। समुत्थापित =समुत्तोलित। साहसेनालम्=साहस मा कुरु। राजभग =राज्यविनाश।

अत इसे छोडकर मैं अब राज्य लेकर क्या करूँगा।' तब शूद्रक ने भी अपना सिर काटने के लिए तलवार उठा ली। इसी बीच भगवती दुर्गा ने राजा का हाथ पकडते हुए कहा—'पुत्र' मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अब इतने साहस की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे जीवन का अत हो जाने पर भी तुम्हारे राज्य का विनाश नहीं होगा।'

राजा च साष्टाङ्गपात प्रणम्योवाच—'देवि! किं मे राज्येन? जीवितेन वा किं प्रयोजनम्?। यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममायुःशेषेणाप्ययं सदारपुत्रो वीरवरो जीवतु। अन्यथाहं यथाप्राप्तां गतिं

गच्छामि।' भगवत्युवाच—पुत्र! अनेन ते सत्त्वोत्कर्षेण, भृत्यवात्सल्येन च सर्वथा सन्तुष्टोऽस्मि। गच्छ विजयी भव। अयमपि सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु। इत्युक्त्वा देव्यदृश्याभवत्। ततो वीरवरः सपुत्रदारः प्राप्तजीवनः स्वगृहं गतः। राजापि तैरलक्षितः सत्वरमन्तःपुरं प्रविष्टः।

जीवितेन=प्राणैः। किं प्रयोजनम्=किं फलम्। अनुकम्पनीय—कृपापात्रः। सदारपुत्र—पत्नीपुत्रसहित। यथाप्राप्तां गतिम्=वीरवरेण प्राप्तवान् मृत्युमित्यर्थः। सत्त्वोत्कर्षेण=धीरतातिशयेन। भृत्यवात्सल्येन=सेवकप्रेम्णा। सर्वथा=सर्वप्रकारेण। संतुष्टा=प्रसन्ना। तैः=वीरवरादिभिः। अलक्षित=अदृष्टः। अन्तःपुरम्=स्त्रीवासगृहे (रनिवास)।

राजा ने साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा—देवि मुझे राज्य अथवा अपने जीवन से भी कोई प्रयोजन नहीं है। यदि आप मेरे ऊपर कृपा ही करना चाहती हैं तो मेरी बची हुई आयु से पत्नी-पुत्र के साथ यह वीरवर जीवित हो जाए। नहीं तो मैं भी इसी की गति प्राप्त करूँगा (मैं भी अपना सिर काट डालूँगा)। देवी ने कहा—'पुत्र मैं तुम्हारे इस अत्यन्त उत्कृष्ट साहस और सेवक के प्रति प्रदर्शित प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। जाओ। विजयी बनो। यह राजकुमार भी सपरिवार जीवित हो जाय।' ऐसा कहकर देवी अदृश्य हो गई। फिर वीरवर भी स्त्री-पुत्र के साथ घर चला गया। राजा भी उनसे छिपकर शीघ्र ही रनिवास में चला गया।

अथ प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्भूपालेन पृष्टः सन्नाह—देव! सा रुदती मामवलोक्यादृश्याभवत्। न काप्यन्या वार्ता विद्यते। तद्वचनमाकर्ण्य सन्तुष्टो राजा साश्चर्यं चिन्तयामास—'कथमयं श्लाघ्यो महासत्त्वः'। यतः—

इसके पश्चात् प्रातःकाल द्वार पर स्थित वीरवर ने राजा के फिर पूछने पर कहा—'राजन् वह रोने वाली मुझे देखकर अदृश्य हो गयी। और कोई दूसरी बात नहीं है।' उसकी बात सुनकर राजा ने विचार किया—यह महापुरुष कितना प्रशंसनीय है। क्योंकि—

> प्रियं ब्रूयादकृपणः, शूरः स्यादविकत्थनः।
> दाता नापात्रवर्षी च प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः' ॥ १०४ ॥

अन्वयः—अकृपणः प्रियम् ब्रूयात्, शूरः अविकत्थनः स्यात्, दाता अपात्रवर्षी न, प्रगल्भः च अनिष्ठुरः स्यात् ॥ १०४ ॥

अकृपण =दानशील । प्रियम् ब्रूयात्=मधुरं वचनम् उच्चरेत् । शूर =वीरः अविकत्थन = आत्मश्लाघारहित । स्यात् = भवेत् । अपात्रवर्षी = कुपात्रप्रद । प्रगल्भ =तेजसान्वित । अनिष्ठुर = अक्रूर ॥ १०४ ॥

उदार को प्रिय बोलना चाहिए, वीर को आत्मश्लाघी नहीं होना चाहिए, दानी को अपात्र (अयोग्य) व्यक्ति के लिए दान नहीं देना चाहिए तथा प्रगल्भ को निष्ठुर नहीं होना चाहिए ॥ १०४ ॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति ।' ततः स राजा प्रातः शिष्टसभां कृत्वा, सर्वं वृत्तान्तं प्रस्तुत्य, प्रसादात्तस्मै कर्णाटकराज्यं ददौ । तत्किमागन्तुको जातिमात्राद् दुष्टः ? । तत्राप्युत्तमाधममध्यमाः सन्ति । चक्रवाको ब्रूते—

एतस्मिन्=वीरवरे । शिष्टसभाम्=शिष्टानाम् सभाम् । सर्वं वृत्तान्तम् = वीरवरेण रात्रौ यत्कृतम् । तत्सर्वम् । प्रस्तुत्य=समक्ष कृत्वा । आगन्तुक = अतिथि. । तत्रापि=आगन्तुकेषु अपि ।

इसमें ये सभी महापुरुष के लक्षण वर्तमान हैं ।' इसके पश्चात् प्रात काल राजा ने शिष्टों की सभा करके सभी घटना कह सुनाई और प्रसन्न होकर उसे कर्नाटक का राज्य दे दिया । तो क्या आगन्तुक जातिमात्र से ही दुष्ट होते हैं । उसमें भी उत्तम, मध्यम और अधम हैं ।' चकवे ने कहा—

'योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेच्छया ।
वरं स्वामिमनोदुःखं, तन्नाशो न त्वकार्यतः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—य (मन्त्री) नृपेच्छया अकार्यम् कार्यवत् शास्ति स किंमन्त्री । स्वामिमनोदु खम् वरम् (किन्तु) अकायत तन्नाश न वरम् ॥ १०५ ॥

नृपेच्छया=राज्ञ इच्छानुसारेण । अकार्यम्=अनुचितम् कार्यमपि । कार्यवत्= उचितकार्यसदृशम् । शास्ति = उपदिशति । स किंमन्त्री = स दुर्मन्त्री भवति । स्वामिमनोदु खम्=राजहृदयपीडा । वरम्=श्रेय. । अकायत =अकार्यस्य करणाय उपदेशात् । तन्नाश =नृपविनाश ॥ १०५ ॥

जो मन्त्री केवल राजा की इच्छा से ही न करने योग्य कार्य को भी करणीय कार्य के समान बताता है वह दुष्ट होता है । स्वामी का मन दु खी हो जाना तो ठीक है किन्तु बुरे कर्म के उपदेश से उसका विनाश करा देना ठीक नहीं ॥१०५॥

'वैद्यो, गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदाः ।
शरीर धर्म-कोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते' ॥ १०६ ॥

अन्वयः—यस्य राज्ञः वैद्यः गुरुः मन्त्री च प्रियंवदाः भवन्ति सः (राजा) शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रम् परिहीयते ॥ १०६ ॥

यस्य राज्ञः=नृपस्य । वैद्यः=चिकित्सकः । गुरुः=उपदेशकः । प्रियंवदाः=राज्ञः हृदयानुसारेण प्रियवक्तारः । शरीरधर्मकोशेभ्यः=देहधर्मकोशेभ्यः । क्षिप्रम्=शीघ्रम् । परिहीयते=हीनो भवति ॥ १०६ ॥

जिस राजा के वैद्य गुरु तथा मंत्री सर्वदा उसकी प्रिय बातों का ही ध्यान रखते हैं वह शरीर धर्म और खजाने से शीघ्र ही रहित हो जाता है ॥१०६॥

अन्यच्च—देव !

'पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममापि भविष्यति ।
हत्वा भिक्षुं यतो मोहान्निध्यर्थी नापितो हतः ॥ १०७ ॥

राजा पृच्छति—'कथमेतत्' । मन्त्री कथयति—

अन्वयः—एकेन पुण्यात् यत् लब्धम् तत् ममापि भविष्यति—(इति) निध्यर्थी नापितः यतः मोहात् भिक्षुं हत्वा (स्वयं) हतः ॥ १०७ ॥

एकेन=केनापि पुरुषेण । पुण्यात्=विगतपूर्वजन्मकृतात् धर्मेण । लब्धम्=प्राप्तम् । निध्यर्थी=धनार्थी । हतः=मृतः ॥ १०७ ॥

हे राजन् सुनो—

किसी ने पुण्य से कुछ पा लिया तो वैसा ही मेरे लिए भी हो जाएगा । ऐसा ही सोचकर धन के अभिलाषी नाई ने लोभ में आकर भिक्षुक को मार डाला जिससे स्वयम् भी मारा गया ॥ १०७ ॥

राजा ने पूछा—यह कैसे हुआ । मंत्री ने कहा—

कथा ९

अस्त्ययोध्यायां पुरि चूडामणिर्नाम क्षत्रियः । तेन धनार्थिना महता क्लेशेन भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिरमाराधितः । ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणादिष्टो यत्-त्वमद्य प्रातः क्षौरं कारयित्वा, लगुडहस्तः सन् स्वगृहद्वारि निभृतं स्थास्यसि ततो यमेवागतं भिक्षुकं प्राङ्गणे पश्यसि तं निर्दयं

लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततोऽसौ भिक्षुकस्तत्क्षणात् सुवर्णकलसो भविष्यति । तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम् । ततस्तथानुष्ठिते तद् वृत्तम् ।

धनार्थिना=द्रव्याकाङ्क्षिणा । क्लेशेन=कष्टकरेण साधनेन । चन्द्रार्धचूडामणि=भगवान् शिव । आराधित=सेवित पूजितश्च । क्षीणपाप=नष्टदुष्कर्मा । यक्षेश्वरेण=कुबेरेण । लगुडं हस्ते कृत्वा=यष्टिम् गृहीत्वा । आदिष्ट=आज्ञप्त । निभृतम्=प्रच्छन्नो भूत्वा । समागतम्=समायातम् । हनिष्यसि=ताडयिष्यसि । तथानुष्ठिते=भिक्षुके हते सति । तद्वृत्तम्=तथैव भूतम् ।

अयोध्या में चूडामणि नाम का एक क्षत्रिय था । उसने धन की अभिलाषा से बड़े कष्ट के साथ बहुत दिनों तक शंकर जी की आराधना की । तब उसके सारे पाप नष्ट हो गए और एक दिन भगवान् शंकर की आज्ञा से कुबेर ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा—'आज तुम बाल बनवाकर, हाथ में लाठी लेकर घर में छिपकर बैठ जाना । तब आँगन में आए हुए भिक्षुक को देख कर जब उसे निर्दयता के साथ डंडे से मारोगे तो वह सोने का कलश हो जायगा । जिससे तुम अपने जीवन भर के लिए सुखी बन जाओगे ।' उसके ऐसा करने पर सचमुच वही हुआ ।

तत्र क्षौरकरणायानीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य चिन्तितम्—'अये निधिप्राप्तेरयमुपायः । तदहमप्येवं किं न करोमि ?' । ततः प्रभृति स नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृत भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते । एकदा तेन प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः । तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'पुण्याल्लब्धं यदेकेने'-त्यादि ॥ ❀ ॥

निधिप्राप्ते.=धनागमस्य । सुनिभृतम्=प्रच्छन्नो भूत्वा । प्रतीक्षते=प्रतीक्षां करोति । व्यापादित=हत ।

वहाँ बाल बनाने के लिए लाए गए नाई ने सोचा—धन प्राप्त करने का यह तो अच्छा उपाय है । मैं भी ऐसा ही क्यों न करूँ । उसी दिन से नाई प्रति दिन उसी प्रकार हाथ में डंडा लिए हुए छिप कर भिक्षुक के आने की प्रतीक्षा करता था । एक दिन उसे भिक्षुक मिल ही गया और उसने उसे डंडे से मार डाला । इस अपराध के कारण उसे भी राजपुरुषों ने मार डाला । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'एक ने जो पुण्य से प्राप्त किया' इत्यादि ।

राजाह—'पुरावृत्तकथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः।
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा, किं वा विश्वासघातकः ? ॥१८॥

अन्वयः—पुरावृत्तकथोद्गारैः परः निष्कारणबन्धुः किंवा विश्वासघातकः स्यात् (इति) कथम् निर्णीयते ॥ १ ८ ॥

पुरावृत्तकथोद्गारैः=प्राचीनकाले घटितकथाकथनैः । परः=अन्यः शत्रुः वा । निष्कारणबन्धुः = निःस्वार्थसहायकः । विश्वासघातकः = विश्वासपूर्वाघातकः । कथं = केन प्रकारेण । निर्णीयते=निश्चीयते ॥ १ ८ ॥

राजा ने कहा—

प्राचीन कथाओं के कहने मात्र से ही यह कैसे निर्णय किया जा सकता है कि आगन्तुक निःस्वार्थ सहायता करने वाला है अथवा विश्वासघाती ॥ १ ८ ॥

यातु, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्। मलयाधित्यकायां चेच्चित्रवर्णः समागतस्तदधुना किं विधेयम् ?।' मन्त्री वदति—'देव ! आगतप्रणिधिमुखान्मया श्रुतं, यत्—महामन्त्रिणो गृध्रस्योपदेशे चित्रवर्णेनानादरः कृतः ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः । तथा चोक्तम्—

यातु=आस्ताम् तावत् । प्रस्तुतम् = समुपस्थितम् । अनुसन्धीयताम्=विचार्यताम् । मलयाधित्यकायाम् = मलयपर्वतोपरिभागे । किं विधेयम् = किं कर्तव्यम् । चित्रवर्णेन=मयूरेण । अनादरः कृतः=अवमानितः । मूढः =मूर्खः ।

अस्तु जाने दो । अब उपस्थित विषय पर विचार करो' यदि चित्रवर्ण मलय की चोटी पर डेरा डाले पड़ा है तो फिर क्या करना चाहिए । मन्त्री ने कहा— राजन् आए हुए चर के मुँह से मैंने सुना है कि चित्रवर्ण ने महामन्त्री गृध्र के उपदेशों का तिरस्कार कर दिया है इस लिए वह मूर्ख जीता जा सकता है । जैसा कि कहा भी गया है—

'लुब्धः क्रूरोऽलसोऽसत्यः, प्रमादी भीरुरस्थिरः ।
मूढो, योधावमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः' ॥ १९ ॥

अन्वयः—लुब्धः क्रूरः अलसः असत्यः प्रमादी भीरुः अस्थिरः, योधावमन्ता मूढः रिपुः सुखच्छेद्यः स्मृतः ॥ १ ९ ॥

लुब्धः =लोलुपः । क्रूरः=नृशंसः । अलसः=आलस्येन युक्तः । असत्यः = मिथ्यावादी । प्रमादी=असावधानः । भीरुः=कातरः । अस्थिरः = चञ्चलकार्यः । योधावमन्ता = स्वसैनिकतिरस्कर्ता । रिपुः=शत्रुः । सुखच्छेद्यः=सरलेन विनाशयितुम् शक्यः ॥ १ ९ ॥

लालची, निष्ठुर, आलसी, असत्यवादी, असावधान, कायर, चपल तथा अपने वीर सैनिकों का अपमान करने वाला मूर्ख शत्रु सरलता से जीता जा सकता है ॥ १०९ ॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं न करोति, तावन्नद्यद्रिवनवर्त्मसु तद्बलानि हन्तु सारसादयः सेनापतयो नियुज्यन्ताम्। तथा चोक्तम्—

असौ=चित्रवर्ण मयूर। नद्यद्रिवनवर्त्मसु = सरित्पर्वतकाननमार्गेषु। तद्बलानि=मयूरस्य सैन्यानि।

इसलिए जब तक वह हमारे किले का द्वार रोक न ले (किले पर घेरा न डाल दे) तब तक नदियों, पहाड़ों, जंगलों और रास्तों में उसकी सेना का विनाश करने के लिए सारस आदि सेनापतियों को नियुक्त कर दीजिए। जैसा कि कहा भी गया है—

'दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं, नद्यद्रिवनसङ्कुलम्।
घोराग्निभयसन्त्रस्तं, क्षुत्पिपासार्दितं तथा ॥ ११० ॥
प्रमत्तं, भोजनव्यग्रं, व्याधिदुर्भिक्षपीडितम्।
असंस्थितमभूयिष्ठ, वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ १११ ॥
पङ्कपांशुजलाच्छन्नं, सुव्यस्तं, दस्युविद्रुतम्।
एवम्भूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत्' ॥ ११२ ॥

अन्वयः—दीर्घवर्त्म परिश्रान्तम् ... एवम् भूतम् परसैन्यम् महीपालः विघातयेत् ॥ ११०–११२ ॥

दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तम् = दूरमार्गागमनात् श्रान्तम्। नद्यद्रिवनसंकुलम् = सरित्पर्वतादिलङ्घनात् व्याकुलम्। घोराग्निभयसन्त्रस्तम्=भीषणवनाग्निना भीतम्। क्षुत्पिपासार्दितम् = क्षुधया जलेच्छया च पीडितम्। प्रमत्तम् = असावधानम्। भोजनव्यग्रम् = भोजने लग्नम्। व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् = रोगाकालदुःखितम्। असंस्थितम्=व्यूहरचनारहितम्। अभूयिष्ठम् = अल्पम्। वृष्टिवातसमाकुलम् = वर्षावायुव्यग्रम्। पङ्कपांशुजलाच्छन्नम् = कर्दमधूलिजलावरुद्धम्। सुव्यस्तम् = निश्चिन्तम्। दस्युविद्रुतम् = मोषकपराहतम् (दस्यु=डाकू)। परसैन्यम् = शत्रुबलम्। महीपाल =पृथ्वीपति। विघातयत्=विनाशयेत् ॥ ११ –११२ ॥

लम्बे रास्ते से थके हुए, नदी, पहाड़ तथा जंगलों से व्याकुल भयकर अग्नि से डरे हुए, भूख प्यास से पीडित, असावधान, भोजन मे व्यस्त, रोग तथा अकाल से दुखी, अव्यवस्थित, वर्षा तथा वायु से घबड़ाए हुए, कीचड़, धूल तथा

पानी से आच्छादित शिविरवाले और डाकुओं से लूटे हुए शत्रुसैनिकों को नष्ट कर डालना चाहिए ॥ ११०—११२ ॥

अन्यच्च—'अवस्कन्दभयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम् ।
दिवा सुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम्' ॥ ११३ ॥

अन्वयः—राजा अवस्कन्दभयात् प्रजागरकृतश्रमम् दिवासुप्तम् निद्राव्याकुलसैनिकम् समाहन्यात् ॥ ११३ ॥

अवस्कन्दभयात् = आकस्मिकाक्रमणशङ्कया । प्रजागरकृतश्रमम् = प्रजागरेण परिश्रान्तम् । दिवासुप्तम् = दिवसनिद्रितम् । निद्राव्याकुलसैनिकम् = निद्राकुलसैनिकम् । समाहन्यात्=विनाशम् कुर्यात् ॥ ११३ ॥

राजा को चाहिए कि वह आक्रमण के भय से रात भर जागने के कारण थकी हुई दिन में ही सोई हुई तथा नींद से व्याकुल शत्रु सेना को मार डाले ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतयः । तथानुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः सेनापतयश्च बहवो निहताः । ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह—'तात ! किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते ? किं क्वाप्यविनयो ममास्ति ? तथा चोक्तम्—

प्रमादिनः =असावधानस्य । बलम्=सैन्यम् । यथावकाशम् = यथावसरम् । घ्नन्तु = मारयन्तु । तथानुष्ठिते = एवं सम्पादिते कृते सति । निहताः = मृताः । विषण्णः =दुःखितः । आह=अकथयत् । अस्मदुपेक्षा=अस्मत्तिरस्कारः । किम्=कस्मात् हेतोः । अविनयः =धृष्टता ।

इसलिए पहुँच कर हमारे सेनापति यथावकाश रात दिन उस प्रमादी की सेना का विनाश करें । ऐसा किए जाने पर चित्रवर्ण के बहुत से सेनापति तथा सैनिक मार डाले गए । तब दुःखी होकर चित्रवर्ण ने अपने मंत्री दूरदर्शी नाम के गृध्र से कहा—तात मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं । क्या मुझसे कोई धृष्टता हुई है ? जैसा कि कहा भी गया है—

'न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्' ॥ ११४ ॥

अन्वयः— राज्यम् प्राप्तम् इत्येव (विचार्य) असाम्प्रतम् न वर्तितव्यम् हि अविनयः तथा श्रियम् हन्ति (यथा) जरा उत्तमम् रूपम् (हन्ति) ॥ ११४ ॥

राज्यम् प्राप्तम्=राज्यमधिगतम् । असाम्प्रतम्=अनुचितम् । न वर्तितव्यम्=नाचरणीयम् । अविनयः=धाष्टर्यम् । श्रियम् = राज्यसम्पदम् । हन्ति = विनाशयति । जरा=वृद्धावस्था । उत्तमं रूपम्=उत्कृष्टं सौन्दर्यम् ॥ ११४ ॥

~

अब राज्य तो मुझे मिल ही गया, ऐसा सोचकर राजा को अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि धृष्टता राज्यलक्ष्मी का उसी प्रकार विनाश कर डालती है जैसे बुढापा उत्कृष्ट सौन्दर्य को ॥ ११४ ॥

अपि च—'दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्यतां, सुखमरोगी।
उद्युक्तो विद्यान्तं, धर्मार्थयशांसि च विनीतः' ॥ ११५ ॥

अन्वयः—दक्ष श्रियम्, पथ्याशी कल्यताम्, अरोगी सुखम्, उद्युक्त विद्यान्तम्, विनीत धर्मार्थयशांसि च अधिगच्छति ॥ ११५ ॥

दक्ष = चतुर । श्रियम् = लक्ष्मीम् । पथ्याशी = पथ्यभोक्ता । कल्यताम्= आरोग्यम् । अरोगी=रुग्रहित । सुखम् = आनन्दम् । उद्युक्त =उद्योगशील । विद्यान्तम्=विद्याया पर्यवसानम् । विनीत =विनम्र । धर्मार्थयशांसि= धर्मधनकीर्ती । अधिगच्छति=प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

और भी—चतुर लक्ष्मी को, पथ्य (उचित) भोजन करने वाला आरोग्य, नीरोग सुख, परिश्रमी विद्या की पूर्णता तथा विनम्र स्वभाव वाला धर्म, धन और कीर्ति को प्राप्त करते हैं ॥ ११५ ॥

गृध्रोऽवदत्—'देव ! शृणु
'अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा' ॥ ११६ ॥

अन्वयः—अविद्वान् अपि भूपाल विद्यावृद्धोपसेवया जलासन्नतरुर्यथा परां श्रियमवाप्नोति ॥ ११६ ॥

अविद्वान्=मूर्ख । भूपाल =नृप । विद्यावृद्धोपसेवया = विदुषाम् सेवनेन । जलासन्नतरु = जलनिकटस्थवृक्ष । यथा = इव । परां = श्रेष्ठाम् । श्रियम् = लक्ष्मीम्, उन्नतिञ्च । अवाप्नोति = लभते ॥ ११६ ॥

विद्या का ज्ञाता न होते हुए भी राजा विद्वान् की सेवा से उसी प्रकार लक्ष्मी को प्राप्त करता है जैसे जल के समीप रहने वाला वृक्ष उन्नति को प्राप्त करता है ॥ ११६ ॥

अन्यच्च—'पानं, स्त्री, मृगया, द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं, व्यसनानि महीभुजाम्' ॥ ११७ ॥

[illegible] न्ति) ॥ ११७ ॥

पानम् = सुरासेवनम्। मृगया = आखेटः। द्यूतम्=अक्षक्रीडा। अर्थदूषणम्=धनोत्सृष्टिः, धनस्य धनापहरणम्। वाग्दण्डयोः = वचने दण्डदाने च। पारुष्यम्=नैष्ठुर्यम्। महीभुजाम्=नृपाणाम्। व्यसनानि=दोषाः ॥ ११७ ॥

और भी—शराब पीना, स्त्री में आसक्त रहना, जुआ खेलना, बुरे ढंग से धन एकत्रित करना और बोलने तथा दंड देने में निष्ठुर होना—राजाओं के दुर्गुण हैं ॥ ११७ ॥

किञ्च—'न साहसैकान्तरसानुवर्तिना,
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति सम्पदः' ॥ ११८ ॥

अन्वयः—साहसैकान्तरसानुवर्तिना उपायोपहतान्तरात्मना ऊर्जिताः विभूतयः अवाप्तुम् न शक्यम् (यतः) सम्पदः नये शौर्ये च वसन्ति ॥ ११८ ॥

साहसैकान्तरसानुवर्तिना = साहसैकपरायणेन। उपायोपहतान्तरात्मना = उपायचिन्तातिरिक्तेन। ऊर्जिता = वृद्धि गता। विभूतयः = सम्पदः। अवाप्तुम् = प्राप्तुम्। न शक्यम् = न शक्या। सम्पदः = श्रियः। नये = नीतौ। शौर्ये = पराक्रमे च। वसन्ति=निवसन्ति ॥ ११८ ॥

क्योंकि—एकमात्र साहस का ही सहारा लेने वाले तथा केवल उपायमात्र का चिन्तन करने वाले बढ़ी हुई विभूतियों को प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि सम्पत्ति नीति और पराक्रम अर्थात् नीतियुक्त वीरता में ही निवास करती है॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकरसिकेन मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाक्पारुष्यं च कृतम्। अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते। तथा चोक्तम्—

स्वबलोत्साहम्=स्वपराक्रमोत्साहम्। अवलोक्य=दृष्ट्वा। साहसैकरसिकेन= केवलसाहसानुरागेण। मयोपन्यस्तेषु = मया विचार्य प्रस्तावितेषु। मन्त्रेषु= नीतिविधिषु। अनवधानम्=असावधानता अवज्ञा वा।

तुमने अपनी सेना और उत्साह को देखकर केवल साहस का सहारा लिया और मेरे प्रस्तावित नीतियुक्त मंत्रों के प्रति असावधानी बरती तथा कठोर शब्दों का उच्चारण भी किया। इसीलिए बुरी नीति का फल भोगना पड़ा है। जैसा कि कहा भी गया है—

'दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ?
सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।

कं श्रीर्न दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः ?
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ?' ॥ ११९ ॥

अन्वयः—कम् दुर्मन्त्रिणम् नीतिदोषा न उपयान्ति, कम् अपथ्यभुजम् रोगा न सन्तापयन्ति, श्री कम् न दर्पयति, मृत्यु क न निहन्ति, स्त्रीकृताः विषया क न परितापयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्टमन्त्रिणम्=दुष्टमन्त्रियुक्त राजानम् । नीतिदोषा =मन्त्रदोषा । अपथ्यभुजम्=कुपथ्याशिनम् । सतापयन्ति = पीडयन्ति । श्री = लक्ष्मी । दर्पयति=मदयति । स्त्रीकृता = स्त्रीसम्बन्धिन । विषया =भोगाभिलाषा । परितापयन्ति = संक्षोभयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्ट मन्त्री वाले किस राजा में नीतिसबंधी दोष नहीं आ जाते हैं ? अपथ्य भोजन करने वाले किस व्यक्ति को रोग कष्ट नही पहुँचाते हैं ? लक्ष्मी किसे अभिमानी नही बनाती है, मृत्यु किसका विनाश नही करती है ? और स्त्रीसबंधी विषय किसे पीडित नहीं करते हैं ? ॥ ११९ ॥

अपरं च—'मुदं विपादः, शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः' ॥ १२० ॥

अन्वयः—विषाद मुदम्, हिमागम शरदम्, विवस्वान् तम , कृतघ्नता सुकृतम्, प्रियोपपत्ति शुचम्, नय आपदम्, दुर्नय समृद्धा अपि श्रियः हन्ति ॥ १२० ॥

मुदम्=हर्षम् । विषाद = शोक । शरदम्=शरदृतुम् । हिमागम =हेमन्त । विवस्वान्=रवि । तम =अन्धकारम् । प्रियोपपत्ति =इष्टप्राप्ति । शुच=शोकम् । आपदम् = विपत्तिम् । नय = नीति । दुर्नय = दुर्नीति । समृद्धा =उन्नता । श्रिय =लक्ष्मी । हन्ति=विनाशयति ॥ १२० ॥

और भी—विषाद आनन्द को, शीतऋतु शरद् को, सूर्य अन्धकार को, कृतघ्नता सत्कर्म को, प्रियवस्तुओं का लाभ शोक को, नीति विपत्ति को, तथा बुरी नीति ऐश्वर्यपूर्ण लक्ष्मी को नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

ततो मयाप्यालोचितम्—'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति । यतः—

पानम् = सुरासेवनम् । मृगया = आखेटः । द्यूतम्=अक्षक्रीडा । अर्थदूषणम्= अर्थाशुद्धिः अकस्मात् धनापहरणम् । वाग्दण्डयोः = कथने दण्डदाने च । पारुष्यम्= नैष्ठुर्यम् । महीभुजाम्=भूपानाम् । व्यसनानि=दोषाः ॥ ११७ ॥

और भी—शराब पीना स्त्री में आसक्त रहना जुआ खेलना बुरे ढंग से धन एकत्रित करना और बोलने तथा दंड देने में निष्ठुर होना—राजाओं के दुर्गुण हैं ॥ ११७ ॥

किञ्च—'न साहसैकान्तरसानुवर्तिना
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति सम्पदः' ॥ ११८ ॥

अन्वयः—साहसैकान्तरसानुवर्तिना उपायोपहतान्तरात्मना ऊर्जिताः विभूतयः अवाप्तुम् न शक्यम् (अतः) सम्पदः नये शौर्ये च वसन्ति ॥ ११८ ॥

साहसैकान्तरसानुवर्तिना = साहसैकपरायणेन । उपायोपहतान्तरात्मना = उपायविचाररहितेन । ऊर्जिताः = वृद्धिं गताः । विभूतयः = सम्पदः । अवाप्तुम् = प्राप्तुम् । न शक्यम् = न शक्याः । सम्पदः = श्रियः । नये = नीतौ । शौर्ये = पराक्रमे च । वसन्ति=निवसन्ति ॥ ११८ ॥

क्योंकि—एकमात्र साहस का ही सहारा लेने वाले तथा केवल उपायमात्र का चिन्तन करने वाले बढ़ी हुई विभूतियों को प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि सम्पत्ति नीति और पराक्रम अर्थात् नीतियुक्त वीरता में ही निवास करती है ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकरसिकेन मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाक्पारुष्यं च कृतम् । अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते । तथा चोक्तम्—

स्वबलोत्साहम्=स्वपराक्रमोत्साहम् । अवलोक्य=दृष्ट्वा । साहसैकरसिकेन= केवलसाहसानुरागेण । मयोपन्यस्तेषु = मया विचार्य प्रस्तावितेषु । मन्त्रेषु= नीतिविधिषु । अनवधानम्=असावधानता अनादरश्च ।

तुमने अपनी सेना और उत्साह को देखकर केवल साहस का सहारा लिया और मेरे प्रस्तावित नीतियुक्त मन्त्रों के प्रति असावधानी बरती तथा कठोर शब्दों का उच्चारण भी किया । इसीलिए बुरी नीति का फल भोगना पड़ा है । जैसा कि कहा भी गया है—

'दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ?
सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।

कं श्रीर्न दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः ?
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ?' ॥ ११९ ॥

अन्वयः—कम् दुर्मन्त्रिणम् नीतिदोषा न उपयान्ति, कम् अपथ्यभुजम् रोगा न सन्तापयन्ति, श्री कम् न दर्पयति, मृत्यु क न निहन्ति, स्त्रीकृताः विषया क न परितापयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्टमन्त्रिणम्=दुष्टमन्त्रियुक्त राजानम् । नीतिदोषा=मन्त्रदोषा । अपथ्य-भुजम्=कुपथ्याशिनम् । सतापयन्ति = पीडयन्ति । श्री = लक्ष्मीः । दर्पयति=मद-यति । स्त्रीकृता = स्त्रीसम्बन्धिन । विषया =भोगाभिलाषा । परितापयन्ति = संक्षोभयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्ट मन्त्री वाले किस राजा में नीतिसबधी दोष नहीं आ जाते हैं ? अपथ्य भोजन करने वाले किस व्यक्ति को रोग कष्ट नही पहुँचाते हैं ? लक्ष्मी किसे अभिमानी नहीं बनाती है, मृत्यु किसका विनाश नही करती है ? और स्त्रीसबधी विषय किसे पीडित नहीं करते हैं ? ॥ ११९ ॥

अपरं च—'मुदं विषादः, शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः' ॥ १२० ॥

अन्वयः—विषाद मुदम्, हिमागम शरदम्, विवस्वान् तम ; कृतघ्नता सुकृतम्, प्रियोपपत्ति शुचम्, नय आपदम्, दुर्नय समृद्धा अपि श्रियः हन्ति ॥ १२० ॥

मुदम्=हर्षम् । विषाद = शोक । शरदम्=शरद्दतुम् । हिमागम =हेमन्त । विवस्वान्=रवि । तम =अन्धकारम् । प्रियोपपत्ति =इष्टप्राप्ति । शुच=शोकम् । आपदम् = विपत्तिम् । नय = नीति । दुर्नय = दुर्नीति । समृद्धा =उन्नता । श्रिय =लक्ष्मी । हन्ति=विनाशयति ॥ १२० ॥

और भी—विषाद आनन्द को, शीतऋतु शरद् को, सूर्य अन्धकार को, कृतघ्नता सत्कर्म को, प्रियवस्तुओं का लाभ शोक को, नीति विपत्ति को, तथा बुरी नीति ऐश्वर्यपूर्ण लक्ष्मी को नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

ततो मयाप्यालोचितम्—'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीति-शास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति । यतः—

विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम्। तत्सहसैव दुर्गद्वारावरोधः क्रियताम्।'

अत्र = अस्मिन्नवसरे। भवत्प्रतापात् = भवतो बलात्। दुर्गम् = राजहंसस्य दुर्गम्। भङ्क्त्वा = भेदनं कृत्वा। कीर्तिप्रतापसहितम् = यशसा तेजसा समन्वितम्। अचिरेण = शीघ्रमेव। नेष्यामि = प्रापयिष्यामि। स्वल्पबलेन = अल्पसैन्येन। तत् = विन्ध्याचलगमनम्। सम्पद्यते = भवति। अदीर्घसूत्रता = क्षिप्रक्रिया। विजयसिद्धेः = जयलाभस्य।

इसलिए इस कठिनाई के समय भी आपके प्रताप से ही शत्रु का दुर्ग तोड़कर यश और तेज के साथ आपको शीघ्र ही विन्ध्याचल ले पहुँचा। राजा चित्रवर्ण ने कहा— इस समय हमारी थोड़ी सेना से यह कैसे हो सकता है। गृध्र ने कहा—'राजन् सब होगा। क्योंकि विजय की अभिलाषा रखने वाले की फलप्राप्ति के लिए कार्य में शीघ्रता अत्यन्त आवश्यक है। अतः सहसा किले पर घेरा डाल देना चाहिए।

अथ (प्रहित—) प्रणिधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य कथितम्—'देव! स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य वचनोपष्टम्भादागत्य दुर्गद्वारावरोधं करिष्यति।' राजहंसो ब्रूते—'भोः सर्वज्ञ! किमधुना विधेयम्?' चक्रवाको ब्रूते—'स्वबले सारासारविचारः क्रियताम्। तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथार्हं प्रसादप्रदानं च क्रियताम्।'

प्रहितेन = प्रेषितेन। प्रणिधिना = गुप्तचरेण। वचनोपष्टम्भात् = वचनबलात्। सारासारविचारः = तत्त्वातत्त्वविमर्शः। तद् ज्ञात्वा = निर्णयम् अवगम्य। यथार्हम्—यथायोग्यम्। प्रसादप्रदानम्—पारितोषिकवितरणम्।

चित्रवर्ण का भेद बताने के लिए भेजे गये गुप्तचर बगुले ने आकर हिरण्यगर्भ से कहा—'राजन् थोड़ी सेना होते हुए भी राजा चित्रवर्ण मंत्री गृध्र की मंत्रणा के बलपर किले पर घेरा डालेगा। राजहंस ने कहा— मंत्री सर्वज्ञ अब क्या करना चाहिए। चकवे ने कहा—अपनी सेना की सबलता-निर्बलता का विचार करना चाहिए। यही जान कर सोने तथा वस्त्र इत्यादि का यथायोग्य पारितोषिक वितरण करना चाहिए।

यतः—'या काकिणीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त—
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥ १४५॥

अन्वयः—य अपथप्रपन्नाम् काकिणीम् अपि निष्कसहस्रतुल्याम् समुद्धरेत्, (किन्तु) कालेषु कोटिषु अपि मुक्तहस्त भवेत् त राजसिंहम् लक्ष्मी न जहाति ॥ १२५ ॥

अपथप्रपन्नाम्=अस्थानच्युताम् । काकिणीम्=एकाम् कपर्दिकाम् । निष्कसहस्रतुल्याम्=दीनारसहस्रसदृशाम् । समुद्धरेत्=उत्थापयेत् । कालेषु=प्रासावसरेषु । कोटिषु=कोटिषु दीनारेषु । मुक्तहस्त =अविचारितव्यय । राजसिंहम्=श्रेष्ठ राजानम् । लक्ष्मी =राज्यश्री । न जहाति=न परित्यजति ॥१२५॥

क्योंकि—

जो राजा अनुचित स्थान मे पड़ी हुई एक कौडी को भी हजारों सोनेके सिक्के के समान समझ कर उठा लेता है, यदि वही समय आने पर करोडो का व्यय करने मे भी हाथ खोल दे तो उस राजसिंह को लक्ष्मी कभी नहीं छोडती है ॥

अन्यच्च—'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु बान्धवे-
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु' ॥ १२६ ॥

अन्वयः—क्रतौ ‥ ‥ अष्टसु (अवसरेषु) नराधिप अतिव्यय नास्ति ॥

क्रतौ=यज्ञकर्मणि । व्यसने=विपदि । रिपुक्षये=शत्रुविनाशने । यशस्करे कर्मणि = कीर्तिप्रदे व्यापारे । अधनेषु = दरिद्रेषु । बान्धवेषु=स्वजनेषु । अष्टसु= अष्टावसरेषु । नराधिप =नृप ॥ १२६ ॥

और भी—यज्ञ मे, विवाह मे, विपत्ति के समय, शत्रु का विनाश करने में, कीर्ति देने वाले कार्यों में, मित्र बनाने मे, प्रिय स्त्री के विषय में, दरिद्रों मे तथा अपने बंधुओ मे अत्यधिक व्यय करने पर भी राजा इन आठ दशाओं मे बहुत खर्च करने वाला नहीं कहा जाता ॥ १२६ ॥

यत —'मूर्ख. स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।
क' सुधीः सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात्' ॥१२७॥

अन्वयः—स्वल्पव्ययत्रासात् मूर्ख सर्वनाशम् करोति हि शुल्कस्यातिसाध्वसात् क सुधी भाण्डम् सन्त्यजेत् ॥ १२७ ॥

मयापि—बुधेनापि। आलोचितम्—निरूपितम्। प्रज्ञाहीनः—बुद्धिरहितः। नीतिशास्त्रकथाकौमुदीम्=नीतिशास्त्रकथाज्योत्स्नाम्। वागुल्काभिः—वचनोल्काभिः। तिमिरयति=आच्छादयति।

तब मैंने अपने मन में विचार किया कि यह राजा बुद्धिहीन है, नहीं तो अपने वचन रूपी उल्का से नीतिशास्त्र की चाँदनी को क्यों आच्छादित करता? क्योंकि—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्?।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति?' ॥ १२१ ॥

अन्वयः—यस्य स्वयं प्रज्ञा नास्ति तस्य शास्त्रम् किं करोति। लोचनाभ्याम् विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ १२१ ॥

यस्य=पुरुषस्य। स्वयम्=आत्मना। प्रज्ञा=बुद्धिः। तस्य=पुरुषस्य। शास्त्रम्=शास्त्रोपदेशः। किम् करोति=उपकारं करोति। लोचनाभ्याम्=नेत्राभ्याम्। विहीनस्य=रहितस्य ॥ १२१ ॥

जिसके पास स्वयं बुद्धि न हो, उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है। आँखों से हीन के लिए दर्पण की क्या उपयोगिता हो सकती है॥

—इत्यालोच्याहमपि तूष्णीं स्थितः। अथ राजा बद्धाञ्जलिराह—'तात! अस्त्ययं ममापराधः। इदानीं यथाहमवशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्य विन्ध्याचलं गच्छामि तथोपदिश।' गृध्रः स्वगतं चिन्तयति—क्रियतामत्र प्रतीकारः। यतः—

इत्यालोच्य=इति विचार्य। तूष्णीं स्थितः=मौनमालम्बितम्। बद्धाञ्जलिः=[illegible]। प्रतीकारः=उपायः।

इस प्रकार विचार करके मैं चुप हो गया। तब राजा ने हाथ जोड़कर कहा—तात, यह मेरा अपराध तो है, किन्तु अब जिस उपाय से बची हुई सेना के साथ लौटकर मैं विन्ध्याचल चला जाऊँ, वह उपाय बताइए। गृध्र ने मन में विचार किया—अब यहाँ कोई न कोई उपाय करना ही होगा। क्योंकि—

देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च ॥ १२२ ॥

देवता, गुरु, गाय, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध और रोगी के प्रति अपने क्रोध को सर्वदा रोकते रहना चाहिए ॥ १२२ ॥

मन्त्री प्रहस्य ब्रूते—'देव मा भैषीः, समाश्वसिहि । शृणु देव !

मा भैषी.=भय मा कुरु । समाश्वसिहि=धैर्यं धारय ।

मन्त्री गृद्ध ने हँसकर कहा—राजन्; आप डरें मत । धैर्य धारण करें । हे देव, सुनिए—

'मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने, भिषजां सांनिपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः ?' ॥ १२३ ॥

अन्वयः—मन्त्रिणाम् भिन्नसंधाने कर्मणि भिषजाम् सानिपातिके कर्मणि प्रज्ञा व्यज्यते, सुस्थे क वा न पण्डित (भवति) ॥ १२३ ॥

भिन्नसंधाने = भिन्नस्य=स्फुटितस्य, संधाने=मेलने । कर्मणि = व्यापारे । भिषजाम्=वैद्यानाम् । सान्निपातिके=सन्निपातचिकित्सायाम् । प्रज्ञा = बुद्धि । व्यज्यते=ज्ञायते । सुस्थे=सामान्यस्थितौ ॥ १२३ ॥

फूट पैदा हो जाने पर पुन उसे मिलाने (दूर करने) के कार्य मे मन्त्रियो तथा सन्निपात हो जाने पर वैद्यों की वुद्धि का पता चल जाता है । यो सामान्य स्थिति में कौन पंडित नही होता है ॥ १२३ ॥

अपरञ्च—'आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः, कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः' ॥ १२४ ॥

अन्वयः—(यद्यपि) अज्ञा अल्पमेव आरभन्ते (किन्तु) काम व्यग्रा. भवन्ति कृतधिय च महारम्भा निराकुला च तिष्ठन्ति ॥ १२४ ॥

अज्ञा =मूढा । अल्पमेव=स्तोकमेव । आरभन्ते=प्रारम्भ करोति । कामम्=अत्यन्तम् । व्यग्रा =व्याकुला । कृतधियः = कृतबुद्धय । महारम्भा = बृहत्कार्यारम्भा । निराकुला =अव्यग्रा ॥ १२४ ॥

वुद्धिहीन किसी छोटे कार्य का आरंभ करके भी अत्यन्त व्यग्र हो जाते हैं किन्तु वुद्धिमान वहुत वडा कार्य आरंभ करके भी अत्यन्त धैर्यशाली वने रहते हैं ॥

'तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भङ्क्त्वा, कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचिरेण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि ।' राजाह—'कथमधुना स्वल्पबलेन तत्सम्पद्यते ? ।' गृध्रो वदति—'देव ! सर्वं भविष्यति । यतो

विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम्। तत्सहसैव दुर्गद्वारावरोधः क्रियताम्।'

अत्र = अस्मिन्नवसरे। भवत्प्रतापात् = भवत्तेजसा। दुर्गम् = शत्रोरेव दुर्गम्। भङ्क्त्वा = भेदनं कृत्वा। कीर्तिप्रतापसहितम् = यशस्तेजःसमन्वितम्। अचिरेण = शीघ्रमेव। नेष्यामि = प्रापयिष्यामि। स्वल्पबलेन = अल्पसैन्येन। पद = विन्ध्याचलसमीपम्। सम्पद्यते = भवति। अदीर्घसूत्रता = क्षिप्रक्रिया। विजयसिद्धेः = जयलाभस्य।

इसलिए इस कठिनाई के समय भी आपके प्रताप से ही शत्रु का दुर्ग भेदकर यश और तेज के साथ आपको शीघ्र ही विन्ध्याचल में पहुँचा दूँगा। राजा चित्रवर्ण ने कहा—'इस समय इतनी थोड़ी सेना से यह कैसे हो सकता है।' गृध्र ने कहा—'राजन् सब होगा। क्योंकि विजय की अभिलाषा रखने वाले को जयप्राप्ति के लिए कार्य में शीघ्रता अत्यन्त आवश्यक है। अतः सहसा किले पर घेरा डाल देना चाहिए।

अथ (प्रहित—) प्रणिधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य कथितं—'देव! स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य वचनोपष्टम्भादागत्य दुर्गद्वारावरोधं करिष्यति।' राजहंसो ब्रूते—'भोः सर्वज्ञ! किमधुना विधेयम्?' चक्रवाको ब्रूते—'स्वबले सारासारविचारः क्रियताम्। तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथार्हं प्रसादप्रदानं च क्रियताम्'।

प्रहितेन = प्रेषितेन। प्रणिधिना = प्रमाणपुरुषेण। वचनोपष्टम्भात् = वाक्यबलात्। सारासारविचारः = तत्त्वातत्त्वविमर्शः। तद् ज्ञात्वा = निर्णयम् अवगम्य। यथार्हम् = यथायोग्यम्। प्रसादप्रदानम् = पारितोषिकवितरणम्।

गुप्तचर का पता लगाने के लिए भेजे गये गुप्तचर बगुले ने आकर हिरण्यगर्भ से कहा—'राजन् थोड़ी सेना होते हुए भी राजा चित्रवर्ण मंत्री गृध्र की मंत्रणा के बलपर किले पर घेरा डालेगा। राजहंस ने कहा—'मन्त्री सर्वज्ञ अब क्या करना चाहिए। चकवे ने कहा—अपनी सेना की सबलता-निर्बलता का विचार करना चाहिए। उसे जान कर सोने तथा वस्त्र इत्यादि का यथायोग्य पारितोषिक वितरण करना चाहिए।

यतः—'यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः ॥ १४५ ॥

अन्वयः—यः अपथप्रपन्नाम् काकिणीम् अपि निष्कसहस्रतुल्याम् समुद्धरेत्, (किन्तु) कालेषु कोटिषु अपि मुक्तहस्तः भवेत् तं राजसिंहम् लक्ष्मी न जहाति ॥ १२५ ॥

अपथप्रपन्नाम्=अस्थानच्युताम् । काकिणीम्=एकाम् कपर्दिकाम् । निष्कसहस्रतुल्याम्=दीनारसहस्रसदृशाम् । समुद्धरेत्=उत्थापयेत् । कालेषु=प्राप्तावसरेषु । कोटिषु=कोटिषु दीनारेषु । मुक्तहस्तः=अविचारितव्ययः । राजसिंहम्=श्रेष्ठं राजानम् । लक्ष्मी=राज्यश्री । न जहाति=न परित्यजति ॥१२५॥

क्योंकि—

जो राजा अनुचित स्थान में पड़ी हुई एक कौड़ी को भी हजारों सोनेके सिक्के के समान समझ कर उठा लेता है, यदि वही समय आने पर करोड़ो का व्यय करने में भी हाथ खोल दे तो उस राजसिंह को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है ॥

अन्यच्च—'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु बान्धवे-
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु' ॥ १२६ ॥

अन्वयः—क्रतौ ... अष्टसु (अवसरेषु) नराधिप अतिव्ययः नास्ति ॥

क्रतौ=यज्ञकर्मणि । व्यसने=विपदि । रिपुक्षये=शत्रुविनाशने । यशस्करे कर्मणि = कीर्तिप्रदे व्यापारे । अधनेषु = दरिद्रेषु । बान्धवेषु=स्वजनेषु । अष्टसु=अष्टावसरेषु । नराधिप =नृप ॥ १२६ ॥

और भी—यज्ञ में, विवाह में, विपत्ति के समय, शत्रु का विनाश करने में, कीर्ति देने वाले कार्यों में, मित्र बनाने में, प्रिय स्त्री के विषय में, दरिद्रों में तथा अपने बंधुओं में अत्यधिक व्यय करने पर भी राजा इन आठ दशाओं में बहुत खर्च करने वाला नहीं कहा जाता ॥ १२६ ॥

यतः—'मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।
कः सुधीः सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात्' ॥१२७॥

अन्वयः—स्वल्पव्ययत्रासात् मूर्खः सर्वनाशम् करोति हि शुल्कस्यातिसाध्वसात् कः सुधीः भाण्डम् सन्त्यजेत् ॥ १२७ ॥

स्वल्पव्ययभयात् = स्वल्पव्ययभीत्या । सर्वनाशम् = सर्वस्वविनाशनम् । शुल्कस्य = राज्यकरस्य । अतिभारभयात् = अधिकभयात् । भाण्डम् = द्रव्यं (माल) । सुधी = विद्वान्, कार्यकुशलश्च ॥ १२७ ॥

क्योंकि—थोड़े खर्चे के डर से सभी वस्तुओं का नाश कर बैठता है। भला, कौन बुद्धिमान् राज्यकर के डर से अपना माल छोड़ देता ॥ १२७ ॥

राजाह—'कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते ?' उक्तञ्च—आपदर्थे धनं रक्षेत्' इति । मन्त्री ब्रूते—'श्रीमतां कथमापदः' । राजाह—'कदाचिच्चलिता लक्ष्मीः' । मन्त्री ब्रूते—'सञ्चितापि विनश्यति ।' तद्देव ! कार्पण्यं विमुच्य स्वभटा दानमानाभ्यां पुरस्क्रियन्ताम्' ।

इह समये = अस्मिन् विपत्तिकाले । आपदर्थे = विपदर्थे । श्रीमताम् = धनिनाम् । सञ्चितापि = रक्षितापि । कार्पण्यम् = कृपणताम् । विमुच्य = त्यक्त्वा । स्वभटाः = स्वसैनिकाः ।

राजा ने कहा—इस आपत्ति के समय अधिक खर्च कैसे उचित हो सकता है। कहा भी गया है—आपत्ति काल में काम आने के लिए धन का संग्रह करना चाहिए। मंत्री ने कहा—धनवानों को कैसी आपत्ति ? राजा ने कहा—अगर कहीं दैवात् लक्ष्मी चली जाय तो। मंत्री ने कहा—तो संचित किया हुआ भी नष्ट हो जायगा। इसलिए हे राजन् कंजूसी छोड़ कर दान मान से अपने योद्धाओं को पुरस्कृत कीजिए। जैसा कि कहा भी गया है—

तथा चोक्तम्—'परस्परज्ञाः, संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान् सुनिश्चिताः ।
कुलीनाः पूजिताः, सम्यग्विजयन्ते द्विषद्बलम् ॥

अन्वयः—परस्परज्ञाः संहृष्टाः प्राणान् त्यक्तुं सुनिश्चिताः, कुलीनाः पूजिताः (भटाः) द्विषद्बलम् सम्यग्विजयन्ते ॥ १२८ ॥

परस्परज्ञाः = एकमत्यमापन्नाः अन्योन्यं गुणैर्ज्ञातारः । संहृष्टाः = राज्ञा दानमानादिना तुष्टिताः । प्राणान् त्यक्तुं सुनिश्चिताः = प्राणत्यागे दृढनिश्चयाः । कुलीनाः = उच्चकुले प्रसूताः । सम्यक् पूजिताः = सर्वप्रकारेण सत्कृताः । द्विषद्बलम् = शत्रुसैन्यम् । विजयन्ते = सम्यग्जयन्ति ॥ १२८ ॥

आपस में मिलकर एक दूसरे की शुभ कामना करने वाले, राजा के पारितोषिकादि से प्रसन्न, अपने प्राणों के परित्याग करने में भी दृढ, उच्च वंश मे जन्म लेने वाले और राजा द्वारा भली भाँति सम्मानित सैनिक शत्रु की सेना को जीत लेते हैं ॥ १२८ ॥

अपरञ्च—'सुभटाः, शीलसम्पन्नाः, संहताः, कृतनिश्चयाः ।
अपि पञ्चशत शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम्' ॥ १२९ ॥

अन्वयः—शीलसम्पन्ना, सहता, कृतनिश्चया पञ्चशतम् सुभटा शूरा. अपि रिपुवाहिनीम् निघ्नन्ति ॥ १२९ ॥

शीलसम्पन्ना=शीलपूर्णा । सहता = परस्परम् मिलिता. । कृतनिश्चया = दृढप्रतिज्ञा । शूरा सुभटा = वीरसैनिका । रिपुवाहिनीम् = शत्रुसेनाम् । निघ्नन्ति=विघातयन्ति ॥ १२९ ॥

और भी—शीलवान, आपस में मिले हुए, दृढ-निश्चय वाले बहादुर पाँच सौ सैनिक भी सारी शत्रु की सेना का विनाश कर सकते हैं ॥ १२९ ॥

किञ्च—'शिष्टैरप्यविशेषज्ञ, उग्रश्च, कृतनाशकः ।
त्यज्यते, किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मम्भरिर्नरः' ॥ १३० ॥

अन्वयः—अविशेषज्ञ, उग्र, कृतनाशक आत्मम्भरि नर शिष्टै अपि त्यज्यते किं पुन अन्यै च न (त्यज्यते) ॥ १३० ॥

अविशेषज्ञ = विशेषयोग्यताशून्य । उग्र = उद्दण्ड । कृतनाशक = कार्य-विघातक । शिष्टै. = साध्वाचरणै । त्यज्यते = परिहीयते । अन्यै = इतरै, सामान्यलोकै । न=न त्यज्यते ? अपितु त्यज्यते एव ॥ १३० ॥

और भी—विशेष योग्यता से रहित, उद्दण्ड, कार्य को नष्ट करने वाले तथा अपने स्वार्थ की चिन्ता करने वाले मनुष्य को सज्जन भी छोड देते हैं साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या ! ॥ १३० ॥

यतः—'सत्यं, शौर्यं, दया, त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एतैस्त्यक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम्' ॥ १३१ ॥

अन्वयः—सत्यं, त्याग, दया, शौर्यम् एते नृपस्य महागुणा । एभि त्यक्त. महीपाल वाच्यताम् खलु प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

सत्यम्=सत्यभाषणम् । शौर्यम्=वीरताप्रदर्शनम् । दया=प्राणोपरि करुणा । त्यागः=सत्पात्रे धनवितरणम् । एतैस्त्यक्तः=एतद्गुणैः मुक्तः । महीपालः=नृपः । वाच्यताम्=लोकनिन्दाम् । प्राप्नोति=अधिगच्छति ॥ १११ ॥

क्योंकि—सत्य वीरता दया और त्याग ये राजा के महान् गुण होते हैं। इनसे वंचित राजा निश्चय ही लोकनिन्दा का पात्र होता है ॥ १११ ॥ —

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदवश्यमेव पुरस्कर्तव्याः ।

ईदृशि प्रस्तावे = पुरस्कारवितरणप्रसंगे । तावत् = प्रथमम् । अमात्याः = मन्त्रिणः । पुरस्कर्तव्याः=पुरस्कार्याः ।

इस प्रकार का समय उपस्थित होने पर पहले अमात्यों को पुरस्कार देना चाहिए । जैसा कि कहा भी गया है—

तथा चोक्तम्—'यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी व्ययी ।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च' ॥

अन्वयः—यः येन सह प्रतिबद्धः (स) तेन सह उदयी व्ययी च स्यात् (अतः) सः (एव) विश्वस्तः प्राणेषु च धनेषु च नियोक्तव्यः ॥ ११२ ॥

यः = पुरुषः । येन = येन पुरुषेण नृपेण वा । प्रतिबद्धः = सर्वसुखदुःखभागि-सहभावात् सम्बद्धः । तेन सह = नृपेण सह । उदयी = उन्नतिशीलः । व्ययी = अवनतिशीलः । विश्वस्तः = विश्वासयोग्यः । प्राणेषु = प्राणरक्षणकार्ये । धनेषु = धनरक्षाव्यापारे । नियोक्तव्यः =अधिकारी कार्यः ॥ ११२ ॥

जो व्यक्ति जिस व्यक्ति (राजा) के साथ सम्बन्धित होकर उसकी उन्नति में अपनी भी उन्नति और अवनति में अपनी अवनति समझता है ऐसे ही विश्वस्त व्यक्ति को प्राणों तथा धन की रक्षा के लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ ११२ ॥

यतः—'धूर्तः स्त्री वा शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनक्षिप्तोऽकार्याब्धौ स निमज्जति ॥ ११३ ॥

अन्वयः—यस्य महीपतेः धूर्तः शिशुः स्त्री वा मन्त्रिणः स्युः अनीतिपवनक्षिप्तः सः अकार्याब्धौ निमज्जति ॥ ११३ ॥

यस्य महीपतेः = यस्य राज्ञः । धूर्तः = वञ्चकः । शिशुः = बालः । मन्त्रिणः = मन्त्रदातारः । स्युः = भवेयुः । अनीतिपवनक्षिप्तः = दुर्नीतिवायुना पातितः । अकार्याब्धौ = दुष्कर्मसागरे । निमज्जति = मग्नो भवति ॥ ११३ ॥

जिस राजा के मंत्री धूर्त, स्त्री या बालक हो वह राजा अनीतिरूपी वायु से कठिन कार्यरूपी समुद्र में फेंक दिया जाता है और डूब भी जाता है ॥ १३३ ॥

शृणु देव !

'हर्षक्रोधौ यतौ यस्य, शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ।
नित्यं भृत्यानुपेक्षा च, तस्य स्याद्धनदा धरा' ॥ १३४ ॥

अन्वयः—यस्य हर्षक्रोधौ यतौ, तथा शास्त्रार्थे प्रत्यय, नित्यम् भृत्यानुपेक्षा च तस्य धरा धनदा स्यात् ॥ १३४ ॥

यस्य=नृपस्य । हर्षक्रोधौ, यतौ = संयतौ । तथा शास्त्रार्थे = शास्त्रवचने । प्रत्यय =विश्वास । नित्यम्=सदैव । भृत्यानुपेक्षा = सेवकपर्यवेक्षणम् । च, तस्य, धरा=पृथ्वी । धनदा=वित्तदा, स्यात् ॥ १३४ ॥

राजन् सुनिए—

जो राजा हर्ष तथा क्रोध में समान रूप से संयत रहता है, जिसे शास्त्रवचनों में विश्वास होता है और जो सेवकों पर बराबर ध्यान रखता है, उसकी राज्यभूमि सर्वदा धन देने वाली होती है ॥ १३४ ॥

'येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयौ ध्रुवम् ।
'अमात्या' इति तान् राजा नावमन्येत्कदाचन' ॥ १३५ ॥

अन्वयः—येषाम् राज्ञा सह उच्चयापचयौ ध्रुवम् स्याताम् (ते एव) अमात्याः (भवन्ति अत) राजा तान् कदाचन न अवमन्येत् ॥ १३५ ॥

येषाम्=पुरुषाणाम् । राज्ञा सह=नृपेण सह । उच्चयापचयौ=उन्नत्यवनती । ध्रुवम्=निश्चितम् । तान्=अमात्यान् । कदाचन=कदाचिदपि । न अवमन्येत्=न तिरस्कुर्यात् ॥ १३५ ॥

जिन अमात्यों की उन्नति तथा अवनति राजा के साथ ही होती है, राजा को चाहिए कि ऐसे अमात्यों का भी निरादर न करे ॥ १३५ ॥

'महीभुजो मदान्धस्य सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।
स्खलतो हि करालम्बः सुशिष्टैरेव दीयते' ॥ १३६ ॥

अन्वयः—मदान्धस्य स्खलत दन्तिन इव सकीर्णस्य महीभुज सुशिष्टै एव करालम्ब दीयते हि ॥ १३६ ॥

मदान्धस्य=मदमत्तस्य, राज्यमदोन्मत्तस्य च । दन्तिन =गजस्य । स्खलत = पतितस्य विपन्नस्य च । सकीर्णस्य=सकुचितहृदयस्य । महीभुज =नृपस्य ।

दुर्दिने—अप्रसन्ने सहचरपर्वे विपदि समापतिते । कराश्रयः—शुण्डावलम्ब-हस्तावलम्बम् । दीयते—वितीर्यते ॥ ११६ ॥

जिस प्रकार सब से मतवाले तथा कीचड़ आदि में गिरने वाले हाथी को उसकी जाति दिखाते हुए स्वस्थ हाथी अपनी सूंड का सहारा देकर बचा लेते हैं। इसी प्रकार अभिमानी तथा छोटे कुलवाले विपत्ति में पड़े हुए राजा को प्रधान अपने हाथों का सहारा देकर उबार लेते हैं ॥ ११६ ॥

अथागत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते—'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु । इदानीं विपक्षो दुर्गद्वारि वर्तते । तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि । तेन देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि ।'

चक्रवाको ब्रूते—'मैवं, यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं, तदा दुर्गाश्रयणमेव निष्प्रयोजनम् । अपरञ्च—

मेघवर्णः—वायसः । दृष्टिप्रसादम्—दर्शनानुग्रहम् । विपक्षः—शत्रुवर्गः । देवपादादेशात्—श्रीमदाज्ञया । बहिर्निःसृत्य—दुर्गाद् बहिर्भूत्वा । आनृण्यमुपगच्छामि—ऋणशोधनम् करिष्यामि ।

इसी बीच मेघवर्ण (चित्रवर्ण का कपटपूर्ण मित्र राजहंस बनने के पश्चात् करने पर भी आश्रय दिया था) ने आकर कहा—'राजन्, इधर देखने की कृपा करें । इस समय शत्रु किले के द्वार पर वर्तमान है । इसलिए मैं आपकी आज्ञा से इस किले से बाहर निकल कर अपना पराक्रम दिखाना चाहता हूँ । और इसी कार्य द्वारा आपके ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ । चकवे ने कहा—नहीं ऐसा मत करो । अगर बाहर निकल कर ही युद्ध करना है तो किले का आश्रय लेना ही व्यर्थ है । और भी—

विषमोऽपि यथा नक्रः सलिलान्निःसृतो वशः ।
वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत् ॥ ११७ ॥

अन्वयः—यथा सलिलात् निःसृतः विषमः अपि नक्रः वशः, वनाद्विनिर्गतः सिंहः अपि शूरः (दुर्गाद् विनिर्गतः) शृगालवत् वशः स्यात् ॥ ११७ ॥

सलिलात्—जलात् । निःसृतः—निर्गतः । विषमः—भयङ्करः । नक्रः—कुम्भीरः । वनाद्विनिर्गतः—अरण्यान्निःसृतः । वशः स्यात्—अनुगतः, जालबद्धः इव भवति ॥ ११७ ॥

भयङ्कर होते हुए भी घड़ियाल पानी से बाहर निकल कर, तथा बहादुर सिंह भी जंगल से बाहर आकर गीदड़ के समान दूसरों द्वारा वश में कर लिया जाता है ॥ ११७ ॥

[वायसो ब्रूते—] 'देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम्' । यतः—
राजन् आप स्वयम् चल कर युद्ध देखिये क्योंकि—

'पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।
स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम्' ॥१३८॥

अन्वयः—राजा बलम् पुरस्कृत्य (तत्) अवलोकयन् योधयेत् । स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं ध्रुवम् न सिंहायते ॥ १३८ ॥

राजा = नृपः । बलम् = सैन्यम् । पुरस्कृत्य = अग्रे कृत्वा । अवलोकयन् = निरीक्षमाणः । योधयेत् = युद्धं कारयेत् । स्वामिनाधिष्ठितः = प्रभुणा सनाथः । श्वापि = कुक्कुरोऽपि । ध्रुवम् = निश्चितम् । सिंहायते = सिंह इव आचरति ॥१३८॥

राजा सेना को आगे करके स्वयम् उसका निरीक्षण करते हुए युद्ध कराये क्योंकि स्वामी के साथ रहने से कुत्ता भी निश्चय ही सिंह जैसा पराक्रम दिखाता है ॥ १३८ ॥

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाहवं कृतवन्तः । अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच—'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय ।'

गृध्रो ब्रूते—'देव ! शृणु तावत्'—

महाहवम् = महायुद्धम् । ते = राजहंसादयः । अपरेद्युः = अन्यदिने । स्वप्रतिज्ञातम् = निजप्रतिश्रुतम् । निर्वाहय = पूरय ।

तब वे सभी दुर्ग के द्वार पर जाकर महान युद्ध करने लगे । दूसरे दिन चित्रवर्ण ने गृध्र से कहा—'तात, अब, अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए ।' गृध्र ने कहा तो सुनिए—

'अकालसहमत्यल्पं, मूर्खव्यसनिनायकम् ।
अगुप्तं, भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—अकालसहम् ... दुर्गव्यसनम् उच्यते ॥ १३९ ॥

अकालसहम् = बहुकालावरोधस्य सहने अशक्तम् । मूर्खव्यसनिनायकम् = युद्धविधानाज्ञमद्यपानादिव्यसनासक्तरक्षकम् । अगुप्तम् = अरक्षितम् । भीरुयोधम् = कृपणसैनिकम् । दुर्गव्यसनम् = दुर्गदूषणम् । उच्यते = कथ्यते ॥ १३९ ॥

बहुत दिनों के घेरे को सहन करने में असमर्थता, मूर्ख और व्यसनी नायकों के हाथ में रक्षा का भार होना, भलीभाँति रक्षित न होना और कायर सैनिकों से युक्त होना दुर्ग के दोष कहे जाते हैं ॥ १३९ ॥

तत्रापक्रम नास्ति ।

'उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे' ॥ १४० ॥

अन्वयः—उपजापः चिरारोधः अवस्कन्दः तीव्रपौरुषम् इमे चत्वारः दुर्गस्य लङ्घनोपायाः कथिताः ॥ १४ ॥

उपजापः=दुर्गान्तरे सैनिकानाम् मिथो भेदः । चिरारोधः=दुर्गस्य बहुकालावरोधः । अवस्कन्दः=सहसाक्रमणम् । तीव्रपौरुषम्=अतिपराक्रमः । लङ्घनोपायाः=विजयोपायाः ॥ १४ ॥

वे सब तो इस दुर्ग में नहीं हैं ।

किले के भीतर सैनिकों में फूट डाल देना, बहुत समय तक घेरा डाले रहना, सहसा आक्रमण कर देना और अत्यन्त कठिन पौरुष करना यही चार दुर्ग जीतने के उपाय हैं ॥ १४ ॥

तत् यथाशक्ति क्रियतां यत्नः । कर्णे कथयति—एवमेवम् । ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु प्रवृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निक्षिप्तः । ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वा सर्वतः प्रदीप्ताग्निमवलोक्य राजहंससैनिका बहवो दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः । यतः—

अनुदिते=अनभ्युदिते । भास्करे=सूर्ये । एकदा = सहसा । प्रदीप्ताग्निम् = प्रज्वलिताग्निम् । सत्वरम्=शीघ्रम् । ह्रदं=सरोवरम् ।

अब यहाँ शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिए । कान में कहता है—ऐसे ही ! अभी सूर्य निकला भी नहीं था कि किले के चारों द्वारों पर जमकर युद्ध होने लगा । इसी बीच कौओं ने किले के भीतर आग लगा दी । फिर 'किला ले लिया, ले लिया' इस प्रकार के कोलाहल सुनकर तथा जलती हुई आग देखकर राजहंस के सभी सैनिक तथा किले के रहने वाले शीघ्र ही तालाब में घुस गए । क्योंकि—

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

अन्वयः—कार्यकाले सुमन्त्रितम्, सुविक्रान्तम्, सुयुद्धम्, सुपलायितम् यथाशक्ति (त्वरितम्) कुर्यात् न तु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

कार्यकाले=आपत्काले । सुमन्त्रितम् = सुष्ठुविमर्शनम् । सुविक्रान्तम् = पराक्रमातिशयदर्शनम् । सुयुद्धम् = सुष्ठुरीत्या युद्धकरणम् । सुपलायितम् = विजयस्य

सर्वोपाये विनष्टे सति पलायनम्। यथाशक्ति=शक्त्यनुसारेण। त्वरितम् कुर्यात्, न तु विचारयेत्=विमृशेत् ॥ १४१ ॥

समय आ जाने पर अच्छी मंत्रणा, अच्छा पराक्रम, अच्छी लड़ाई और ठीक ढग से भागने का काम तत्काल कर डालना चाहिए। इसमे किसी प्रकार का विचार नही करना चाहिए ॥ १४१ ॥

राजा हंसश्च स्वभावान्मन्दगतिः, सारसद्वितीयश्चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनागत्य वेष्टितः। हिरण्यगर्भः सारसमाह-'सेनापते! सारस'! ममानुरोधादात्मानं कथं व्यापादयसि। (अधुनाहं गन्तुमसमर्थः), त्वं गन्तुमधुनापि समर्थः। तद्गत्वा जलं प्रविश्यात्मानं परिरक्ष। अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञस्य संमत्या राजानं करिष्यसि'। सारसो ब्रूते—'देव! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः, यावच्चन्द्रार्कौ दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देवः। अहं देव! दुर्गाधिकारी। तन्मम मांसासृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना तावत् प्रविशतु शत्रुः'। अपरञ्च-देव!

मन्दगति=धीरगमन। सारसद्वितीय=सारसेन सहित। वेष्टित=आक्रान्त। ममानुरोधात् = मदपेक्षणात्। व्यापादयसि = मारयसि। दु सहं वच =कठोर-वचनम्। दिवि=आकाशे। चन्द्रार्कौ=शशिसूर्यौ। दुर्गाधिकारी = दुर्गपति। मांसासृग्विलिप्तेन=मांसरुधिरपूरितेन। द्वारवर्त्मना=दुर्गद्वारमार्गेण।

स्वभाव से ही धीरे धीरे चलने वाला राजहंस सारस के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे द्वारा घेर लिया गया। तब हिरण्यगर्भ ने सारस से कहा—'सेनापति सारस, मेरी प्रतीक्षा में तुम अपना विनाश क्यों करोगे? तुम इस समय जा सकते हो। इसलिए जल मे जाकर अपनी रक्षा करो। मेरे पुत्र चूडामणि को सर्वज्ञ की राय से राजा बना देना। सारस ने कहा—'राजन्, आप ऐसी असह्य बात न कीजिए। जब तक आकाश में सूर्यचन्द्रमा स्थित रहे तब तक आप विजयी बने रहें। राजन्, मैं दुर्ग का अधिकारी हूँ। इसलिए मेरे मांस और रक्त से सने हुए द्वार के मार्ग से ही शत्रु भीतर जाने पावेंगे और भी—

'दाता, क्षमी, गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते'।

राजाह—'सत्यमेवैतत्'! किन्तु—

'शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः' ॥ १४२ ॥

अन्वयः—दाता क्षमी भृत्य. अपि दुर्लभ जाने ॥ १४२ ॥

दाता=दानशील । क्षमी=क्षमायुक्त । गुणग्राही=गुणानुरागः । स्वामी=प्रभु । दुःखेन=आयासेन । लभ्यते=प्राप्यते । शुचिः=पवित्रः । दक्ष=सेवायाम् कुशल । अनुरक्तः=स्वामिभक्तः । दुर्लभः=दुष्प्राप । नाथ=आर्य ॥१४२॥

दाता क्षमाशील और गुणों को ग्रहण करने वाले स्वामी बड़ी कठिनाई से मिलते हैं ।

राजा ने कहा—यह तो ठीक है किन्तु—

मैं ऐसा समझता हूँ कि पवित्र चतुर एवं स्वामिभक्त सेवक भी दुर्लभ होते हैं ॥ १४२ ॥

सारसो ब्रूते—'शृणु देव ।

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-

र्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।

अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः

किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत ? ॥ १४३ ॥

अन्वयः—यदि समरम् अपास्य मृत्योर्भयम् नास्ति इति (तर्हि) इतोऽन्यतः प्रयातुम् युक्तम् । अथ जन्तोः मरणम् अवश्यम् एव (तर्हि) यशः मुधा किमिति मलिनम् क्रियेत ॥ १४३ ॥

यदि=चेत् । समरम्=युद्धम् । अपास्य=त्यक्त्वा पलायिते सति । मृत्योर्भयम्=मृत्युभीतिः । न=न भवेत् । तर्हि । इतोऽन्यतः=समरभूमेः अन्यत्र । प्रयातुम्=गन्तुम् । युक्तम्=उचितम् । अथ=चेत् । जन्तोः=प्राणिनः । मरणम्=मृत्युः । अवश्यमेव=ध्रुवमेव । तर्हि । यशः=कीर्तिः । मुधा=वृथा । किमिति=कथम् । मलिनम्=म्लानम् क्रियेत=क्रियेत ॥ १४३ ॥

सारस ने कहा—राजन् सुनिए ।

यदि युद्ध छोड़ कर भाग जाने से मृत्यु का भय नष्ट हो जाये तो यहाँ से दूसरे जगह भाग जाना ठीक हो सकता है । किन्तु जब प्राणी के लिए मृत्यु अवश्यम्भावी है तो व्यर्थ ही भागकर कीर्ति को मलिन क्यों बनाया जाय ॥१४३॥

अन्यच्च—'भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे ।

जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—पवन उद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे अस्मिन्भवे पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः जायते ॥ १४४ ॥

पवनोद्भ्रान्तेन=वायुनोत्थितेन । वीचिविभ्रमभङ्गुरे=तरङ्गविलासवत् नाशशीलो । अस्मिन्भवे=अस्मिन् ससारे । पुण्ययोगेन=सुकृतसपर्केण । परार्थे=अन्योपकारव्यापारे । जीवितव्यय =प्राणोत्सर्जनम् । जायते=भवति ॥ १४४ ॥

और भी—वायुद्वारा उठने गिरने वाली चचल लहरो के समान क्षण भरमे नाश हो जाने वाले इस ससार से बडे पुण्य से ही दूसरो की भलाई मे प्राणत्याग करने का अवसर मिलता है ॥ १४४ ॥

'स्वाम्यमात्यश्च, राष्ट्रं च, दुर्गं, कोशो, बल, सुहृत् ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः, पौराणां श्रेणयोऽपि च' ॥ १४५ ॥

अन्वयः—स्वामी, अमात्य , राष्ट्रम्, दुर्गम्, कोश , बलम्, सुहृत्, प्रकृतय , पौराणाम् श्रेणय अपि च राज्याङ्गानि ॥ १४५ ॥

स्वामी = नृप । अमात्य = मन्त्री । राष्ट्र=स्वशासितदेश । दुर्गम्=दुर्गम युद्धोपकरणयुक्त विशाल राजभवनम् । बलम् = सैन्यम् । सुहृत्=मित्रम् । प्रकृतय =प्रजा । पौराणाम्=पुरवासिनाम् । श्रेणय =मण्डलानि । राज्याङ्गानि= राज्यस्य अवयवा ॥ १४५ ॥

राजा, मत्री, राष्ट्र दुग, कोश, सेना, मित्र तथा प्रजा एवं नागरिको के मडल य आठ राज्य के अङ्ग होते हैं ॥ १४५ ॥

देव ! त्वं च स्वामी, सर्वथा रक्षणीयः । यतः—

'प्रकृतिः स्वामिन त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति ।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः, किं करोति गतायुषि' ॥ १४६ ॥

अन्वयः—स्वामिनम् त्यक्त्वा समृद्धापि प्रकृति न जीवति । धन्वन्तरि वैद्य अपि गतायुषि किं करोति ॥ १४६ ॥

स्वामिनम्=राजानम् । त्यक्त्वा=विहाय । समृद्धा=सर्वभवा । प्रकृति = प्रजा । धन्वन्तरि वैद्य =तन्नामा कुशलवैद्य अपि । गतायुषि=क्षीणायुषि । किं करोति=न किमपि कर्तुं प्रभवेत् ॥ १४६ ॥

राजन्, आप स्वामी हैं इसलिए आप की रक्षा सभी प्रकार से होनी ही चाहिए । क्योंकि—

धन-धान्य से भरी पूरी होने पर भी प्रजा स्वामी को छोडकर जीवित नही रह सकती । अगर किसी रोगी की आयु ही समाप्त हो जाय तो धन्वन्तरि वैद्य भी क्या कर सकते हैं ॥ १४६ ॥

अपरञ्च—'नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति, निमीलति।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम् ॥ १४७ ॥

अन्वयः—अयम् जीवलोकः नरेशे निमीलति निमीलति उदीयमाने रवौ सरोरुहम् इव उदेति ॥ १४७ ॥

अयम् जीवलोकः = एतत्समस्तप्राणिवर्गः। नरेशे = राजनि। निमीलति = विपन्ने मृते वा सति। निमीलति = विपन्नो भवति म्रियते च। उदीयमाने = अभ्युदयमाप्नुवति। उदेति = अभ्युदयमाप्नोति। रवौ = सूर्ये। निमीलति = अस्तं गच्छति सति। निमीलति = मुकुलीभवति सरोरुहम् = कमलम्, इव = यथा ॥

यह सारे प्राणी राजा के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं और सूर्य के उदय होने पर कमल के समान राजा की उन्नति से विकसित हो जाते हैं ॥

अत्रापि प्रधानाङ्गं राजा।

अथ कुक्कुटेनागत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाघातः कृतः। तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहान्तरितो राजा जले क्षिप्तः।

अथ कुक्कुटनखप्रहारजर्जरीकृतेनापि सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हता। पश्चात्सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः समेत्य चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः। अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य, दुर्गावस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा बन्दिभिर्जयशब्देनानन्दितः स्वस्कन्धावारं जगाम।

शरीरे = देहे। खरतरनखाघातः = तीक्ष्णनखप्रहारः। स्वदेहान्तरितः = निज शरीरेणावृतः। नखप्रहारेण = नखाघातेन। जर्जरीकृतेन = छिन्नभिन्नशरीरेण। विभिद्य = विदार्य। व्यापादितः = हतः। चञ्चुप्रहारेण = तुण्डाघातेन। दुर्गम् = राजहंसदुर्गम्। दुर्गावस्थितम् = दुर्गे विद्यमानम्। द्रव्यम् = रत्नादिकम्। ग्राहयित्वा = निजाधिकारिणे समर्प्य। स्कन्धावारम् = स्वसैन्यनिवेशम्। बन्दिभिः = चारणैः। तस्मिन् राजनि = राजहंसस्य देहे। पुच्छाग्रम् = पुच्छाग्रेण। स्वदेहान्तरेण = निज शरीरविसर्जनेन।

इसके पश्चात् मुर्गे ने आकर अपने तेज नखों का प्रहार किया किन्तु सारस ने शीघ्रता से पास आकर अपने शरीर से उसे ढककर पानी में फेंक दिया। यद्यपि मुर्गे के

नख की चोट से सारस का शरीर छिन्न-भिन्न हो गया फिर भी उसने बहुत-सी मुर्गों की सेना को मार गिराया। किन्तु मुर्गों के चोंचो की मार से अन्त में वह मर गया। इसके बाद चित्रवर्ण ने किले मे प्रवेश किया और वहाँ की वर्तमान सभी सामग्री को लेकर चारणो के जय शब्द से आनंदित होता हुआ अपने पड़ाव पर चला गया।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—'तस्मिन्राजहंसबले पुण्यवान् स सारस एव, येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः'। यतः—

'जनयन्ति सुतान् गावः सर्वा एव गवाकृतीन्।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम्' ॥ १४८ ॥

अन्वय.—सर्वा गाव एव गवाकृतीन् सुतान् जनयन्ति (किन्तु) विषाणोल्लिखितस्कन्धम् गवाम् पतिम् काचिदेव (जनयति) ॥ १४८ ॥

सर्वा गाव =सर्वा सुरभय । गवाकृतीन्=स्वसमानाकृतीन्। सुतान्=वत्सान्। जनयन्ति=उत्पादयन्ति । विषाणोल्लिखितस्कन्धम्=शृङ्गक्षतककुदम् । गवां पतिम्=बलीवर्दश्रेष्ठम् ॥ १४८ ॥

राजकुमारो ने कहा—उस राजहंस की सेना में सारस ही पुण्यात्मा था जिसने अपने शरीर का त्याग करके स्वामी की रक्षा की। ऐसा कहा भी गया है—

सभी गायें बैलो जैसी आकृति वाले बछडो को जन्म देती हैं किन्तु युद्ध मे सींगों के प्रहार से कटे हुए कधों वाले सांड का जन्म कोई-कोई गाय ही देती है॥

विष्णुशर्मोवाच—'स तावत्सत्त्वक्रीतानक्षयल्लोकान् विद्याधरीपरिवृतोऽनुभवतु महासत्त्वः'। तथा चोक्तम्—

स =सारस । विद्याधरीपरिवृत =विद्याधरीभि सेवित । महासत्त्व =महापराक्रम ।

विष्णुशर्मा ने कहा—वह महापराक्रमी तो विद्याधरियो से घिरा हुआ स्वर्ग सुख का अनुभव कर रहा होगा। जैसा कि कहा गया है—

'आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः।
भर्तृभक्ताः, कृतज्ञाश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः' ॥ १४९ ॥

अन्वयः—ये आहवेषु शूरा, स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविता भर्तृभक्ता कृतज्ञा च (भवन्ति) ते नरा [illegible]न् भवन्ति ॥ १४९ ॥

ये=नराः । आहवेषु=युद्धेषु । शूराः=पराक्रमशीलाः । स्वाम्यर्थे=नृपार्थं । त्यक्तजीविताः=परित्यक्तप्राणाः । भर्तृभक्ताः=स्वामिभक्ताः ॥ १४९ ॥

जो वीर युद्ध में स्वामी की रक्षा में अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं ऐसे स्वामिभक्त और कृतज्ञ लोग स्वर्ग में चले जाते हैं ॥ १४९ ॥

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि क्लैब्यं न गच्छति ॥ १५० ॥

अन्वयः—यत्र तत्र शत्रुभिः परिवेष्टितः हतः शूरः यदि क्लैब्यम् न गच्छति (तर्हि) अक्षयान् लोकान् लभते ॥ १५० ॥

यत्र तत्र=यत्र कुत्रापि स्थाने । शत्रुभिः = अरिभिः । परिवेष्टितः=आक्रान्तः । हतः=मृतः । शूरः = वीरः । क्लैब्यम् = दैन्यम् । अक्षयान् लोकान्=शाश्वतान् नित्यलोकान् । लभते=प्राप्नोति ॥ १५० ॥

शत्रुओं से घिर कर जहाँ कहीं भी मरा हुआ वीर यदि कायरता न दिखावे तो वह अक्षय लोक को प्राप्त करता है ॥ १५० ॥

अथ विष्णुशर्मा आह—

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः । राजपुत्रैरुक्तम्—'श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम् । विष्णुशर्माऽब्रवीत्—अपरमप्येवमस्तु—

विग्रहः करितुरगपत्तिभि-
र्नो कदापि भवतान्महीभुजाम् ।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः ॥ १५१ ॥

इति श्रीनारायणपण्डितकृते हितोपदेशे नीतिशास्त्रे
विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः ॥ ३ ॥

अन्वयः—करितुरगपत्तिभिः कदापि महीभुजाम् विग्रहः न भवतात् नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः द्विषः गिरिगह्वरम् संश्रयन्तु ॥ १५१ ॥

करितुरगपत्तिभिः = गजाश्वपदातिभिः सह । कदापि महीभुजां = राज्ञाम्, विग्रहः = युद्धम् । नो भवतात् = न भूयात् । नीतिमन्त्रपवनैः=नयमन्त्ररूपवायुभिः ।

समाहृता =प्रताडिता । द्विष =शत्रव । गिरिगह्वरम्=पर्वतकन्दरम् । संश्रयन्तु=अवलम्बन्ताम् ॥ १५१ ॥

— ० —

फिर विष्णुशर्मा ने कहा—

आपलोगों ने विग्रह सुन लिया। राजपुत्रों ने कहा—सुनकर हमलोग सुखी हुए। विष्णुशर्मा ने कहा—अब यह और भी हो।

राजाओं का हाथी, घोडे तथा पैदल सेना में कभी भी युद्ध न हो। किन्तु शत्रु नीति और मन्त्रणा रूपी वायु से पीडित होकर पहाड की गुफाओं का आश्रय लें। अर्थात् राजा लोग नीतिकुशलता तथा मन्त्रियो की सन्मन्त्रणा से ही शत्रुओं को मार भगाएँ ॥ १५१ ॥

— ० —

|| श्रीः ||

हितोपदेशः

— ० —

सन्धिः

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः। सन्धिरधुनाभिधीयताम्।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम्, सन्धिमपि कथयामि। यस्यायमाद्यः श्लोकः—

पुन कथारम्भकाले=भूय कथाप्रारम्भसमये। आर्य=समान्य। विग्रह =युद्धम्। श्रुत =आकर्णित। सधि =परस्परमेलनम्। अधुना=इदानीम्। अभिधीयताम्=कथ्यताम्।

फिर कथा प्रारम्भ होने के समय राजपुत्रो ने कहा—'आर्य, हम लोगो ने युद्ध का प्रसग सुन लिया, अब संधि का प्रसङ्ग सुनाइए।' विष्णुशर्मा ने कहा—सुनिए, सधि का विषय भी कह रहा हूँ। जिनका पहिला श्लोक यह है—

'वृत्ते महति सग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः।
स्थेयाभ्यां गृध्र-चक्राभ्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणात्' ॥१॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?'। विष्णुशर्मा कथयति—

अन्वयः—महति सग्रामे वृत्ते स्थेयाभ्याम् गृध्रचक्राभ्याम् निहतसेनयो राज्ञो क्षणात् वाचा सन्धि कृत ॥ १ ॥

महति—अतिभीषणे। सग्रामे=युद्धे। वृत्ते=सञ्जाते सति। स्थेयाभ्याम्=मध्यस्थाभ्याम्। गृध्रचक्राभ्याम्=द्वयो राज्ञो मन्त्रिभ्याम्। निहतसेनयो =नष्टबलयो। राज्ञो =हंसमयूरयो नृपयो। क्षणात्=तत्कालमेव। वाचा = वाङ्मात्रेणैव। सन्धि =परस्परमेलनम्। कृत =विहित ॥ १ ॥

उन दोनों राजाओ (राजहस तथा चित्रवर्ण) के बीच भयानक युद्ध होने तथा दोनो पक्षो के बहुत से सैनिकों के मारे जाने पर उन दोनों के प्रधान मन्त्री चकवे तथा गृद्ध ने बीच मे पड़कर क्षण भर मे ही बातचीत के द्वारा सन्धि कर ली ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—'यह कैसे हुआ ?' विष्णुशर्मा ने कहा—

'ततस्तेन राजहंसेनोक्तं—केनास्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः ? । किं पारक्येण ?, किं वास्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ?' चक्रवाको ब्रूते—देव ! भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते । तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।

राजा क्षणं विचिन्त्याह— अस्ति तावदेवं, मम दुर्दैवमेतत्' । तथा चोक्तम्—

केन=केनापि प्रकारेण पारक्येन रक्षितेन । राजहंसेन=हिरण्यगर्भेण । अग्निः= वह्निः । निक्षिप्तः=पातितः । पारक्येण = परपक्षीयेण । विपक्षप्रयुक्तेन=शत्रुणा नियुक्तेन । भवतः=तव । निष्कारणबन्धुः = अकारणसुहृद् । न दृश्यते=नावलोक्यते । क्षणे=काले । विचेष्टितम्=विच्याचरितम् । इदम् = अग्निप्रक्षेपणम् । अस्ति तावदेवम्=युक्तमेतदेवम् । दुर्दैवम्=दुर्भाग्यम् ।

इसके पश्चात् उस राजहंस ने कहा— हमारे किले में आग किसने फेंकी थी ? क्या किसी शत्रु ने अथवा मेरे किले में ही रहने वाले शत्रु से मिले हुए किसी व्यक्ति ने ? चकवे ने कहा—राजन्, आपका अकारणबन्धु बना हुआ मेघवर्ण इस समय अपने परिवार वालों के साथ यहाँ नहीं दिखाई पड़ रहा है इसलिए मैं समझता हूँ कि उसी ने यह अग्निकांड किया है । राजा ने थोड़ी देर सोच कर कहा—हाँ ऐसा ही है; किन्तु यह मेरा दुर्भाग्य भी है । जैसा कि कहा भी गया है—

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।
कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते- उक्तमेवैतत्—

अन्वयः—स दैवस्य अपराधः न पुनः अयम् मन्त्रिणाम् (अपराधः) क्वापि सुचरितम् कार्यमपि दैवयोगात् विनश्यति ॥ २ ॥

सः=अपराधः । दैवस्य=भाग्यस्य । अपराधः=दोषः । अयम् मन्त्रिणाम् दोषः न । क्वापि=कुत्रापि । सुचरितम्=सुचिन्तितमपि । कार्यम् = करणीयम् । दैवयोगात्=भाग्यवशात् । विनश्यति=विनाशमुपगच्छति ॥ २ ॥

यह जो कुछ हुआ यह सभी दुर्भाग्य के दोष से ही हुआ । इसमें मंत्रियों का कोई भी दोष नहीं है । क्योंकि कभी-कभी भली-भाँति सोच कर किए गए कार्य भी भाग्यदोष से नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

मंत्री चक्रवाक ने कहा—'यह भी तो कहा गया है—

'विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः' ॥ ३ ॥

अन्वयः—नर विषमां दशाम् प्राप्य दैव गर्हयते । अपण्डित' आत्मन कर्म-दोषान् नैव जानाति ॥ ३ ॥

नर =मनुष्य । विषमाम्=विपत्तिभीषणाम् । दशाम् = स्थितिम् । प्राप्य=लब्ध्वा । दैवम्=भाग्यम् । गर्हयते = विनिन्दति । अपण्डित = मूर्ख । आत्मन = स्वस्य । कर्मदोषान्=कर्तव्यच्युती । न जानाति=नावगच्छति ॥ ३ ॥

मनुष्य विपत्तियो मे पड कर भाग्य को दोष देता है किन्तु वह मूर्ख अपने किए हुए काम की त्रुटियो को नही समझता है ॥ ३ ॥

अपरञ्च—'सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति' ॥ ४ ॥

अन्वयः—य हितकामानाम् सुहृदाम् वाक्यम् न अभिनन्दति स दुर्बुद्धि काष्ठाद् भ्रष्ट कूर्म इव विनश्यति ॥ ४ ॥

य'=नर । हितकामानाम्=शुभेच्छुकानाम् । सुहृदाम्=मित्राणाम् । वाक्यम्=उपदेशम् । न अभिनन्दति=नाद्रियते । स दुर्बुद्धि = स दुर्मति । काष्ठाद्भ्रष्ट.=काष्ठात्पतित । कूर्म =कच्छप इव । विनश्यति=मृत्युमाप्नोति ॥ ४ ॥

और भी—जो व्यक्ति अपनी भलाई चाहने वाले मित्रो की बात का आदर नहीं करता है वह मूर्ख, कछुवे के समान लकडी से नीचे गिर कर नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

[अन्यच्च—रक्षितव्य सदा वाक्यं, वाक्याद्भवति नाशनम् ।
हंसाभ्या नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा'] ॥ ५ ॥

राजाह—'कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति—

अन्वयः—वाक्यम् सदा रक्षितव्यम् (यत) वाक्यात् नाशनम् भवति यथा हंसाभ्याम् नीयमानस्य कूर्मस्य (वचनात् एव) पतनम् (अभवत्) ॥ ५ ॥

वाक्यम्=स्ववाणी । रक्षितव्यम्=संयमनीयम् । वाक्यात् = वृथा प्रलापात् । नाशनम्=विनाश । भवति=आगच्छति । यथा हंसाभ्याम्=मरालाभ्याम् । नीयमानस्य=वाह्यमानस्य । कूर्मस्य=कच्छपस्य । पतनम्=काष्ठाद् भ्रंश , (अभवत्) ॥५॥

और भी—मनुष्य को सदा अपनी वाणी को संयत रखना चाहिए क्योंकि बोलने से कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है जैसे हंसों द्वारा ले जाए जाते हुए कछुवे का पतन हुआ था।

राजा-राजहंस ने कहा—यह कैसे? मंत्री चक्रवे ने कहा—

कथा १

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः। तत्र चिरं संकटविकटनामानौ हंसौ निवसतः। तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मः प्रतिवसति।

अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तं, यत्—अत्रास्माभिरद्योषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः। तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह 'सुहृदौ! श्रुतोऽयं धीवरालापः। अधुना किं मया कर्तव्यम्?' हंसावाहतुः—'ज्ञायतां तावत् पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्तव्यम्' कूर्मो ब्रूते—'मैवम्। यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र'। तथा चोक्तम्—

फुल्लोत्पलाभिधानम् = फुल्लोत्पलनामकम्। तत्र=अस्मिन् सरसि। चिरं= बहुकालम्। धीवरैः = मत्स्यघातीभिः। अत्र = अस्मिन् स्थाने। उषित्वा = निवासं कृत्वा। व्यापादयितव्याः = हन्तव्याः। तदाकर्ण्य=धीवरवचः श्रुत्वा। हंसौ = स्वमित्रे हंसौ प्रति। आह=उवाच। श्रुतः = आकर्णितः। धीवरालापः = धीवर वार्ता। अधुना=इदानीम्। किं कर्तव्यम्=कः प्रतीकारः कार्यः। ज्ञायताम् = सम्यक् विचार्यताम् तावत्। आहतुः = ऊचतुः। यदुचितम् = यत् योग्यं [illegible]। [illegible] =[illegible], [illegible] [illegible] [illegible] वा [illegible] [illegible] मया दृष्टः एवैतत्।

मगध देश में फुल्लोत्पल नाम का एक तालाब है उसमें बहुत दिनों से संकट और विकट नाम के दो हंस रहते थे। उन दोनों का मित्र कम्बुग्रीव नामक कछुआ भी वहीं रहता था। एक बार मछुओं ने वहाँ आकर कहा कि—आज हम लोग यहीं ठहरें और प्रातःकाल मछली तथा कछुओं आदि का शिकार करें। यह सुन कर कछुवे ने हंसों से कहा—मित्रो! इन मछुओं की बात सुन ली न। अब मुझे क्या करना चाहिए? हंसों ने कहा—अभी विचार किया जाय फिर प्रातःकाल जैसा उचित होगा वैसा किया जायगा। कछुवे ने कहा—नहीं ऐसा नहीं क्योंकि मैंने ऐसा करने से होने वाली हानि देखी है। जैसा कि कहा भी गया है—

'अनागतविधाता च, प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते, यद्भविष्यो विनश्यति' ॥ ६ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?' । कूर्मः कथयति—

अन्वयः—अनागतविधाता तथा प्रत्युत्पन्नमति च एतौ द्वौ सुखमेधेते (किन्तु) यद्भविष्य विनश्यति ॥ ६ ॥

अनागतविधाता=तन्नामा मत्स्य, भाविन्यर्थे विचारकुशल, इत्यभिधेयार्थं । प्रत्युत्पन्नमति=तन्नामा अपर मत्स्य, कार्यकाले तीक्ष्णबुद्धि, इति अभिधेयार्थं । सुखमेधेते=सुखेन वर्द्धेते । यद्भविष्य=तन्नामा मत्स्य । भाविन्यर्थे न कोऽपि शक्त यद्भविष्यति तद्भविष्यत्येवेति विचारक इति अभिधेयार्थं । विनश्यति=मृत्यु प्राप्नोति ॥ ६ ॥

'जो भविष्य की चिन्ता करने वाला तथा समयानुसार बुद्धि द्वारा कार्य पूरा करने वाला होता है वह दोनो सुख से बढते हैं किन्तु जो होगा सो होगा, ऐसा सोचने वाला नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

दोनों हंसों ने कहा—यह कैसे । कछुवे ने कहा—

कथा २

पुरास्मिन्नेव सरस्येवंविधेष्वेव धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणालोचितम् । तत्रानागतविधाता नामैको मत्स्यः । तेनोक्तम्—'अहं तावज्जलाशयान्तरं गच्छामि' । इत्युक्त्वा स ह्रदान्तरं गतः । अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितं—'भविष्यदर्थे प्रमाणाभावात्कुत्र मया गन्तव्यम् ? । तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम्' । तथा चोक्तम्—

पुरा=प्राचीनकाले । एवंविधेषु=ईदृशेषु । उपस्थितेषु=मत्स्यव्यापादनायागतेषु । आलोचितम्=निरूपितम् । जलाशयान्तरम्=अन्यसरोवरम् । ह्रदान्तरम्=अन्यतडागम् । अपरेण=द्वितीयेन । अभिहितम्=उक्तम् । भविष्यदर्थे = भाविनि विषये । प्रमाणाभावात्=प्रमाण विना । तदुत्पन्ने=भये समागते सति । यथाकार्यं=कर्तव्यमनुगम्य । अनुष्ठेयम्=प्रतिविधान कार्यम् ।

आज से बहुत पहिले इसी तालाब पर इसी प्रकार मछुओ के आने पर तीन मछलियों ने विचार किया था । उनमें एक मछली का नाम अनागतविधाता था । उसने कहा कि 'मैं तो दूसरे तालाब में चली जा रही हूँ ।' ऐसा कह कर वह

दूसरे तालाब में चली गई। प्रत्युत्पन्नमति नाम की दूसरी मछली ने कहा—'भविष्य में होने वाली बात के प्रभाव के अभाव में बता मैं कहाँ जाऊँ? अतः समयानुसार जो करना होगा करूँगा। जैसा कि कहा भी गया है—

'उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा' ॥७॥

यद्भविष्यः पृच्छति—'कथमेतत्?' प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति—

अन्वयः—यः उत्पन्नाम् आपदम् समाधत्ते स बुद्धिमान् (भवति) यथा वणिजः भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतः ॥७॥

उत्पन्नाम्=समुपस्थिताम्। आपदम्=विपत्तिम्। समाधत्ते=समाधानं करोति, दूरीकरोतीत्यर्थः। स बुद्धिमान्=धीमान्। [illegible] ॥७॥

जो आई हुई विपत्ति का समाधान तत्काल कर लेता है वही बुद्धिमान कहा जाता है जैसे वणिक् की स्त्री ने अपने पति के सामने ही अपने जार को छिपा लिया था ॥७॥

यद्भविष्य ने पूछा—यह कैसे? प्रत्युत्पन्नमति ने कहा—

कथा २

'पुरा विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति। तस्य रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते। यतः—

[illegible]

प्राचीन काल में विक्रमपुर में समुद्रदत्त नाम का एक वणिक् था। उसकी स्त्री रत्नप्रभा अपने नौकर के साथ सदा रमण किया करती थी। क्योंकि—

'न स्त्रीणामप्रियः कश्चित् प्रियो वापि न विद्यते।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ते नवं नवम्' ॥८॥

अन्वयः—स्त्रीणाम् कश्चित् अप्रियः न, प्रियः वा अपि न विद्यते। (यथा) अरण्ये गावः नवं नवं तृणम् (इच्छन्ति) तथा (नवं नवं पुरुषम्) (प्रार्थयन्ते) ॥८॥

[illegible] ॥८॥

स्त्रियो के लिए न तो कोई अप्रिय होता है और न तो कोई प्रिय ही होता है। बल्कि जैसे जगल मे गायें नित्य नई-नई घास चरना चाहती हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ नए नए नवयुवको की कामना किया करती हैं ॥ ८ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता। तत• सा बन्धकी सत्वरं भर्तु समीपं गत्वाह—'नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती निकृतिः। यतोऽयं 'चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादती'ति मयास्य मुखमाघ्राय ज्ञातम्। तथा चोक्तम्—

सेवकस्य=भृत्यस्य। अवलोकिता=दृष्टा। बन्धकी=कुलटा। सत्वरम्=शीघ्रम्। आह=उक्तवती। निकृति=दुष्टप्रवृत्ति। चौरिकाम् कृत्वा=चोरयित्वा।

एक बार रत्नप्रभा उस सेवक का चुम्बन ले रही थी कि समुद्रदत्त ने देख लिया। तब उस कुलटा ने शीघ्र ही पति के पास जाकर कहा कि 'नाथ, इस नौकर मे एक बहुत बडी दुष्टता है, यह चोरी करके कपूर खाता है। मैंने इसका मुख सूंघ कर ऐसा जान लिया है। कहा भी गया है—

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाष्टगुणः स्मृत•' ॥ ९ ॥

अन्वयः—स्त्रीणाम् आहार द्विगुण, तासाम् बुद्धि चतुर्गुणा, व्यवसाय षड्गुण, काम च अष्टगुण स्मृत ॥ ९ ॥

स्त्रीणाम्=नारीणाम्। आहार = भोज्यम्। द्विगुण = पुरुषापेक्षया द्विगुणः। व्यवसाय•=उद्यम। काम =विषयाभिलाष ॥ ९ ॥

स्त्री मे पुरुष की अपेक्षा भोजन की शक्ति दुगुनी, बुद्धि चौगुनी, परिश्रम करने की शक्ति छगुनी और कामवासना आठगुनी होती है ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा सेवकेनापि प्रकुप्योक्तं-'नाथ ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथ स्थातव्यम्? यत्र च प्रतिक्षण गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति।' ततोऽसावुत्थाय चलितः। साधुना च यत्नात्प्रबोध्य धृतः। अतोऽहं ब्रवीमि- उत्पन्नामापदम्' इत्यादि ॥ ❀ ॥

ततो यद्बुद्धिशिष्येणोक्तम्—

प्रकुप्योक्तम्=क्रोधावेशेन कथितम्। जिघ्रति=गन्धमुपादत्ते। असौ=सेवक•। यत्नात्प्रबोध्य=प्रयत्नेन सबोध्य। धृत =गमनात् वारित।

यह सुनकर सेवक ने क्रुद्ध होकर कहा कि—स्वामी जिस मालिक के घर में ऐसी स्त्री होती वहाँ भला नौकर कैसे रह सकते हैं? जहाँ स्त्री हर समय नौकर का मुँह सूँघती है। मधुरे ने कहा इसके बाद वह नौकर उठ कर चल पड़ा। तब उस बनिये ने उसे समझा-बुझा कर किसी प्रकार रोका। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'आपत्ति आने पर' इत्यादि। तब मद्गुरविषय ने कहा—

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा'।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ?॥ १०॥

अन्वयः—यत् अभावि न तद्भावि भावि चेत् तद् अन्यथा न इति अयम् चिन्ताविषघ्नः अगदः किं न पीयते ?॥ १०॥

यद् अभावि = यद् न भविष्यति। न तद्भावि—तद् न भविष्यत्येव। भावि चेत्—यदि भविष्यति। तद् अन्यथा न—तद् कदापि केनापि दूरीकर्तुं न शक्यं। चिन्ताविषघ्नः—चिन्तारूपविषापहारकः। अगदः—औषधम्। किं न पीयते—कथं न सेव्यते॥ १०॥

'जो नहीं होने वाला है वह नहीं होता और जो होने वाला है वह अवश्य ही होता उसे कोई टाल नहीं सकता। यह चिन्तारूपी विष को दूर करने की सबसे अच्छी दवा है। इसे क्यों नहीं पीते ?॥ १०॥

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं सन्दर्श्य स्थितः। ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गम्भीरं नीरं प्रविष्टः। मद्गुरविषयश्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि— 'अनागतविधाता च' इत्यादि।

तद्यथाहमन्यं ह्रदं प्राप्नोमि तथा क्रियताम्। हंसावाहतुः— 'जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम्। स्थले गच्छतस्ते को विधिः ?'। कूर्म आह—'यथाहं भवद्भ्यां सहाकाशवर्त्मना यामि तथा विधीयताम्। हंसौ ब्रूतः—'कथमुपायः सम्भवति' ?। कच्छपो वदति— 'युवाभ्यां चञ्चुधृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनावलम्बितव्यम्। ततश्च युवयोः पक्षबलेन मयापि सुखेन गन्तव्यम्। हंसौ ब्रूतः— सम्भवत्येष उपायः। किन्तु—

जालेन बद्ध = धीवरजालग्रस्तः। आत्मानम् = स्वयम्। मृतवत् मृत्यु का रूप। सन्दर्श्य = प्रदर्श्य। अपसारित = निष्कासितः। उत्प्लुत्य = उत्प्लवनं कृत्वा (उछलकर)। जलाशयान्तरम् = अन्यजलाशयम्। प्राप्ते = गते। तव कुशलम् = मङ्गल

मंगलम् । स्थले = भूमौ । को विधि = क रक्षणोपाय । आकाशवर्त्मना=गगन-मार्गेण । विधीयताम्=उपाय क्रियतात् ।

तब प्रात काल जाल में बंधे हुए प्रत्युत्पन्न मति ने अपने आप को मुर्दे के समान पड़ा हुआ प्रदर्शित किया । जिससे मछुओं ने उसे जाल से बाहर फेंक दिया । और वह तत्काल अपनी शक्ति के अनुसार शीघ्रता से उछल कर गहरे पानी में चली गई । यद्भविष्य मछुओं के द्वारा पकड़ कर मार डाली गई । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'अनागत विधाता इत्यादि' ।

इसलिए मैं जिस उपाय से दूसरे तालाब मे जा सकूं, वही उपाय कीजिए । हंसों ने कहा—'दूसरे तालाब मे चले जाने पर तो आपकी रक्षा हो जायगी किन्तु भूमि पर चलने समय रक्षा का क्या उपाय होगा ?' कछुवे ने कहा मैं आप दोनों के साथ आकाश मार्ग से जा सकू, ऐसा उपाय कीजिए । हंसो ने कहा—'इसके लिए क्या उपाय हो सकता है ?' कछुवे ने कहा—आप दोनो अपनी चोंच से इधर उधर एक काठ का टुकड़ा पकड़ लीजिएगा और मैं उस लकड़ी के बीच म अपने मुँह से पकड़ कर लटक जाऊँगा इस प्रकार आप दोनो के पंखो के बल से मैं भी आसानी से चल चलूँगा ।' हंसों ने कहा—'यह उपाय तो हो सकता है' किन्तु—

'उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो, ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः' ॥ ११ ॥

कूर्मः पृच्छति—'कथमेतत् ?।' तौ कथयतः—

अन्वयः—उपायम् चिन्तयन् प्राज्ञ अपायमपि चिन्तयेत् बकमूर्खस्य पश्यतः प्रजा नकुलै भक्षिता ॥ ११ ॥

उपायम्=विधिम् । चिन्तयन्=विचारयन् । प्राज्ञ =बुद्धिमान् । अपायमपि=हानिमपि । चिन्तयेत्=विचारयेत् । पश्यत =दृश्यत । प्रजाः=सन्ताना, भक्षिता =खादिता ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् को उचित है कि वह उपाय का विचार करते समय उससे होने वाली हानि का भी विचार कर ले । नहीं तो जैसे उस मूर्ख बगुले की सन्तानों को नेवले ने खा डाला उसी प्रकार हानि का विचार न करने वाला भी नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

कछुवे ने पूछा 'यह कैसे हुआ ?' दोनो हंसो ने कहा—

कथा ४

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्षः । तत्रानेके बका निवसन्ति । तस्य वृक्षस्याधस्ताद्विवरे सर्पस्तिष्ठति । स च

बकानां बालापत्यानि खादति। अथ शोकार्तानां विलापं श्रुत्वा, केनचिद् वृद्धबकेनाभिहितम्—'भो एवं कुरुत, यूयं मत्स्यानुपादाय नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण एकैकशो विकिरत। ततस्तदाहारलुब्धैर्नकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः, स्वभाव द्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च। तथानुष्ठिते सति तद् वृत्तम्।

अथ नकुलैर्वृक्षोपरि बकशावकानां रावः श्रुतः। पश्चात्तद्वृक्ष-मारुह्य बकशावकाः खादिताः। अत आवां ब्रूवः—'उपाय चिन्तयन् – इत्यादि॥

आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य लोकैः किञ्चिद्वक्तव्यमेव। यदि त्वमुत्तरं दास्यसि तदा त्वन्मरणम्। तदत्रैव स्थीयताम्।

कूर्मो वदति—'किमहमप्राज्ञः? नाहमुत्तरं दास्यामि। न किमपि मया वक्तव्यम्।' तथानुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति वदन्ति च। अहो! महदाश्चर्यं! पक्षिभ्यां कूर्मो नीयते।

कश्चिद्वदति—'यद्ययं कूर्मः पतति, तदात्रैव पक्त्वा खादितव्यः'। कश्चिद्वदति— सरसस्तीरे दग्ध्वा खादितव्योऽयम्। कश्चिद्वदति—'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति। तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—'युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्' इति वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुहृदां हित कामानाम्' इत्यादि ॥ ७ ॥

अथ प्रणिधिर्बकस्तत्रागत्योवाच—'देव! प्रागेव मया निगदितं, 'दुर्गशोधो हि प्रतिक्षणं कर्तव्य'मिति। तच्च युष्माभिर्न कृतं तदन-वधानस्य फलमिदमनुभूतम्। 'दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः' राजा निःश्वस्याह—

उत्तरापथे=उत्तरस्यां दिशि। वृक्षस्याधस्तात् = तरोः मूले। विवरे=बिले। बालापत्यानि = शिशून्। शोकार्तानाम् = शोकपीडितानाम्। विलापम् = रोदन-ध्वनिम्। अभिहितम् = उक्तम्। उपादाय = गृहीत्वा। विकिरत = विक्षिपत। तदा-हारलुब्धैः = मत्स्यभोजनेच्छुभिः। स्वभावद्वेषात् = प्रकृतवैरात्। व्यापादयितव्यः = हन्तव्यः। बकशावकानाम् = बकशिशूनाम्। रावः = ध्वनिः। श्रुतः = आकर्णितः। तैः = नकुलैः। आरुह्य = आरोहणम् कृत्वा। नीयमानम् = आकाशमार्गे उह्यमानम्। लोकैः =

जनै । किञ्चिद्=उचितमनुचितं वा । तदाकर्ण्य = लोकवचनं श्रुत्वा । सर्वथा= सर्वतोभावेन । अप्राज्ञ =अविवेकी । गोरक्षका =गोपालका । कोपाविष्ट =क्रोधाभिभूत । विस्मृतपूर्वसस्कार = विस्मृतस्वपूर्वप्रतिज्ञ । निगदितम् = कथितम् । दुर्गशोधनम् = दुर्गान्वेषणम् । अनवधानस्य=असावधानतायाः । अनुभूतम् = अनुभवविषयीकृतम् । गृध्रप्रयुक्तेन = गृध्रनियुक्तेन । वायसेन=काकेन । नि श्वस्य= दीर्घश्वास विसृज्य ।

उत्तरापथ में गृध्रकूट नाम के पहाड पर एक बहुत बडा पीपल का पेड था । उस पर बहुत से बगुले रहते थे । उस वृक्ष के नीचे बिल मे एक साँप रहता था । वह बगुलो के बच्चो को खा जाया करता था । किसी दिन शोक से व्याकुल उन बगुलों का रोना सुन कर एक बूढे बगुले ने कहा—'तुम लोग ऐसा करो, मछलियाँ लेकर नेवले के बिल से साँप के बिल तक एक कतार बाँध कर फैला दो । तब भोजन के लालच मे नेवले साँप की बिल तक पहुँच कर उसे देख लेंगे और स्वाभाविक शत्रुता के कारण उसे मार डालेंगे । बगुलों के ऐसा करने पर वह साँप नेवलो द्वारा मार डाला गया । फिर उन नेवलों ने वृक्ष के ऊपर बगुलो के बच्चों की आवाज सुनी और पेड पर चढ़ कर उन बच्चो को भी खा डाला । इसीलिए हम दोनो कह रहे हैं कि 'उपाय सोचते समय' इत्यादि । हम दोनो के द्वारा ले जाते हुए तुम्हें देख कर लोग अवश्य ही कुछ कहेंगे । उसे सुनकर यदि तुम उत्तर दोगे तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है । इसलिए तुम्हें यहीं रहना उचित है । कछुवे ने कहा कि क्या मैं मूर्ख हूँ । मैं उत्तर नहीं दूँगा । मैं कुछ भी नही कहूँगा । ऐसा करने पर कछुए को उस प्रकार हसो द्वारा ले जाते हुए देख कर गाँव के सभी रखवाले पीछे-पीछे दौडते हुए कुछ न कुछ कहने लगे । कितना आश्चर्य है कि दो पक्षी कछुवा लिए जा रहे हैं । किसी ने कहा— 'यदि यह कछुवा गिर पडे तो यहीं पका कर खाया जाय ।' किसी ने कहा— 'तालाब के किनारे भूनकर खाया जायगा ।' किसी ने कहा—'घर ले जाकर खाना ठीक होगा ।' इस प्रकार की बातें सुन कर कछुवा क्रोध मे आकर अपनी पहली प्रतिज्ञा भूल गया और उसने कहा कि 'तुम लोग राख खाना ।' यह कहते ही वह गिर पडा और मारा गया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—'हित चाहने वाले मित्रो का' इत्यादि । इसके बाद प्रधान गुप्तचर बगुले ने आकर कहा कि राजन्, मैंने पहले ही कहा था कि किले की टोह हर समय की जानी चाहिए । आप लोगो ने वैसा नहीं किया । उसी असावधानी का यह फल भोगना पडा है । किले के जलाने का काम गृद्ध द्वारा भेजे गए मेघवर्ण कौवे ने किया है । राजा ने साँस खींचते हुए कहा—

'प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।
स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुध्यते' ॥ १२ ॥

अन्वयः—प्रणयात् उपकारात् वा शत्रुषु विश्वसिति सः सुप्तः इव वृक्षाग्रात् पतितः प्रतिबुध्यते ॥ १२ ॥

प्रणयात्=प्रेम्णः । उपकारात्=हितकामनया । सः सुप्तः इव=वृक्षे निद्रित इव । वृक्षाग्रात्=तरुशिखरात् । पतितः=भ्रष्टः । प्रतिबुध्यते=जागर्ति ॥

जो व्यक्ति प्रेम अथवा उपकार की भावना से शत्रु पर विश्वास करता है वह कुछ खोने के बाद ही सावधान होता है जैसे पेड़ की चोटी पर सोने वाला वहाँ से गिरने पर जाग जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रणिधिरुवाच—इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्—'अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम् । तथा चोक्तम्—

प्रणिधिः=गुप्तचर । विधाय=कृत्वा । प्रसादितेन=प्रसन्नेन । अभिषिच्यताम्=अभिषेकः क्रियताम् ।

तब प्रधान गुप्तचर ने कहा—जब किले को जलाकर मेघवर्ण गया है तब तो उसके ऊपर प्रसन्न होकर चित्रवर्ण ने कहा—इस मेघवर्ण को इस कर्पूरद्वीप का राजा बना दिया जाय । क्योंकि कहा भी गया है—

'कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन मनसा, वाचा, दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत् ॥ १३ ॥

अन्वयः—कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतम् न प्रणाशयेत् फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या च एनम् प्रहर्षयेत् ॥ १३ ॥

कृतकृत्यस्य=कृतस्वामिकार्यस्य । भृत्यस्य=सेवकस्य । कृतम्=उपकारम् । न प्रणाशयेत्=न विस्मरेत् । फलेन=पुरस्कारादिना । मनसा=सौम्यभावेन । वाचा=प्रशंसावचनेन । दृष्ट्या=प्रसन्नेक्षणेन । एनम्=भृत्यम् । प्रहर्षयेत्=संतोषयेत् ॥ १३ ॥

किसी भी अच्छी तरह से अपने काम को पूरा करने वाले नौकर के कार्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । बल्कि धन मन वाणी और कृपा दृष्टि से उसे प्रसन्न करना चाहिए ॥ १३ ॥

चक्रवाको ब्रूते—देव ! श्रुतं यत्प्रणिधिः कथयति ? । राजा साटोपमाह—ततस्ततः ? । प्रणिधिरुवाच 'ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाभिहितम्—देव ! नेदमुचितं प्रसादान्तरं किमपि क्रियताम् । यतः—

देव=राजन् । श्रुतम्=आकर्णितम् । यत्=दुर्गदाहविषयकतथ्यम् । प्रणिधि=चरनायक । ततस्तत=अग्रे किं वृत्तम् । नेदमुचितम्=वायसस्य कर्पूरद्वीपराज्याभिषेचन नोपयुक्तम् । प्रसादान्तरम्=अभिषेक विहाय अन्यमनुग्रहम् ।

चकवे ने कहा—'राजन्, गुप्तचर ने जो कुछ कहा है उसे आपने सुन लिया न ! राजा राजहंस ने कहा—'तो फिर आगे क्या हुआ !' गुप्तचर ने कहा—'तब प्रधान मन्त्री गृध्र ने कहा—'राजन्, यह ठीक नहीं है । इसके ऊपर (राज्याभिषेक के अतिरिक्त) कोई दूसरी कृपा होनी चाहिए । क्योंकि—

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव मूत्रितम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—अविचारयत युक्तिकथनम् तुषखण्डनम् (एव) हे राजन्, नीचेषु उपकृतम् वालुकासु मूत्रितम् इव ॥ १४ ॥

अविचारयत=विचाररहितस्य । युक्तिकथनम्=उपायोपदेश । तुषखण्डनम्=तुषावघात, व्यथप्रयास (भूसी कूटना अर्थात् व्यथ परिश्रम करना) । नीचेषु=निम्नाचारेषु । उपकृतम्=उपहारादिदानम् । वालुकासु = सिकतासु । मूत्रितम् इव=मूत्रोत्सर्ग इव ॥ १४ ॥

जैसे विचाररहित पुरुष से कोई युक्तिसंगत बात कहना भूसी कूटने के समान (व्यर्थ) होता है वैसे ही नीच पुरुष का उपकार करना भी बालू पर किए गए मूत्र के समान होता है ॥ १४ ॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्—

महतामास्पदे=महापुरुषाणा योग्यस्थाने । न कर्तव्य=न प्रतिष्ठेय ।

महान् लोगो के योग्य स्थान पर नीच को कभी नहीं नियुक्त करना चाहिए । जैसा कि कहा भी गया है—

'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा' ॥ १५ ॥

चित्रवर्ण पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

अन्वयः—नीच श्लाघ्यपद प्राप्य स्वामिनम् हन्तुम् इच्छति । यथा मूषिक व्याघ्रताम् प्राप्य मुनिम् हन्तु गत ॥ १५ ॥

नीच=निम्नपुरुष । श्लाघ्यपदम्=उन्नतस्थानम् । प्राप्य = लब्ध्वा । स्वामिनम्=उपकारकारकं नृपमपि । हन्तुम् = व्यापादयितुम् । इच्छति = अभिलषति । मुनिम्=येन स मूषिक. व्याघ्र कृत तमपि ॥ १५ ॥

नीच स्वामी की कृपा से उच्च पद पाकर स्वामी को ही मारना चाहता है। चूहा मुनि द्वारा बाघ बन जाने पर मुनि को ही मारने के लिए तैयार हो गया॥

कथा ८

अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः। तत्र तेन आश्रमसंनिधाने मूषिकशावकः काकमुखाद् भ्रष्टो दृष्टः। ततो दयायुक्तेन तेन मुनिना नीवारकणैः संवर्धितः। ततो बिडालस्तं मूषिकं खादितुमुपधावति। तमवलोक्य मूषिकस्तस्य मुनेः क्रोडे प्रविवेश। ततो मुनिनोक्तम्-'मूषिक! त्वं मार्जारो भव।' ततः स बिडालः कुक्कुरं दृष्ट्वा पलायते। ततो मुनिनोक्तम्-'कुक्कुराद् बिभेषि त्वमेव कुक्कुरो भव।' स च कुक्कुरो व्याघ्राद् बिभेति। ततस्तेन मुनिना कुक्कुरो व्याघ्रः कृतः।

अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति। अथ तं मुनिं व्याघ्रञ्च दृष्ट्वा सर्वे वदन्ति— अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः'।

एतच्छ्रुत्वा सव्यथो व्याघ्रोऽचिन्तयत्-'यावदनेन मुनिना तपोवने तावदिदं मे स्वरूपाख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते'— इत्यालोच्य मूषिकस्तं मुनिं हन्तुं गतः। ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा पुनर्मूषिको भव —इत्युक्त्वा मूषिक एव कृतः। अतोऽहं ब्रवीमि- 'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य इत्यादि॥ ❀॥

अपरञ्च देव— सुकरमिद'मिति न मन्तव्यम्, शृणु—

काकमुखात् = वायसवदनात्। शावकः = शिशुः। दयायुक्तेन = कृपार्द्रेण। नीवारकणैः = अरण्यधान्यकणैः। संवर्धितः = वृद्धिं प्रापितः पोषितश्च। खादितुम् = भक्षयितुम्। तमवलोक्य = बिडालं दृष्ट्वा। क्रोडे = अङ्के। प्रविवेश = प्रविष्टोऽभवत्। मार्जारः = बिडालः। पलायते = भयात् पलायनं करोति। बिभेषि = भयमाप्नोषि। सर्वे वदन्ति = सर्वे जनाः कथयन्ति।

स्वरूपाख्यानम् = मम पूर्वस्थितिसम्बन्धिनी कथा। अकीर्तिकरम् = अपयशोजनकम्। न पलायिष्यते = न नंक्ष्यति। इत्यालोच्य = एवं विचार्य। तज्ज्ञात्वा = तदूहनं बुद्ध्वा।

सुकरम् = अनायाससिद्धम्। इदम् = नीचस्य राज्याभिषेचनम्। न मन्तव्यम् = न ज्ञातव्यम्

चित्रवर्ण ने पूछा—यह कैसे हुआ ? मंत्री ने कहा—'गौतम ऋषि के तपोवन में महातपा नाम के एक मुनि रहते थे। उन्होंने अपने आश्रम के पास कौवे के मुँह से गिरा हुआ एक चूहा देखा। उस दयालु मुनि ने उसे नीवारकण खिलाकर पाला पोसा। एक बार एक वनविलाव ने उस चूहे को खाने के लिए उसे दौड़ाया। चूहा उस विलाव को देखकर मुनि की गोद में चला गया। तब मुनि ने कहा—'चूहे तुम भी विलाव बन जाओ।' इसके बाद वह विलाव कुत्ते को देख कर भागा तो मुनि ने कहा 'कुत्ते से डरते हो तो तुम भी कुत्ते हो जाओ।' वह कुत्ता व्याघ्र से डरने लगा तो मुनि ने उसे बाघ बना दिया। उस बाघ को मुनि चूहा ही समझते थे। और उस मुनि तथा बाघ को देखकर सभी लोग कहा करते थे कि इस मुनि ने चूहे को बाघ बना दिया है। यह सुनकर उस बाघ ने सोचा कि जब तक यह मुनि रहेंगे तब तक हमारे रूप बदलने की यह बदनामी से भरी हुई कहानी समाप्त नहीं होगी। यह सोचकर वह मुनि को मारने के लिए गया। मुनि ने यह जानकर 'फिर चूहे बन जाओ' ऐसा कह कर उसे चूहा बना दिया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ 'नीच उत्तम पद पाकर' इत्यादि और भी इसे राजा बनाना आप सरल न समझिए। सुनिए—

'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान्।
अतिलोभाद्बकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात्' ॥ १६ ॥

अन्वयः—उत्तमाधममध्यमान् बहून् मत्स्यान् भक्षयित्वा बक अतिलोभात् कर्कटकग्रहात् पश्चात् मृत ॥ १६ ॥

उत्तमा =महान्त । अधमा =अत्यल्पा । बहून्=बहुसंख्यकान् । मत्स्यान्= मीनान् । अतिलोभात् = अतिलौल्यात् । कर्कटकग्रहात्=कर्कटकर्तृकादानात् (पकड़ने से)। मृत =मृत्युम् प्राप्त ॥ १६ ॥

उत्तम, मध्यम और अधम कोटि की बहुत सी मछलियों को खाने के बाद लोभ में बगुले ने केकड़े को खाना चाहा जिससे वह केकड़े द्वारा पकड़े जाने से मर गया ॥ १६ ॥

कथा ९

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत्?'। मन्त्री कथयति—

अस्ति मालवविषये पद्मगर्भाभिधानं सरः। तत्रैको वृद्धो बकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः। स च केनचित्कुलीरेण दूरादेव दृष्टः, पृष्टश्च—'किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति'?। बके [illegible]—"मत्स्या मम जीवनहेतवः। ते 'कैवर्तै-

रागत्य व्यापादयितव्याः'—इति वार्ता नगरोपान्ते मया श्रुता। अतो 'वर्तनाभावादेवास्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाहारेऽप्यनादरः कृतः। ततो मत्स्यैरालोचितम्—इह समये तावदुपकारक एवायं लक्ष्यते तदयमेव यथाकर्तव्यं पृच्छ्यताम्। तथा चोक्तम्—

मालवविषये=मालवदेशे। पद्मगर्भाभिधानम्=पद्मगर्भनामधेयम्। सरः=तडाग। सामर्थ्यहीन=पुरुषार्थशक्तिरहित। उद्विग्नमिव=व्याकुलम् इव। कुलीरेण=कर्कटेन। आहारत्यागेन=भोजनवर्जनेन। मत्स्याः=मीनाः। जीवन हेतव=प्राणाधारभूता। भोज्याः। कैवर्तैः=धीवरैः। व्यापादयितव्याः=हन्तव्याः। नगरोपान्ते=नगरनिकटे। वर्तनाभावात्=जीविकाविरहात्। उपस्थितम्=आगतम्। आहारेऽपि=भोजनेऽपि। अनादरः कृतः=तिरस्कारः=अरुचिः कृतः। मत्स्यैरालोचितम्=मीनैः विचिन्तितम्। इह समये=इदानीम्। उपकारक=सुखेच्छु। लक्ष्यते=दृश्यते। यथाकर्तव्यम्=यथोचितम् कार्यम्।

चित्रवर्ण ने पूछा—'यह कैसे हुआ' मंत्री ने कहा—मालवा देश में पद्मगर्भ नाम का एक तालाब था वहाँ एक शक्तिहीन और अत्यन्त व्याकुल सा बूढ़ा बगुला पड़ा हुआ था। उसे किसी केकड़े ने दूर से ही देखा और पूछा—'आप यहाँ भोजन छोड़कर क्यों पड़े हैं?' बगुले ने कहा— मछली ही मेरे जीवन का सहारा है और उसे मछुवे आकर मारेंगे ऐसी बात मैंने नगर के पास सुनी है। इसलिए भोजन के बिना अब मेरी मौत आ गई है ऐसा सोचकर मैंने भोजन करना छोड़ दिया है। तब मछलियों ने विचार किया कि इस समय तो यह हम लोगों की भलाई करने वाला मालूम पड़ रहा है इसलिए इसी से पूछना चाहिए कि अब हम लोगों को क्या करना चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है—

'उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः॥ १७॥

अन्वयः—उपकर्त्रा अरिणा सन्धिः (कार्यः किन्तु) अपकारिणा मित्रेण न (कार्यः) एतयोः उपकारापकारौ लक्षणम् हि॥ १७॥

उपकर्त्रा=उपकारकारिणा। अरिणा=शत्रुणा। सन्धिः=मेलनम्। अपकारिणा=अपकारकारिणा। मित्रेण=सुहृदा। एतयोः=शत्रुमित्रयोः। लक्ष्यम्=चिह्नम्। लक्षणम्=चिह्नम्॥ १७॥

उपकार करने वाले शत्रु से सन्धि करना अच्छा है लेकिन बुराई करने वाले मित्र से सन्धि करना ठीक नहीं है। क्योंकि शत्रु और मित्र का लक्षण ही अपकार और उपकार करना होता है॥ १७॥

मत्स्या ऊचुः—'भो वक ! कोऽत्र अस्माकं रक्षणोपायः ?'। बको ब्रूते—'अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम्। तत्राहमेकैकशो युष्मान्नयामि'। मत्स्या आहुः—'एवमस्तु।' ततोऽसौ दुष्टबकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा खादति। अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच 'भो बक, मामपि तत्र नय।' ततो बकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान्। कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णम् स्थलमालोक्याचिन्तयत्—'हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। भवतु। इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि।' यतः—

अत्र = इदानीम्। जलाशयान्तराश्रयणम् = अन्यस्य सरोवरस्यालम्बनम्। आहु.=उक्तवन्त। स्थले=भूमौ। मत्स्यकण्टकाकीर्णम्=मीनास्थिसंकुलम्। अचिन्तयत्=व्यचारयत्। हतोऽस्मि=मृतोऽस्मि। मन्दभाग्य = हतभाग्य। समयोचितम्=यथावसरम्। व्यवहरिष्यामि=आचरिष्यामि।

मछलियो ने कहा—'हे बगुले अब हम लोगो की रक्षा का क्या उपाय है ?' बगुले ने कहा— दूसरे तालाब मे चला जाना ही रक्षा का उपाय है। इससे तुम लोगों में से एक-एक को वहाँ पहुँचा भी दूँगा।' मछलियो ने कहा—ठीक है, ऐसा ही करो।' तब यह दुष्ट बगुला एक-एक को ले जाकर खाने लगा। इसके बाद केकडे ने कहा—'हे बगुले मुझे भी वहाँ ले चलो। बगुला भी केकडे को पहले कभी नहीं खाया था इसलिए उसके मांस खाने की लालच से बडे आदर के साथ उसे पानी से बाहर निकाल कर रखा। केकडे ने मछलियो की हड्डियों से भरी हुई उस जगह को देखकर विचार किया कि अब तो मुझ अभागे को मरना पडा। अच्छा, समयानुसार उपाय करना चाहिए। क्योंकि—

'तावद्भयेन भेतव्य यावद्भयमनागतम्।
आगतन्तु भय दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत्' ॥ १८ ॥

अन्वयः—यावत् भयम् अनागतम् तावत भयेन भेतव्यम्। तु भयम् आगतं दृष्ट्वा अभीतवत् प्रहर्त्तव्यम् ॥ १८ ॥

भयम्=भयहेतु। अनागतम् = अनुपस्थितम्। अभीतवत् = निर्भयसदृश। प्रहर्त्तव्यम्=तस्योपरि प्रहार करणीय, प्रतीकार कार्यं इत्यर्थ ॥ १८ ॥

'भय से तभी तक डरना चाहिए जब तक वह सामने न हो किन्तु भय को सामने उपस्थित देखकर निडर होकर उस पर प्रहार करना चाहिए' ॥ १८ ॥

किञ्च—'अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद्गतिमात्मनः।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियेत रिपुणा सह' ॥ १९ ॥

अन्वयः—अभियुक्तः यदा आत्मनः किञ्चित् गतिम् न पश्येत् तदा प्राज्ञः रिपुणा सह युध्यमानः म्रियेत ॥ १९ ॥

अभियुक्तः=शत्रुणा समाक्रान्तः वा आक्रान्तः पुरुषः । आत्मनः = स्वस्य । किञ्चिद्गतिम्=किञ्चिदन्यम् प्रतीकारोपायम् । न पश्येत्=न विलोकयेत् । प्राज्ञः=बुद्धिमान् । रिपुणा सह=शत्रुणा सह । युध्यमानः=युद्धं कुर्वन् । म्रियेत = प्राणमुत्सृजेत् ॥ १९ ॥

शत्रु द्वारा आक्रान्त व्यक्ति जब अपने बचने का दूसरा कोई भी उपाय न देखे तो शत्रु के साथ युद्ध करते हुए मरना ही उसकी बुद्धिमानी है ॥ १९ ॥

—इत्यालोच्य स कुलीरकस्तस्य बकस्य ग्रीवां छिन्नवान् । अथ स बकः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इत्यादि ॥

इत्यालोच्य=एवं विचार्य । कुलीरकः = कर्कटकः । ग्रीवाम् = कण्ठदेशम् । छिन्नवान्=कर्तितवान् । पञ्चत्वं गतः=मृत्युं प्राप्तः ।

ऐसा विचार कर केकड़े ने उस बगुले के गले को काट दिया जिससे वह बगुला मर गया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ बहुत सी मछलियों को खाकर इत्यादि ।

ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मन्त्रिन् ! मयैतदालोचितम्—(-अस्ति-) यद् —अत्रावस्थितेनानेन मेघवर्णेन राजा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि । तेनास्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम् । दूरदर्शी विहस्याह—'देव !

आलोचितम्=विचारितम् । अत्रावस्थितेन = अत्राधिष्ठितेन । उपनेतव्यानि=उपढौकितव्यानि । दूरदर्शी=नाम चित्रवर्णस्य मंत्री गृध्रः ।

तब चित्रवर्ण ने कहा—हे मंत्री सुनो मैंने यह सोचा है कि यहाँ राज्यपद पर नियुक्त मेघ वर्ण कर्पूर द्वीप की सभी अच्छी-अच्छी वस्तुओं को हमारे पास भेजा करेगा जिससे हम लोग विन्ध्याचल पर बड़े सुख से रहेंगे । दूरदर्शी ने हँस कर कहा—राजन्

> अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।
> स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा' ॥ २ ॥

राजाह- 'कथमेतत् ? । मन्त्री कथयति –

अन्वयः—यः अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा प्रहृष्यति सः भग्नभाण्डः द्विजः यथा तिरस्कारमाप्नोति ॥ २ ॥

य =पुरुष । अनागतवर्तीं=भविष्यानुवर्तिनीम् । प्रहृष्यति = मोदते । भग्न-भाण्ड = भग्नसक्तुपूर्णपात्र । द्विज =ब्राह्मण । यथा=इव । तिरस्कारमाप्नोति= अनादृतो भवति ॥ २० ॥

जो मनुष्य भविष्य की कल्पना करके झूठे सुख की आशा से प्रसन्न होता है वह कुम्हार का बतन फोड डालने वाले ब्राह्मण के समान अपमानित होता है ॥

राजा ने कहा—यह कैसे ? मन्त्री ने कहा—

कथा ७

अस्ति देवीकोट्टनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः। तेन महा-विषुवत्सङ्क्रान्त्यां सक्तुपूर्णशराव एकः प्राप्तः। ततस्तमादायासौ कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाकुलितः सुप्तः। ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाचिन्तयत्—'अद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दश कपर्दकान्प्राप्स्यामि, तदात्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादिक-मुपक्रीयानेकधा वृद्धैस्तद्धनैः पुनः पुनः पूगवस्त्रादिमुपक्रीय, विक्रीय, लक्षसङ्ख्यानि धनानि कृत्वा, विवाहचतुष्टयं करिष्यामि। अनन्तरं तासु स्वपत्नीषु या रूपयौवनवती तस्यामधिकानुरागं करिष्यामि। सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति, तदा कोपाकुलोऽहं ताः सर्वा लगुडेन ताडयिष्यामीत्यभिधाय तेन लगुडः प्रक्षिप्तः। तेन सक्तु-शरावश्चूर्णितो, भाण्डानि च बहूनि भग्नानि। ततस्तेन शब्देना-गतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य, ब्राह्मणस्तिर-स्कृतो, मण्डपाद्बहिष्कृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतवतीं चिन्ताम्' इत्यादि ॥

ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच—'तात! यथा कर्त्तव्य तथो-पदिश।' गृध्रो ब्रूते—

विषुवत्सङ्क्रान्त्याम् = वैशाखमासस्य मेषसक्रान्तिवासरे । सक्तुपूर्ण-शराव =सक्तुपूरितवर्द्धमानक (सतुवे से भरा कसोरा)। भाण्डपूणमण्डपैक-देशे = मृत्पात्रपूर्णगृहस्यैकभागे । रौद्रेण=घर्मेण । आकुलित = व्यग्र । सुप्त = सुप्तवान् । दण्डमेकम्=एका यष्टिकाम् । आदाय=गृहीत्वा । कपर्दकान्=काकिणी । अनेकधावृद्धै = वार वार क्रयविक्रयकरणेन वर्द्धितै । तद्धनै = तन्मूल्यत्वेन प्राप्तधनै । पुन पुन = वार वारम् । पूगवस्त्रादिकम् = पूगीफलवस्त्रादिकम्

(दुपहरी तथा कपड़े आदि) । शरावम् = सकोरम् । कोपाकुल = क्रोधो-न्मत्त । अनुदिन=प्रतिदिन । यद्विक्रेष्यामि=यदि बेचूँगा । पूरित=भरा । भाण्डानि=कुम्भकारस्य भाण्डानि । तेन शरावेण = पूरितस्य शरावस्य घटेन । ताडयिष्यामि=सर्वाणि । अवलोक्य=देखकर । तिरस्कृतः=अपमानित । बहिष्कृतः=निकाला । रहसि=एकान्ते ।

देवीकोट्ट नाम के नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था एक बार सतुआ संक्रान्ति के दिन उसने सत्तुओं से भरा हुआ एक मिट्टी का कसोरा पाया। वह उसे लेकर बर्तनों से भरे हुए कुम्हार के मण्डप के एक किनारे गया और धूप से व्याकुल होकर वहीं सो गया। तब सत्तुओं की रक्षा के लिए हाथ में एक डंडा लेकर वह मन ही मन सोचने लगा। यदि मैं इस सत्तुओं के कसोरे को बेच कर दस कौड़ी पा जाऊँ तो उसी से बड़े कसोरे आदि खरीद कर बेच कर लाखों का धन प्राप्त करके चार विवाह करूँगा इसके पश्चात् उन चारों स्त्रियों में जो सबसे सुन्दरी तथा युवती होगी मैं उससे अधिक प्रेम करूँगा। जब वे चारों आपस में झगड़ा करेंगी तो मैं क्रुद्ध होकर उन सभी को डंडे से पीटूँगा। ऐसा कहकर उसने डंडा चला दिया। जिससे सत्तुओं का कसोरा तो टूट ही गया साथ ही कुम्हार के बहुत से बर्तन भी टूट गए। बर्तन के टूटने का शब्द सुनकर कुम्हार वहाँ आया और उन टूटे फूटे बर्तनों को देख कर उसने ब्राह्मण को डाँटा। इसी से मैं कह रहा हूँ—'भविष्य की कल्पना करने वाले' आदि।

तब राजा ने एकान्त में गुरु से कहा—तात

अब मुझे बताइए कि क्या करना चाहिए। गुरु ने कहा—

मदोद्धतस्य नृपतेः प्रकीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—मदोद्धतस्य प्रकीर्णस्य उन्मार्गयातस्य दन्तिन नेतारः इव (मदोद्धतस्य प्रकीर्णस्य उन्मार्गयातस्य) नृपतेः नेतारः वाच्यताम् गच्छन्ति ।

मदोद्धतस्य = उन्मत्तस्य नृपतिपक्षे गर्वोन्मत्तस्य । प्रकीर्णस्य=अव्यवस्थितस्य, नृपतिपक्षे विचाररहितस्य उन्मार्गयातस्य = कुपथप्रवृत्तस्य । दन्तिनः = हस्तिनः । नेतारः=हस्तिपकाः अन्यत्र नेतारः=मन्त्रिणः । इव=यथा । वाच्यताम् = लोकनिन्दनीयताम् । गच्छन्ति = प्राप्नुवन्ति ॥ २१ ॥

जैसे मद से पागल हाथी के बुरे मार्ग से चले जाने का सारा दोष महावत के ऊपर होता है उसी प्रकार अभिमानी मतवाले राजा के बुरे मार्ग से जाने का सारा दोष मंत्री पर होता है और वह निन्दा का पात्र बनता है ॥ २१ ॥

'शृणु देव ! किमस्माभिर्बलदर्पाद् दुर्गं भग्नम् ?, उत तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन ? ।' राजाह—'भवतामुपायेन ।' गृध्रो ब्रूते—'यद्यस्मद्वचनं क्रियते, तदा स्वदेशे गम्यताम् । अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनस्तुल्यबलेन विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति । तत्सुखशोभार्थं सन्धाय गम्यताम् । दुर्गं भग्नं, कीर्त्तिश्च लब्धेव' । मम संमतं तावदेतत्' । यतः—

बलदर्पात्=पराक्रमाभिमानात् । उत=अथवा । प्रतापाधिष्ठितेन=प्रतापाश्रयेण । अस्मद्वचनम्=अस्मन्मन्त्रणाम् । पुनर्विग्रहे=पुनः युद्धे सति । परभूमिष्ठानाम्=शत्रुदेशस्थितानाम् । सुखशोभार्थम्=स्वस्य सुखाय यशसे वा । सन्धाय=सन्धिं विधाय ।

'यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्त्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि, तेन राजा सहायवान्' ॥ २२ ॥

अन्वयः—यः भर्तुः प्रियाप्रिये हित्वा धर्मं पुरस्कृत्य अप्रियाणि तथ्यानि आह, तेन राजा सहायवान् (भवति) ॥ २२ ॥

यः=राजमंत्री । भर्तुः=नृपस्य । प्रियाप्रिये=इदम् स्वामिनः प्रियम्, इदम् अप्रियम् इति च । हित्वा=विहाय । धर्मम्=न्यायम् । पुरस्कृत्य=अग्रेकृत्वा । तथ्यानि=तथ्यवचनानि । तेन=मन्त्रिणा । राजा=नृपः । सहायवान्=सहायकान्वितः भवति ॥ २२ ॥

राजन्, सुनिए—'क्या हम लोगों ने अपनी सेना के अभिमान से किला तोड़ा है अथवा आपके प्रताप या उपाय से !' राजा ने कहा—'आपके उपाय से ।' गृध्र ने कहा—यदि हमारी बात मानते हैं तो अपने देश चलिए । नहीं तो वर्षा आ जाने पर और फिर समान बल वाले शत्रु से युद्ध होने पर दूसरे देश में रहने वाले हम लोगों को अपने देश में जाना भी कठिन हो जायगा । इसलिए सुख और यश दोनों के लिए सन्धि करके चले चलिए । किला टूट ही गया और यश मिल ही गया । मेरा तो अब यही विचार है । क्योंकि—जो धर्म को आगे करके राजा के प्रिय और अप्रिय का ध्यान छोड़ कर केवल राजा के हित की बात को ही कहता है, भले ही वह राजा को बुरा लगे, वही राजा का सच्चा सहायक होता है ॥ २२ ॥

अन्यच्च—'सुहृद्बलं, तथा राज्यमात्मानं, कीर्त्तिमेव च ।
युधि सन्देहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः ?' ॥ २३ ॥

अन्वयः—युधि सुहृत् बलम् राज्यम्, तथा आत्मानं कीर्तिमेव च कि क बुद्धिमान् संदेहदोलास्थम् कुर्यात् ॥ २३ ॥

युधि—युद्धे । सुहृत्—मित्रम् । बलम्—सैन्यम् । राज्यम्—स्वदेशम् । आत्मानं कीर्तिम्—स्वकीयं यश । बुद्धिमान्—पंडितः । संदेहदोलास्थम्—संशयदोलास्थम् ॥ २३ ॥

कौन बुद्धिमान् युद्ध में पड़कर मित्र सेना राज्य कीर्ति तथा अपने प्राण को सन्देह रूपी झूले में डालेगा ॥ २३ ॥

अपरञ्च—'सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि ।
नहि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ २४ ॥

अन्वयः—युधि विजयः संदिग्धः (अतः) समेनापि सन्धिं इच्छेत् । संशयितं नहि कुर्यात् इति बृहस्पतिः उवाच ॥ २४ ॥

युधि—युद्धे । विजयः—विजयलाभः । संदिग्धः—अनिश्चितः । अत एव समेनापि—स्वतुल्यपराक्रमेणापि । सन्धिमिच्छेत्—सन्धिं कुर्यात् । संशयितं—संदिग्धं कार्यम् । नहि कुर्यात्—नाचरेत् ॥ २४ ॥

लड़ाई में विजय प्राप्त होने में सन्देह होता है इसलिए समान बल वालों के साथ संधि कर लेना चाहिए । क्योंकि बृहस्पति ने बतलाया है कि जिस कार्य के पूरा होने में संदेह हो उसे नहीं करना चाहिए ॥ २४ ॥

अपि च—'युद्धे विनाशो भवति कदाचिदुभयोरपि ।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं, नष्टौ तुल्यबलौ न किम् ?' ॥ २५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति—

अन्वयः—कदाचित् युद्धे उभयोरपि विनाशः भवति तुल्यबलौ सुन्दोपसुन्दौ अन्योन्यं किम् नष्टौ न ? ॥ २५ ॥

युद्धे—संग्रामे । उभयोरपि—युध्यमानयोः द्वयोरपि । अन्योन्यम्—परस्परम् । तुल्यबलौ—तुल्यपराक्रमौ । किम् न नष्टौ—नष्टौ एव ॥ २५ ॥

और भी—युद्ध में कभी कभी दोनों पक्षों का विनाश निश्चित होता है । समान बल वाले सुन्द और उपसुन्द क्या आपस में लड़कर नष्ट नहीं हुए ? ॥

राजा ने कहा—यह कैसे ? मंत्री ने कहा—

कथा ८

पुरा दैत्यौ सहोदरौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता कायक्लेशेन त्रैलोक्यराज्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ । ततस्तयोर्भगवान् परितुष्टः सन् 'वरं वरयतम्' इत्युवाच । अनन्तरं तयोः कण्ठाधिष्ठितायाः सरस्वत्याः प्रभावात्तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ—'यद्यावयोर्भवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु ।'

कायक्लेशेन=शरीरकष्टेन । त्रैलोक्यराज्यकामनया=त्रिभुवनराज्याभिलाषेण । चिरात्=बहुकालात् । चन्द्रशेखरम्=शिवम् । भगवान्=शिव । वरयतम्=याचेयाम् । कण्ठाधिष्ठिताया =कण्ठे स्थिताया । अन्यद् वक्तुकामौ=अन्यत् वक्तुम् अभिलाषुकौ । अभिहितवन्तौ=उक्तवन्तौ । स्वप्रियाम्=निजपत्नीम् ।

प्राचीन काल मे सगे भाई सुन्द और उपसुन्द ने तीनों लोक के राज्य की अभिलाषा से बहुत अधिक शारीरिक कष्ट उठा कर बहुत दिनों तक भगवान शकर की आराधना की। तब भगवान् शकर ने प्रसन्न होकर कहा कि 'वर मागो ?' तब कठ में बसी सरस्वती के प्रभाव से वह दोनो जो कुछ मांगना चाहते थे उसके प्रतिकूल बोले—यदि आप हम दोनों पर प्रसन्न हैं, तो अपनी प्रियपत्नी पार्वती को हमे दे दीजिए।

अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्यावश्यकतया, विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता। ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां, जगद्घातिभ्यां मनसोत्सुकाभ्यां, पापतिमिराभ्यां, 'ममे'त्यन्योन्यं कलहायमानाभ्यां 'प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृच्छ्यता' मिति मतौ कृतायां, स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समागत्य तत्रोपस्थितः। अनन्तरम्—'आवाभ्यामियं स्वबललब्धा, कस्येयमावयोर्भवति'—इति ब्राह्मणमपृच्छताम्। ब्राह्मणो ब्रूते—

विचारमूढयो =विवेकशून्ययो । रूपलावण्यलुब्धाभ्याम्=सौन्दर्यप्रसक्ताभ्याम् । जगद्घातिभ्याम्=लोकपीडकाभ्याम् । मनसोत्सुकाभ्याम्=चित्तेनोत्सुकाभ्याम् । पापतिमिराभ्याम् = पापान्धकाराच्छादिताभ्याम् । कलहायमानाभ्याम्=द्वन्द्वायमानाभ्याम् । प्रमाणपुरुष =मध्यस्थ । पृच्छ्यताम्=निर्णयार्थम्, पृच्छ्यताम् । भट्टारक =परमेश्वर । वृद्धद्विजरूप = वृद्धब्राह्मणवेश । स्वबललब्धा=स्वपराक्रमै उपार्जिता ।

यह सुन कर भगवान् शिव बहुत प्रसन्न हुए किन्तु अपनी वरदान देने की बात पूरी करने के लिए इन मूर्खों को उन्होंने पार्वती भी दे दिया । तब दोनों पार्वती के रूप पर मुग्ध हो गये और संसार के नाशी तथा अत्यन्त पापी वह दोनों अत्यन्त लालुप होकर यह मेरी है यह मेरी है इस प्रकार झगड़ा करने लगे। तब उन दोनों ने यह विचार किया कि किसी मध्यस्थ द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए । उसी समय शंकर या वृद्ध ब्राह्मण का वेष धारण करके उन दोनों के पास उपस्थित हुए । उसके पश्चात् इन दोनों ने ब्राह्मण से पूछा कि इन दोनों ने इसे अपने बल से प्राप्त किया है अतः यह किसकी होनी चाहिए । ब्राह्मण ने कहा—

'ज्ञानश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः क्षत्रियो बलवानपि ।
धनधान्याधिको वैश्यः, शूद्रस्तु द्विजसेवया' ॥ २१ ॥

अन्वयः—ज्ञानश्रेष्ठः द्विजः बलवान् क्षत्रियः धनधान्याधिकः वैश्यः द्विजसेवया तु शूद्रः पूज्यः (भवति) ॥ २१ ॥

श्रेष्ठः—सर्वेषु उत्तमः । द्विजः—ब्राह्मणः । बलवान्—शक्तिमान् । धनधान्याधिकः—वैभवादियुक्तः । द्विजसेवया—ब्राह्मणसेवया । पूज्यः—माननीयः ॥ २१ ॥

ज्ञान से श्रेष्ठ ब्राह्मण, बल से श्रेष्ठ क्षत्रिय, धनधान्य से श्रेष्ठ वैश्य और सेवा करने से श्रेष्ठ शूद्र सबके द्वारा माना जाता है ॥ २१ ॥

तयोर्वा क्षात्रधर्मानुगौ । युद्ध एव युवयोर्नियमः ।' इत्यभिहिते सति, 'साधूक्तमनेने'ति कृत्वान्योन्यतुल्यवीर्यौ समकालमन्योन्यघातेन विनाशमुपगतौ । अतोऽहं ब्रवीमि—'सन्धिमिच्छेत्समेनापि' इत्यादि ॥

राजाह—'तत् प्रागेव किं नेदमुपदिष्टं भवद्भिः ? ।' मन्त्री ब्रूते—'तदा मद्वचनं किमवसानपर्यन्तं श्रुतं भवद्भिः ? । तदापि मम सम्मत्या नायं विग्रहारम्भः । यतः—साधुगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो, न विग्राह्यः । तथा चोक्तम्—

क्षात्रधर्मानुगौ—क्षत्रियधर्मानुयायिनौ । नियमः—विधिः निर्णयोपाय इत्यर्थः । अभिहिते सति—कथिते सति । साधूक्तम्—युक्तमुचितम् । इति कृत्वा—इत्यस्य मत्वा । समकालम्—तुल्यकालमेव । अन्योन्यघातेन—परस्परप्रहारेण । विनाशमुपगतौ—मृतौ । प्रागेव—पूर्वमेव । अवसानपर्यन्तम्—आद्यन्तम् । तदापि—तस्मिन्नेव काले विग्रहमनुचितम् । विग्रहारम्भः—युद्धारम्भः । साधुगुणयुक्तः—शिष्टगुणैर्युक्तः साधुस्वभावः । न विग्राह्यः—युद्धाय नोचितः ।

तुम दोनो क्षत्रिय हो। युद्ध ही तुम दोनो के बीच निर्णय करने का उपाय है। ब्राह्मण के ऐसा कहने पर 'इन्होंने बहुत ठीक कहा है' ऐसा कह कर समान बल वाले वह दोनो आपस मे तत्काल ही एक दूसरे के ऊपर प्रहार करके मर गए। इसीलिये मैं कह रहा हूँ—'समान बलवाले के साथ संधि कर लेनी चाहिए' इत्यादि।

राजा चित्रवर्ण ने कहा–'तो पहले ही आप ने ऐसा क्यो नही कहा?' मन्त्री गृध्र ने कहा—

उस समय क्या आप ने मेरी पूरी पूरी बातें सुनी थी? उस समय भी मेरी राय से यह युद्ध प्रारम्भ नही हुआ था। उत्तम गुणों से पूर्ण राजा राजहंस के साथ युद्ध करना उचित नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है—

'सत्यार्यौ, धार्मिकोऽनार्यो, भ्रातृसङ्घातवान्बली।
अनेकयुद्धविजयी, सन्धेयाः सप्त कीर्तिताः॥ २७॥

अन्वयः—सत्यार्यौ, धार्मिक, अनार्य, भ्रातृसङ्घातवान्, बली, अनेकयुद्धविजयी (एते) सप्त सन्धेया कीर्तिता॥ २७॥

सत्यार्यौ=सत्यवादी कुलीनश्च। अनार्य=नीचवंशप्रसूत। भ्रातृसंघातवान्=बहुभ्रातृयुक्त। सन्धेया=सन्धियोग्या। कीर्तिता=कथिता॥ २७॥

सत्यवादी, आर्य धर्म के पालन करने वाले, धार्मिक, बहुत अनार्य, भाइयो वाले, बलवान् तथा अनेक युद्धो मे विजयी ये सात प्रकार के राजा सन्धि करने के योग्य हैं॥ २७॥

'सत्योऽनुपालयन् सत्यं सन्धितो नैति विक्रियाम्।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम्'॥ २८॥

अन्वयः—सत्य सत्यम् अनुपालयन् सन्धित विक्रियाम् न एति, आर्य प्राणबाधे अपि अनार्यताम् न आयाति इति सुव्यक्तम्॥ २८॥

सत्य=सत्यपर। सत्यम्=याथातथ्यम्। अनुपालयन्=समाचरन्। सन्धित=कृतसधान। विक्रियाम्=विकृतिम्। न एति=न प्राप्नोति। आर्य=सद्वंशप्रसूत। प्राणबाधेऽपि=जीवितसंदेहेऽपि। अनार्यताम्=अकुलीनताम्। न आयाति=नागच्छति। सुव्यक्तम्=सुस्पष्टम्॥ २८॥

सत्य का पालन करने वाला राजा सन्धि करने पर भी कभी दोषयुक्त नहीं होता अर्थात् सन्धि के नियमो को नही छोडता और प्राण संकट उपस्थित होने पर भी आर्य नियमो का पालन करने वाला राजा दुष्टता कभी नही ग्रहण करता है॥ २८॥

'धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः' ॥ २९ ॥

अन्वयः—अभियुक्तस्य धार्मिकस्य सर्व एव हि युध्यते (अतः) प्रजानुरागात् धर्मात् च धार्मिकः दुःखोच्छेद्यः (भवति) ॥ २९ ॥

अभियुक्तस्य = शत्रुणा आक्रान्तस्य । धार्मिकस्य = धर्मपरायणस्य नृपस्य । सर्व एव = सम्पूर्णलोकवर्गः । प्रजानुरागात् = प्रजाप्रेम्णः । धर्मात् = धर्माचरणात् । दुःखोच्छेद्यः = काठिन्येन विनाश्यः ॥ २९ ॥

धार्मिक राजा पर जब शत्रु चढ़ाई करता है तो मन्त्री सेना और प्रजा आदि सभी उसके लिये जान देकर लड़ते हैं। इसलिए प्रजाप्रेम तथा धर्म का पालन करने के कारण धार्मिक राजा को जीतना अत्यन्त कठिन होता है ॥२९॥

'सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याश्रयेणार्यो न कुर्यात्कालयापनम्' ॥ ३० ॥

अन्वयः—विनाशे समुपस्थिते अनार्येण अपि सन्धिः कार्यः तस्य आश्रयेण विना आर्यः कालयापनम् न कुर्यात् ॥ ३० ॥

विनाशे = राज्यकोशादिविनाशे । समुपस्थिते = प्राप्ते सति । अनार्येणापि = नीचेन सहापि । तस्य = अनार्यस्य । आश्रयेण = अवलम्बनेन सहायेन इत्यर्थः । कालयापनम् = समयातिक्रमणम् ॥ ३० ॥

अपना विनाश आता हुआ देख कर दुष्ट राजा के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि उसका सहारा लिये बिना भी बचना सम्भव नहीं किया सकता है ॥

'संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडैः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसंघातवांस्तथा' ॥ ३१ ॥

अन्वयः—निबिडैः कण्टकैः वृतः वेणुः संहतत्वात् यथा समुच्छेत्तुं न शक्यते तथा भ्रातृसंघातवान् (अपि) ॥ ३१ ॥

निबिडैः = घनैः । कण्टकैः = शल्यकैः । वृतः = आच्छादितः । वेणुः = वंशः । संहतत्वात् = मिलितत्वात् । समुच्छेत्तुम् = समुद्धर्तुम् । न शक्यते = न पार्यते ॥३१॥

घने काँटों से घिरा हुआ तथा एक से एक जुड़ा हुआ बाँस जिस प्रकार नहीं काटा जा सकता उसी प्रकार भाइयों का समूह रखने वाला राजा भी शीघ्र ही नहीं विनष्ट किया जा सकता है ॥ ३१ ॥

'बलिना सह योद्धव्य' मिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति' ॥ ३२ ॥

अन्वयः—बलिना सह योद्धव्यम् इति निदर्शनम् नास्ति हि घनः कदाचित् प्रतिवातम् न उपसर्पति ॥ ३२ ॥

बलिना सह=सपराक्रमेण सार्द्धम् । योद्धव्यम्=युद्धम् करणीयम् । निदर्शनम्=दृष्टान्त । घन =पयोद । प्रतिवातम्=विपरीत वायुम्प्रति । न उपगच्छति=न उपधावति ॥ ३२ ॥

ऐसा दृष्टान्त कहीं भी नहीं मिलता है कि बली के साथ युद्ध करना उचित है। क्योंकि बादल भी वायु के प्रतिकूल चढाई नहीं करता है ॥ ३२ ॥

'जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भज्यते' ॥ ३३ ॥

अन्वयः—जमदग्ने सुतस्येव अनेकयुद्धजयिन प्रतापात् एव सर्वत्र सर्वदा सर्वं भज्यते ॥ ३३ ॥

जमदग्न = भृगुवंशोद्भूतस्य महर्षे । सुतस्य=पुत्रस्य, परशुरामस्येत्यर्थं । प्रतापादेव=प्रभावादेव । सर्वत्र=सर्वस्थाने । सर्वदा=सर्वकाले । सर्व =समस्तरिपुवर्ग । भज्यते=समरात् पलायते ॥ ३३ ॥

जमदग्नि के पुत्र परशुराम के समान अनेक युद्धो में विजय प्राप्त करने वाले राजा के प्रताप से ही सभी स्थान पर और सभी समय सारे शत्रु वश मे हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

'अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः' ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अनेकयुद्धविजयी यस्य सन्धान गच्छति तत्प्रतापेन तस्य शत्रव आशु वशमायान्ति ॥ ३४ ॥

अनेकयुद्धविजयी=बहुसमरविजेता नृप । यस्य=राज्ञ । सन्धानं गच्छति=सन्धिमायाति । तत्प्रतापेन=विजयप्रभावेण । तस्य, रिपव =शत्रव आशु=शीघ्रम् । वशम्=अधीनत्वम्, आयान्ति=प्राप्नुवन्ति ॥ ३४ ॥

अनेक युद्धो मे जीतने वाले राजा के साथ सन्धि करने वाला राजा भी उसी के प्रताप से शीघ्र ही अपने शत्रुओ को वश मे कर लेता है ॥ ३४ ॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः सन्धेयोऽस्य राजा।' चक्रवाकोऽवदत्—'प्रणिधे! सर्वमवगतम्। व्रज। पुनरागमिष्यसि'।

अथ राजा हिरण्यगर्भश्चक्रवाकं पृष्टवान्—'मन्त्रिन्! असन्धेयाः कति? ताञ्छ्रोतुमिच्छामि।' मन्त्री ब्रूते—'देव! कथयामि। शृणु—

बालो, वृद्धो, दीर्घरोगी, तथा ज्ञातिबहिष्कृत।
भीरुको, भीरुकजनो, लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ ३५ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु, देव-ब्राह्मण-निन्दकः ॥ १६ ॥
दैवोपहतकश्चैव तथा दैवपरायणः ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो, बलव्यसनसङ्कुलः ॥ १७ ॥
अदेशस्थो, बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च, विंशतिः पुरुषा अमी ॥ १८ ॥

बहुभिर्युक्तः=अनेकशत्रुयुक्तः । यश्च राजा = राजहंस । सर्वमेतत्= सर्वम् इदम् । सत्यधेयः=असत्यभाषी ।

अन्वयः—बाल ... अमी विंशतिः (असंधेयाः भवन्ति) ॥१५-१८॥

बालः=शिशुः । दीर्घरोगी=बहुकालरोगी । ज्ञातिबहिष्कृतः = बन्धुभिः परित्यक्तः । भीरुकः=कातरः । भीरुकजनः=कातरसैन्यः । लुब्धः = लोभी । लुब्धजनः = लुब्धानुचरवर्गः । विरक्तप्रकृतिः = अननुरक्तप्रजाजनः । विषयेषु = इन्द्रियार्थेषु । अतिसक्तिमान् = आसक्तचित्तः । अनेकचित्तमन्त्रः = अनेकसचिवमन्त्रियुक्तः । देवब्राह्मणनिन्दकः = सुरविप्रगर्हकः । दैवोपहतः = दुर्भाग्योपहतः । दैवपरायणः=भाग्याधीनः । दुर्भिक्षव्यसनोपेतः=दुष्कालापदुपहतः । बलव्यसनसङ्कुलः=सैन्यापत्संयुतः । अदेशस्थः=परदेशे स्थितः । बहुरिपुः = अनेकशत्रुः । कालेन = समयेन । न युक्तः=नोपेतः । सत्यधर्मव्यपेतः=सत्येन धर्मेण च हीनः ॥१५-१८॥

इसलिए बहुत गुणों से युक्त यह राजहंस राजा संधि करने के योग्य है । [illegible] ने कहा— मन्त्रिवर मुझे सब मालूम हो गया । जाओ । फिर आना । तब राजा राजहंस ने चक्रवाक से पूछा—'मन्त्रिवर कितने प्रकार के राजा संधि करने योग्य नहीं होते मैं उन्हें सुनना चाहता हूँ । मंत्री ने कहा—राजन्, कह रहा हूँ सुनिए—

बालक बूढ़ा रोगी जाति से निकाला गया कायर कायर सैनिकों वाला लालची लालची सैनिकों अथवा सेवकों वाला जिसके मंत्री सेवक आदि उससे उदासीन हों जो अत्यन्त विषयी हो जो चंचल हृदय तथा राय वाला हो देव ब्राह्मण की निन्दा करने वाला भाग्य का मारा हुआ भाग्य के अधीन रहने वाला दुर्भिक्ष की विपत्ति में पड़ा हुआ सैनिक विपत्ति में फँसा हुआ बुरे स्थान में स्थित बहुत शत्रुओं वाला समयानुसार कार्य न करने वाला सत्य धर्म से रहित—ये बीस प्रकार के राजा संधि करने योग्य नहीं होते हैं ॥ १५-१८ ॥

एतैः सन्धिं न कुर्वीत, विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—एतै सन्धिम् न कुर्वीत केवलम् विगृह्णीयात् यत एते विगृह्य-
ाणा क्षिप्रम् रिपोर्वशम् यान्ति ॥ ३९ ॥

एतै =पूर्वोक्तै विंशत्यै पुरुषै । विगृह्णीयात् = युद्धमेव कुर्यात् । विगृह्य-
ाणा =युध्यमाना. । क्षिप्रम्=त्वरितम् । रिपो =शत्रो । वशम् यान्ति=
अधीना भवन्ति ॥ ३९ ॥

इनसे संधि न करके केवल युद्ध ही करना चाहिए क्योंकि यह बीसो प्रकार
के राजा युद्ध करने से शीघ्र ही शत्रु के वश मे हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

वालस्याल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धायुद्धफलं यस्माज्ज्ञातु शक्तो न वालिशः' ॥ ४० ॥

अन्वयः—लोक अल्पप्रभावत्वात् वालस्य योद्धुम् न इच्छति । यस्मात्
वालिश युद्धायुद्धफलम् ज्ञातु न शक्त ॥ ४० ॥

लोक =जन । अल्पप्रभावत्वात्=स्वल्पप्रतापत्वात् । वालस्य=शिशुनृपते ।
योद्धु नेच्छन्ति = विग्रह कर्तुं न वाञ्छन्ति । यस्मात्=यत , वालिश = वालक ,
मूर्खश्च । युद्धायुद्धफलम्=विग्रहाविग्रहपरिणामम् । ज्ञातुम् न शक्त =ज्ञातुमसमर्थः
भवति ॥ ४० ॥

राजा यदि वालक होता है तो उसमे तेज का अभाव होने से मन्त्री, सैनिक
तथा प्रजा आदि पर उसका प्रभाव बहुत कम पडता है जिससे ये सभी लोग
उसके लिए ठीक से युद्ध नहीं करते हैं और युद्ध तथा अयुद्ध का परिणाम जानने
की शक्ति भी वालक अथवा मूर्ख में नही होती है ॥ ४० ॥

'उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो, दीर्घामयस्तथा ।
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसशयम्' ॥ ४१ ॥

अन्वयः—वृद्ध तथा दीर्घामय उत्साहशक्तिहीनत्वात् द्वौ अपि एतौ
असशयम् स्वैरेव परिभूयेते ॥ ४१ ॥

वृद्ध = स्थविर । तथा दीर्घामय = दीर्घरोगी । उत्साहशक्तिहीनत्वात्=
सामर्थ्योत्साहरहितत्वात् । असशयम्=निस्सन्देहम् । स्वैरेव = आत्मीयैरेव । परि-
भूयेते=तिरस्क्रियेते ॥ ४१ ॥

वृद्ध तथा वहुत दिनो से रोगी राजा उत्साह और शक्ति से रहित होते हैं ।
अत यह दोनो ही अपने आप पराजित हो जाते हैं, इसमे कोई भी सन्देह नही है' ॥

'सुखोच्छेद्यो हि भवतिसर्व-ज्ञाति वहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः' ॥ ४२ ॥

अन्वयः—स्वजातिबहिष्कृतः सुखच्छेद्यः भवति । आत्मसात्कृताः ज्ञातयः तु ते एव एनम् विनिघ्नन्ति ॥ ४२ ॥

स्वजातिबहिष्कृतः=स्वसजातीयैः निष्कासितः । सुखोच्छेद्यः=सारल्येनोन्मूलनीयः । आत्मसात्कृताः=स्वपक्षे नीताः । ज्ञातयः=सजातीयाः । तु ते एव=ज्ञातिभेद्याः । एनम्=जातिबहिष्कृतम् । विनिघ्नन्ति=विनाशयन्ति ॥ ४२ ॥

अपनी जातिवालों (भाई-बन्धुओं) से निकाला गया राजा आसानी से नष्ट किया जा सकता है । क्योंकि अपने पक्ष में किए गये उसके भाई बन्धु ही उसे मार डालते हैं ॥ ४२ ॥

'भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति ।
तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैर्विमुच्यते' ॥ ४३ ॥

अन्वयः—भीरुः युद्धपरित्यागात् स्वयमेव प्रणश्यति तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैः विमुच्यते ॥ ४३ ॥

भीरुः=कापुरुषः । युद्धपरित्यागात् = युद्धस्य परिहारात् । प्रणश्यति=विनश्यति । भीरुपुरुषः=कातरसैनिकः [illegible] स्वयमेव=आत्मना नृपः । तैः=भीरुभिः सैनिकैः । संग्रामे=युद्धे । विमुच्यते=परित्यज्यते ॥ ४३ ॥

कायर युद्ध छोड़ कर भागने से अपने आप मारा जाता है और यदि राजा के सैनिक-मन्त्री आदि कायर हुए तो वे सभी राजा को युद्ध में छोड़ कर भाग जाते हैं ॥ ४३ ॥

'लुब्धस्यासंविभागित्वान्न युध्यन्तेऽनुजीविनः ।
लुब्धानुजीवी तैरेव दानभिन्नैर्निहन्यते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—असंविभागित्वात् अनुजीविनः लुब्धस्य न युध्यन्ते । लुब्धानुजीवी दानभिन्नैः तैः एव निहन्यते ॥ ४४ ॥

असंविभागित्वात्=अविभाजकत्वात् । अनुजीविनः = सैनिकाः । लुब्धस्य=लोभपरायणस्य नृपस्य । लुब्धानुजीवी=लोलुपसैनिकः नृपः । दानभिन्नैः=शत्रुभिः दत्तैः द्रव्यैः तत्पक्षे स्थितैः । तैः=अनुजीविभिः । निहन्यते=व्यापाद्यते ॥ ४४ ॥

लोभी राजा अपने कर्मचारियों को उचित रूप से धनका हिस्सा न देकर स्वयं हड़प लेता है जिससे उसके कर्मचारी उसके लिए मन से युद्ध नहीं करते हैं । और जिस राजा के कर्मचारी लालची होते हैं वे सभी शत्रु के घूस देने पर फूट जाते तथा राजा को मार डालते हैं ॥ ४४ ॥

'समयज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।
सुखाभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान्' ॥ ४५ ॥

अन्वयः—विरक्तप्रकृति युधि प्रकृतिभि सन्त्यज्यते। विषयेषु अतिसक्तिमान् सुखोभियोज्य भवति ॥ ४५ ॥

विरक्तप्रकृति =उदासीनप्रज , विरक्ता उदासीना प्रकृतय यस्य स नृप । युधि=संग्रामे । प्रकृतिभि =प्रजाभि अमात्यादिभिश्च । सत्यज्यते=विमुच्यते । विषयेषु=इन्द्रियार्थेषु । अतिसक्तिमान्=अत्यासक्त । सुखाभियोज्य =अनायासवश्य. भवति ॥ ४५ ॥

जिस राजा के मन्त्री-कर्मचारी आदि उससे प्रेम नहीं करते वे सभी युद्ध मे राजा का साथ छोड देते हैं और जो राजा विषय वासनाओं मे लिपटा हुआ होता है वह आसानी से पराजित किया जा सकता है ॥ ४५ ॥

'अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते' ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अनेकचित्तमंत्रस्तु मन्त्रिणाम् द्वेष्य भेद्य भवति अनवस्थितचित्तत्वात् कार्यत स उपेक्ष्यते ॥ ४६ ॥

अनेकचित्तमत्रस्तु=मत्रणायाम् चचलस्वभाव , मत्रापरायण । मन्त्रिणाम्=अमात्यानाम् । द्वेष्य =द्वेषार्हं भवति । अनवस्थितचित्तत्वात्=चचलहृदयत्वात् । कार्यत =कार्यकाले, विग्रहे उपस्थिते सति । स =नृप । उपेक्ष्यते=उपेक्षितो भवति ॥

जिस राजा का चित्त चचल और राय अनिश्चित होती है, वह राजा अपने मन्त्रियों द्वारा ही शत्रु समझा जाता है और चचल चित्त होने के कारण लोग काय के समय उसकी उपेक्षा करने लगते हैं ॥ ४६ ॥

'सदाधर्मबलीयस्त्वाद्देव ब्राह्मण निन्दकः ।
विशीर्यते स्वय ह्येप', 'दैवोपहतकस्तथा' ॥ ४७ ॥

अन्वयः—देवब्राह्मणनिन्दक सदा अधर्मबलीयस्त्वात् हि एप दैवोपहतक स्वयम् विशीयते ॥ ४७ ॥

देवब्राह्मणनिन्दक =देवताद्विजविनिन्दक । सदा = सर्वदैव । अधर्मबलीयस्त्वात्=पापस्य बलवत्त्वात् । दैवोपहतक =भाग्योपहत । स्वय विशीयते=आत्मनैव नश्यति ॥ ४७ ॥

सदा अधर्म बली होने से देवता और ब्राह्मण की निन्दा करने वाला अधर्मबल से युक्त होने के कारण तथा भाग्य का मारा हुआ राजा अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

'सम्पत्तेश्च, विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ।
इति दैवपरो [illegible] न विचेष्टते' ॥ ४८ ॥

अन्वयः—दैवपरः सम्पत्तेः विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् इति ध्यायन् आत्मना न चेष्टते ॥ ४८ ॥

दैवपरः=भाग्यवादी । दैवमेव=भाग्यमेव । हि=निश्चयेन कारणम्=हेतुः । इति ध्यायन्=एवं चिन्तयन् । न चेष्टते=कर्तव्यकर्मापि न करोति ॥ ४८ ॥

सम्पत्ति और विपत्ति का हेतु वाला केवल भाग्य होता है इस प्रकार भाग्य के अधीन रहने वाला राजा स्वयं ठीक-ठीक प्रयत्न नहीं करता है अतः वह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

'दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव विषीदति ।
बलव्यसनसक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न जायते' ॥ ४९ ॥

अन्वयः—दुर्भिक्षव्यसनी च ... न जायते ॥ ४९ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी=दुर्भिक्षव्यापद्ग्रस्तः । चैव स्वयमेव=आत्मनैव । विषीदति=व्याकुलो भवति । बलव्यसनसक्तस्य=सैन्यापद्ग्रस्तस्य । योद्धुम्=विग्रहीतुम् । शक्तिः=सामर्थ्यम् । न जायते=नोत्पद्यते ॥ ४९ ॥

अकाल की विपत्ति में पड़ा हुआ राजा स्वयं दुःखी होता है और सैनिक विपत्ति में पड़े हुए राजा में युद्ध करने की शक्ति ही नहीं होती है ॥ ४९ ॥

'अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपकर्षति' ॥ ५० ॥

अन्वयः—अदेशस्थः हि स्वल्पकेनापि रिपुणा हन्यते अल्पीयान् अपि ग्राहः जले गजेन्द्रम् अपकर्षति ॥ ५ ॥

अदेशस्थः=अनुचितदेशस्थः । हि=निश्चयेन स्वल्पकेन=तुच्छबलेन सामान्येन । रिपुणा=शत्रुणा । हन्यते=विनाश्यते । अल्पीयान्=अल्पकायः अपि । ग्राहः=मकरः । गजेन्द्रम्=बृहत्कायं गजम् अपि । अपकर्षति=अपकर्षति ॥ ५ ॥

बुरे स्थान में पड़ा हुआ राजा छोटे शत्रुओं द्वारा भी आसानी से मारा जाता है जैसे जल में पड़े हुए हाथी को छोटा-सा मकर मार डालता है ॥५०॥

'बहुशत्रुस्तु सन्त्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाशु विपद्यते ॥ ५१ ॥

अन्वयः—श्येनमध्ये कपोतवत् सन्त्रस्तः बहुशत्रुः येनैव पथा गच्छति तेनैव आशु विपद्यते ॥ ५१ ॥

श्येनमध्ये=पत्त्रिमध्ये (बाजो के बीच मे)। कपोतवत्=पारावतसदृश । बहुशत्रु = बहुरिपु नृप । सन्त्रस्त. = शत्रुणा भीत सन्। येनैव पथा=येनैव मार्गेण । आशु=शीघ्रम् । विपद्यते=विपत्तिमाप्नोति ॥ ५१ ॥

बहुत शत्रुओ वाला राजा बाज के बीच में पडे हुए कबूतर के समान पीडित रहता है और जिस मार्ग से जाता है उसी मार्ग मे शीघ्र ही मारा जाता है ॥

'अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः' ॥ ५२ ॥

अन्वयः—निशीथे कौशिकेन हतज्योति वायस इव कालयोधिना अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते ॥ ५२ ॥

निशीथे=अर्द्धरात्रे । हतज्याति =नष्टनेत्रद्युति । वायस =काक । इव= यथा । कौशिकेन=उलूकेन । कालयोधिना=अनुकूलावसरे युद्धकारकेण शत्रुणा । अकालयुक्तसैन्य =असमये सैन्यसचालक नृप । हन्यते=मार्यते ॥ ५२ ॥

जो राजा अवसर का ध्यान रखे बिना दूसरे राजा पर चढाई कर देता है वह समयानुसार युद्ध करने वाले राजा से उसी प्रकार मारा जाता है जैसे आधी रात के समय दिखाई न देने के कारण कौवा उल्लू द्वारा मारा जाता है ॥५२॥

'सत्यधर्मव्यपेतेन सन्दध्यान्न कदाचन ।
स सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम्' ॥५३॥

अन्वयः—सत्यधर्मव्यपेतेन कदाचन न सन्दध्यात् स सन्धित अपि असाधुत्वात् अचिरात् विक्रियाम् याति ॥ ५३ ॥

सत्यधमव्यपेतेन=सत्यधर्मरहितेन, न सन्दध्यात्=सन्धि न कुर्वीत । सन्धित = सन्धिना युक्त अपि । असाधुत्वात्=दुष्टप्रकृतित्वात् । विक्रियाम्=विकारम्, निरोधम् । याति=प्राप्नोति ॥ ५३ ॥

सत्य तथा धम से हीन राजा के साथ कभी भी सधि नही करनी चाहिए क्योकि वह सधि करने पर भी दुष्टता के कारण शीघ्र ही बिगड जाता है अर्थात् संधि के नियमो का पालन करना छोड देता है ॥ ५३ ॥

अपरमपि कथयामि—सन्धि-विग्रह-यानासन-संश्रय-द्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुष-द्रव्य-सम्पत्, देश-कालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्च (इति) पञ्चाङ्गो मन्त्रः । साम-दान-भेद-दण्डाश्चत्वार उपायाः । उत्साहशक्तिः, मन्त्र-

शक्तिः प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम् । एतत्सर्वमालोच्य नित्यं विजिगीषवो भवन्ति महान्तः । यतः—

सन्धि = सन्धानम् । विग्रहः = युद्धम् । यानम् = रिपुम् प्रति अभियानम् (चढ़ाई) । आसनम् = दुर्गादौ स्थित्वा उचितावसरस्य प्रतीक्षणम् । संश्रय = बलवदाश्रयणम् । द्वैधीभावः = द्विधा व्यवहारः । कर्मणाम् = कार्याणाम् । आरम्भोपाय = प्रारम्भस्य प्रकारः । पुरुषद्रव्यसम्पत् = पुरुषाणाम् = सैन्यादीनाम् सहायकानाम्, द्रव्यस्य = धनधान्यादीनाम् सम्पत् = समृद्धिः । देशकालविभाग = देशस्य काल(कुत्र कदा च) भेदेन कर्तव्यनिश्चयः । विनिपातप्रतीकारः = विपत्तेः प्रतीकारः । विजिगीषव = विजयाभिलाषुकाः ॥

और भी कहा गया है— संधि युद्ध चढ़ाई समय की प्रतीक्षा करते हुए बली का आश्रय लेना तथा दोरंगी नीति ग्रहण करना—ये राजनीति के छः गुण होते हैं । कार्यों के आरम्भ करने का उपाय सहायक व्यक्तियों तथा उचित द्रव्य का संग्रह देश-काल का उचित विभाग आई हुई विपत्तियों के दूर करने के उपाय और कार्य की सिद्धि—यह पाँच मन्त्रणा के अंग होते हैं । साम दाम दण्ड और भेद—ये चार शत्रु को वश में करने के उपाय होते हैं । उत्साह, मन्त्रणा तथा प्रभुत्व यह राज्य की तीन शक्तियाँ होती हैं । महान् लोग इन सभी बातों का विचार करके ही शत्रु को जीतने की अभिलाषा करते हैं । क्योंकि—

या हि प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते ।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलापि प्रधावति' ॥ ५४ ॥

अन्वयः—या (श्रीः) प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते सा श्रीः चञ्चलापि नीतिविदं प्रधावति इति पश्य ॥ ५४ ॥

या श्रीः = या लक्ष्मीः । प्राणपरित्यागमूल्येनापि = मूल्ये जीवितदानेनापि । नीतिविदम् = नीतिज्ञम् । चञ्चलापि = चञ्चलस्वभावापि । प्रधावति = स्वयमेवागच्छति । इति पश्य = अवलोकय ॥ ५४ ॥

जो लक्ष्मी प्राणत्यागरूपी मूल्य चुकाने पर भी नहीं प्राप्त होती है वही लक्ष्मी नीतिमान राजा के पास अपने आप दौड़ी हुई जाती है ॥ ५४ ॥

तथा चोक्तम्— मित्रं सदा यस्य समं विभक्तं,
गूढश्चरः संनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति,
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति' ॥ ५५ ॥

अन्वयः—यस्य वित्त सदा समं विभक्तम्, चर गूढ. मन्त्रश्च संनिभृतः, य. प्राणिषु अप्रियं न ब्रवीति स सागरान्ता पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ५५ ॥

यस्य=राज्ञ । वित्तम्=धनम् । सम विभक्तम्=सेवकेषु तुल्यभावेन विभक्तम् । चर.=गुप्तचर । सर्वदा गूढ = सर्वदेव अत्यंतगोप्यभावेन विचरति । मन्त्रश्च सनिभृत =यस्य मन्त्रणाविषय अतिसुगुप्त । य प्राणिषु=समस्तप्रजासु । अप्रिय न ब्रवीति=प्रियवाग्भवति । स समुद्रान्ताम्=आसमुद्राम् । पृथ्वीं शास्ति = चक्रवर्ती नृप भवति ॥ ५५ ॥

जो राजा अपनी सम्पत्ति को अपने सेवकों में समान रूप से बाँट देता है, जिसके गुप्तचर तथा मंत्रणाएँ अत्यन्त गुप्त होती हैं और जो कभी किसी से कटुभाषण नहीं करता वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करता है ॥ ५५ ॥

किन्तु देव ! यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण सन्धानमुपन्यस्तं, तथापि तेन राज्ञा सम्प्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । (देव !) तदेवं क्रियतां–सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजास्मन्मित्रं जम्बुद्वीपे कोपं जनयतु । यतः—

महामंत्रिणा=मयूरस्य चित्रवर्णस्य प्रधानमंत्रिणा । सन्धानम् = सधिम् । उपन्यस्तम्=राज्ञ सम्मुखे उपस्थापितम् । सम्प्रति = इदानीम् । भूतजयदर्पात्= पूर्वं प्राप्तविजयाभिमानात् । न मन्तव्यम् = न स्वीकरिष्यति । कोपम् = क्रोधम् । जनयतु=उत्पादयतु ॥

किन्तु राजन्, यद्यपि महामन्त्री गृध्र ने सधि का प्रस्ताव उपस्थित किया किन्तु इस समय राजा चित्रवर्ण प्राप्तविजय के अभिमान से उसे स्वीकार नहीं कर रहा है इसलिए ऐसा कीजिय—सिंहल द्वीप का राजा महाबली सारस, जो हम लोगो का मित्र है, उसे जबूद्वीप के प्रति क्रुद्ध करा दीजिए ।

'सुगुप्तिमाधाय, सुसंहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
सन्तापयेद् येन समं सुतप्त-
स्तप्तेन सन्धानमुपैति तप्तः' ॥ ५६ ॥

अन्वयः—वीर सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन बलेन विचरन् अरातिम् सन्तापयेत् येन स समं सुतप्त भवेत् हि तप्तेन तप्त सन्धानम् उपैति ॥ ५६ ॥

वीर = बलवान् नृप । सुगुप्तिमाधाय=अत्यतप्रच्छन्नभावं विधाय । सुसंहतेन=परस्परमनुरक्तेन, सुसंगठितेनेत्यर्थ । बलेन=सैन्येन सह । विचरन्=इतस्तत. भ्रमन् । अरातिम्=शत्रुम् । सन्तापयेत् = पीडयेत् । येन स = यस्मात्कारणात् स

शत्रु । समम्=तुल्यमेव संतप्तः=पीडितः कर्तव्यः । तप्तेन=संतप्तेन पीडितेन च सह । तप्तः=संतप्तः पीडितः । सन्धानमुपैति=सन्धिम् प्राप्नोति ॥ ५९ ॥

क्योंकि—

विजय की अभिलाषा रखनेवाले को अपनी रक्षा का दृढ़ उपाय करके सुसंगठित सेना लेकर इधर-उधर घूमते हुए शत्रु को भलीभाँति पीड़ित करना चाहिए, उसे संताप पहुँचाना चाहिए, जिससे वह भी अपने ही समान संतप्त हो जाय तभी वह संधि कर सकता है क्योंकि दो लोहे भलीभाँति गरम हो तभी पर ही आपस में मिल सकते हैं ॥ ५९ ॥

राजा 'एवमस्तु' इति निगद्य विचित्रनामा बकः सुगुप्तलेखं दत्त्वा सिंहलद्वीपं प्रहितः ।

निगद्य=उक्त्वा । सुगुप्तलेखम्=गुप्तपत्रम् । प्रहितः=प्रेषितः ।

राजा राजहंस ने कहा कि ठीक है ऐसा ही हो । फिर उसने विचित्र नाम वाले बगुले को बुलाकर और उसे गुप्त पत्र देकर सिंहलद्वीप भेज दिया ।

अथ प्रणिधिः पुनरागत्योवाच—'देव ! श्रूयतां तावदत्रत्य प्रस्तावः—एवं तत्र गृध्रेणोक्तम्—'देव ! मेघवर्णस्तत्र चिरमुषितः स वेत्ति किं सन्धेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो राजा, न वा' !—इति ! ततोऽसौ मेघवर्णश्चित्रवर्णेन राज्ञा समाहूय पृष्टः—'वायस ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भो राजा ? । चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः' ? । वायस उवाच—'देव ! स हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः सत्यवाक् । चक्रवाकसमो मन्त्री न क्वाप्यवलोक्यते' । राजाह—'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ? । विहस्य मेघवर्णः प्राह—देव !

प्रणिधिः=गुप्तचर । तदत्रत्यप्रस्तावः=तत्रत्यस्य वार्ता । गृध्रेण=गृध्रेण । चिरमुषितः=बहुकालपर्यन्तस्थितः । वेत्ति=जानाति । महाशयः=उदारहृदय ।

इसके बाद गुप्तचर ने फिर आकर कहा—राजन्, वहाँ पर जो हो रहा है उसे सुनिए । वहाँ मंत्री गृध्र ने कहा कि—राजन् मेघवर्ण तो वहाँ बहुत दिनों तक रहा है उसे मालूम है कि राजहंस सन्धि करने के गुणों से युक्त है या नहीं तब राजा चित्रवर्ण ने मेघवर्ण को बुलाकर पूछा—कौवे वह राजा हिरण्यगर्भ कैसा है ? और मंत्री चक्रवाक कैसा है ? कौवे ने कहा—वह राजा हिरण्यगर्भ युधिष्ठिर के समान उदार और सत्यवादी है । चक्रवाक के समान मंत्री तो कहीं नहीं दिखाई पड़ता । राजा चित्रवर्ण ने कहा यदि ऐसी

त है तो तुमने उसे कैसे धोखा दिया। हँस कर कौवे ने कहा—राजन्,

'विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ? ।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम्' ॥ ५७ ॥

अन्वयः—विश्वासप्रतिपन्नानाम् वञ्चने का विदग्धता (अस्ति) हि अङ्कमारुह्य सुप्तम् हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥ ५७ ॥

विश्वासप्रतिपन्नानाम् = विश्वासभूमिमुपगतानाम्, वञ्चने=प्रतारणे । का विदग्धता=किं चातुर्यम् । अङ्कमारुह्य=क्रोडमासाद्य । सुप्तम् हत्वा = सुप्तजनम् व्यापाद्य । किं नाम पौरुषम्=किं पराक्रम ॥ ५७ ॥

विश्वास मे पड़े हुए लोगो को धोखा दे देने मे कौन-सी चतुराई है ? गोद मे आकर सोए हुए व्यक्ति को मार डालने मे कौन सी बहादुरी है ॥ ५७ ॥

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाहं प्रथमदर्शने एव विज्ञातः । किन्तु महाशयोऽसौ राजा, तेन मया विप्रलब्धः । तथा चोक्तम्—

तेन=चक्रवाकेण । प्रथमदर्शने = प्रथमप्रत्यक्षे । विज्ञात = तत्त्वत ज्ञात., 'गुप्तचरोऽहम्' इति ज्ञातवान् इत्यर्थ । महाशय.=उदारहृदय । तेन = उदारहृदयत्वेन । विप्रलब्ध =प्रतारित ।

राजन्, उस मन्त्री ने तो मुझे देखते ही देखते पहचान लिया था किन्तु वह राजा अत्यन्त उदार है इसीलिए मैंने उसे धोखा दे दिया । जैसा कि कहा भी गया है—

'आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम् ।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा' ॥ ५८ ॥

अन्वयः—य दुर्जनम् आत्मौपम्येन सत्यवादिनम् वेत्ति स धूर्तै तथा वञ्च्यते यथा ब्राह्मण छागत (वञ्चित) ॥ ५८ ॥

दुर्जनम्=दुष्टमपि । आत्मौपम्येन=आत्मसदृशेन । सत्यवादिनम्=सत्याचरणम् । वेत्ति=जानाति । वञ्च्यते=प्रतार्यते । छागत =छागप्रसंगेन ॥ ५८ ॥

जो व्यक्ति अपने समान ही दुष्ट को भी सत्यवादी समझता है वह उसी प्रकार ठगा जाता है जैसे बकरे के प्रसग मे धूर्तों ने ब्राह्मण को ठग लिया था ॥

राजोवाच—कथमेतत् ? । मेघवर्णः कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे ?—मेघवर्ण ने कहा—

कथा ९

अस्ति गौतमस्यारण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद् ब्राह्मणः। स च यज्ञार्थं ग्रामान्तराच्छागमुपक्रीय, स्कन्धे नीत्वा गच्छन्धूर्तत्रयेणावलोकितः। ततस्ते धूर्ताः—'यद्येष च्छागः केनाप्युपायेन लभ्यते, तदा मतिप्रकर्षो भवती'ति समालोच्य, वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्यागमनं प्रतीक्ष्य, पथि स्थिताः।

प्रस्तुतयज्ञः=यज्ञं कर्तुं प्रस्तुतः। ग्रामान्तरात् = अन्यस्मात् ग्रामात्। छागम् (बकरा)। उपक्रीय=मूल्येनादाय। अवलोकितः=दृष्टः। लभ्यते=प्राप्यते। मतिप्रकर्षः = बुद्धिचातुर्यम्। समालोच्य=विचार्य। क्रोशान्तरेण वृक्षत्रयतले= प्रत्येकं क्रोशान्तरेण स्थितानां वृक्षाणाम् अधःप्रदेशे। प्रतीक्ष्य = प्रतीक्षां कृत्वा। पथि=मार्गे।

गौतमारण्य में एक ब्राह्मण यज्ञ करना चाहता था। वह यज्ञ के लिए किसी गाँव से जाकर एक बकरा खरीदकर उसे कंधे पर रखकर ले जा रहा था कि रास्ते में उसे तीन धूर्तों ने देखा और विचार किया कि अगर किसी तरह यह बकरा मिल जाय तो हम लोगों की बुद्धि की चतुराई समझी जाय। यह सोचकर वह तीनों एक-एक कोस की दूरी पर तीन पेड़ों के नीचे खड़े होकर ब्राह्मण के आने की बाट जोहने लगे।

तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—'भो ब्राह्मण[1] किमिति त्वया कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते।' विप्रेणोक्तं—'नायं श्वा किन्तु यज्ञच्छागः।' अथान्तरस्थितेनान्येन धूर्तेन तथैवोक्तम्। तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय मुहुर्निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा दोलायमानमतिश्चलितः। यतः—

उह्यते=नीयते। भूमौ निधाय=पृथिव्यां संस्थाप्य। मुहुः=पुनः। निरीक्ष्य=सम्यक्तरतया दृष्ट्वा। दोलायमानमतिः=चञ्चलबुद्धिः। चलितः=अग्रे गतवान्।

इस तरह पास से जाते हुए ब्राह्मण को देखकर एक धूर्त ने उससे कहा—तुम कुत्ते को क्यों कन्धे पर लिये जा रहे हो? ब्राह्मण ने कहा—यह कुत्ता नहीं है यह तो यज्ञ का बकरा है। फिर थोड़ी दूर स्थित दूसरे धूर्त ने भी यही कहा। तब यह सुन कर ब्राह्मण बकरे को पृथ्वी पर रख कर, बार-बार देखकर और फिर कंधे पर रखकर सन्देह में पड़ा हुआ आगे चला। क्योंकि—

'मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत्' ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सतामपि मति खलोक्तिभि सत्यम् दोलायते असौ ताभि विश्वासित चित्रकर्णवत् म्रियते ॥ ५९ ॥

सतामपि=सज्जनानामपि। मति =बुद्धि । खलोक्तिभि =दुष्टवचनै । सत्यम्=नूनम्। दोलायते=चचला भवति। ताभि = दुष्टवचनै । विश्वासित = विश्वासमुपनीत । म्रियते=मृत्यु प्राप्नोति ॥ ५९ ॥

सज्जनों की बुद्धि भी दुष्टो की बातो से चंचल हो जाती है और वे उसकी बातों का विश्वास करके उसी प्रकार मारे जाते हैं जैसे चित्रकर्ण मारा गया था ॥

राजाह—कथमेतत् ? स कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा १०

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः। तस्य सेवकास्त्रयः काको, व्याघ्रो, जम्बुकश्च। अथ तैर्भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्ट कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः, पृष्टश्च-'कुतो 'भवानागतः सार्थाद् भ्रष्टः' ?। स चात्मवृत्तान्तमकथयत्। ततस्तर्नीत्वा सिंहायासौ समर्पितः। तेन चाभयवाचं दत्वा, 'चित्रकर्ण' इति नाम कृत्वा, स्थापितः।

वनोद्देशे=वनप्रान्ते। काक =वायस । जम्बुक =शृगाल । भ्रमद्भि =इतस्तत विचरद्भि । सार्थभ्रष्ट =वणिक्सघातच्युत । आत्मवृत्तान्तम्=स्वकथाम्। अभयवाचम्=प्राणदानम्।

किसी जगल मे मदोत्कट नाम का एक सिंह था उसके तीन सेवक थे, एक कौआ, दूसरा बाघ और तीसरा गीदड। उन तीनों ने घूमते घामते बनियो के सघ से छूटे हुए किसी ऊँट को देखा और पूछा—आप सघ से बिछुड कर कहाँ से आ रहे हैं ? इस पर ऊँट ने अपना वृत्तान्त कह सुनाया तब उन तीनों ने उसे ले जाकर सिंह को समर्पित कर दिया। उसने उसे अभयदान देकर उसका नाम चित्रकर्ण रखा और अपने पास रख लिया।

अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः। ततस्तैरालोचितम्—चित्रकर्णमेव

यथा स्वामी व्यापादयति तथानुष्ठीयताम्। किमनेन कण्टकभुजास्माकम्?।

व्याघ्र उवाच—'स्वामिनाभयवाचं दत्त्वानुगृहीतोऽयं तत्कथमेवं सम्भवति'?। काको ब्रूते—'इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति'। यतः—

शरीरवैकल्यात् = देहास्वास्थ्यात्। भूरिवृष्टिकारणात् = अधिकवर्षणेन। आहारम् = भोजनम्। अलभमानाः = अप्राप्नुवन्तः। व्यग्राः = व्याकुलाः। व्यापादयति = हन्ति। अनुष्ठीयताम् = क्रियताम्। कण्टकभुजा = कण्टकभोजिना। अस्माकम् किम् = अस्माकम् किम् प्रयोजनम्। अनुगृहीतः = अनुकम्पया स्वाश्रये रक्षितः। इह समये = शरीरवैकल्यात् भोजनाभावसमये। परिक्षीणः = बुभुक्षादिभिः क्षीणः। पापम् = अनुचिताचरणम्।

एक बार सिंह के अस्वस्थ हो जाने तथा बहुत अधिक पानी बरसने के कारण भोजन न मिलने से वे बहुत व्यग्र हुए। फिर उन सबों ने विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे स्वामी विश्वकर्ण को ही मारें। इस कांटा खाने वाले से हम लोगों का प्रयोजन ही क्या है? इस पर व्याघ्र ने कहा कि स्वामी ने अभयदान देकर इस पर कृपा की है अतः ऐसा कैसे हो सकता है? कौवे ने कहा—इस समय स्वामी भूख से व्याकुल हैं अतः वह पाप कर्म भी कर सकते हैं। क्योंकि—

'त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति' ॥ ६० ॥

अन्वयः—क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं त्यजेत्, क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् खादेत्, बुभुक्षितः किं पापम् न करोति (अतः) क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥६० ॥

क्षुधार्ता = बुभुक्षया पीडिता। महिला = स्त्री। स्वपुत्रम् = स्वपुत्रमपि। त्यजेत् = परित्यजति। भुजगी = सर्पिणी। स्वमण्डम् = स्वाण्डम्। खादेत् = भक्षयति। बुभुक्षितः = बुभुक्षितः। पापम् = पापाचरणम्। क्षीणाः = निर्बलाः। नराः = मनुष्याः। निष्करुणाः = निर्दयाः ॥ ६० ॥

भूख से व्याकुल स्त्री अपने पुत्र को भी छोड़ देती है और सर्पिणी भूख से व्याकुल होकर अपना अण्डा खा जाती है। भूखा कौन-सा पाप नहीं कर सकता है क्योंकि व्याकुल मनुष्य करुणा से रहित होता है ॥ ६० ॥

अन्यश्च—'मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः, श्रान्तः, क्रुद्धो, बुभुक्षितः ।
लुब्धो, भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित्' ॥ ६१ ॥

अन्वयः—मत्त ······कामुकश्च धर्मवित् न भवति ॥ ६१ ॥

मत्त.=गर्वोद्धत । प्रमत्त =असावधान । उन्मत्त =विक्षिप्त । श्रान्त'= श्रमविह्वल । क्रुद्ध =कोपयुक्त । बुभुक्षित =क्षुधापीडित । भीरु =कातर । त्वरायुक्त =सहसा कार्यविधायक । कामुक.=कामासक्त । न । धर्मवित्=धर्मज्ञ ।

और भी—अभिमानी, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, लालची, डरपोक, जल्दबाज और कामी व्यक्ति धर्मज्ञ नही होते हैं ॥ ६१ ॥

इति सञ्चिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः । सिंहेनोक्तम्—'आहारार्थं किञ्चित्प्राप्तम् ?' तैरुक्तम्—'देव ! यत्नादपि न प्राप्तं किञ्चित् ।' सिंहेनोक्तम्—'कोऽधुना जीवनोपायः ?' काको वदति—'देव ! स्वाधीनाहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः' ? सिंहेनोक्तम्—'अत्राहारः कः स्वाधीनः ? ।' काकः कर्णे कथयति—'चित्रकर्ण ' इति । सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा, कर्णौ स्पृशति । अब्रवीच्च—'अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः, तत्कथमेवं सम्भवति' ? । तथा हि—

सचिन्त्य=विचार्य । सिंहान्तिकम्=सिंहस्य समीपम् । जग्मु =गतवन्त । आहारार्थम्=भोजनाय । जीवनोपाय =प्राणधारणस्य उपाय । स्वाधीनाहारपरित्यागात्=निजायत्तभोज्यत्यागात् । सर्वनाश =अस्माकम् प्राणहानि । उपस्थित =समुपागत । क आहार =क भोज्य । स्वाधीन =निजायत्त । अभयवाच दत्वा=प्राणदानस्य वचन दत्त्वा । धृत =स्वाश्रये रक्षित । एवं = तस्य मारणम् । कथ संभवति=केन प्रकारेण भवितु शक्नोति ।

यह सोच कर सभी सिंह के पास गए । सिंह ने कहा—'क्या भोजन के लिए कुछ मिला ?' उन सबों ने कहा—राजन्, बहुत उपाय करने पर भी कुछ नही प्राप्त हुआ । सिंह ने कहा तो अब जीवन का क्या उपाय है ?' कौवे ने कहा—राजन् अपने अधीन रहने वाले भोजन का परित्याग करने से ही यह सर्वनाश उपस्थित हुआ है ।' सिंह ने कहा—'यहाँ कौन-सा आहार अपने अधीन है ?' कौवे ने कान में कहा—'चित्रकर्ण' । तब सिंह ने जमीन छूकर कान छुआ

और कहा—हम लोगों ने उसे अभयदान देकर रखा है इसलिए ऐसा कैसे हो सकता है? क्योंकि—

'न भूप्रदानं न सुवर्णदानं न गोप्रदानं न तथान्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं, सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्'॥ ६२॥

अन्वयः—सर्वेषु दानेषु यथा अभयप्रदानम् महाप्रदानम् (इति) वदन्ति तथा न भूप्रदानम् तथा न अन्नदानम्॥ ६२॥

सर्वेषु दानेषु=सर्वप्रकारेषु दानविषयेषु। अभयप्रदानम्=प्राणदानम्। महाप्रदानम्=महद्दानम्। वदन्ति=कथयन्ति। भूप्रदानम्=पृथ्वीदानम्॥ ६२॥

पृथ्वीदान सोने का दान गोदान तथा अन्नदान उतने बड़े नहीं कहे जाते हैं जितना कि सब दानों में सबसे महान दान अभयदान कहा जाता है॥ ६२॥

अन्यच्च—'सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम्।
तत्फलं लभते सम्यग् रक्षिते शरणागते॥ ६३॥

अन्वयः—सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् भवति तत्फलम् शरणागते रक्षिते सम्यक् लभते॥ ६३॥

सर्वकामसमृद्धस्य=सर्वेप्सितपरिपूर्णस्य। अश्वमेधस्य=अश्वमेधनामयज्ञस्य। शरणागते=आश्रयमागते। रक्षिते=परित्राणे कृते सति। सम्यक्=पूर्णरूपेण। लभते=प्राप्नोति॥ ६३॥

और भी—सभी कामनाओं को पूरी करने वाले अश्वमेध यज्ञ करने से जो फल प्राप्त होता है वह सभी फल शरण में आए हुए की रक्षा करने से प्राप्त होता है॥ ६३॥

काको ब्रूते—'नासौ स्वामिना व्यापादयितव्यः किन्त्वस्माभिरेव तथा कर्तव्यं यथासौ स्वदेहदानमङ्गीकरोति।

काकः=वायसः। ब्रूते=कथयति। व्यापादयितव्यः=हन्तव्यः। स्वामिना=मदोत्कटेन। स्वदेहदानम्=निजशरीरसमर्पणम्।

कौवे ने कहा—स्वामी उसे मारेंगे नहीं बल्कि हम लोग ऐसा उपाय करेंगे जिससे वह स्वयम् अपने आपको स्वामी को समर्पित कर देगा।

सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः। ततोऽसौ लब्धावकाशः कूटं कृत्वा सर्वानादाय सिंहान्तिकं गतः। अथ काकेनोक्तं—देव!

यत्नादप्याहारो न प्राप्तः, अनेकोपवासक्लिष्टश्च स्वामी, तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम्' । यतः—

तूष्णीम्=मौनम् । लब्धावकाश =प्राप्तकाल । कूट कृत्वा=कपट विधाय । सर्वानादाय=व्याघ्रजम्बुकचित्रकर्णादीन् गृहीत्वा । सिंहान्तिकम्=सिंहसमीपम् । गत =प्राप्त । यत्नात् अपि=प्रयत्ने कृतेऽपि । आहार =भोजनम् । अनेकोपवास-कृश =चिरकालात् भोज्याभावेन क्षीण ।

सिंह यह सुन कर चुप रह गया । इसके पश्चात् कौवे ने अवसर पाकर षड्यन्त्र करके सभी को लेकर सिंह के पास गया और उसने कहा—'राजन् प्रयत्न करने पर भी भोजन नही मिला, आप अनेक उपवासो से बहुत कष्ट मे हैं इसलिए इस समय मेरे मांस को खाकर प्राणरक्षा कीजिए । क्योंकि—

'स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वाः प्रकृतयः खलु ।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्' ॥ ६४ ॥

अन्वयः—सर्वा प्रकृतय खलु स्वामिमूला भवन्ति नृणाम् प्रयत्न समूलेषु वृक्षेषु अपि सफल (भवति) ॥ ६४ ॥

सर्वा प्रकृतय =समस्ता प्रजा । स्वामिमूला =नृपाश्रया । नृणाम्=मनुष्याणाम् । प्रयत्न =यत्न । सफल =समूलात् वृक्षादेव फलाशा भवति ॥ ६४ ॥

सारी प्रजा की जड राजा ही होता है और जड वाले वृक्ष मे किया गया उपाय ही लोगों के लिए फलदायक होता है अर्थात् जब जड ही नष्ट हो जायगी तो फल कहाँ से प्राप्त होगा ॥ ६४ ॥

सिंहेनोक्तम्—'भद्र ! वरं प्राणपरित्यागो, न पुनरीदृशे कर्मणि प्रवृत्तिः ।' जम्बुकेनापि तथोक्तम् । तत. सिंहेनोक्तं—'मैवम्' । अथ व्याघ्रेणोक्तं—'मद्देहेन जीवतु स्वामी ।' सिंहेनोक्तं—'न कदाचिदेवमुचितम्' ।

वरम्=श्रेष्ठ । प्राणपरित्याग =मरणम् । ईदृशी कर्मणि=आश्रितस्य मांस-भोजने ।

सिंह ने कहा—भद्र, प्राण छोड देना तो अच्छा है किन्तु इस प्रकार के कार्य मे लगना अच्छा नहीं है । गीदड ने भी वैसा ही कहा । तब सिंह ने कहा—नही, ऐसा नहीं हो सकता । व्याघ्र ने कहा—'तो स्वामी मेरे शरीर को खाकर अपने जीवन की रक्षा करें ।' सिंह ने कहा— यह ठीक नहीं है ।'

अथ चित्रवर्णोऽपि जातविश्वासस्तथैवास्मदाह्वानमाह। ततः स्वल्पधनलोभेन व्याघ्रेणासौ कुक्षिं विदार्य्य व्यापादितः, सर्वैर्भक्षितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'मतिर्दोलायते सत्यम्' इत्यादि॥

जातविश्वासः=जातप्रत्ययः स्वामी मामसाविव मामपि न भक्षयिष्यति इति विश्वस्त इत्यर्थः। तद्वचनात्=स्वशरीरार्पणवार्ताकथनात्।

फिर विश्वास में आकर चित्रवर्ण ने भी अपने शरीरदान की बात कही। उसकी बात सुनते ही बाघ ने उसके पेट को फाड़ कर मार डाला और सभी ने मिल कर भोजन किया इसीलिए मैं कह रहा हूँ—सज्जनों की बुद्धि भी चंचल हो जाती है इत्यादि।

ततस्तृतीयधूर्तवचनं श्रुत्वा स्वमतिभ्रमं निश्चित्य छागं त्यक्त्वा ब्राह्मणः स्नात्वा गृहं ययौ। छागश्च तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'आत्मौपम्येन यो वेत्ति'—इत्यादि॥

स्वमतिभ्रमम्=स्वबुद्धिभ्रान्तम्। निश्चित्य=निर्णीय।

तब तीसरे धूर्त की बात सुनकर अपनी बुद्धि का भ्रम जान कर वह ब्राह्मण बकरे को छोड़ कर स्नान करके घर चला गया और उन धूर्तों ने बकरे को ले जाकर खा डाला। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'जो अपने समान समझता है' इत्यादि।

राजाह—'मेघवर्ण! कथं शत्रुमध्ये त्वया सुचिरमुषितम्?, कथं वा तेषामनुनयः कृतः?'। मेघवर्ण उवाच—देव! स्वामिकार्यार्थितया स्वप्रयोजनवशाद्वा किं किं न क्रियते। पश्य—

चिरमुषितम्=बहुकालम् निवासः कृतः। अनुनयः=चाटुकारिता। स्वामिकार्यार्थिता=राजकार्यप्रयोजनेन। स्वप्रयोजनवशात्=स्वार्थसिद्ध्यर्थं च।

राजा चित्रवर्ण ने कहा—मेघवर्ण! तुम शत्रुओं के बीच में कैसे बहुत दिन तक रहे और किस प्रकार उन्हें अपना बना रखा। मेघवर्ण ने कहा—प्रभो, स्वामी का कार्य पूरा करने के लिए तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए मनुष्य क्या नहीं करता है। देखिए—

लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम्।
क्षालयन्नपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेगो निकृन्तति॥ ९९॥

अन्वयः—हे राजन्, लोकः इन्धनम् दग्धुम् मूर्ध्ना किं न वहति। नदीवेगः वृक्षाङ्घ्रिं क्षालयन्नपि निकृन्तति॥ ९९॥

राजन्=हे नृप । लोक =जन । इन्धनम्= शुष्ककाष्ठम् । दग्धुम्=प्रज्वालयितुम् । मूर्ध्ना=शिरसा । न वहति=न धारयति । नदीवेला=सरित्पूर । वृक्षाङ्घ्रि=तरुमूलम् । क्षालयन्ती=प्रक्षालनम् कुर्वन्ती । निकृन्तति=उन्मूलयति ॥ ६५ ॥

क्या लोग जलाने वाली लकड़ी को अपने सिर पर रख कर नही ले जाते हैं और नदी की धारा वृक्षो की जडो (पैरों) को धोकर भी क्या उन्हें काटती नहीं है ? ॥ ६५ ॥

तथा चोक्तम्—'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः' ॥ ६६ ॥

अन्वयः—कार्यमासाद्य बुद्धिमान् शत्रून् स्कन्धेनापि वहेत् । यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिता ॥ ६६ ॥

बुद्धिमान्=प्राज्ञ । कार्यमासाद्य=स्वार्थसिद्ध्यर्थम् । शत्रून्=अरीन् । वहेत्=धारयेत् । विनिपातिता =विनाशिता ॥ ६६ ॥

कहा भी गया है—

काम पड़ जाने पर बुद्धिमान् शत्रु को भी अपने कंधे पर ले जाता है जैसे बूढे सॉप ने मेढको को अपने सिर पर रख कर फिर उन्हें मार डाला था ॥६६॥

राजाह—'कथमेतत् ?' मेघवर्णः कथयति—

राजा चित्रवर्ण ने कहा—यह कैसे ? मेघवण ने कहा—

कथा ११

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः । सोऽतिजीर्णतया स्वाहारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थित । ततो दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्ट', पृष्टश्च—'किमिति त्वमाहारं नान्विष्यति' ?। सर्पोऽवदत्—'गच्छ भद्र ! किन्ते मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रश्नेन' ? ततः सञ्जातकौतुक स च भेकः 'सर्वथा कथ्यताम्' इत्याह । सर्पोऽप्याह—'भद्र ! ब्रह्मपुरवासिन. श्रोत्रियस्य कौण्डिन्यस्य पुत्रो विंशति वर्षदेशीय', सर्वगुणसम्पन्नो, दुर्दैवान्मया नृशसेन दष्टः । ततस्तं सुशीलनामानं पुत्र मृतमवलोक्य, शोकेन मूर्छितः कौण्डिन्यः पृथिव्या लुलोठ । अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तत्रागत्योपविष्ट' । तथा चोक्तम्—

जीर्णोद्याने=पुरातनोपवने । अतिजीर्णतया=अतिवार्धक्येन । आहारमपि=भोजनमपि । अन्वेष्टुम् = समाजितुम् । अक्षमः=असमर्थः । नान्विष्यति=अन्वेषणं न करोति । मन्दमाप्तस्य = वैतोरहवजस्य । वृत्तान्तप्रश्नेन = वृत्तान्तसमाचारपृच्छाकरणेन । सञ्जातकौतुक=समुत्पन्नाश्चर्यः । भेक=मण्डूकः । सर्वथा=सर्वप्रकारेणैव । कथ्यताम्=उच्यताम् । श्रोत्रियस्य=वेदपाठिनः । विंशतिवर्षदेशीयः=विंशतिवर्षप्रायः । दुर्दैवात्=दुर्भाग्यात् । नृशंसेन=निष्ठुरेण । मूर्च्छितः=निःसंज्ञः । लुठति=पतति ।

एक उजड़े हुए बगीचे में मन्दविष नाम का एक साँप रहता था। वह बुड्ढा हो जाने के कारण अपना भोजन खोजने में भी असमर्थ हो गया था इसलिए तालाब के किनारे बैठा पड़ा हुआ था। दूर से ही उसे देखकर एक मेढक ने पूछा कि—तुम अपने भोजन की खोज क्यों नहीं करते हो? साँप ने कहा—यह पापी मुझ भाग्यहीन का समाचार पूछने का कष्ट क्यों कर रहे हो? तब आश्चर्य में पड़े हुए मेढक ने कहा—आप अपनी पूरी कहानी अवश्य सुनाइये। इस पर साँप ने कहा—ब्रह्मपुर में रहने वाले वेदपाठी कौण्डिन्य के सभी गुणों से युक्त बीस वर्ष की अवस्था वाले पुत्र को दुर्भाग्य से मुझ निष्ठुर ने काट लिया जिससे सुशील नाम वाले अपने पुत्र को मरा हुआ देख कर कौण्डिन्य शोक से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर लोटने लगा। इसके बाद ब्रह्मपुर के रहने वाले सभी भाई-बन्धु वहाँ आए। जैसा कि कहा भी गया है—

> 'उत्सवे, व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे, राष्ट्रविप्लवे।
> राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति, स बान्धवः' ॥ ६७ ॥

अन्वयः—उत्सवे ... स बान्धवः (अस्ति) ॥ ६७ ॥

उत्सवे=आनन्दपूर्णसमारोहे । व्यसने=विपत्तौ । युद्धे=विग्रहे । दुर्भिक्षे=अन्नसङ्कटे । राष्ट्रविप्लवे=राज्यक्रान्तौ । राजद्वारे=राजगृहे । च तिष्ठति = य सहायको भूत्वा उपस्थितः भवति ॥ ६७ ॥

उत्सव विपत्ति युद्ध दुर्भिक्ष राष्ट्रविप्लव राजदरबार और श्मशान भूमि में भी साथ देता है वही भाई-बन्धु कहा जाता है ॥ ६७ ॥

तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—'अरे कौण्डिन्य! मूढोऽसि, येनैवं विलपसि । शृणु—

स्नातक=वेदाध्ययनसमाप्त, ब्रह्मचारी । मूढोऽसि=अज्ञः प्रतिभासि । विलपसि=रोदिषि ।

वहाँ कपिल नाम के स्नातक ने कहा—अरे कौण्डिन्य तुम बड़े मूर्ख हो जो इस प्रकार विलाप कर रहे हो। सुनो—

'क्रोडीकरोति प्रथम यदा जातमनित्यता।
धात्रीव, जननी पश्चात्, तदा शोकस्य कः क्रमः'? ॥६८॥

अन्वयः—यदा प्रथमम् धात्रीव अनित्यता क्रोडीकरोति पश्चात् जननी, तदा शोकस्य क क्रम ? ॥ ६८ ॥

प्रथमम्=आदौ। जातम्=उत्पन्नम् शिशुम्। धात्रीव = उपमातेव। अनित्यता, क्रोडीकरोति=अङ्के स्थापयति। जननी=माता। शोकस्य=पश्चात्तापस्य। क क्रम =क. काल ? ॥ ६८ ॥

उत्पन्न होने वाले बालक को सबसे पहले अनित्यता ही दाई के समान अपनी गोद में लेती है, फिर माता लेती है अत शोक करने की क्या आवश्यकता है ? ॥

तथा च—'क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः।
वियोगसाक्षिणी येषा भूमिरद्यापि तिष्ठति'॥ ६९ ॥

अन्वयः—ससैन्यबलवाहना पृथिवीपाला क्व याता येषाम् वियोगसाक्षिणी भूमि अद्यापि तिष्ठति ॥ ६९ ॥

ससैन्यबलवाहना =सेनापौरुषवाहनादिसहिता। पृथ्वीपाला =नृपा। क्व= कुत्र। गता =प्रस्थिता। येषा=नृपाणाम्। वियोगसाक्षिणी = विरहसाक्षीभूता। भूमि =पृथिवी। अद्यापि=इदानीमपि। तिष्ठति=स्थिताऽस्ति ॥ ६९ ॥

सेना, पराक्रम और अपने हाथी-घोड़ों के साथ वे राजा लोग कहाँ चले गए जिनके वियोग की साक्षिणी (गवाह) यह पृथ्वी आज भी पड़ी हुई है ॥ ६९ ॥

तथा च—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः'॥ ७० ॥

अन्वयः—जातस्य मृत्यु ध्रुव मृतस्य च जन्म ध्रुवम्। अद्य अब्दशतान्ते वा प्राणिनाम् मृत्यु ध्रुव ॥ ७० ॥

जातस्य=शरीरधारिण। ध्रुव = निश्चय। अद्य = अस्मिन्नेव दिने। अब्दशतान्ते=वर्षशतान्ते वा। प्राणिनाम्=शरीरधारिणाम् ॥ ७० ॥

जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जो मरा है उसका जन्म अवश्य होगा आज अथवा सैकड़ो वर्षों के बाद प्राणियो की मृत्यु निश्चित है ॥७०॥

अपरञ्च—'कायः संनिहितापायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' ॥ ७१ ॥

अन्वयः—कायः संनिहितापायः सम्पदः आपदाम् पदम् समागमाः सापगमाः सर्वम् उत्पादि भंगुरम् ॥ ७१ ॥

कायः=शरीरम् । संनिहितापायः=विनाशोन्मुखः । सम्पदः = सम्पत्तयः । आपदाम्=विपदाम् । पदम्=स्थानम् । समागमाः=संयोगाः । सापगमाः = वियोगयुक्ताः । उत्पादि=उत्पत्तिमत् । भंगुरम्=विनश्वरम् ॥ ७१ ॥

और भी—शरीर प्रतिक्षण नाशवान है सम्पत्ति विपत्तियों का स्थान है मिलन वियोग से पूर्ण है और सभी उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ नाश होने वाली हैं ॥

'प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते' ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रतिक्षणम् क्षीयमाणः अयम् कायः न लक्ष्यते अम्भःस्थः आमकुम्भः इव विशीर्णः सन् विभाव्यते ॥ ७२ ॥

प्रतिक्षणम्=प्रतिपलम् । अयं कायः=देहः । क्षीयमाणः = [illegible]-मानः । न लक्ष्यते = न दृश्यते । अम्भःस्थः = जलस्थितः । आमकुम्भः = अपक्वघटः । विशीर्णः=प्रस्फुटितः सन् । विभाव्यते=प्रतीयते ॥ ७२ ॥

यह शरीर प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है किन्तु दिखाई नहीं पड़ता है लेकिन जैसे पानी में पड़ा हुआ कच्चा घड़ा फूट जाने पर दिखाई पड़ता है उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर ही उसका नाश हो जाना मालूम होता है ॥ ७२ ॥

'आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने-दिने ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव पदे पदे' ॥ ७३ ॥

अन्वयः—आघातं नीयमानस्य वध्यस्य पदे-पदे इव जन्तोः मृत्युः दिने दिने आसन्नतरताम् एति ॥ ७३ ॥

आघातम् = वध्यभूमिम् । नीयमानस्य = प्राप्यमाणस्य । वध्यस्य=वधार्हस्य जीवस्य । पदे-पदे=प्रतिपदम् । जन्तोः = प्राणिनः । मृत्युः=मरणम् । दिने दिने=प्रतिदिवसम् । आसन्नतरताम्=अतिसन्निकटताम् । एति=प्राप्नोति ॥ ७३ ॥

मृत्यु प्रतिदिन प्राणियों के समीप आती जाती है जैसे वधभूमि में ले जाया जाता हुआ प्राणी पग-पग में मृत्यु के सन्निकट होता जाता है ॥ ७३ ॥

यतः—'अनित्यं यौवनं, रूपं, जीवितं, द्रव्यसञ्चयः।
ऐश्वर्यं, प्रियसंवासो, मुह्येत्तत्र न पण्डितः' ॥ ७४ ॥

अन्वयः—यौवनं ' ' प्रियसवास अनित्यम् (अत) पण्डित. तत्र न मुह्येत् ॥

यौवनम्=तारुण्यम् । रूपम्=सौन्दर्यम् । जीवितम् = प्राणितम् । द्रव्यसञ्चय = धनसंग्रह । ऐश्वर्यम्=समृद्धि। । प्रियसवास =प्रियसमागम । पण्डित = विवेकी । न मुह्येत्=मोह न गच्छेत् ॥ ७४ ॥

जवानी, सुन्दरता, जीवन, धन का सचय, ऐश्वर्य और प्रिय लोगो का समागम अनित्य होते हैं इसलिए विद्वानो को चाहिए कि वे इन विषयो में आसक्त न हो ॥ ७४ ॥

'यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—महोदधौ यथा काष्ठम् च काष्ठम् च समेयाताम् समेत्य च व्यपेयाताम् तद्वत् भूतसमागम (अपि भवति) ॥ ७५ ॥

महोदधौ=महासागरे । समेयाताम्=सम्मिलितौ भवेताम् । समेत्य = संगम्य च । व्यपेयाताम् = वियुक्तौ भवेताम् । तद्वद्=तेनैव प्रकारेण । भूतसमागम = प्राणिनां सयोग ॥ ७५ ॥

जैसे समुद्र मे एक लकडी दूसरी लकडी से मिल जाती है और मिलकर पुन अलग हो जाती है उसी प्रकार प्राणियो का मिलन भी बिछुडने के लिए ही होता है ॥ ७५ ॥

'यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः' ॥ ७६ ॥

अन्वयः—यथा पथिक तद्वत् भूतसमागम ॥ ७६ ॥

यथा=येन प्रकारेण । पथिक = पान्थ । छायां = तरुच्छायाम् । आश्रित्य = अवलम्ब्य । तिष्ठति=विश्राम्यति ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार राही किसी पेड की छाया का आश्रय लेकर उसके नीचे बैठता है और कुछ देर विश्राम करके फिर चला जाता है उसी प्रकार प्राणी भी इस ससार मे कुछ देर तक आपस मे मिलकर रहते हैं और फिर एक दूसरे को छोड कर चल देते हैं ॥ ७६ ॥

अन्यच्च—'पञ्चभिर्निर्मिते देहे, पञ्चत्वं च पुनर्गते।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते, तत्र का परिदेवना ?' ॥ ७७ ॥

अन्वयः—पञ्चभिः निर्मिते देहे पुनः च पञ्चत्वं गते स्वां स्वां योनिम् अनुप्राप्ते सति तत्र का परिदेवना ॥ ७७ ॥

पञ्चभिः=पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतैः (पृथ्वी, जल अग्नि वायु और आकाश)। निर्मिते=संसृष्टे। देहे=शरीरे। पञ्चत्वं गते=मृते। स्वां स्वां = स्वकीयाम्। योनिम्=आदिस्थानम्। अनुप्राप्ते=गते सति। तत्र=तस्मिन् मृते। परिदेवना=विलापः शोकश्च ॥ ७७ ॥

इस शरीर का निर्माण क्षिति जल पावक गगन और समीर नाम के पाँच तत्त्वों से हुआ है और मरने के बाद वे सभी तत्त्व अपने अपने तत्त्वों में फिर मिल जाते हैं अतः इस विषय में शोक करने की क्या आवश्यकता है ? ॥

'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः' ॥ ७८ ॥

अन्वयः—जन्तुः यावतः मनसः प्रियान् सम्बन्धान् कुरुते तावन्तः अस्य हृदये शोकशङ्कवः निखन्यन्ते ॥ ७८ ॥

जन्तुः=प्राणी। मनसः प्रियान्=हृदयस्य प्रियकरान्। अस्य = प्राणिनः। हृदये=मनसि। शोकशङ्कवः=परितापकीलकाः। निखन्यन्ते=आरोप्यन्ते ॥

प्राणी जितना अधिक अपने मन को अच्छे लगने वाले सम्बन्धों को करता जाता है उतना ही वह अपने हृदय में शोक की कीलें गँड़वाता जाता है अर्थात् एक दिन उन्हीं-उन्हीं प्रिय वस्तुओं का वियोग उसके दुःख का कारण बनता है ॥

'नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित्' ॥ ७९ ॥

अन्वयः—अयम् अत्र केनचित् अत्यन्तसंवासः न लभ्यते (यदा) स्वेन शरीरेण अपि (न) किमुत अन्येन केनचित् ॥ ७९ ॥

अयम् = प्राणी। येन केनचित्=केनापि सह। अत्यन्तसंवासः = दृढसम्बन्धः, चिरसहवासः। न लभ्यते = न प्राप्यते। स्वेन शरीरेणापि = स्वस्य स्वदेहेनापि सम्बन्धस्य न भवति। किमुत=तर्हि। अन्येन केनचित् संसारस्य केनापि सह ॥

इस संसार में किसी भी प्राणी का मिलाप चिरकाल तक नहीं हो सकता है। जब कि स्वयं अपना शरीर भी उसका नित्य साथ नहीं दे सकता तो फिर औरों की गिनती ही क्या है ? ॥ ७९ ॥

अपि च—'संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति सम्भवम्।
अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवागमम्' ॥ ८० ॥

अन्वयः—सयोग वियोगस्य सम्भवम् ससूचयति, जन्म अनतिक्रमणीयस्य मृत्यो आगमम् इव ॥ ८० ॥

सयोग =सवास । वियोगस्य=विरहस्य । सम्भवम्=उत्पत्तिम् । सूचयति= प्रकटयति । अनतिक्रमणीयस्य=अनुल्लघनीयस्य । आगमम्=कारणम् । इव ॥८०॥

किसी वस्तु का संयोग ही उसमे होने वाले वियोग की सूचना देता है। जैसे किसी प्राणी का जन्म उसकी अवश्यभावी मृत्यु के आगमन की सूचना देने वाला होता है ॥ ८० ॥

'आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह।
अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोतिदारुणः' ॥ ८१ ॥

अन्वयः—अपथ्यानाम् अन्नानाम् इव प्रियै. सह आपातरमणीयानाम् सयोगानाम् परिणाम अतिदारुण भवति ॥ ८१ ॥

अपथ्यानाम् = कुभोज्यानाम् । अन्नानाम्=भोज्यपदार्थानाम् इव । आपात-रमणीयानाम्=तत्क्षणप्रियकराणाम् । सयोगानाम्=सलम्भानाम् । परिणामः= फलम् । अतिदारुण =अतिदु खदायक ॥ ८१ ॥

जैसे अपथ्य भोजन ऊपर से देखने मे बहुत ही स्वादिष्ट होता है किन्तु उसका अन्तिम परिणाम बहुत ही भयंकर होता है, उसी प्रकार प्रियजनो का समागम देखने में बहुत ही आनन्ददायक होता है किन्तु वियोग होने के कारण उसका फल बहुत ही दु खदायी होता है ॥ ८१ ॥

अपरञ्च—'व्रजन्ति, न निवर्त्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा।
आयुरादाय मर्त्यानां तथा रात्र्यहनी सदा' ॥ ८२ ॥

अन्वयः—सरिताम् स्रोतांसि यथा व्रजन्ति न निवर्तन्ते तथा रात्र्यहनी मर्त्यानाम् आयु आदाय सदा व्रजत न निवर्तन्ते ॥ ८२ ॥

सरिताम्=नदीनाम् । स्रोतांसि=प्रवाहा । व्रजन्ति=गच्छन्ति, न निवर्तन्ते= न प्रत्यागच्छन्ति । रात्र्यहनी=रात्रि दिवसञ्च । मर्त्यानाम्=समस्तप्राणिनाम् । आयु =जीवितसमयम् । आदाय=गृहीत्वा । सदा=सर्वदैव गच्छत किन्तु पुन र्न प्रत्यागच्छत ॥ ८२ ।

जैसे आगे जाने वाली नदी की धारा फिर लौट कर पीछे नहीं आती है उसी प्रकार रात और दिन प्राणियों की आयु लेकर सदा आगे बढ़ते ही जाते हैं अर्थात् प्रतिदिन मनुष्य की आयु क्षीण ही होती जाती है ॥ ८२ ॥

'सुखास्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः ।
स वियोगावसानत्वाद् दुःखानां धुरि युज्यते' ॥ ८३ ॥

अन्वयः—संसारे सुखास्वादपरः यस्तु सत्समागमः स वियोगावसानत्वात् दुःखानाम् धुरि युज्यते ॥ ८३ ॥

संसारे=जगति । सुखास्वादपरः = नितान्तसुखपूर्णः । सत्समागमः = सज्जनसहवासः । वियोगावसानत्वात्=विरहान्तत्वात् । दुःखानाम् धुरि = दुःखानाम् अग्रे । युज्यते = गण्यते ॥ ८३ ॥

इस संसार में सज्जनों का मिलन अत्यन्त सुख स्वाद का देने वाला माना जाता है किन्तु उसका भी अन्त वियोग में ही होता है इसलिए वह भी दुःखों की कोटि में सबसे पहले लिया जाता है ॥ ८३ ॥

अत एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम् ।
यद्वियोगासिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम्' ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अत साधवः सत्समागमम् एव हि न इच्छन्ति । यद् वियोगासिलूनस्य मनसः भेषजम् नास्ति ॥ ८४ ॥

अत =अस्मात्कारणात् । साधवः=सज्जनाः । सत्समागमम् = सत्संगतिम् । न इच्छन्ति = न अभिलषन्ति । यद्वियोगासिलूनस्य = यस्य विरहखड्गच्छिन्नस्य । मनस =हृदयस्य । भेषजम्=औषधम् । नास्ति=न विद्यते ॥ ८४ ॥

इसीलिए सज्जन लोग इस संसार में सज्जनों का मिलन भी नहीं चाहते हैं क्योंकि उनके विरहरूपी तलवार से कटे हुए हृदय की कोई दवा ही नहीं होती है ॥

सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः ।
अथ तान्येव कर्माणि, ते चापि प्रलयं गताः' ॥ ८५ ॥

अन्वयः—सगरादिभिः राजभिः सुकृतानि कर्माणि (कृतानि) तानि कर्माणि एव ते चापि प्रलयं गताः ॥ ८५ ॥

सगरादिभिः =सगरप्रभृतिभिः । राजभिः=नृपैः । सुकृतानि कर्माणि=सत्कार्याणि पुण्यकर्माणि । ते चापि=नृपाश्चापि । प्रलयं गताः =विनष्टाः ॥ ८५ ॥

सगर इत्यादि राजाओं ने बहुत से पुण्य कार्यों को किया था किन्तु बाद उनके वे पुण्य कर्म तथा वे स्वयं भी नष्ट हो गए । अर्थात् कर्ता और कर्म दोनों का विनाश हो गया ॥ ८५ ॥

'सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य तमुग्रदण्डं,
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
वर्षाम्बुसिक्ता इव चर्मबन्धाः,
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति' ॥ ८६ ॥

अन्वयः—तम् उग्रदण्ड मृत्यु सचिन्त्य सचिन्त्य विचक्षणस्य मनुष्यस्य सर्वे प्रयत्नाः वर्षाम्बुसिक्ता चर्मबन्धा इव शिथिलीभवन्ति ॥ ८६ ॥

उग्रदण्डम्=अतितीक्ष्णदण्डम् । मृत्युम्=मरणम् । सचिन्त्य सचिन्त्य = सस्मृत्य सस्मृत्य । विचक्षणस्य = कुशलस्य विदुष इत्यर्थ । मनुष्यस्य = नरस्य । सर्वे प्रयत्ना =कार्यसिद्धे सर्वे प्रयासा । वर्षाम्बुसिक्ता =वर्षाजलक्लिन्ना । चर्मबन्धा.= चर्मरज्जुग्रन्थय । इव=यथा । शिथिलीभवन्ति=शिथिलता प्राप्नुवन्ति ॥ ८६ ॥

प्राणी को प्राप्त होने वाले मृत्युरूपी महाभयानक दण्ड की बार बार याद करके बुद्धिमान् मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयास वर्षा के जल से भीगे हुए चमडे के बन्धन के समान ढीले पड जाते हैं । अर्थात् बुद्धिमान सासारिक प्रयत्नो से विमुख हो जाता है ॥ ८६ ॥

'यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति गर्भे निवास नरवीर ! लोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति' ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हे नरवीर, लोक याम् प्रथमाम् रात्रि गर्भे निवासम् उपैति ततः प्रभृति अस्खलितप्रयाण स प्रत्यहम् मृत्युसमीपम् एति ॥ ८७ ॥

नरवीर=राजन् । लोक = प्राणी । प्रथमाम्=आद्याम् । रात्रिम्=रजनीम् । उपैति=प्राप्नोति । तत प्रभृति=गर्भनिवासमारभ्य । अस्खलितप्रयाण =अनवरुद्ध-गमन । स =मनुष्य । प्रत्यहम्=प्रतिदिनम् । मृत्युसमीपम्=मृत्यो सन्निकटम् । एति=आगच्छति ॥ ८७ ॥

हे राजन्, प्राणी सर्वप्रथम जिस रात्रि को गर्भ में निवास करता है उसी समय से वह अबाध गति से प्रतिदिन मृत्यु के निकट चलता जाता है ॥ ८७ ॥

अथ ससारं विचारय, शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः । पश्य—

ससारम् विचारय=विश्वगतिम् चिन्तय । अज्ञानस्य=अविवेकस्य ।

इसलिए इस ससार की स्थिति का विचार करो, यह शोक अज्ञान का ही प्रपञ्च है । देखो—

'अज्ञान कारण न स्याद् वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्द्धतामपयाति किम्' ॥ ८८ ॥

अन्वयः—यदि (शोकस्य) अज्ञानस्य कारणम् न स्यात् (तस्य) कारणम् वियोगः (स्यात् तर्हि) दिनेषु गच्छत्सु शोकः वर्धताम् किन्तु (सः) अपयाति किम् ॥

यदि शोकः अज्ञानात् नोत्पद्यते वियोगाज्जायते तर्हि किञ्चित्कालोपरान्ते वियोगे विद्यमाने सति शोकोऽयम् वर्धताम् किन्तु स न वर्धते अपितु अपसरति, अतः शोकस्य कारणम् अज्ञानम् एव ॥ ८८ ॥

यदि अज्ञान शोक का कारण नहीं बल्कि वियोग शोक का कारण है तो कुछ दिनों के बीतने पर शोक को और भी बढ़ना चाहिए । (क्योंकि वियोग तो तब भी रहता है) किन्तु वह बढ़ता नहीं है अपितु धीरे धीरे घटता जाता है । इससे प्रतीत होता है कि वियोग शोक का कारण नहीं बल्कि अज्ञान ही शोक का कारण होता है ॥ ८८ ॥

तद् भद्र ! तद् आत्मानमनुसन्धेहि शोकचर्चां च परिहर । यतः—

आत्मानम्=स्वात्मतत्त्वम् । अनुसन्धेहि=अन्वेषय । परिहर=परित्यज ।

इसलिए हे भद्र आत्मा की खोज करो और इस शोक की चर्चा छोड़ो । क्योंकि—

'अकाण्डपातजातानां गात्राणां मर्मभेदिनाम् ।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम्' ॥ ८९ ॥

अन्वयः—अकाण्डपातजातानाम् ... महौषधम् ॥ ८९ ॥

अकाण्डपातजातानाम्=आकस्मिकरूपेणोपस्थितानाम् । गात्राणाम्=शरीराणाम् । मर्मभेदिनाम्=पीडाप्रदानाम् । गाढशोकप्रहाराणाम् = घनीभूतशोकाघातानाम् । अचिन्तैव=चिन्तात्यागएव । महौषधम्=श्रेष्ठभेषजम् ॥ ८९ ॥

आकस्मिकरूप से असमय में ही आने वाले और शरीर के मर्म का भेदन करने वाले अत्यन्त घने शोक के आघातों की सबसे बड़ी औषधि है उसकी चिन्ता छोड़ देना अर्थात् शोक की चिन्ता ही शोक को बड़ा कर देने वाली होती है ॥ ८९ ॥

ततस्तद्वचनं निशम्य प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उत्थायाब्रवीत् तद्गृहमिदानीं गृह-नरक-वासेन पर्याप्तं वनं गच्छामि ।

तद्वचनम् परिव्राजकोपदेशम् । निशम्य=श्रुत्वा । गृहनरकवासेन=गृहरूप नरकवासेन ।

इसके अनन्तर उनकी बातें सुनकर ... से जगे हुए के समान कौण्डिन्य ने ... अब इस नरकरूपी घर में रहना तो पूरा । अब तो [illegible]

कपिलः पुनराह—

'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्' ॥ ९० ॥

अन्वयः—रागिणाम् वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति, पञ्चेन्द्रियनिग्रह एव गृहेऽपि तप (अत एव) य अकुत्सिते कर्मणि प्रवर्तते तस्य निवृत्तरागस्य गृहम् तपोवनम् भवति ॥ ९० ॥

रागिणाम्=विषयासक्तहृदयानाम्। वनेऽपि=काननेऽपि, दोषा = कामक्रोधादिविकारा। प्रभवन्ति=सम्प्रजायन्ते। पञ्चेन्द्रियनिग्रह = नेत्रादीनाम् इन्द्रियाणा संयम। गृहेऽपि=विकारसम्भूतिस्थानेऽपि। तप एव=तपस्तुल्य भवति। य = पुरुष। अकुत्सिते = अनिन्दिते, शास्त्रसम्पादिते। कर्मणि=करणीये। प्रवर्तते=संलग्नो भवति। निवृत्तरागस्य=आसक्तिरहितस्य। गृहमपि तपोवनम् एव भवति ॥

कपिल ने फिर कहा—

विषय वासनाओं मे लिप्त रहने वाले वन में भी जाकर शोक दुःखादि प्रपञ्चों से छूट नहीं पाते है और पाँचो इन्द्रियो का यदि घर पर ही संयम किया जाय तो वही तप हो सकता है। जो शास्त्रविधानो के अनुसार कार्यों मे लगा रहता है, उस विषय-वासनारहित के लिए घर ही तपोवन के समान है ॥ ९० ॥

यतः—'दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं, यत्र कुत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु, न लिङ्गं धर्मकारणम्' ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत्र कुत्राश्रमे रत दुःखित अपि सर्वेषु भूतेषु सम धर्मम् चरेत् (यत) लिङ्गम् धर्मकारणम् न (अस्ति) ॥ ९१ ॥

यत्र कुत्राश्रमे=यस्मिन्कस्मिन्नाश्रमे। रत = लग्न। सर्वेषु भूतेषु=सम्पूर्णप्राणिषु। सम =समबुद्धि भूत्वा। धर्मं चरेत्=धर्माचरणम् कुर्यात्। लिङ्गम्=आश्रमचिह्नम्। धर्मकारणम् = धर्मस्य हेतु। न = न भवति, अपि तु आचार एव हेतु ॥ ९१ ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह चाहे जिस किसी आश्रम मे रहे किन्तु सभी प्राणियों के प्रति समान भाव रखता हुआ दुःख के समय भी धर्म का आचरण करता रहे। क्योंकि धर्म का आचरण सभी जगह हो सकता है केवल बाना बना लेना (वेशमात्र ही धारण कर लेना) ही धर्म का कारण नहीं होता ॥ ९१ ॥

उक्तञ्च—'वृत्त्यर्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यपि तरन्ति ते' ॥ १२ ॥

अन्वयः—येषाम् भोजनम् वृत्त्यर्थम्, मैथुनम् सन्तानार्थम्, वाक् सत्यवचनार्थाय (भवति) ते दुर्गाणि अपि तरन्ति ॥ १२ ॥

वृत्त्यर्थम्=प्राणधारणाय । मैथुनम् = सुरतम् । सन्तानार्थम् = सन्तानोत्पत्त्यर्थम् । वाक्=वाणी । सत्यवचनार्थम्=सत्योद्घाटनप्रयोजनाय । ते=महापुरुषाः । दुर्गाणि=कष्टानि । तरन्ति=पारं गच्छन्ति ॥ १२ ॥

जो केवल जीने के लिए ही भोजन करते हैं संतानोत्पत्ति के लिए ही संभोग करते हैं और वाणी का प्रयोग सत्य का प्रवचन करने के लिए ही करते हैं वे महापुरुष कठिन विपत्तियों से भी छुटकारा पा जाते हैं ॥ १२ ॥

तथा हि—'आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे पाण्डुपुत्र वारिणा च अन्तरात्मा न शुद्ध्यति तत आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दया ऊर्मिः (अस्ति) तत्र अभिषेकं कुरु ॥

महाभारते भीष्मपितामहेनोक्तम्—हे पाण्डुपुत्र = हे युधिष्ठिर ! वारिणा= जलस्नानेन । आत्मानदी = आत्मा एव नदी । संयमपुण्यतीर्था = सर्वेन्द्रियाणाम् वशित्वमेव पवित्रं तीर्थस्थानं यस्याः सा । सत्योदका=सत्यमेव जलम् यस्याः सा । शीलतटा=सदाचारस्वभाव एव तटं यस्याः सा । दयोर्मिः=दया भूतकरुणा एव ऊर्मिः यस्याः सा । अभिषेकम्=स्नानम् । मनोनिरोध एव आत्मशुद्धेः कारणम् इत्यर्थः ॥ १३ ॥

जैसा कि—(भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा था—)

यह आत्मा ही नदी है संयम ही पवित्र तीर्थ स्थान है सत्य ही जल है शील ही किनारा है दया ही लहरें हैं । अतः हे युधिष्ठिर ! इसी आत्मारूपी नदी में स्नान कीजिए एव अन्तरात्मा पवित्र होता यह केवल जल से नहीं शुद्ध होता ॥

विशेषतश्च—'जन्म-मृत्यु जरा व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम् ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम्' ॥ ९४ ॥

अन्वयः—जन्म-मृत्यु···· ·· उत्पन्नम् इमम् असारम् संसारम् त्यजत. सुखम् ॥ ९४ ॥

जरा=वृद्धावस्था । व्याधिः=रोग । उपद्रुतम्=परिप्लुतम् । असारम्= निस्तत्त्वम् । असारससारपरित्याग एव सुखम् इत्यर्थ ॥ ९४ ॥

विशेष करके—

जन्म, मृत्यु, बुढापा, रोग, पीडा आदि से भरे हुए इस तत्त्वरहित संसार का परित्याग करना ही सुख है ॥ ९४ ॥

यतः—'दुःखमेवास्ति, न सुखं, यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दुःखार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते' ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(अस्मिन् ससारे) दु खमेव अस्ति, सुखं नास्ति यस्मात् तत् (एव) उपलक्ष्यते । दु खार्तस्य प्रतीकारे सुखसज्ञा विधीयते ॥ ९५ ॥

यस्मिन् ससारे । सुख न=सुखात्मक किञ्चिदपि नास्ति । यस्मात्=यत । तत्=दु खमेव । उपलक्ष्यते=दृश्यते । दु खार्तस्य=दु खं पीडितस्य । प्रतीकारे= दु खापनयनप्रयत्ने ॥ ९५ ॥

क्योंकि—

इस संसार में सचमुच दु ख है सुख कही भी नहीं है इसीलिए दु ख ही दिखाई देता है। किन्तु दु ख से पीडित के दु खों से छुटकारा पाने के प्रयत्न को ही लोग सुख नाम से पुकारते हैं ॥ ९५ ॥

कौण्डिन्यो ब्रूते—'एवमेव' । ततोऽहं तेन शोकाकुलेन ब्राह्मणेन शप्तो, यद्–'अद्यारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि'–इति । कपिलो ब्रूते 'सम्प्रत्युपदेशासहिष्णुर्भवान्, शोकाविष्टं ते हृदयम् । तथापि कार्यं शृणु'—

एवमेव=सत्यमेव । तेन=ब्राह्मणेन । शोकाकुलेन=शोकव्याकुलेन । असहिष्णु=ग्रहणे अशक्त । शोकाविष्टम्=शोकाभिभूतम् । हृदयम्=चित्तम् ।

कौण्डिन्य ने कहा—हाँ आपका कहना बिल्कुल ठीक है। उसने कहा कि उसी शोक से व्याकुल कौण्डिन्य ब्राह्मण ने मुझे शाप दिया कि तुम आज से मेंढकों का वाहन बनोगे। तब कपिल ने कहा—इस समय उपदेश ग्रहण करने में तुम असमर्थ हो। तुम्हारा हृदय शोक से भरा हुआ है फिर भी कर्तव्य कर्म सुनो—

'सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः, सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः (किन्तु) चेत् स त्यक्तुं न शक्यते (तर्हि) स सद्भिः सह कर्तव्यः (यतः) सतां सङ्गः हि भेषजम् ॥ ९६ ॥

सङ्गः = सम्बन्धः । चेत्=यदि । त्यक्तुं न शक्यते=त्याज्यो न भवति । स सद्भिः=सज्जनैः सह सम्बन्धः । कर्तव्यः=करणीयः । सतां सङ्गः=सत्समागमः । भेषजम्=शोकव्याधेः औषधम् ॥ ९६ ॥

इस संसार में सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और यदि यह पूर्णतः छोड़ा न जा सके तो सज्जनों के साथ करना चाहिए क्योंकि सांसारिक रोगों की एकमात्र दवा सज्जनों का सहवास है ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—'कामः सर्वात्मना हेयः स चेद्धातुं न शक्यते ।
स्वभार्यां प्रति कर्तव्यः, सैव तस्य हि भेषजम् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—काम भेषजम् ॥ ९७ ॥

कामः=विषयेच्छा । हेयः=परित्याज्यः । हातुं न शक्यते । स्वभार्यां प्रति=स्वपत्नीम् प्रति । तस्य=कामोपशमस्य । भेषजम्=औषधम् ॥ ९७ ॥

कामवासना का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और यदि यह पूर्णतः छोड़ी न जा सके तो उसे अपनी पत्नी तक ही सीमित रखनी चाहिए क्योंकि वही वासना तृप्ति की एक मात्र औषधि है ॥ ९७ ॥

एतच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्यः कपिलोपदेशामृतप्रशान्तशोकानलो यथाविधि दण्डग्रहणं कृतवान् । अतो 'ब्राह्मणशापान्मण्डूकान्वोढुं मम तिष्ठामि' । अनन्तरं तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपादनाम्नोऽग्रे तत्कथितम् । ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथस्तस्य सर्पस्य पृष्ठमारूढवान् । स च सर्पस्तं पृष्ठे कृत्वा चित्रपदक्रमं बभ्राम ।

उपदेशामृतप्रशान्तशोकानलः = उपदेश एव अमृत पीयूषम् तेन प्रशान्त-मन्दीभूत शोक एव अनल अग्नि यस्य स । यथाविधि = यथाशास्त्रम् । दण्ड-ग्रहणम्=सन्यासग्रहणम् । मण्डूकान्=भेकान् । वोढुम्=वहनाय । अत्र = तटाकस्य तटे । पृष्ठमारूढवान्=पृष्ठोपरि आरुरोह । तम्=जालपादम् मण्डूकनाथम् । पृष्ठे कृत्वा=पृष्ठोपरि आरोप्य । चित्रपदक्रमम्=विचित्राम् गतिम् ।

यह सुनकर, कपिल के उपदेशरूपी अमृत से कौण्डन्य की शोकाग्नि शांत हो गई और उसने विधिपूर्वक सन्यास ले लिया। इसलिए ब्राह्मण के शाप से मेढकों को ढोने के लिए मैं यहाँ पड़ा हूँ। इसके पश्चात् उस मेढक ने जाकर यह सारी बातें मण्डूकों के राजा जालपाद से कह सुनायी। तब वह मेढकों का राजा वहाँ आकर साँप की पीठ पर चढ़ गया और वह साँप उसे पीठ पर लेकर विचित्र गति से उसे इधर-उधर घुमाने लगा।

परेद्युश्चलितुमसमर्थं त मण्डूकनाथोऽवदत्–'किमद्य भवान्मन्दगतिः ?' सर्पो ब्रूते–'देव! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि।

परेद्यु =द्वितीय दिने। चलितुमसमर्थम्=गन्तुमक्षमम्। त=मेढकम्। अवदत् = अगदत्। आहारविरहात् = भोजनाभावात्। असमर्थोऽस्मि = गन्तुमशक्तोऽस्मि।

दूसरे दिन साँप को चलने में असमर्थ देखकर मण्डूकराज ने कहा—'आज आप धीरे धीरे क्यों चल रहे हैं।' साँप ने कहा—राजन्, भोजन न मिलने के कारण असमर्थ हो गया हूँ।

मण्डूकनाथोऽवदत्–'अस्मादाज्ञया मण्डूकान्भक्षय।' ततः 'गृहीतोऽयं महाप्रसादः' इत्युक्त्वा, क्रमशो मण्डूकान् खादितवान्। अथ निर्मण्डूकं सरो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्' इत्यादि।

गृहीत =स्वीकृत। अय महाप्रसाद = महानुग्रह। निर्मण्डूकम् = मण्डूकेन रहितम्। सरो विलोक्य=तटाकम् दृष्ट्वा तेन=सर्पेण। खादित =भक्षित।

मण्डूकराज ने कहा—हमारी आज्ञा से मेढकों को खाया करो। तब 'आपकी यह कृपा स्वीकार है' ऐसा कह कर वह मेढकों को खाने लगा और जब तालाब मेढकों से रहित हो गया तो उसने मडूकराज को भी खा डाला। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—'शत्रु को भी कंधे पर ग्रहण करना चाहिए' इत्यादि।

'देव! यदिदानीं पुरावृत्ताख्यानकथनं, सर्वथा सन्धेयोऽयं हिरण्यगर्भो राजा, सन्धीयता'मिति मे मतिः। राजोवाच—'कोऽयं

मयतो विचारः ? यतो जितस्तावदयमस्माभिः । ततो यद्यस्मत्से-
वया वसति, तदास्ताम् नो चेद्विगृह्यताम्' ।

मालिकशमीम् = मारणम् तावत् । पुनरपुनराक्रमणवचनम् = पूर्वोक्तक्रियमा-
णवचनम् । मे मतिः = मम बुद्धिः । जितः = स्वाधीनीकृतः । सेवया = दासेन ।
आस्ताम्=स्वपुरी तिष्ठतु । विगृह्यताम् ।

राजन् अब पुरानी कथाओं का कहना निष्प्रयोजन है अब संधि करने योग्य
राजा हिरण्यगर्भ से संधि करना ही उचित है यही मेरी राय है । राजा
चित्रवर्ण ने कहा—यह तुम्हारा कैसा विचार है ? क्योंकि हम लोगो ने उसे
पराजित कर दिया है इसलिए यदि वह हमारी अधीनता में रहना चाहे तो
अपने देश में रह सकता है नहीं तो उससे लड़ना ही चाहिए ।

अत्रान्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुकेनोक्तम्—'देव ! सिंहलद्वीपस्य
सारसो राजा सम्प्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्यावतिष्ठते । राजा ससम्भ्रमं
ब्रूते— किं किम् ? । शुकः पूर्वोक्तं कथयति ।

गृध्रः स्वगतमुवाच—'साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन् ! साधु !'
राजा सकोपमाह— आस्तां तावदयं, गत्वा तमेव समूलमुन्मूल-
यामि । दूरदर्शी विहस्याह—

सम्प्रति=इदानीम् । आक्रम्य=स्ववशेनया परिवृत्य । ससम्भ्रमम्=सादरम् ।
तमेव=सारसमेव । उन्मूलयामि=विनाशयामि ।

इसी बीच जम्बूद्वीप से आकर तुम्हे ने कहा 'राजन् सिंहलद्वीप के राजा
सारस ने इस समय जम्बूद्वीप पर चढ़ाई करके घेर लिया है ।' राजा चित्रवर्ण
घबड़ाकर बोल उठा—क्या कहा ? । तुम्हे ने पहिले कही हुई बात फिर
दुहरा दी ।

गृध्र ने मन ही मन कहा—मंत्री चक्रवाक तुम धन्य हो और तुमने अच्छा
किया । राजा ने क्रोध से कहा— अब यहाँ की सारी बातें छोड़ो अब वहाँ
चलकर मैं पहिले उसे जड़मूल से नष्ट कर डालूँगा । तब मन्त्री दूरदर्शी ने
हँस कर कहा—

न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगर्जितम् ।
परस्यार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—(नरेण) शरन्मेघवत् वृथैव घनगर्जितम् न कार्यम् । महान्
स्वार्थम् अनर्थम् वा न प्रकाशयति ॥ ५८ ॥

। मेघवत् = शरत्कालस्य पयोदवत् । वृथैव = निरर्थकम् । घनगर्जितम्—
गम्भीरध्वनि हरकार्यस्य प्रलाप । न कार्यम्—न करणीयम् । महान्=उदारा-

शय । परस्य=शत्रोरपि । अर्थमनर्थम्=उचितानुचितम् । न प्रकाशयति=स्व-मुखेन न कथयति ॥ ९८ ॥

शरद् ऋतु के बादल के समान व्यर्थ गरजना नही चाहिए अर्थात् व्यर्थ ही डींग नही हाँकनी चाहिए । बडे लोग दूसरो का जो कुछ भी भला बुरा करते हैं उसे अपने मुँह से नहीं कह सुनाते हैं ॥ ९८ ॥

अपरञ्च—'एकदा न विगृह्णीयाद्बहून् राजाभिघातिनः ।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम्' ॥ ९९ ॥

अन्वयः—राजा एकदा बहुन् अभिघातिन न विगृह्णीयात् बहुभि कीटैः सदर्प अपि उरग ध्रुवम् नाश्यते ॥ ९९ ॥

एकदा=एकस्मिन् एव काले । अभिघातिनः=आक्रामकान् शत्रून् । न विगृह्णीयात्=न युध्येत् । कीटैः = कृमिभि । सदर्प =सगर्व । उरग = सर्प । ध्रुवम्=निश्चितम् ॥ ९९ ॥

एक ही साथ प्रहार करने वाले बहुत से शत्रुओ के साथ राजा को कभी नही लडना चाहिए । क्योंकि बहुत से काडे-मकोडो के द्वारा अत्यन्त अभिमानी साँप भी मारा जाता है ॥ ९९ ॥

'देव ! किमितो विना सन्धान गमनमस्ति ? । यतस्तदास्माकं पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्त्तव्यः ।

इत =अस्मात् स्थानात् । सन्धानम् विना=विना सन्धिम् । पश्चात्=पृष्ठत । प्रकोप =आक्रमणम् ।

राजन्, क्या यहाँ से सधि किए विना ही जाना उचित है ? क्योंकि यह पीछे से हम लोगों पर आक्रमण कर देगा । और भी—

अपरञ्च—'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः ।
स तथा तप्यते मूढो, ब्राह्मणो नकुलाद्यथा' ॥ १०० ॥

अन्वयः—य अर्थतत्त्वम् अविज्ञाय क्रोधस्य एव वश गत स मूढ तथा तप्यते यथा नकुलात् ब्राह्मण (तप्तोऽभवत्) ॥ १०० ॥

य =पुरुष । अर्थतत्त्वम्=वस्तुस्थितिम् । अविज्ञाय = अविचार्य । क्रोधस्य वश गत =क्रुद्धयति । स मूढ =स मूर्ख । तप्यते=मनस्ताप प्राप्नोति । नकुलात् ब्राह्मण =यथा ब्राह्मण अज्ञानात् नकुलं हत्वा दु खितोऽभवत् ॥ १०० ॥

जो किसी विषय के तत्त्व को जाने बिना पहले ही क्रोध के वशीभूत हो जाता है वह मूर्ख नेवले को मार कर ब्राह्मण के समान ही दुःखी होता है॥

राजाह—'कथमेतत्?'। दूरदर्शी कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे? दूरदर्शी ने कहा—

कथा ११

अस्त्युज्जयिन्यां माधवो नाम विप्रः। तस्य ब्राह्मणी प्रसूता (सा) बालापत्यस्य रक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य, स्नातुं गता। अथ ब्राह्मणाय राज्ञः पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम्। तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणोऽपि सहजदारिद्र्यादचिन्तयत्—यदि सत्वरं न गच्छामि, तदान्यः कश्चिच्छ्रुत्वा श्राद्धं ग्रहीष्यति। यतः—

विप्रः=ब्राह्मणः। प्रसूता=प्रसववती। बालापत्यस्य=बालशिशोः। रक्षार्थम्=रक्षणाय। ब्राह्मणमवस्थाप्य=स्थापयित्वा तत्र नियोज्य। पार्वणश्राद्धं दातुम्=अमावस्यादिदानाय। आह्वानमागतम्=आमन्त्रणं प्राप्तम्। सहजदारिद्र्यात्=स्वाभाविकनिर्धनत्वात्। अचिन्तयत्=विचारयत्। सत्वरम्=शीघ्रम्। अन्यः कश्चित्=कश्चिदन्यः ब्राह्मणः। श्राद्धम्=श्राद्धनिमित्तम्॥

उज्जयिनी में माधव नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी को बच्चा हुआ। वह पुत्र की रक्षा करने के लिए वहाँ ब्राह्मण को बिठा कर स्नान करने चली गयी। इसी बीच श्राद्ध का दान लेने के लिए राजा के यहाँ से उस ब्राह्मण को बुलावा आया। यह सुनकर स्वभाव से ही दरिद्र ब्राह्मण ने विचार किया कि यदि शीघ्र ही न जाऊँगा तो कोई दूसरा ब्राह्मण जाकर उसे ले लेगा। क्योंकि—

'आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्॥ १०१॥

अन्वयः—आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य कर्मणः च क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य कालः तत् रसम् पिबति॥ ११॥

आदेयस्य=ग्रहणयोग्यस्य। प्रदेयस्य=दानस्य, कर्तव्यस्य कर्मणः=करणीयस्य कार्यस्य। क्षिप्रम्=शीघ्रम्। अक्रियमाणस्य=अकृतस्य। कालः=समयः। तस्य रसम्=तत्त्वम्। पिबति=पानं करोति विनाशयतीति भावः॥ ११॥

लेने देने तथा करने योग्य काम करने में शीघ्रता न करने के कारण समय उसके रस को पी जाता है अर्थात् उचित समय के बीत जाने पर काम बिगड़ जाता है॥ ११॥

किन्तु बालकस्यात्र रक्षको नास्ति। तत्किं करोमि ?। यातु। चिरकालपालितमिमं नकुलं पुत्रनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य गच्छामि। तथा कृत्वा गतः। ततस्तेन नकुलेन बालकसमीपमागच्छन् कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापाद्य कोपात्खण्डं खण्डं कृत्वा, भक्षितश्च। ततोऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य, रक्तविलिप्तमुखपादः, सत्वरमुपगम्य, तच्चरणयोर्लुलोठ। ततः स विप्रस्तथाविधं तं दृष्ट्वा 'मम बालकोऽनेन खादित' इत्यवधार्य नकुलं व्यापादितवान्। अनन्तरं यावदुपसृत्यापत्यं पश्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्थः स्वपिति, सर्पश्च व्यापादितस्तिष्ठति। ततस्तमुपकारकं नकुलं निरीक्ष्य, भावितचेताः स ब्राह्मणः परं विषादमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय'—इत्यादि ॥

चिरकालात् पालितम्=बहुदिनात् रक्षितम्। पुत्रनिर्विशेषम् = पुत्रतुल्यम्। बालकरक्षायाम्=शिशुरक्षणार्थम्। व्यवस्थाप्य=नियोज्य। आयान्तम् = आगच्छन्तम्। रक्तविलुप्तमुखपाद =रक्तरञ्जितमुखचरण। सत्वरमुपगम्य=शीघ्रमेव गत्वा। तथाविधम् = रक्तरञ्जितमुखचरणम्। अवधार्य = निश्चित्य। उपसृत्य= समीप गत्वा। अपत्यं = बालकम्। सुस्थ = निश्चिन्त। निरीक्ष्य = विचार्य। भावितचेता =भावपूर्णहृदय, खिन्न इत्यर्थ। विषादमगमत्=दु खितोऽभूत्।

किन्तु यहाँ बालक की रखवाली करने वाला कोई नही है। तो क्या करूँ ? अच्छा, तो पुत्र के समान ही बहुत दिनो से पाले पोसे गये इस नेवले को ही बालक की रक्षा मे नियुक्त करके चला जाऊँ। ऐसा करके वह चला गया। इसके बाद उस नेवले ने बालक के पास आते हुए एक काले साँप को देखा और क्रोध मे आकर उसे मार डाला तथा टुकडे टुकडे करके खा डाला। फिर नेवला ब्राह्मण को आते हुए देख कर रक्त में सने हुए मुँह तथा पजो को लिए हुए उसके चरणो पर लोटने लगा। उस ब्राह्मण ने नेवले को इस प्रकार देख कर यह निश्चय कर लिया कि इसने मेरे बच्चे को मार डाला है अत उसने नेवले को भी मार डाला। इसके पश्चात् उसने घर मे जाकर देखा तो बालक सकुशल सोया है और साँप मरा हुआ पडा है तब वह ब्राह्मण अपने प्रति उपकार करने वाले उस नेवले को देखकर अनेक भावनाओ से पूर्ण होकर अत्यन्त दु खी हुआ। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'जो तत्त्व को समझे बिना इत्यादि।'

अपरञ्च—'कामः, क्रोधस्तथा मोहो, लोभो, मानो, मदस्तथा।

सुखी नृपः' ॥ १०२ ॥

अन्वयः—काम [illegible] षड्वर्गम् एतम् उत्सृजेत् अस्मिन् त्यक्ते नृपः सुखी भवेत् ॥ १ २ ॥

मान = गर्व । षड्वर्गम् = कामादिषड्वर्गम् । उत्सृजेत् = परित्यजेत् । अस्मिन्—कामादिषट्‌ में । १ २ ॥

और भी—राजा को चाहिए कि वह काम क्रोध लोभ मोह मान तथा मद [illegible] का परित्याग [illegible] क्योंकि इसे छोड़ने पर ही वह सुखी [illegible] सकता है । १ २

राजाह—'मन्त्रिणः [illegible] एव त्व [illegible] । मन्त्री ब्रूते—'एवमेव । यतः—

[illegible] मन्त्री ने कहा [illegible] भी [illegible] क्योंकि—

'स्मृतिस्तत्परतार्थेषु, वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च, मन्त्रिणः परमो गुणः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—अर्थेषु तत्परता स्मृतिः वितर्कः ज्ञाननिश्चयः दृढता मन्त्रगुप्तिः च मन्त्रिणः परमः गुणः अस्ति । १ ३ ॥

अर्थेषु—कार्येषु । तत्परता=तत्सम्पादने एकचित्तता । स्मृति [illegible] । वितर्क [illegible] । ज्ञाननिश्चय = [illegible] । [illegible] गुणः [illegible] । १ ३ ॥

[illegible] श्लोक [illegible] विचार [illegible] पूर्व विमर्श [illegible] ज्ञान का निश्चय दृढ़ता और मन्त्रणा को छिपाना—यह [illegible] मन्त्री के गुण होते हैं ॥ १ ३ ॥

तथा च—'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः' ॥

अन्वयः—सहसा क्रियाम् न विदधीत अविवेकः परमापदाम् पदम्, गुणलुब्धाः सम्पदः स्वयमेव विमृश्यकारिणम् वृणुते हि ॥ १ ४ ॥

सहसा=झटिति अविचार्य । क्रियाम् = कार्यम् । न विदधीत = न कुर्यात् । अविवेकः=अविचारः । परमापदाम्=अत्युत्कटानाम् विपदाम् । पदम् = स्थानम् । गुणलुब्धाः=गुणप्रियाः [illegible] विमृश्यकारिणम् = विचिन्त्य कार्यकारिणम् । सम्पदः—[illegible] । वृणुते=[illegible] ॥ १ ४ ॥

और भी—किसी काम को विना विचारे नहीं करना चाहिए क्योंकि अविचार ही बहुत बड़ी आपत्तियों का कारण होता है। गुणो को चाहने वाली सम्पत्तियाँ विवेकी पुरुषों को स्वयम् ग्रहण करती हैं ॥ १०४ ॥

तद्देव ! यदीदानीमस्मद्वचनं क्रियते, तदा सन्धाय गम्यताम्'। यतः—

इसलिए हे राजन्, यदि आप इस समय हमारी बात मानें तो सन्धि करके यहाँ से चले चलिए। क्योंकि—

'यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने।
संख्यामात्रं फल तेषां, सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता' ॥१०५॥

अन्वयः—यद्यपि साध्यसाधने चत्वार उपाया निर्दिष्टा किन्तु तेषाम् सख्यामात्रम् फलम् सिद्धि साम्नि व्यवस्थिता ॥ १०५ ॥

यद्यपि साध्यसाधने=कर्तव्यसाधने। चत्वार उपाया =सामदामदण्डभेदा। निर्दिष्टा =निहिता। तथापि तेषाम्=उपायानाम्। सख्यामात्रम् फलम्=सख्यापूर्ति एव परिणाम। वस्तुत सिद्धि =कर्तव्यपूर्ति। साम्नि = सामाख्ये उपाये। व्यवस्थिता=स्थिता ॥ १०५ ॥

यद्यपि कार्यसिद्धि के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद—नाम के चार उपाय बताए गए हैं किन्तु उनमे तीन की गणना तो सख्या पूरी करने के लिए ही है। वास्तव में कार्य की सिद्धि तो 'साम' से ही होती है ॥ १०५ ॥

राजाह—'कथमेव सत्वर सम्भाव्यते'?। मन्त्री ब्रूते—'देव! सत्वर भविष्यति'। यतः—

राजा ने कहा—तो यह सधि इतनी जल्दी कैसे हो सकती है?, मन्त्री ने कहा—'राजन्, शीघ्र ही होगी।' क्योंकि—

'मृद्घटवत्सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः' ॥ १०६ ॥

अन्वयः—दुर्जन मृद्घटवत् सुखभेद्य दु सन्धान च भवति किन्तु सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्य आशु सन्धेय च भवति ॥ १०६ ॥

दुर्जन =दुष्ट। मृद्घटवत्=मृत्कलशवत्। सुखभेद्य =सारल्येन भेदनीय। दु सन्धान =काठिन्येन संधेय। सुजन =सज्जन। कनकघटवत्=सुवर्णकलशवत्। दुर्भेद्य =कठिनतया भेदनीय। आशु=शीघ्रमेव। सन्धेय =संधियोग्य ॥१०६॥

जैसे मिट्टी का घड़ा आसानी से टूट सकता है किन्तु कठिनाई से जोड़ा जा सकता है उसी प्रकार दुष्टों की सन्धि मुश्किल से होती है किन्तु होकर भी वह आसानी से टूट जाती है और जैसे सोने का घड़ा कठिनाई से टूट सकता है किन्तु आसानी से जोड़ा जा सकता है उसी प्रकार सज्जनों की सन्धि सरलता से होती है जिसका टूटना बहुत कठिन होता है ॥ १ ६ ॥

अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अज्ञः सुखम् आराध्यः विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते ज्ञानलवदुर्विदग्धम् तम् नरम् ब्रह्मापि न रञ्जयति ॥ १ ७ ॥

अज्ञः=मूर्खः । सुखम्=सरलमेव । आराध्यः=स्वानुकूल्यः । विशेषज्ञः=विद्वान् । सुखतरम्=आशु । आराध्यते=अनुकूलयितुम् शक्यते । ज्ञानलवदुर्विदग्धम्=स्वल्पज्ञानोन्मत्तम् । ब्रह्मापि=प्रजापतिरपि । तं नरं=तं मनुष्यं । न रञ्जयति=अनुकूलयितुं न शक्नोति ॥ १ ७ ॥

मूर्ख को सरलता से वश में किया जा सकता है विद्वान् को और भी सरलता से अपने अनुकूल बनाया जा सकता है किन्तु थोड़े से ज्ञान पर अभिमान करने वाले व्यक्ति को ब्रह्मा भी नहीं प्रसन्न कर सकते हैं ॥ १ ७ ॥

'विशेषतश्चायं धर्मज्ञो राजा 'सर्वज्ञो मन्त्री च । ज्ञातमेतन्मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्यसन्दर्शनाच्च' । यतः—

विशेषकर यह राजा अत्यन्त धार्मिक और मंत्री बड़ा ज्ञानी है । यह मैंने मेघवर्ण से सुनकर और उसके कार्यों को देखकर पहले ही समझ लिया था । क्योंकि—

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्ष-गुण-वृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्मानुमाप्यते ॥ १०८ ॥

अन्वयः—परोक्षगुणवृत्तयः सर्वत्र कर्मानुमेयाः तस्मात् परोक्षवृत्तीनाम् कर्म फलैः अनुमाप्यते ॥ १ ८ ॥

परोक्षगुणवृत्तयः=अप्रत्यक्षगुणव्यापाराः । कर्मानुमेयाः=कर्मणैव अनुमेयाः । परोक्षवृत्तीनाम्=अप्रत्यक्षव्यापाराणाम् । कर्म=कर्तव्यम् । फलैः=परिणामैः । अनुमाप्यते=ज्ञायते ॥ १ ८ ॥

आँखों से ओझल रहने वाले मनुष्य के गुण और स्वभाव उसके कार्यों द्वारा ही जाने जाते हैं । इसलिए परोक्ष-वृत्तियों वाले मनुष्यों के कार्य उनके फल द्वारा ही अनुमान किए जाते हैं ॥ १ ८ ॥

राजाह–'अलमुत्तरोत्तरेण, यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्' । एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री–'तत्र यथार्हं कर्त्तव्यम्' इत्युक्त्वा, दुर्गाभ्यन्तरं चलितः। ततः प्रणिधिवकेनागत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितं–'देव ! सन्धि कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छति'। राजहंसो ब्रूते–'मन्त्रिन् ! पुनरभिसन्धिना केनचिदत्रागमनम् ?'। सर्वज्ञो विहस्याह–'देव ! न शङ्कास्पदमेतत्। यतोऽसौ महाशयो, दूरदर्शी ! अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम्, कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते, कदाचित्सर्वत्र शङ्का ?।

तथा हि—

अलम्=निष्प्रयोजनम् । उत्तरोत्तरेण=वादविवादेन । अभिप्रेतम् = रुचितम् । अनुष्ठीयताम्=क्रियताम् । तत्र=सन्धिविधाने । यथार्हम् = यथोचितम् । अभिसन्धिना=कपटेन । शङ्कास्पदम्=शकायोग्य । महाशय = उदारहृदय । मन्दमतीनाम्=अविवेकिनाम् । स्थिति =प्रकृतिः ।

राजा ने कहा—यह वाद-विवाद व्यर्थ है इसलिए आपको जैसा अच्छा लगे वैसा ही कीजिए। यह सलाह करके महामन्त्री गृद्ध ने कहा—'इस विषय मे जैसा उचित होगा वैसा ही किया जायगा' ऐसा कह कर वह किले के भीतर चला गया। तब गुप्तचर बगुले ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से निवेदन किया कि राजन्, 'महामत्री गृद्ध हमलोगो के पास सधि करने के लिए आ रहे हैं।' राजहंस ने कहा कि 'मन्त्रिन्, यह दुष्ट गृद्ध किसी छल की भावना से आता होगा ?' सर्वज्ञ ने हँस कर कहा—'राजन यहाँ शंका करने की आवश्यकता नहीं है। क्योकि मत्री गृद्ध अत्यन्त उदार स्वभाव का है। और मन्दबुद्धि वालो की स्थिति ही यही होती है, कभी तो वह शका ही नही करते और कभी सब जगह शका करने लगते हैं। जैसा कि—

'सरसि बहुशस्ताराच्छायेक्षणात्परिवञ्चितः,
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः।
न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पलं,
कुहुकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते' ॥ १०९ ॥

अन्वयः—निशासु कुमुदविटपान्वेषी अविचक्षण हस सरसि ताराच्छायेक्षणात् बहुश परिवञ्चित दिवापि ताराशङ्की पुन सितोत्पलम् न दशति (तथैव) कुहुकचकित लोक सत्य अपि अपायम् अपेक्षते ॥ १०९ ॥

निशासु = रात्रौ। कुमुदविटपान्वेषी=कुमुदवनस्यान्वेषणपरः। बुद्धिहीनः = बुद्धिरहितः। हंसः = मरालः। सरसि = तडागे। ताराच्छायेक्षणात्=तारा-प्रतिबिम्बदर्शनात्। बहुशः = अनेकधा। परिवञ्चितः = वञ्चितः सन्। दिवापि= दिनेऽपि। ताराशङ्की=तारकाशङ्कायुक्तः स=हंसः। पुनः=भूयः। सितोत्पलम्= सितकमलम्। न दशति= न भुङ्क्ते। कुहकचकितः = कपटव्यवहारेण चकितः। लोकः=जनः। सत्येऽपि=सत्ये विषयेऽपि। अपायम्=विनाशम्। शङ्कते=आशङ्कते॥

रात्रि के समय कुमुदनी की खोज करने वाला हंस तालाब में बहुत से तारों की छाया देख कर धोखा खा जाता है अर्थात् उसे कुमुद समझ कर बार-बार उसके पास जाता और निराश हो जाता है किन्तु वही तारों की शंका से डरा हुआ राजहंस दिन में सफेद कमल को भी नहीं खाया करता क्योंकि कपट व्यवहारों से धोखा खाए हुए लोग सच्ची वस्तु में भी अहित की शंका करते हैं॥

'दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति' ॥ ११० ॥

अन्वयः—दुर्जनदूषितमनसः विश्वासः सुजनेष्वपि नास्ति (यथा) पायसदग्धः बालः दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ॥ ११ ॥

दुर्जनदूषितमनसः =दुर्जनेन परिवञ्चितस्य। विश्वासः=प्रत्ययः। सुजनेष्वपि= सज्जनेष्वपि। पायसदग्धः = दुग्धविदग्धोष्ठमुखः। बालः = बालकः। फूत्कृत्य = फूत्कारम्। भक्षयति=अत्ति ॥ ११ ॥

जिनका हृदय दुष्ट के व्यवहार से दूषित हो जाता है वे सज्जनों के व्यवहार पर भी विश्वास नहीं करते। दूध का (खीर का) जला हुआ बालक दही को भी फूंक-फूंक कर खाता है॥ ११ ॥

तद् देव! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जी क्रियताम्। तथानुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो, दत्तासने चोपविष्टः। चक्रवाक उवाच—मन्त्रिन्! युष्मदायत्तं सर्वं, स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम्'। राजहंसो ब्रूते— एवमेव। दूरदर्शी कथयति— 'एवमेवैतत्, किन्त्विदानीं बाहुल्यप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम्। यतः—

तत्पूजार्थम् = मन्त्रिसत्कारार्थम्। उपगम्य = समीपमागत्य। सत्कृत्य = सत्कारं कृत्वा। बाहुल्यप्रपञ्चवचनम्=अनेकप्रकारवाग्विस्तारः। निष्प्रयोजनम् = व्यर्थम्।

इसलिए हे राजन्, उसका सत्कार करने के लिए यथाशक्ति रत्न आदि भेंट की सामग्री तैयार कराइए। इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर मंत्री चक्रवाक ने किले के द्वार पर जाकर मन्त्री गृद्ध को बड़े सम्मान के साथ लाकर राजा का दर्शन कराया और गृद्ध दिए हुए आसन पर बैठ गया। चक्रवाक ने कहा— 'मंत्री, यह सब कुछ अब तुम्हारे अधीन है। अतः अपनी इच्छा के अनुसार इस राज्य का उपभोग कीजिए।' राजहंस ने कहा—यह बिल्कुल ठीक है ? दूरदर्शी गृद्ध ने कहा—यह तो ठीक है किन्तु इस समय इस प्रकार की प्रपञ्च की बातें करना व्यर्थ है। क्योंकि—

'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्, स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन, याथातथ्येन पण्डितम्' ॥ १११ ॥

अन्वयः—अर्थेन लुब्धम्, अञ्जलिकर्मणा स्तब्धम्, छन्दानुरोधेन मूर्खम्, याथातथ्येन पण्डितम् गृह्णीयात् ॥ १११ ॥

अर्थेन=धनप्रदानेन। लुब्धम्=धनाभिलाषिणम्। अञ्जलिकर्मणा=प्रार्थनया। स्तब्धम्=गर्वोन्मत्तम्। छन्दानुरोधेन=अनुकूलव्यवहारेण। याथातथ्येन=सत्यकथनेन, गृह्णीयात्=स्वानुकूल्यम् कुर्यात् ॥ १११ ॥

लालची को धन से, अभिमानी को हाथ जोड़ कर, मूर्ख को उसके अनुसार काम करके और बुद्धिमान को सच्ची बातें कह कर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए ॥ १११ ॥

अन्यच्च—'सद्भावेन हरेन्मित्रं, सम्भ्रमेणं तु बान्धवान्।
स्त्रीभृत्यौ दान-मानाभ्यां, दाक्षिण्येनेतराञ्जनान्' ॥११२॥

अन्वयः—मित्रम् सद्भावेन, बान्धवान् तु सम्भ्रमेण स्त्रीभृत्यौ दानमानाभ्याम्, इतरान् जनान् दाक्षिण्येन हरेत् ॥ ११२ ॥

मित्रम्=सुहृदम्। सद्भावेन=सौहार्देन। बान्धवान्=स्वगोत्रजान्। सम्भ्रमेण=आदरातिशयेन। इतरान् जनान्=अन्यान् लोकान्। दाक्षिण्येन = आनुकूल्येन। हरेत्=अनुरञ्जयेत् ॥ ११२ ॥

और भी—सद्भाव से मित्रों को, सम्मान से बन्धुओं को, दान तथा मान से स्त्री और सेवक को और उदारता से अन्य लोगों को अपने अनुकूल बनाना चाहिए ॥ ११२ ॥

'तदिदानीं सन्धातु गम्यताम्। महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा।'

चक्रवाको ब्रूते—'यथा सन्धानं कार्यं, तदप्युच्यताम्'। राजहंसो ब्रूते—'कति प्रकाराः सन्धीनां सम्भवन्ति'?। गृध्रो ब्रूते—कथयामि। श्रूयताम्'—

सन्धातुं=सन्धिकरणार्थम् । अभ्यर्थताम्=चित्रवर्णमनुरुध्यताम् । महाराज = महाप्रताप । यथा=येन प्रकारेण । सन्धानम् कार्यम्—सन्धिं विधेय ।

इसलिए इस समय सन्धि करने के लिए राजा चित्रवर्ण के पास चलिए। चक्रवाक ने कहा— जिस प्रकार संधि करनी होगी वही भी बताइए। राजहंस ने कहा— सन्धि कितने प्रकार की होती है? गृध्र ने कहा— वह कहता हूँ सुनिये—

'बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम् ॥ ११३ ॥

अन्वयः—बलीयसाभियुक्तः नान्यप्रतिक्रियः आपन्नः नृपः कालयापनम् कुर्वाणः सन्धिम् अन्विच्छेत् ॥ ११३ ॥

बलीयसाभियुक्तः=बलवता शत्रुणाक्रान्तः । नान्यप्रतिक्रियः=नान्योपायः । आपन्नः=विपत्तिमुपगतः । कालयापनम्=समययापनम् । कुर्वाणः=कुर्वन्निव । सन्धिम्=सन्धानम् । अन्विच्छेत्=अभिलषेत् ॥ ११३ ॥

बलवान् शत्रु से आक्रान्त होने पर जब कोई उपाय न रह जाय तो समय काटने के लिए उस विपत्ति में पड़े हुए राजा को शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए ॥

'कपाल उपहारश्च सन्तानः सङ्गतस्तथा ।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥ ११४ ॥
अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मादिष्ट, उपग्रहः ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परदूषणः ॥ ११५ ॥
स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः ।
इति षोडशकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—कपाल   षोडशकम् सन्धिम् प्राहुः ॥ ११४–११६ ॥

कपाल उपहार सन्तान संगत उपन्यास प्रतीकार संयोग पुरुषान्तर अदृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रह परिक्रय उच्छिन्न परदूषण और स्कन्धोपनेय—इस प्रकार विद्वान लोगों ने सन्धि के सोलह प्रकार बतलाए हैं ॥

'कपालसन्धिर्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः ।
सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते' ॥ ११७ ॥

अन्वयः—केवलं समसन्धितः कपालसन्धिः विज्ञेयः य सम्प्रदानात् भवति स उपहारः उच्यते ॥ ११७ ॥

समसन्धित =समानयो बलशालिनो सन्धि । सम्प्रदानात्=धनादिप्रदानात् । उच्यते=कथ्यते ॥ ११७ ॥

समान बलवालो की आपस मे की गई संधि को कपालसन्धि और कर, उपहार आदि देकर की गई सन्धि उपहारसन्धि कही जाती है ॥ ११७ ॥

सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।
सद्भिस्तु सङ्गतः सन्धिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—दारिकादानपूर्वक (सन्धान) सन्तानसन्धि विज्ञेयः, सद्भि मैत्रीपूर्व सगत सन्धि उदाहृत ॥ ११८ ॥

दारिकादानपूर्वक =पुत्रीदानयुक्त । सद्भि =सज्जनै । मैत्रीपूर्व = मैत्रीयुक्त कृत सन्धान । उदाहृत =कथित ॥ ११८ ॥

प्रतिपक्षी को कन्या देकर जो सधि की जाती हैं उसे सन्तानसधि और सज्जनो में परस्पर मैत्रीभाव से जो संधि की जाती है उसे सगतसंधि कहते हैं ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ।
सम्पत्तौ वा, विपत्तौ वा, कारणैर्यो न भिद्यते ॥ ११९ ॥

अन्वयः—य यावदायु प्रमाण समानार्थप्रयोजन सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा कारणै यो न भिद्यते ॥ ११९ ॥

य =सगतसन्धि । यावदायु प्रमाण =समस्तायु पर्यन्त । समानार्थप्रयोजन = समानहित । सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा=सुखे दु खे वा । कारणै =कै अपि हेतुभि । न भिद्यते=भेदं न प्राप्नोति ॥ ११९ ॥

समान अर्थ और प्रयोजन होने के कारण समस्त जीवन में सम्पत्ति या विपत्ति किसी भी दशा मे अथवा किसी कारण से जो सन्धि टूटती नहीं है ॥

सङ्गतः सन्धिरेवायं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।
तथान्यैः सन्धिकुशलैः 'काञ्चनः' समुदाहृतः ॥ १२० ॥

अन्वयः—सुवर्णवत् प्रकृष्टत्वात् अयम् सगतः सन्धि एव अन्यै. सन्धिकुशलै काञ्चन समुदाहृत ॥ १२० ॥

सुवर्णवत् = काञ्चनवत् । प्रकृष्टत्वात्=निर्मलत्वात् । अन्यै =अपरै । सन्धिकुशलै =सन्धिविचक्षणै । काञ्चन =काञ्चनसन्धि । उदाहृत =कथित ॥१०२॥

यह सगतसधि ही सोने के समान उत्तम होने के कारण अन्य सधिकुशल राजनीतिज्ञों द्वारा 'काञ्चनसधि' के नाम से विख्यात है ॥ १२० ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—यः आत्मकार्यस्य सिद्धिम् समुद्दिश्य क्रियेत उपन्यासकुशलैः स उपन्यासः उदाहृतः ॥ १२१ ॥

आत्मकार्यस्य—स्वार्थस्य । सिद्धिम् = सफलताम् । समुद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य । उपन्यासकुशलैः—सन्धिविचक्षणैः । उदाहृतः—उक्तः ॥ १२१ ॥

अपने काम की सिद्धि की दृष्टि से जो सन्धि की जाती है उसे सन्धिकुशल लोग उपन्यास संधि कहते हैं ॥ १२१ ॥

'मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति' ।
इति यः क्रियते सन्धिः 'प्रतीकारः' स उच्यते ॥ १२२ ॥

अन्वयः—मया पूर्वम् अस्य उपकृतम् (अयम्) एषः ममापि करिष्यति इति यः सन्धिः क्रियते स प्रतीकारः उच्यते ॥ १२२ ॥

मया उपकृतम्—अहम् उपकरोमि । इति—इत्याशयेन ॥ १२२ ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है यह मेरा भी करेगा इस दृष्टि से जो सन्धि की जाती है उसे प्रतीकार संधि कहते हैं ॥ १२२ ॥

'उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति' ।
अयं चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ १२३ ॥

अन्वयः—अस्य उपकारम् करोमि एषः ममापि करिष्यति रामसुग्रीवयोः इव अयम् चापि प्रतीकारः उच्यते ॥ १२३ ॥

अयं चापि—इत्यभिप्रायेण कृतः सन्धिः अपि ॥ १२३ ॥

मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, यह मेरा भी करेगा । इस प्रकार की संधि भी प्रतीकार कही जाती है जैसा राम और सुग्रीव ने किया था ॥ १२३ ॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ।
सुसंहितप्रयाणस्तु स च संयोग उच्यते' ॥ १२४ ॥

अन्वयः—एकार्थाम् क्रियाम् सम्यगुद्दिश्य यत्र गच्छति सुसंहितप्रयाणः स संयोग (इति) उच्यते ॥ १२४ ॥

एकार्थाम् क्रियाम्—एकप्रयोजनाम् क्रियाम् । सम्यगुद्दिश्य—पूर्णतया लक्ष्यीकृत्य । सुसंहितप्रयाणः—सुसङ्गठिता विजिगीषवः ॥ १२४ ॥

जहाँ समान अर्थ की सिद्धि के लिए किसी क्रिया (चढ़ाई) को लक्ष्य करके अधिक संख्या में सेना लेकर चढ़ाई करने के लिए संधि की जाती है वह संयोग संधि कही जाती है ॥ १२४ ॥

'आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यता'मिति- ।
यस्मिन्पणस्तु क्रियते, स सन्धिः 'पुरुषान्तरः' ॥ १२५ ॥

अन्वयः—यस्मिन् (सन्धौ) आवयोर्योधमुख्यैः मदर्थं साध्यताम् इति पणः क्रियते=स पुरुषान्तरः सन्धिः (उच्यते) ॥ १२५ ॥

योधमुख्यैः=मुख्यसुभटैः । मदर्थं=मत्कार्यम् । पणः=प्रतिज्ञा (शर्त) ॥

'हमारे और तुम्हारे श्रेष्ठ सैनिक आपस में मिलकर समयानुकूल सहायता देते रहें'—जहाँ इस प्रकार का निश्चय करके संधि की जाती है, वह पुरुषान्तर संधि कही जाती है ॥ १२५ ॥

'त्वयैकेन मदीयोऽर्थः सम्प्रसाध्यस्त्वसा'विति- ।
-यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सो'ऽदृष्टपुरुषः' स्मृतः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—यत्र शत्रुः 'एकेन त्वया मदीयः असौ अर्थः सम्प्रसाध्यः' इति पणम् कुर्यात् सः अदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ १२६ ॥

एकेन त्वया=एकाकिना त्वया । मदीयः=मत्सम्बन्धी । अर्थः=प्रयोजकम् । पणम्=प्रतिज्ञाम् ॥ १२६ ॥

'तुम्हें अकेले ही मेरे काम को पूरा करना होगा'—जहाँ शत्रु इस प्रकार की शर्त रख कर संधि करता है उसे अदृष्ट-पुरुष संधि कहते हैं ॥ १२६ ॥

'यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः ।
सन्धीयते सन्धिविद्भिः, स चादिष्ट उदाहृतः' ॥ १२७ ॥

अन्वयः—यत्र भूम्येकदेशेन पणेन ऊर्जितः रिपुः सन्धीयते सन्धिविद्भिः सः आदिष्टः उदाहृतः ॥ १२७ ॥

यत्र=यस्मिन् सन्धौ । भूम्येकदेशेन=भूम्येकभागेन । पणेन=प्रतिज्ञया । ऊर्जितः=बलिष्ठः । रिपुः=शत्रुः ॥ १२७ ॥

जिस संधि में राज्य का एक भाग देकर बलवान् शत्रु से संधि की जाती है उसे सन्धि के ज्ञाता आदिष्ट संधि के नाम से पुकारते हैं ॥ १२७ ॥

'स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मादिष्ट उदाहृतः ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १२८ ॥

अन्वयः—स्वसैन्येन सन्धानम् आत्मादिष्टः उदाहृतः प्राणरक्षार्थम् सर्वदानात् (च सन्धिः) क्रियते स उपग्रहः (कथ्यते) ॥ १२८ ॥

स्वसैन्येन=स्वसैन्यप्रदानेन । प्राणरक्षार्थम्=प्राणरक्षणाय । सर्वदानात्=राज्यादिसर्वप्रदानात् ॥ १२८ ॥

अपनी सेना देकर जो सन्धि की जाती है उसे आत्मादिष्ट सन्धि तथा अपने प्राणों की रक्षा के लिए सब कुछ देकर जो सन्धि की जाती है उसे उपग्रह सन्धि कहते हैं ॥ १२८ ॥

'कोशांशेनार्धकोशेन सर्वकोशेन वा पुनः ।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १२९ ॥

अन्वयः—शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थम् कोशांशेन अर्धकोशेन सर्वकोशेन वा (यः सन्धिः क्रियते सः) परिक्रयः उदाहृतः ॥ १२९ ॥

शिष्टस्य=युद्धादवशिष्टस्य राज्यस्य । प्रतिरक्षार्थं=रक्षणाय । कोशांशेन=कोषैकभागप्रदानेन । अर्धकोशेन=कोषार्धभागेन । उदाहृतः=कथितः ॥ १२९ ॥

बचे हुए राज्य की रक्षा के लिए खजाने का थोड़ा आधा अथवा पूरा खजाना देकर जो सन्धि की जाती है उसे परिक्रय सन्धि कहते हैं ॥ १२९ ॥

'भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः' ॥ १३० ॥

अन्वयः—सारवतीनां भुवाम् दानात् 'उच्छिन्नः' (तथा) सर्वेण भूम्युत्थफलदानेन 'परभूषण' उच्यते ॥ १३ ॥

सारवतीनाम्=रत्नादिपूर्णानाम् । भुवाम् = पृथ्वीनाम् । दानात् = प्रदानात् । सर्वेण=पूर्णेन भूम्युत्थफलदानेन=भूम्युत्पन्नफलप्रदानेन ॥ १३ ॥

रत्न-सुवर्ण आदि से परिपूर्ण पृथ्वी को देकर जो की जाने वाली सन्धि उच्छिन्न और भूमि से उत्पन्न सभी फलों को देकर की जाने वाली सन्धि 'परभूषण' कही जाती है ॥ १३ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—यत्र परिच्छिन्नं फलं प्रतिस्कन्धेन दीयते सन्धिविचक्षणाः तं सन्धिम् स्कन्धोपनेयम् प्राहुः ॥ १३१ ॥

यत्र=यस्मिन् सती । प्रतिस्कन्धेन=दहुलादीन (कई किश्तों में) परिच्छिन्नम्=परिमितम् । फलम्=धान्यादिकम् । सन्धिविचक्षणा =सधिकुशला ॥

जहाँ कई किश्तो में निश्चित धान्यादि देकर सन्धि की जाती है, उसे सधिकुशल लोग 'स्कन्धोपनेय' सन्धि कहते हैं ॥ १३१ ॥

'परस्परोपकारस्तु, मैत्री, सम्बन्धकस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः' ॥ १३२ ॥

अन्वयः—परस्परोपकार , मैत्री, सम्बन्धक तथा उपहारश्च, चत्वारः चैव सन्धय विज्ञेया ॥ १३२ ॥

परस्परोपकार =अन्योन्यमुपकार । मैत्री=मित्रता । सम्बन्धक =विवाहादिसम्बन्ध । उपहार =धनादिप्रदानम् ॥ १३२ ॥

परस्पर उपकार, मित्रता, सम्बन्ध और उपहार यही चार सन्धियाँ कही जाती हैं ॥ १३२ ॥

'एक एवोपहारस्तु सन्धिरेव मतो मम ।
उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रविवर्जिताः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—मम मत एक उपहार एव सन्धि एव, मैत्रविवर्जिता सर्वे उपहारविभेदा ॥ १३३ ॥

मैत्रीसन्धिभिन्ना अन्य त्रय सन्धय उपहारस्यैव भेदा सन्ति ॥ १३३ ॥

मेरे विचार से एक उपहार ही सन्धि है, मैत्री को छोड कर और सभी सन्धियाँ उपहार का ही भेद होती हैं ॥ १३३ ॥

'अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्त्तते ।
उपहाराद्दते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते' ॥ १३४ ॥

अन्वयः—बलीयस्त्वात् अभियोक्ता अलब्ध्वा न निवर्तते, तस्मात्, उपहाराद्दते अन्य सन्धि न विद्यते ॥ १३४ ॥

बलीयस्त्वात्=अतिसमर्थत्वात् । अभियोक्ता=आक्रामक । अलब्ध्वा=उपहारमगृहीत्वा । न निवर्तते=न परावर्तते । तस्मात्=अत ॥ १३४ ॥

आक्रमण करने वाला बलवान होने के कारण बिना कुछ उपहार लिए नहीं लौटता है । इसलिए उपहार के अतिरिक्त और कोई सन्धि नही होती है ॥१३४॥

राजाह—'भवन्तो महान्त., पण्डिताश्च । तदत्रास्माकं यथाकार्यमुपदिश्यताम्' । दूरदर्शी ब्रूते-'आ. ! किमेवमुच्यते ?—

राजा ने कहा—आप लोग बहुत बड़े और पण्डित हैं । अत इस समय हमें क्या करना चाहिए उसे बताइए । दूरदर्शी ने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं ?

आधि-व्याधि परीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥ १३५ ॥

अन्वयः—आधिव्याधिपरीतापात् अद्य श्वः वा विनाशिने शरीराय को नाम हि धर्मापेतम् समाचरेत् ॥ १३५ ॥

आधिः=मानसी पीडा । व्याधिः=शारीरिकी पीडा । परीतापात्=सन्तापात् । अद्य श्वः वा=अचिरात् । विनाशिने=नाशवते । शरीराय=देहार्थम् । धर्मापेतम्=धर्मविरुद्धम् ॥ १३५ ॥

मानसिक तथा शारीरिक पीड़ा से आज अथवा कल नष्ट हो जाने वाले इस शरीर के लिए कौन ऐसा होगा जो धर्म के विरुद्ध आचरण करेगा ॥ १३५ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—देहिनाम् जीवितम् जलान्तश्चन्द्रचपलम् खलु तथाविधम् इति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणम् आचरेत् ॥ १३६ ॥

देहिनाम् = शरीरधारिणाम् । जीवितम् = जीवनम् । जलान्तश्चन्द्रचपलम्= जलप्रतिबिम्बितचन्द्रेण तुल्यम् चञ्चलम् । शश्वत्=निरन्तरम् । कल्याणम् = शुभकार्यम् ॥ १३६ ॥

प्राणियों का जीवन जल में प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्रमा के समान चञ्चल होता है । अत उसे नाशवान् समझ कर निरन्तर कल्याणकारी कार्यों को करते रहना चाहिए ॥ १३६ ॥

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला
धर्मः सखा परमहो ! परलोकयाने ॥ १३७ ॥

अन्वयः—इदम् वसुधाधिपत्यम् वाताभ्रविभ्रमम् विषयोपभोगः आपातमात्रमधुरः प्राणाः तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोलाः (अतः) परलोकयाने धर्मः परम् सखा (अस्ति) ॥ १३७ ॥

वसुधाधिपत्यम्=राज्यम् । वाताभ्रविभ्रमम् = वायुना ताडितमेघवत् अस्थिरम् अस्ति । विषयोपभोगः =कामोपभोगः । आपातमात्रमधुरः=अविचारितमनोहरः । तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोलाः = तृणाग्रस्थितजलकणवत् चञ्चलाः । परलोकयाने = परलोकप्रयाणे ॥ १३७ ॥

यह राज्य वायु के आघात से छिन्न-भिन्न होने वाले बादल के समान अस्थिर है, विषयों का उपभोग तात्कालिक (क्षणमात्र) मधुर लगने वाला और

ये प्राण घासो के ऊपर दिखाई पडने वाली ओस की बूंदो के समान चञ्चल होते हैं। परलोक यात्रा मे केवल धर्म ही श्रेष्ठ मित्र का काम देता है ॥ १३७ ॥

'मृगतृष्णासमं वीक्ष्य ससारं क्षणभङ्गुरम्।
'सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च' ॥ १३८ ॥

अन्वयः—संसारम् मृगतृष्णासमम् क्षणभङ्गुरम् वीक्ष्य धर्माय च सुखाय च सज्जनैः सङ्गतम् कुर्यात् ॥ १३८ ॥

ससारम्=इमम् लोकम्। मृगतृष्णासमम्=मरीचिकातुल्यम्। क्षणभङ्गुरम्=क्षणनश्वरम्। वीक्ष्य=दृष्ट्वा। सज्जनैः सङ्गतम्=सज्जनमैत्रीम्। धर्माय=धर्मलाभाय। सुखाय=सुखार्थम् ॥ १३८ ॥

इस ससार को मृगतृष्णा के समान क्षणभङ्गुर देख कर सुख तथा धर्मोपार्जन के लिए सज्जनो की मित्रता करनी चाहिए ॥ १३८ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम्।' यतः—

इसलिए मेरे मत से वही कीजिए क्योंकि—

'अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—तुलया धृतम् सत्यम् अश्वमेधसहस्राणि च, अश्वमेधसहस्रात् सत्यमेव अतिरिच्यते ॥ १३९ ॥

तुलया धृतम्=तुलाया धारितम्, समुत्तोलितम्। अतिरिच्यते=वर्द्धते ॥१३९॥

हजारो अश्वमेध यज्ञ और सत्य को तराजू पर रखा जाय तो हजारो अश्वमेध यज्ञ से सत्य ही अधिक भार वाला होगा ॥ १३९ ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानः 'सन्धिर्विधीयताम्'। सर्वज्ञो ब्रूते-'एवमस्तु'। ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा, राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः। तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं सम्भाषितस्तथाविधं सन्धिं स्वीकृत्य, राजहंससमीपं प्रस्थापितः।

सत्याभिधानदिव्यपुरस्सरम्=सत्यनामशपथपूर्वकम्। सन्निधानम्=समीपम्। सम्भाषितः=वार्तालापेन परितोषितः। नः=अस्माकम्। समीहितम्=ईप्सितम्।

इसलिए सत्य की शपथ लेकर इन दोनों राजाओ मे काञ्चन संधि करा देनी चाहिए। सर्वज्ञ ने कहा—ठीक है ऐसा ही होना चाहिए। इसके बाद राजा

आधि-व्याधि परीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥ १३५ ॥

अन्वयः—आधिव्याधिपरीतापात् अद्य श्वः वा विनाशिने शरीराय को नाम हि धर्मापेतम् समाचरेत् ॥ १३५ ॥

आधिः=मानसी पीडा । व्याधिः=शारीरिकी पीडा । परीतापात्=सन्तापात् । अद्य श्वः वा=अचिरात् । विनाशिने=नाशवते । शरीराय=देहार्थम् । धर्मापेतम्=धर्मविरुद्धम् ॥ १३५ ॥

मानसिक तथा शारीरिक पीडा से आज अथवा कल नष्ट हो जाने वाले इस शरीर के लिए कौन ऐसा होगा जो धर्म के विरुद्ध आचरण करेगा ॥ १३५ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—देहिनाम् जीवितम् जलान्तश्चन्द्रचपलम् खलु तथाविधम् इति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणम् आचरेत् ॥ १३६ ॥

देहिनाम् = शरीरधारिणाम् । जीवितम् = जीवनम् । जलान्तश्चन्द्रचपलम्=जलप्रतिबिम्बितचन्द्रवत् चञ्चलम् । शश्वत्=निरन्तरम् । कल्याणम् = शुभकार्यम् ॥ १३६ ॥

प्राणियों का जीवन जल में प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्रमा के समान चञ्चल होता है । अतः उसे नाशवान् समझ कर निरन्तर कल्याणकारी कार्यों को करते रहना चाहिए ॥ १३६ ॥

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला
धर्मः सखा परमहो परलोकयाने ॥ १३७ ॥

अन्वयः—इदम् वसुधाधिपत्यम् वाताभ्रविभ्रमम् विषयोपभोगः आपातमात्रमधुरः, प्राणाः तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोलाः (अतः) परलोकयाने धर्मः परम् सखा (अस्ति) ॥ १३७ ॥

वसुधाधिपत्यम्=राज्यम् । वाताभ्रविभ्रमम् = वायुना ताडितमेघवत् अस्थिरम् । विषयोपभोगः=भोगोपभोगः । आपातमात्रमधुरः=अविचारितरमणीयः । तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोलाः = तृणाग्रस्थितजलबिन्दुवत् चञ्चलाः । परलोकयाने = परलोकयात्रायाम् ॥ १३७ ॥

यह राज्य वायु से आहत हो छिन्न-भिन्न हो जाने वाले बादल के समान क्षणभंगुर, यह विषयों का उपभोग तात्कालिक (क्षणमात्र) मधुर लगने वाला और

ये प्राण घासो के ऊपर दिखाई पड़ने वाली ओस की बूंदो के समान चञ्चल होते हैं। परलोक यात्रा में केवल धर्म ही श्रेष्ठ मित्र का काम देता है ॥ १३७ ॥

'मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसार क्षणभङ्गुरम् ।
'सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च' ॥ १३८ ॥

अन्वयः—संसारम् मृगतृष्णासमम् क्षणभङ्गुरम् वीक्ष्य धर्माय च सुखाय च सज्जनैं सङ्गतम् कुर्याव् ॥ १३८ ॥

ससारम्=इमम् लोकम् । मृगतृष्णासमम्=मरीचिकातुल्यम् । क्षणभङ्गुरम्=क्षणनश्वरम् । वीक्ष्य=दृष्ट्वा । सज्जनैं सङ्गतम्=सज्जनमैत्रीम् । धर्माय=धर्मलाभाय । सुखाय=सुखार्थम् ॥ १३८ ॥

इस ससार को मृगतृष्णा के समान क्षणभङ्गुर देख कर सुख तथा धर्मोपाजन के लिए सज्जनो की मित्रता करनी चाहिए ॥ १३८ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम् ।' यतः—

इसलिए मेरे मत से वही कीजिए क्योकि—

'अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—तुलया धृतम् सत्यम् अश्वमेधसहस्राणि च, अश्वमेधसहस्राद् सत्यमेव अतिरिच्यते ॥ १३९ ॥

तुलया धृतम्=तुलाया धारितम्, समुत्तोलितम् । अतिरिच्यते=वर्द्धते ॥१३९॥

हजारों अश्वमेध यज्ञ और सत्य को तराजू पर रखा जाय तो हजारो अश्वमेध यज्ञ से सत्य ही अधिक भार वाला होगा ॥ १३९ ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानः 'सन्धिर्विधीयताम्' । सर्वज्ञो ब्रूते-'एवमस्तु' । ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा, राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः। तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं सम्भाषितस्तथाविध सन्धिं स्वीकृत्य, राजहंससमीपं प्रस्थापितः ।

सत्याभिधानदिव्यपुरस्सरम्=सत्यनामशपथपूर्वकम् । सन्निधानम्=समीपम् । सम्भाषित=वार्तालापेन परितोषित । न=अस्माकम् । समीहितम्=ईप्सितम् ।

इसलिए सत्य की शपथ लेकर इन दोनो राजाओ में काञ्चन संधि करा देनी चाहिए। सर्वज्ञ ने कहा—ठीक है ऐसा ही होना चाहिए। इसके बाद राजा

राजहंस द्वारा वस्त्र और गहनों के उपहार से सम्मानित होकर मंत्री दूरदर्शी प्रसन्न होकर चक्रवाक को लेकर राजा मयूर के पास गया। वहाँ राजा चित्रवर्ण ने सर्वज्ञ को गृध्र के कथनानुसार बहुत अधिक दान मान के साथ संतुष्ट करके उस सन्धि को स्वीकार कर उसे राजहंस के पास भेज दिया।

दूरदर्शी ब्रूते—'देव ! सिद्धं नः समीहितम्। इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्यताम्।

अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य मनोऽभिलषितं फलं प्राप्नुवन्निति।

दूरदर्शी ने कहा—देव हमलोगों की इच्छा पूरी हुई इस समय अपने देश विन्ध्याचल को लौट चलना चाहिए। इसके पश्चात् सभी अपने-अपने देश जाकर मनोवाञ्छित फल प्राप्त करने लगे।

विष्णुशर्मोवाच—अपरं किं कथयामि, तदुच्यताम्।

विष्णुशर्मा ने कहा—बताओ अब मैं और क्या आप लोगों को सुनाऊँ?

राजपुत्रा ऊचुः—आर्य ! तव प्रसादात्सकलराज्यव्यवहाराङ्गं ज्ञातम्। ततः सुखिनो भूता वयम्।

राजपुत्रों ने कहा—आर्य तुम्हारी कृपा से हम लोगों ने राज्य व्यवहार के सभी अंगों को ज्ञात किया है। जिससे हमलोग बहुत प्रसन्न हैं।

विष्णुशर्मोवाच—'यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु'—

विष्णुशर्मा ने कहा—यद्यपि ऐसा है तथापि यह भी हो।

'सन्धिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु, प्रमोदः सदा
सन्तः सन्तु निरापदः सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्धताम्।
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः' ॥ १४० ॥

अन्वयः—विजयिनाम् सर्वमहीभुजाम् सन्धिः अस्तु, सदा प्रमोदः (अस्तु) सन्तः निरापदः सन्तु, सुकृतिनाम् कीर्तिः चिरं वर्धताम्, मन्त्रिणाम् वक्षःस्थले सततम् संस्थिता वारविलासिनी इव नीतिः वक्त्रम् चुम्बतु, अहरहः महान् उत्सवः भूयात् ॥ १४ ॥

विजयिनाम्—विजयशालिनाम्। सर्वमहीभुजाम्—सर्वराज्ञाम्। प्रमोदः—आनन्द। सन्तः—सज्जना। निरापदः—सुखिनः। सुकृतिनाम्—विदुषाम्। कीर्तिः—यश। वर्धताम्—संसारे विस्तृता भवतु। वक्षःस्थले—उर प्रदेशे वार

विलासिनीव=वेश्या इव । सततम् = सर्वदा । वक्त्रम्=मुखम् । हृदयेस्थिता राजनीति वाचि वसतु । अहरह =प्रतिदिनम् ।। १८० ।।

सभी राजाओ का विजयी राजाओ के साथ संधि हो, आनन्द हो, सज्जन लोग सुखी हों, विद्वानो की कीर्ति का प्रसार हो, मन्त्रियो के हृदय मे वेश्या के समान सर्वदा स्थित रहने वाली राजनीति उनकी वाणी मे निवास करे और प्रतिदिन महान् उत्सव होता रहे ।। १८० ।।

अन्यच्चास्तु—

'प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स यावद्
यावल्लक्ष्मीर्मुरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती ।
यावत्स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः सग्रहोऽयं कथानाम् ॥

अन्वयः—प्रालेयाद्रे सुताया प्रणयनिवसति चन्द्रमौलि यावत्, जलदे विस्फुरन्ती तडित् इव मुरारे मानसे लक्ष्मी यावत्, अयम् स्वर्णाचल यावत्, यस्य दवदहनसम स्फुलिङ्ग सूर्य (अस्ति), तावत् नारायणेन रचित कथानाम् अयम् सग्रह. प्रचरतु ।। १४१ ।।

प्रालेयाद्रे = हिमालयस्य । सुताया =पुत्र्या , पार्वत्या । प्रणयनिवास = प्रेमपात्रम् । चन्द्रमौलि =शिव । जलदे=मेघे । विस्फुरन्ती=उन्मिषन्ती । तडित्= विद्युत् । मुरारे =विष्णो । दवदहनसम =दावाग्निज्वालासदृश । स्वर्णाचल = हेमकूट । नारायणेन रचित नारायणपण्डितेन निर्मित ।। १४१ ।।

जब तक हिमालय की पुत्री पार्वती जी के प्रेम मे भगवान् शकर की स्थिति रहे, जब तक बादलो के बीच चमकती हुई बिजली के समान भगवान् विष्णु के हृदय मे लक्ष्मी का निवास रहे और जब तक दावाग्नि की ज्वाला के समान यह हेमकूट विद्यमान रहे, जिसकी चिनगारी के समान यह सूर्य है, तब तक नारायण पण्डित द्वारा रचित कथाओं का यह संग्रह सभी जगह प्रचलित रहे ।।

किञ्च—'उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः ।
आकल्पान्तञ्च भूयात्समुपचितसुखः सङ्गमः सज्जनानां,
निश्शेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः' ॥

अन्वयः—वासव इष्टाम् वृष्टिम् विसृजन् उर्वीम् । उद्दामसस्याम् जनयतु । विप्रमुख्या तैः इष्टैः विष्टपानाम् विधिवत् प्रीणनम् विदधतु । सज्जनानां सङ्गम.

आकल्पान्तम् समुपचितसुखं भूयात्। वज्रलेपा दुर्जना पिशुनजनगिरः निःशेषं शान्तिं यान्तु॥ १४२॥

वासव=इन्द्र। इष्टाम्=अभिमताम्। वृष्टिम्=जलवर्षणम्। विसृजतु=त्यजतु, कुर्यात्। शस्यसम्पदाम्=धान्यपूरिताम्। उर्वीम्=पृथिवीम्। तै=शास्त्र-विधि। हव्यैः=यज्ञैः। विप्रमुख्याः=वेदज्ञा। त्रिदशानाम्=लोकानाम्। प्रीणनम्=तुष्टिम्। विदधतु=कुर्वन्तु। सज्जनानां संगमः=सत्संगतिः। आकल्पान्तम्=कल्पान्तम् यावत्। समुपचितसुखम्=सुखान्वित। दुर्जना=दुर्जनानाम्। वज्रलेपाः=अतिनिष्ठुरा। पिशुनजनगिरः=दुष्टजनवाच। निःशेषं=समूलम्। शान्तिम्=प्रशमम्॥ १४२॥

इन्द्र यथेष्ट जल के द्वारा पृथ्वी को धान्य से परिपूर्ण करें वेदज्ञ ब्राह्मण मन्त्रों तथा यज्ञों से देवताओं को विधिपूर्वक प्रसन्न करें। सज्जनों की संगति कल्पान्त तक सम्पत्ति और समृद्धि को देने वाली बने। वज्र के समान कठोर दुष्टों की वाणी सभी भाँति शान्त हो जाय॥ १४२॥

अपरञ्च—श्रीमान्धवलचन्द्रोऽसौ जीयान्माण्डलिको रिपून्।
येनायं संग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारितः॥ १४३॥

इति हितोपदेशे सन्धिर्नाम चतुर्थः कथासंग्रहः।
समाप्तश्चायं हितोपदेशः।

— —

अन्वयः—माण्डलिकः श्रीमान् धवलचन्द्रः असौ रिपून् जीयात्, येन अयं संग्रहः यत्नात् लेखयित्वा प्रचारितः॥ १४३॥

माण्डलिकः=मण्डलाधिपतिः। धवलचन्द्रः—पूर्वप्रदेशस्य राजविशेषः। रिपून्=शत्रून्। जीयात्=विजयताम्॥ १४३॥

इति हितोपदेशे सन्धिर्नाम चतुर्थः कथासंग्रहः समाप्तः।
समाप्तश्चायं हितोपदेशः शुभं भूयात्।

— —

वह (पूर्व प्रदेश का) माण्डलिक राजा धवलचन्द्र भी शत्रुओं को जीते जिसने बड़े परिश्रम से इस संग्रह को लिखा कर इसका प्रचार कराया॥१४३॥

हितोपदेश का चौथा कथासंग्रह समाप्त।

हितोपदेश समाप्त।

— —